प्रेमचंद रचनावली

20

प्रेमचंद रचनावली
20

'हंस' (प्रेमचंद स्मृति अंक)
कलम का मसीहा (जीवनी), परिशिष्ट

प्रेमचंद रचनावली

खण्ड : बीस

भूमिका एवं मार्गदर्शन

डॉ० रामविलास शर्मा

प्रकाशकीय

'प्रेमचंद रचनावली' का प्रकाशन **जनवाणी** के लिए गौरव का बात है। कॉपीराइट समाप्त होने के बाद प्रेमचंद साहित्य विपुल मात्रा में प्रकाशित-प्रचारित हुआ। पर उनका सम्पूर्ण साहित्य अब तक कहीं भी एक जगह उपलब्ध नहीं था। लगातार यह जरूरत महसूस की जा रही थी कि उनके सम्पूर्ण साहित्य का प्रामाणिक प्रकाशन हो।

श्रेष्ठ और कालजयी साहित्यकारों के समग्र कृतित्व का एकत्र प्रकाशन कई दृष्टियों से उपयोगी होता है। इसी आलोक में **'प्रेमचंद रचनावली'** की कुछ विशेषताओं का संक्षेप में उल्लेख बहुत आवश्यक है। इस रचनावली में पहली बार सम्पूर्ण प्रेमचंद साहित्य सर्वाधिक शुद्ध और प्रामाणिक मूल पाठ के साथ सामने आया है। सम्पूर्ण रचनाओं का विभाजन पहले विधावार तत्पश्चात् कालक्रमानुसार किया गया है। रचनाओं के प्रथम प्रकाशन एवं उनके कालक्रम संबंधी प्रामाणिक जानकारी प्रत्येक रचना के अन्त में दी गई है जिससे प्रेमचंद के कृतित्व के अध्ययन और मूल्यांकन में विशेष सुविधा होगी। इसकी अधिकांश सामग्री प्रथम संस्करणों या काफी पुराने संस्करणों से ली गई है। प्रेमचंद साहित्य के अध्ययन, अध्यापन तथा शोध के लिए इस रचनावली का अपना एक ऐतिहासिक [illegible] है, क्योंकि इसमें प्रेमचंद की अब तक उपलब्ध सम्पूर्ण तथा अद्यतन सामग्री का समावेश [illegible] लिया गया है। रचनावली के बीस खण्डों का क्रमबद्ध प्रारूप इस प्रकार है—

> **खण्ड 1-6 :** मौलिक उपन्यास, **खण्ड 7-9 :** लेख, भाषण, संस्मरण, संपादकीय, भूमिकाएं, समीक्षाएं, **खण्ड 10 :** मौलिक नाटक, **खण्ड 11-15 :** सम्पूर्ण कहानियां (302), **खण्ड 16-17 :** अनुवाद (उपन्यास, नाटक, कहानी), **खण्ड 18 :** जीवनी एवं बाल साहित्य, **खण्ड 19 :** पत्र (चिट्ठी-पत्री), **खण्ड 20 :** विविध।

रचनावली की विस्तृत भूमिका मूर्धन्य आलोचक डॉ॰ रामविलास शर्मा ने लिखी है, जो इस रचनावली की सबसे बड़ी उपलब्धि है। डॉ॰ शर्मा ने अपनी साहित्य-साधना के व्यस्त क्षणों में भी हर कदम पर हमारा मार्गदर्शन किया। रचनावली का जो यह उत्कृष्ट रूप सामने आया है यह सब उन्हीं के आशीर्वाद का प्रतिफल है। इस कृपा और सहयोग के लिए मैं उनके प्रति नतमस्तक हूं।

बिहार विधान परिषद् के माननीय सभापति, हिन्दी और उर्दू के वरिष्ठ साहित्यकार प्रो॰ जाबिर हुसेन ने प्रेमचंद रचनावली के संपादक-मण्डल का अध्यक्ष होना स्वीकार किया और रचनावली के संपादन कार्य में हमारा उचित मार्गदर्शन किया, इसके लिए मैं उनका आभारी हूं। साथ ही संपादक-मण्डल के विद्वान सदस्यों के प्रति भी हार्दिक आभार प्रकट करता हूं।

श्री केशवदेव शर्मा ने अपनी तमाम व्यस्तताओं के बावजूद सम्पादन कार्य में जिस गहरी लगन, समझदारी और आत्मीयता से सहयोग किया है उसके लिए उनके प्रति अनेकशः धन्यवाद। उनका अहर्निश सानिध्य मुझे स्फूर्ति प्रदान करता रहा। डॉ॰ गीता शर्मा एवं डॉ॰ अशोक कुमार शर्मा, वेद प्रकाश सोनी तथा डॉ॰ विनय के प्रति भी उनके हार्दिक सहयोग के लिए आभारी हूं।

भाई राम आनंद साहित्य क्षेत्र में प्रवेश करते ही प्रेमचंद द्वारा स्थापित प्रकाशन संस्थान **'सरस्वती प्रेस'** से जुड़ गए थे। लगभग बीस वर्षों तक उन्होंने स्व॰ श्रीपत राय (प्रेमचंद के ज्येष्ठ पुत्र) के मार्गदर्शन में अप्राप्य प्रेमचंद साहित्य पर शोध कार्य किया। वे स्व॰ श्रीपत राय के संपादन में प्रकाशित होने वाली विख्यात कथा-पत्रिका **'कहानी'** के सहायक संपादक रहे। श्रीपत राय के देहांत के बाद उन्होंने **'कहानी'** का स्वतंत्र रूप से संपादन किया और उसे नया रूप तथा गरिमा प्रदान की। उन्होंने जिस गहरी सूझ-बूझ, लगन, धैर्य और निष्ठा से इस रचनावली के संपादन कार्य को इतने सुरुचिपूर्ण और वैज्ञानिक ढंग से संपन्न किया, इसके लिए वे हम सबों के साधुवाद के पात्र हैं।

श्री हरीशचन्द्र वार्ष्णेय, श्री प्रेमशंकर शर्मा, श्री उदयकान्त पाठक ने प्रूफ-संशोधन और सम्पूर्ण मुद्रण कार्य में विशेष जागरूकता और मनस्विता का परिचय दिया; इनके साथ विमलसिंह, आर॰ के॰ यादव, सुनील जैन, शिवानंदसिंह तथा संस्था के अन्य सभी सहकर्मियों के प्रति भी धन्यवाद ज्ञापित करता हूं क्योंकि इन सबके सहयोग और सद्भाव के बिना यह काम पूरा होना लगभग असंभव था।

मेरी भ्रातृजा रीमा और भ्रातृज संदीप, संजीव, मनीष, विक्रांत, चेतन की लगन और सूझबूझ ने भी मुझे सदैव प्रेरित और उत्साहित किया वे भी धन्यवाद के पात्र हैं।

रचनावली के मुद्रण का कार्य श्री कान्तीप्रसाद शर्मा की देखरेख में हुआ है। उनकी सूझबूझ और श्रमनिष्ठा के लिए वे हमारे हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं।

सर्वश्री विजयदान देथा, यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र', रामकुमार कृषक, स्वामी प्रेम जहीर, डॉ॰ कुसुम वियोगी, रामकुमार शर्मा आदि सभी मित्रों के सुझावों के लिए भी आभारी हूं।

इस कार्य में पूज्य माताजी श्रीमती जसवन्ती देवी का आशीर्वाद और पिताश्री प्रेमनाथ शर्मा का दीर्घकालीन प्रकाशन-व्यवसाय का अनुभव और आशीर्वाद मेरे विशेष प्रेरणा स्रोत रहे। इनके साथ मातृतुल्या भाभी श्रीमती ललिता शर्मा, अग्रज राजकुमार शर्मा, चमनलाल शर्मा, धर्मपाल शर्मा एवं उनकी धर्मपत्नी इन्दु शर्मा के साथ भाई हरीशकुमार शर्मा एवं सुभाषचन्द्र शर्मा के साथ ही चाचा श्री दीनानाथ शर्मा का भी आभारी हूं जिन्होंने पग-पग पर मेरा मार्ग-दर्शन किया। और सबसे अंत में सहधर्मिणी श्रीमती गीता शर्मा ने जो सहयोग और संबल प्रदान किया उसके लिए आभार अथवा धन्यवाद जैसा शब्द बहुत कम होगा। सारा श्रेय उन्हीं का है।

नेशनल लाइब्रेरी, कलकत्ता के सहयोग से दुर्लभ पुस्तक 'महात्मा शेखसादी' लगभग सत्तर वर्ष बाद एक बार फिर इस रचनावली के मार्फत पाठकों के समक्ष प्रस्तुत की जा रही है। मैं नेशनल लाइब्रेरी कलकत्ता के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूं। उन समस्त संस्थानों, पुस्तकालयों, विभागों, संस्थाओं, लेखकों, संपादकों, अधिकारियों और व्यक्तियों के प्रति अपना आभार व्यक्त करता हूं, जिन्होंने इस रचनावली के आयोजन में सहयोग किया।

अन्त में विद्वान पाठकों से हमारा निवेदन है कि वे इस रचनावली की त्रुटियों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करें ताकि आगामी संस्करणों में उन्हें दूर किया जा सके।

हम आशा करते हैं कि हिन्दी जगत् इस बहु-प्रतीक्षित रचनावली का हार्दिक स्वागत करेगा।

अरुण कुमार
(प्रबंध निदेशक)

वाये से श्री राम आनद (सपादक : प्रमचद रचनावली), डॉ॰ कौशल किशोर राय
एवं डॉ॰ राम कुमार राय
परम्परा की खोज
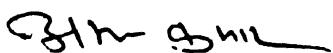
राम आनंद, स्वर्गीया शिवरानी देवी
एव सुधा चौहान (श्रीमती अमृतराय) के साथ
प्रेमचंद के दिनों की याद

राम आनंद (संपादक : प्रेमचद रचनावली) स्व० इलाचन्द्र जोशी के साथ
प्रेमचंद काल से साक्षात्कार

प्रेमचंद स्मृति अंक

मई, 1937 वर्ष 7 : अंक 8

अनुक्रमणिका

मैं लुट गई !

25 जून की ढाई बजे रात को

'बेटा धुन्नू ! जरा पंखा खोल दो, बड़ी गरमी हो रही है, –ये उनके शब्द थे, उसके थोड़ी देर बाद छोटा लड़का बन्नू दौड़ता हुआ मेरे कमरे में आया और बोला–अम्मा, बाबूजी को कै हुई है। आशंका, भय और दु:ख के मारे मैं चौंक पड़ी–झपट कर जब वहां पहुंची और खून की कै देखी तो मैं सिहर उठी।–मानो किसी ने मेरे देह में बिजली छुलाकर घाव कर दिया हो ! थोड़ी देर पश्चात् वह अस्फुट शब्दों में कह गये–रानी ! अब मैं चला।

आती हुई दु:ख की आंधी से सम्हल, धैर्य और साहस को बटोर, मैंने अपने स्वाभाविक शासन-स्वर में कहा–चुप रहो, आप मुझे छोड़कर नहीं जा सकते। तब खून की तरफ इशारा करके बोले–जिसके मुंह से इतना खून निकले, क्या उससे भी तुम आशा रखती हो कि वह जीये? मैंने कहा–आशा क्यों न करूं? मैंने किसी का कुछ भी नहीं बिगाड़ा है। उन्होंने मुंह फेर लिया और मैंने धन्नू को दौड़ाकर डॉक्टर को बुलवाया, डॉक्टर ने आकर ढाढ़स दिया और कहा, केवल पित्त की खराबी है। उसने ऐसे दो चार मरीजों को ठीक किया है। मेरे चित्त को सांत्वना मिली और मुझे विश्वास हो गया कि वे चंगे हो जायंगे।

उस दिन के बाद, आपको अच्छी तरह नींद नहीं आई। रात को आप रोशनी करके लिखते-पढ़ते थे, इस महान् पीड़ा-काल में भी वे बराबर लिखते रहे और इसी दशा में उन्होंने 'मंगलसूत्र' के बीसों सफे लिखे हैं। तबीयत अधिक ख़राब हो जायगी इस भय के मारे मैंने कई बार उनको लिखने से रोका, वे मान गये, परन्तु फिर अधिक बार मैं उनको न रोक सकी। कभी-कभी रात भर उनको नींद नहीं आती थी और इस प्रकार पढ़ने-लिखने में उनका दिल बहलेगा यह सोच कर मैं उनको पुस्तक देती थी। मैं रात-दिन उनके खाट के आसपास चक्कर काटती रहती थी, और उनका सिर सहलाया करती थी। उनके सामने मैं सदैव खुश रहने की चेष्टा करती थी।

एक रात को

मेरे स्वामी के पेट में बहुत दर्द था: मैं उनके सिरहाने बैठी हुई थी, जब दर्द कुछ कम हुआ तो वे बोले–रानी, मुझे तुम्हारी और बन्नू की बड़ी चिन्ता है। धुन्नू तो हाथ पैर वाला है; बेटी की शादी हो गई है–वह सुखी है परन्तु तुम्हारी और बन्नू की क्या दशा होगी? उस समय मेरे संयम, धैर्य और विश्वास के बांध टूट गये, जीवन में मैं पहली बार रो पड़ी। हमेशा मैं समस्त रंजोगम अपने ऊपर सह लेती थी परन्तु उस दिन मैं रो पड़ी। परन्तु मैंने अपने आंसुओं

को छिपा लिया। उन्होंने मेरे हृदय को देख लिया परन्तु आंसुओं को न देख सके; क्योंकि मैं जानती थी कि वे सब दु:ख देख सकते थे परन्तु मेरे आंसू उनके लिए असहनीय थे। इस प्रकार वे बोलते रहे—रानी, मैं भी तुम्हें छोड़कर जाना नहीं चाहता। यहां मैं सब कष्ट सहने को तैयार हूं—परन्तु इसके आगे मेरा बस ही क्या है? इसके बाद ..। फिर वे कहने लगे—रानी, तुम अगले जन्म में मेरी मां थीं और इस जन्म में देवी हो। मैंने उसका मुंह बन्द कर दिया, फिर भी वे कहने लगे—रानी, तुम्हीं मेरी आदि-शक्ति हो; तुम घबराना मत, फिर तुम्हीं कौन यहां बैठी रहोगी? इस प्रकार उस रात को बजाय मेरे, वे मुझे ही सांत्वना देने लगे। मैं चुपचाप बैठी हुई उनका आशीर्वाद ले रही थी; मेरी आंखें झुकी हुई थीं और उनका महान् हाथ मेरे मस्तक पर था ।

बारह वर्ष पूर्व

'प्रेस' खुला गया था, और आप स्वयं वहां काम करते थे; जाड़े के दिन थे। मुझे उनके सूती पुराने कपड़े भद्दे जंचे और गरम कपड़े बनाने के लिए अनुरोधपूर्वक दो बार चालीस-चालीस रुपये दिये परन्तु उन्होंने दोनों बार वे रुपये मज़दूरों को दे दिये। घर पर जब मैंने पूछा—कपड़े कहां हैं? तब आप हंसकर बोले—कैसे कपड़े? वे रुपये तो मैंने मज़दूरों को दे दिये; शायद उन लोगों ने कपड़ा खरीद लिया होगा। इस पर मैं नाराज़ हो गई तब वे अपने सहज स्वर में बोले—रानी, जो दिन भर तुम्हारे प्रेस में मेहनत करे वह भूखा मरे और मैं गरम सूट पहनूं, यह तो शोभा नहीं देता। उनकी इस दलील पर मैं खीझ उठी और बोली—मैंने कोई तुम्हारे प्रेस का ठेका नहीं लिया है। तब आप खिलखिलाकर हंस पड़े और बोले—जब तुमने मेरा ठेका ले लिया है, तब मेरा राह ही क्या? सब कुछ तुम्हारा ही तो है। फिर हम तुम दोनों एक नाव के यात्री हैं; हमारा तुम्हारा कर्त्तव्य जुदा नहीं हो सकता। जो मेरा है वह भी तुम्हारा है क्योंकि मैंने अपने आपको तुम्हारे हाथों में सौंप दिया है। मैं निरुत्तर हो गई और बोली—मैं तो ऐसा सोचना नहीं चाहती। तब उन्होंने असीम प्यार के साथ कहा—तुम पगली हो।

जब मैंने देखा कि इस तरह वे जाड़े के कपड़े नहीं बनवाते हैं तब मैंने उनके भाई साहब को रुपये दिये और कहा कि इनके लिए आप कपड़े बनवा दें। तब बड़ी मुश्किल से आपने कपड़ा खरीदा। जब सूट बनकर आया तब पहनकर मेरे पास आये और बोले—मैं सलाम करता हूं, मैंने तुम्हारा हुक्म बजा लिया है। मैंने भी हंसकर आशीर्वाद दिया और बोली—'ईश्वर तुम्हें सुखी रखे, और हर साल नये-नये कपड़े पहिनो।' फिर मैंने कहा—सलाम तो बड़ों को किया जाता है; मैं तो न उमर में बड़ी हूं, न रिश्ते में, न पदवी में; फिर आप मुझे सलाम क्यों करते हैं? तब उन्होंने उत्तर दिया—उम्र, रिश्ता या पदवी कोई चीज़ नहीं है; मैं तो हृदय देखता हूं और तुम्हारा हृदय मां का हृदय है; जिस प्रकार माता अपने बच्चों को खिला-पिलाकर खुश होती हैं, उसी प्रकार तुम भी मुझे देखकर प्रसन्न होती हो और इसलिए अब मैं हमेशा तुम्हें सलाम किया करूंगा। हा ! पारसाल मई के महीने में उन्होंने स्नान करके नई बनियान पहनी थी और मुझे सलाम किया था—यही उनका अन्तिम सलाम था।

सात साल पहिले

वे लखनऊ में 'माधुरी' का संपादन करते थे; कांग्रेस का तूफानी युग था; मेरे हृदय में भी देश-सेवा की भावना हिलोरें मारने लगीं; एक दिन उन्होंने कहा—आज मैं घर पर ही रहूंगा, अच्छा हो अगर तुम भी आज के लिए न जातीं; नहीं तो अकेले में मेरी तबीयत नहीं लगेगी। मैं रुक

गई परन्तु इतने में कई बहनें आकर मुझे घसीट ले गईं। आखिर में क्या करती? उस दिन शहर में मेरे नाम से नोटिस बंटी थी और मैं जाने के लिए मजबूर की गई थी। आठ बजे रात को जब लौटी तब लड़कों के ज़बानी मालूम हुआ कि आप भी कांग्रेस दफ्तर की तरफ गये हैं। आख़िर आप रात के दो बजे आये, मेरे पूछने पर आप मुस्कराकर बोले—जब तुम्हें देश-प्रेम बेबस कर सकता है तो क्या मुझे नहीं कर सकता? मैंने उसी स्वर में उत्तर दिया—जरूर, क्यों नहीं; तभी तो पोथे के पोथे लिखा करते हो, रात की रात एक-एक बात के सोचने में लगा देते हो; फिर भी रुपयों के दर्शन नहीं होते, मैं कैसे कहूं कि अब तक सरकारी पेंशन पाने लगते। परन्तु उन्होंने मुझे बीच में ही रोक दिया और सहज स्वाभाविक स्वर में बोले—हटाओ जी, इस लालसा को। मैं तो मज़दूर हूं; लिखना मेरा धर्म है—यही मेरी मज़बूरी है; इसमें मुझे सन्तोष है; दु:ख की बात केवल एक यह है कि अगर मैं जेल गया तो तुम्हारी और बच्चों की क्या दशा होगी? कौन तुम्हारी ख़बर लेगा? इस प्रकार उस दिन बड़ी देर तक चर्चा होती रही।

परन्तु आज

आज मैं लुट गई हूं; मेरी समस्त निधि आज ख़ाली हो गई है। आज मुझे अपने ऊपर दु:ख होता है—कि मैं कितनी अभागिन हूं। मेरे समस्त विचार और विश्वास उखड़ रहे हैं; ईश्वर के न्याय पर भी मेरा विश्वास घटता चला जा रहा है। यह तो मेरे जीवन की अमावस्या है। बार-बार यही स्मृति मेरे मन में आती है कि वे कितने महान् थे; देवता थे; और मैंने उन पर शासन किया। वे मेरे इतने निकट थे कि मैं उनके देवत्व को पहचान तक न सकी। मुझमें क्या था—फिर भी उन्होंने मेरा उद्धार किया, प्यार किया, और सम्मान सहित अपने हृदय के ऊंचे से ऊंचे आसन पर बिठाया। उन दिन मुझे कितना गर्व था—मैं रानी थी—वे उपन्यास सम्राट् तो लोगों की आंखों में थे, परन्तु मेरे तो स्वामी होते हुए भी विनीत मित्र थे। मेरे पास उस समय विश्व का समस्त सुख था, परन्तु आज मैं अकेली हूं। आज मेरे जीवन का समस्त बल पानी हो गया है; मेरा मन उचट गया है; न मेरी लेखनी चल सकती है, न घर का काम कर सकती हूं—मैं उस अमूल्य मोती को खोकर दिङ्मूढ़ सी हो गई हूं।

आज इस घर में उनका सरल हास्य नहीं; उनकी सम्पादकीय चौकी खाली है। यों तो सब कुछ है, परन्तु सब होते हुए भी कुछ नहीं है। आज मेरे ईश्वर नहीं हैं। मैं अपना सब कुछ त्याग कर भी उनको बचाना चाहती थी, परन्तु मैं कुछ नहीं कर सकी ! मनुष्य का प्रयत्न इतना तुच्छ है, इसका आज मैं दु:खद अनुभव कर रही हूं।

उनकी स्मृति—'हंस' आज भी जीवित है, परन्तु 'हंस' का वह मोती कहां? शायद मैं इसीलिए जीवित हूं कि मेरे देवता जिस छोटे से पौधे को छोड़कर गये हैं उसको मैं हृदय के ख़ून से सींच कर बड़ा कर जाऊं।

फिर भी मेरे देवता ने सच कहा था, 'मैं पगली हूं' और आज दुनिया की आंखों में भी पगली हूं। बार-बार केवल यही ध्वनि मेरे कानों में आती है, 'मैं लुट गई !'

हां ! मैं लुट गई !

शोक-ग्रस्ता,
उनकी दासी रानी
(श्रीमती शिवरानी देवी)

प्रेमचंद मैंने क्या जाना और पाया

लेखक–श्री जैनेन्द्रकुमार

इस साल की होली को गए दिन अभी ज़्यादा नहीं हुए हैं। इस बार उस दिन हमारे यहां रंग-गुलाल कुछ नहीं हुआ। मुन्नी घर में बीमार थी। मैं अपने कमरे में अकेला बैठा था। मामूली तौर पर होली का दिन फीका नहीं गुजरा करता। पर मुझे पिछले बरस का वह दिन ख़ासतौर से याद आ रहा था। मैं सोच रहा था कि वह दिन तो अब ऐसा गया कि लौटने वाला नहीं है। ये बीतते हुए दिन आख़िर चले कहां जाते हैं? क्या कहीं ये इकट्ठे होते जाते हैं? इस भांति उन जाते हुए दिनों के पीछे पड़कर मैं खुद खोया-सा हो रहा था।

तभी सहसा पत्नी ने आकर कहा–पारसाल इस दिन बाबूजी यहीं थे–

कहती-कहती बीच ही में रुककर वह सामने सूने में देखती हुई रह गईं। मैं भी कुछ कह नहीं सका। उस वक्त तो उनकी ओर देखना भी मुझे कठिन हुआ।

थोड़ी देर बाद बोलीं–मैं आख़िरी वक्त उन्हें देख भी न सकी–अम्मां जी से भी अब तक मिलना न हुआ।

यह कहकर फिर मौन साधकर वह खड़ी हो गईं।

तब मैंने कहा कि उस बात को छोड़ो। यह बताओ कि मुन्नी का क्या हाल है? सो गई है?

'हां, बड़ी मुश्किल से सुला के आई हूं।'

इतने में ही रंग-बिरंग मुंह, तर-बतर कपड़े और हाथ में पिचकारी लिए बड़ा बालक ऊपर आन पहुंचा। जाने क्या उसके कान में भनक पड़ी थी। आते ही उछाह में भरकर बोला–अम्मां, बाबाजी आयेंगे? कब आयेंगे?

अम्मां ने पूछा–कौन बाबाजी?

बालक ने कहा–हां, मैं जानता हूं। पारसाल जो होली पर थे नहीं, वही बाबाजी। मैं सब जानता हूं। अम्मां, वह कब आयेंगे?

उस समय मैंने उसे डपटकर कहा–जाओ, नीचे बालकों में खेलो।

इस पर वह बालक मुझसे भी पूछ उठा–बाबूजी, बनारस वाले बाबाजी आने वाले हैं? वह कब आयेंगे?

मैंने और भी डपटकर कहा–मुझे नहीं मालूम। जाओ, तुम खेलो।

बालक चला गया था। हो सकता है कि नीचे खोला भी हो, लेकिन इस तरह उस पारसाल के होली के दिन की याद के छिड़ जाने से मन की तकलीफ बढ़ गई।

पत्नी मेरी ओर देखती रहीं, मैं उनकी ओर देखता रहा। बोल कुछ सूझता ही न था आख़िर काफी देर बाद वह बोलीं–तुम बनारस कब जाओगे? मैं भी ज़रूर चलूंगी।

मैंने इतना ही कहा कि देखो–

बात यह थी कि पारसाल इसी होली के दिन प्रेमचंद जी नीम की सींक से दांत कुरेदते हुए धूप में खाट पर बैठे थे। नाश्ता हो चुका था और पूरी निश्चिन्तता थी। बदन पर धोती के अलावा बस एक बनियान थी जिसमें उनकी दुबली और लाल-पीली देह छिपती न थी। वक्त साढ़े नौ का होगा। ऐसे ही समय होली वालों का एक दल घर में अनायाम घुस आया और बीसियों

पिचकारियों की धार से और गुलाल से उस दल ने उनका ऐसा सम्मान किया कि एक बार तो प्रेमचंद जी भी चौंक गए। पलक मारने में वह तो सिर से पांव तक कई रंग के पानी से भींग चुके थे। हड़बड़ाकर उठे, क्षण-इक रुके, स्थिति पहचानी, और फिर वह कहकहा लगाया कि मुझे अब तक याद है। बोले—अरे भाई जैनेन्द्र, हम तो मेहमान हैं।

मैंने आगत सज्जनों से, जिनमें आठ बरस के बच्चों से लगाकर पचास बरस के बुजुर्ग भी थे, परिचय कराते हुए कहा—आप प्रेमचंद जी हैं।

यह जानकर सब लोग बहुत प्रसन्न हुए।

प्रेमचंद जी बोले—भाई, अब तो ख़ैर है न। या कि अभी ज़हमत बाकी है?

'लेकिन इन दिनों ख़ैरियत का भरोसा क्या कीजिए। और होली के दिन का तो और भी ठिकाना नहीं है।'

इस पर प्रेमचंद जी ने फिर कहकहा लगाया। बोले—तो कौन कपड़े बदले। हम तो यहीं बैठते हैं खाट पर कि आए जो चाहे।

सच, यकीन करना मुश्किल होता है कि वह दिन अभी एक बरस पहले था और प्रेमचंद जी अब नहीं हैं। फिर भी प्रेमचंद जी तो नहीं ही हैं। इतने दूर हो गए हैं कि जीते जी उन्हें नहीं पाया जा सकता। इस सत्य को जैसे भी चाहे हम समझें, चाहे तो उसके प्रति विद्रोही ही बने रहें पर किसी भी उपाय से उसे अन्यथा नहीं कर सकते।

2

छुटपन से प्रेमचंद जी का नाम सुनता देखता आया हूं। वह नाम कुछ-कुछ इस तरह मन में बस गया था जैसे पुराण-पुरुषों के नाम। मानो वह मनोलोक के ही वासी हैं। सदेह भी वह हैं और इस कर्म-कलाप-संकुलित जगत में हम तुम की भांति कर्म करते हुए जी रहे हैं—ऐसी सम्भावना मन में नहीं होती थी। बचपन का मन था, कल्पनाओं में से रस लेता था। उन्हीं पर पल-झूलकर वह पक रहा था। सन् '26 में शायद, या सन् '27 में, 'रंगभूमि' हाथों पड़ी। तभी चिपटकर उसे पढ़ गया। तब कदाचित् एक ही भाग मिला था, वह भी दूसरा। पर उससे क्या। प्रेमचंद जी की पुस्तक थी और शुरू करने पर छूटना दुष्कर था। उसे पढ़ने पर मेरे लिए प्रेमचंद जी और भी वाध्यता से मनोलोक के वासी हो गए।

पर दिन निकलते गए और इधर मेरा मन भी पकता गया। इधर उधर की सूचनाओं से बोध हुआ कि प्रेमचंद जी लेखक ही नहीं हैं और आकाश-लोक में ही नहीं रहते, वह हम-तुम जैसे आदमी भी हैं। यह जानकर प्रसन्नता बढ़ी, यह तो नहीं कह सकता। पर यह नया ज्ञान विचित्र मालूम हुआ और मेरा कौतूहल बढ़ गया।

सन् '29 आते-आते मैं अकस्मात् कुछ लिख बैठा। यो कहिए कि अघटनीय ही घटित हुआ। जिस बात से सबसे अधिक डरता रहा था—यानी, लिखना—वही सामने आ रहा। इस अपने दुस्साहस पर मैं पहले-पहल तो बहुत ही संकुचित हुआ। मैं, और लिखूं—यह बहुत ही अनहोनी बात मेरे लिए थी। पर विधि पर किसका बस। जब मुझ पर यह आविष्कार प्रगट हुआ कि मैं लिखता हूं तब यह ज्ञान भी मुझे था कि वही प्रेमचंद जो पूरी 'रंगभूमि' को अपने भीतर से प्रगट कर सकते हैं, वही प्रेमचंद जी लखनऊ से निकलने वाली 'माधुरी' के संपादक हैं। सो कुछ दिनों बाद एक रचना बड़ी हिम्मत बांधकर डाक से मैंने उन्हें भेज दी। लिख दिया कि यह संपादक

के लिए नहीं है, ग्रंथकर्ता प्रेमचंद के लिए है। छापे में आने योग्य तो मैं हो सकता ही नहीं हूं, पर लेखक प्रेमचंद उन पंक्तियों को एक निगाह देख सकें और मुझे बता सकें तो मैं अपने को धन्य मानूंगा। कुछ दिनों के बाद वह रचना ठीक-ठीक तौर पर लौट आई। साथ एक कार्ड भी मिला जिस पर छपा हुआ था कि यह रचना धन्यवाद के साथ वापिस की जाती है। यह मेरे दुस्साहस के योग्य ही था, फिर भी मन कुछ बैठने-सा लगा। मैं उस अपनी कहानी को तभी एक बार फिर पढ़ गया। आखिरी स्लिप समाप्त करके उसे लौटता हूं। कि पीठ पर फीकी लाल स्याही में अंग्रेज़ी में लिखा है–'Please ask if this is a translation.' जाने किस अतर्क्य पद्धति से यह प्रतीति उस समय मेरे मन में असंदिग्ध रूप में भर गई हक हो न हो, ये प्रेमचंद जी के शब्द हैं उन्हीं के हस्ताक्षर हैं। उस समय मैं एक ही साथ मानो कृतज्ञता में नहा उठा, मेरा मन तो एक प्रकार से मुर्झा ही चला था, लेकिन इस छोटे-से वाक्य ने मुझे संजीवन दिया। तब से मैं ख़ूब समझ गया हूं कि सच्ची सहानुभूति का एक कण भी कितना प्राणदायक होता है और हृदय को निर्मल रखना अपने आपमें कितना बड़ा उपकार है।

पर मैंने न प्रेमचंद जी को कुछ लिखा, न माधुरी को लिखा। फिर भी तब से अलक्ष्य भाव से प्रेमचंद जी के प्रति मैं एक ऐसे अनिवार्य बंधन से बंध गया कि उससे छुटकारा न था।

कुछ दिनों बाद एक और ('अंधों का भेद') कहानी मैंने उन्हें भेजी। पहली कहानी का कोई उल्लेख नहीं किया। यह फिर लिख दिया कि लेखक प्रेमचंद की उस पर सम्मति पाऊं, यही अभीष्ट है, छपने लायक तो वह होगी ही नहीं। उत्तर में मुझे एक कार्ड मिला। उसमें दो-तीन पंक्तियों से अधिक न थीं। स्वयं प्रेमचंद जी ने लिखा था–'प्रिय महोदय, दो (या तीन) महीने में माधुरी का विशेषांक निकलने वाला है। आपकी कहानी उसके लिए चुन ली गई है।'

इस पत्र पर मैं विस्मित होकर रह गया। पत्र में प्रोत्साहन का, बधाई का, प्रशंसा का एक शब्द भी नहीं था। लेकिन जो कुछ था वह ऐसे प्रोत्साहनों से भारी था। प्रेमचंद जी की अन्तः प्रकृति की झलक पहली ही बार मुझे उस पत्र में मिल गई। वह जितने सद्भावनाशील थे उतने ही उन सद्भावनाओं के प्रदर्शन में संकोची थे। नेकी हो तो कर देना पर कहना नहीं–यह उनकी आदत हो गई थी। मैंने उस पत्र को कई बार पढ़ा था और मैं दंग रह गया था कि यह व्यक्ति कौन हो सकता है जो एक अनजान लड़के के प्रति इतनी बड़ी दया का, उपकार का काम कर सकता है, फिर भी उसका तनिक भी श्रेय लेना नहीं चाहता। अगर उस पत्र के साथ कृपा-भाव (Patronisation) से भरे वाक्य भी होते तो क्या बेजा था। लेकिन प्रेमचंद वह व्यक्ति था जो उनसे ऊंचा था। उसने कभी जाना ही नहीं कि उसने कभी उपकार किया है या कर सकता है। नेकी उससे होती थी, उसे नेकी करने की ज़रूरत न थी। इसलिए वह ऐसा व्यक्ति था जिससे बदी नहीं हो सकती।

लेकिन मैं तो तब बच्चा था न। अपने को छपा देखने को उतावला था। लिखा–अगर वह कहानी छापने योग्य है तो अगले अंक में ही छपा दीजिए। विशेषांक के लिए और भेज दूंगा।

उत्तर आया–'प्रिय महोदय, लिखा जा चुका है कि वह कहानी विशेषांक के लिए चुन ली गई है, उसी में छपेगी।'

इस उत्तर पर मैं उसके लेखक की ममताहीन सद्भावना पर चकित होकर रह गया। अब भी मैं उसके याद कर विस्मय से भर जाता हूं। मुझे मालूम होता है कि प्रेमचंद जी की सबसे घनिष्ट विशेषता यही है। यही साहित्य में खिली और फली है। उनके साहित्य की रग-रग में सद्भावना व्याप्त है। लेकिन भावुकता में वह सद्भावना किसी भी स्थल पर कच्ची या उथली नहीं हो गई। वह अपने में समाई है, छलक-छलक नहीं पड़ती। प्रेमचंद का साहित्य इसीलिए पर्याप्त कोमल न दीखे, पर ठोस है और खरा है। उसके भीतर भावना की अडिग सचाई है। व्यक्ति के व्यक्तित्व की एक सहज दुर्बलता है, दया। दयावान दूसरे को दयनीय मानता है तभी दया कर सकता है। उसमें दम्भ भी आता है। प्रेमचंद इस बात को समझते थे और वह शायद ही कभी वहां तक नीचे गिरे। सचाई तक ही उठने की कोशिश करते रहे।

उसके बाद अचानक उनका एक पत्र आया। लिखा था—'त्याग भूमि' में तुम्हारी कहानी 'परीक्षा' पढ़ी। पसंद आई। बधाई।

इस पत्र से तो जैसे एकाएक मुझ पर वज्र गिरा। मन की सद्भावना कैसे किसी को भीतर तक भीगो कर कोमल कर सकती है, उसे अपने अपदार्थ होने का भान करा सकती है, यह तब से मैं समझने लगा हूं। उस पत्र से मेरा दिल तो बढ़ा ही लेकिन सच पूछो तो कहीं भीतर कठोर बन कर जमा हुआ मेरा अहंकार उस पत्र की चोट से बिल्कुल बिखर गया और मैं मानो एक प्रकार के सुख से रो-रो आया।

अहंकार आत्म के बचाव का ज़रिया (A measure of self-defence) है। वह अपनी हीनता के दबाव से बचने के प्रयत्न का स्वरूप है। उसमें व्यक्ति अपने में ही उभरा हुआ दीखना चाहता है। प्रयास यह अयथार्थ है। जब हम अपनी हीनता दूसरे के निकट स्वीकार लेते हैं, उसे निवेदन कर देते हैं, तब अहंकार व्यर्थ होकर सहसा ही बिखर जाता है। तब एक निर्मल गर्व का भाव होता है जिसका हीनता-बोध से संबन्ध नहीं होता। वह अहंकार से बिल्कुल ही और वस्तु है।

प्रेमचंद जी के उस पत्र के नीचे मैंने अपने को कृतार्थ भाव से हीन स्वीकार किया, और मैने उसको प्रेमचंद जी का आशीर्वाद ही माना। उस समय किसी भी प्रकार मैं उसको अपनी योग्यता का सर्टिफिकेट नहीं मान सका। फिर भी आशीर्वाद का पात्र बन सका, यही गर्व क्या मेरे लिए कम था। मैंने पाया है, गुरुजनों का आशीर्वाद मन के काठिन्य को, कल्मष को धोता है। पर उसे आशीष के रूप में ही ग्रहण करना चाहिए। अन्यथा वही शाप भी हो सकता है।

उसके बाद से पत्र-व्यवहार आरम्भ हो गया। फिर जो कहानी (आतिथ्य) भेजी उसको प्रकाशन के लिए अस्वीकार करते हुए उन्होंने खुलकर लिखा—कहानी में 'यह' होना चाहिए, कहानी 'ऐसी' होनी चाहिए। मेरी धृष्टता देखो, कि मैंने शंका की कि, कहानी में क्यों 'यह' होना चाहिए, और क्यों कहानी 'ऐसी' ही होनी चाहिए। छोटे मुंह बड़ी बात करते मुझे शर्म आनी चाहिए थी, पर प्रेमचंद जी ने जरा भी वह शर्म मेरे पास न आने दी। इतना ही नहीं, बल्कि मुझे तो यह मालूम होता है कि उस प्रकार की निर्लज्ज शंका के कारण तो मानो और भी उन्होंने मुझे अपने पास ले लिया। शंकाओं के उत्तर में एक प्राकर से उन्होंने यह भी मुझे सुझाया और याद रखने को कहा कि 'मुझे' निर्भ्रान्त न मानना। कहानी हृदय की वस्तु है, नियम की वस्तु नहीं है। नियम हैं और वे उपयोगी होने के लिए हैं। हृदय के दान में जब अनुपयोगी हो जायं तब बेशक

उन्हें उल्लंघनीय मानना चाहिए। लेकिन–।' उनका ज़ोर इस अंतिम 'लेकिन' पर अवश्य रहता था। नियम बदलेंगे, वे टूटेंगे भी, पर इस 'लेकिन' से सावधान रहना होगा। प्रेमचंद जी इस 'लेकिन' की और उससे आगे की ज़िम्मेदारी स्वयं न लेकर मानो निर्णयक के ऊपर ही छोड़ देते थे। मानो कहते हों–'उधर बहुत ख़तरा है, बहुत खटका है। मेरी सलाह तो यही है, यही होगी कि उधर न बढ़ा जाय। फिर भी यदि कोई बढ़ना चाहता है तो वह जाने, उसका अन्तःकरण जाने। कौन जाने कि मुझे खुशी ही हो कि कोई है तो, जो ख़तरा देखकर भी (या ही) उधर बढ़ना चाहता है।' कई बार उन्होंने कहा है–'जैनेन्द्र, हम समाज के साथ हैं, समाज में हैं।' यह इस भाव से कहा कि मानो कहना चाहते हों कि–'जो हीन-दृष्टि इतना तक नहीं देखता उसे तर्क में पड़ने की अपनी ओर से मैं पूरी छुट्टी देता हूं।'

3

इस भांति दूर-दूर रहकर भी चिट्ठी-पत्री द्वारा परस्पर का अपरिचय बिल्कुल जाता रहा था। कुंभ के मेले पर इलाहाबाद जाना हुआ। वहां प्रेमचंद जी का जवाब भी मिल गया। लिखा था–'अमीनुद्दौला पार्क के पास लाल मकान है। लौटते वक्त आओगे ही। जरूर आओ।'

सन् '30 की जनवरी थी। खासे जाड़े थे। बनारस से गाड़ी लखनऊ रात के कोई चार बजे ही जा पहुंची थी। अंधेरा था और शीत भी कम न थी। ऐसे वक्त अमीनुद्दौला पार्क के पास वाला, लाल मकान मिल तो जायगा ही, पर मुमकीन है असुविधा भी कुछ हो। लेकिन दरअसल जो परेशानी उठानी पड़ी उसके लिए मैं बिल्कुल तैयार न था।

क्या मैं जानता न था कि मैं प्रेमचंद जी के यहां जा रहा हूं? जी हां, वही जो साहित्य के सम्राट् हैं, घर-घर जिनके नाम की चर्चा है, उनके-से मशहूर आदमी हैं कितने! मैं जानता था और बड़ी ख़ुशी से हर किसी को जतलाने को उत्सुक था कि मैं उनके, उन्हीं के यहां जा रहा हूं।

लेकिन मैं अपने को कितना भी ज्ञानी जानता होऊं, और अख़बार में छपने लायक दो-एक कहानियां भी लिख चुका होऊं पर यह जानना मुझे बाकी था कि मैं कितना भूला, भोला कितना मूर्ख हूं। महत्ता के साथ मेरे दिमाग में जैसे अगले कदम पर ही महल आ जाता था। जो महल में प्रतिष्ठित नहीं है, क्या ऐसी भी कोई महत्ता हो सकती है? पर मुझे जानना शेष था कि महल और चीज़ है, महत्ता और चीज है। उन दोनों में कोई बहुत सगा सम्बन्ध नहीं है। महत्ता मन से बनती है, महल पत्थर का बनता है। अतः इन दोनों तत्त्वों में मित्रता अनिवार्य नहीं। किन्तु इस सद्ज्ञान से मैं तब तक सर्वथा शून्य था।

पांच बजे के लगभग अमीनुद्दौला पार्क की सड़क के बीचोंबीच आ खड़ा हो गया हूं, सामान सामने निर्जन एक दुकान के तख़्तों पर रखा है। इक्का-दुक्का शरीफ आदमी टहलने के लिए आ जा रहे हैं। मैं लगभग प्रत्येक से पूछता हूं–जी, माफ कीजिएगा। प्रेमचंद जी का मकान आप बतला सकते हैं? नजदीक ही कहीं है। जी हां, प्रेमचंद।

सज्जन विनम्र, कुछ सोच में पड़ गए। माथा खुजलाया, बोले–प्रेमचंद! कौन प्रेमचंद?

'जी वही आला मुसन्निफ। नावलिस्ट। वह एडिटर भी तो हैं, साहब। मशहूर आदमी हैं।'

'ऐं-ऐं, पि रे म चं द!' और सज्जन विनीत असमंजस में पड़कर मुझसे क्षमा मांग उठे। क्षमा मांग, बिदा ले, छड़ी उठा, मुझे छोड़ वह अपनी सैर पर बढ़ गए।

उस सड़क पर ही मुझे छ: बज आए। साढ़े छ: भी बजने लगे। तब तक दर्जनों सज्जनों को मैंने क्षमा किया। लगभग सभी को मैंने अपने अनुसंधान का लक्ष्य बनाया था। लेकिन मेरे मामले में सभी ने अपने को निपट असमर्थ प्रगट किया। मैं उनकी असमर्थता पर खीझ तक भी तो न सका क्योंकि वे सचमुच ही असमर्थ थे।

आस-पास मकान कम न थे और लाल भी कम न थे। और जहां मैं खड़ा था, वहां से प्रेमचंद जी का मकान मुश्किल से बीस गज निकला, लेकिन उस रोज़ मुझे संभ्रांत श्रेणी से प्रेमचंद जी तक के उस बीस गज़ के दुर्लन्घ्य अन्तर को लांघने में काफी देर लगी। और क्या इसे एक संयोग ही कहूं कि अन्त में जिस व्यक्ति के नेतृत्व का सहारा थामकर मैं उन बीस गजों को पार कर प्रेमचंद जी के घर पर आ लगा वह कुलशील की दृष्टि से समाज का उच्छिष्ट ही था?

मैंने अचानक ही उससे पूछा था—भाई, प्रेमचंद जी का घर बता सकते हो?

उसने कहा—मुंशी प्रेमचंद?

किन्तु मैं किसी प्रकार के मुंशीपन की मार्फत तो प्रेमचंद जी को जानता न था। मैंने कहा—अच्छा, मुंशी ही सही।

'वह तो है' यह कहकर वह आदमी उठा और मेरे साथ बताने चल दिया। मैंने कहा—ठहरो, जरा सामान ले लूं। वह व्यक्ति इस पर मेरे साथ-साथ आया, बिना कुछ कहे सुने मेरे हाथ से सामान उसने ले लिया। और प्रेमचंद जी के मकान के जीने के आगे उसे रखकर बोला—घर यह है। अब गुहार लो।

मैंने आवाज दी। वह आवाज इस योग्य न रही होगी कि दूसरी मंजिल पर चढ़कर द्वार-दीवार लांघती हुई भीतर तक पहुंच जाय। इसलिए उस व्यक्ति ने तत्पर होकर पुकारा—बाबूजी ! बाबूजी !

थोड़ी देर बाद जीने के ऊपर से आवाज आई—कौन साहब हैं?

'मैं जैनेन्द्र।'

'आओ भाई।'

4

ज़ीने के नीचे से झांकने पर मुझे जो कुछ ऊपर दीखा उससे मुझे बहुत धक्का लगा। जो सज्जन ऊपर खड़े थे उनकी बड़ी घनी मूंछें थीं, पांच रुपये वाली लाल-इमली की चादर ओढ़े थे जो काफी पुरानी और चिकनी थी, बालों ने आगे आकर माथे को कुछ ढंक-सा लिया था और माथा छोटा मालूम होता था। सिर ज़रूरत से छोटा प्रतीत हुआ। मामूली धोती पहने थे जो घुटनों से जरा नीचे तक आ गई थी। आंखों में खुमारी भरी दीखी मैंने जान लिया कि प्रेमचंद यही हैं। इस परिज्ञान से बचने का अवकाश न था। पर उनको ही प्रेमचंद जानकर मेरे मन को कुछ सुख उस समय नहीं हुआ। क्या जीते जी प्रेमचंद इनको ही मानना होगा? इतनी दूर से, इतनी आस बांध कर क्या इन्हीं मूर्ति के दर्शन करने मैं आया हूं? एक बार तो जी में आया कि अपने मन के असली रमणीक प्रेमचंद के प्रति आस्था कायम रखनी हो तो मैं यहां से लौट ही क्या न जाऊं?

प्रेमचंद के नाम पर यह सामने खड़ा व्यक्ति साधारण, इतना स्वल्प, इतना देहाती मालूम हुआ कि–

इतने में उस व्यक्ति ने फिर कहा–आओ भाई, आ जाओ।

मैं एक हाथ में उस बक्स उठा ज़ीने पर जो चढ़ने लगा कि उस व्यक्ति ने झटपट आकर उस बक्स को अपने हाथ में ले लेना चाहा। बक्स तो ख़ैर मैंने छिनने न दिया; लेकिन तब वह और दो-एक छोटी-मोटी चीज़ों को अपने हाथ में थामकर ज़ीने से मुझे ऊपर ले गए।

घर सुव्यवस्थित नहीं था। आंगन में पानी निरुद्देश्य फैला था। चीज़ें भी ठीक अपने-अपने स्थान पर नहीं थीं। पर पहली निगाह ही यह जो कुछ दीखा, दीख सका। आगे तो मेरी निगाह इन बातों को देखने के लिए ख़ाली ही नहीं रही। थोड़ी ही देर में मुझे भूल चला कि यह तनिक भी पराई जगह है। मेरे भीतर की आलोचनाशक्ति न कुछ देर में मुरझा सोई।

सब काम छोड़ प्रेमचंद जी मुझे लेकर बैठ गए। सात बज गए, साढ़े सात बज गए, आठ होने आए, बातों का सिलसिला टूटता ही न था। इस बीच मैं बहुत कुछ भूल गया। यह भूल गया कि यह प्रेमचंद हैं, हिन्दी के साहित्य सम्राट हैं। यह भी भूल गया कि मैं उसी साहित्य के तट पर भौंचक खड़ा अनजान बालक हूं। यह भी भूल गया कि क्षण भर पहले इस व्यक्ति की मुद्रा पर मेरे मन में अप्रीति, अनास्था उत्पन्न हुई थी। देखते-देखते बातों-बातों में मैं एक अत्यन्त घनिष्ट प्रकार की आत्मीयता में घिर कर ऊपरी सब बातों को भूल गया।

उस व्यक्ति की बाहरी अनाकर्षकता उस क्षण से जाने किस प्रकार मुझसे अपने आपमें सार्थक वस्तु जान पड़ने लगी। उनके व्यक्तित्व का बहुत कुछ आकर्षण उसी अ-कोमल आनबान में था। अपने ही जीवन-इतिहास की वह प्रतिमा थे। उनके चेहरे पर बहुत कुछ लिखा था जो पढ़ने योग्य था। मैं सोचा करता हूं कि बादाम की मीठी गिरी के लिए, उस गिरी की मिठास के लिए, उस मिठास की रक्षा के लिए क्या यह नितांत उचित और अनिवार्य नहीं है कि उसके ऊपर का छिलका खूब कड़ा हो। मैं मानता हूं कि उस छिलके को कड़ा होने का अवकाश, वैसी सुविधा न हो, बादाम को कभी बादाम बनने का सौभाग्य भी नसीब न हो।

इस जगह आकर प्रेमचंद की मेरी अपनी काल्पनिक मूर्तियां जो अतिशय छटामयी और प्रियदर्शन थीं एकदम ढह कर चूर-चूर हो गईं और मुझे तनिक भी दु:ख नहीं होने पाया। माया सत्य के प्रकाश पर टूट बिखरे तो दु:ख कैसा। आते ही एक डेढ़ घंटे के करीब बातचीत हुई और फलत: प्रेमचंद के प्रति मेरी आस्था इतनी पुष्ट हो गई कि उसके बाद किसी भी वेश-भूषा में, रंग-रूप में वह उपस्थित क्यों न होते, अकुंठित भाव से उनके चरण छुए बिना मैं न रहता।

मैं यह देखकर विस्मित हुआ कि आधुनिक साहित्य की प्रवृत्ति स वह कितने घनिष्ट रूप में अवगत हैं। योरोपीय साहित्य में जानने योग्य उन्होंने जाना है। जानकर ही नहीं छोड़ दिया, उसे भीतर से पहचाना भी है और फिर रखा और तौला है। वह अपने प्रति सचेत हैं, Consistent हैं, स्वनिष्ट हैं।

मैंने कहा–बंगाली साहित्य हृदय को अधिक छूता है–इससे आप सहमत हैं? तो इसका कारण क्या है?

प्रेमचंद जी ने [illegible] सहमत [illegible] कारण, उसमें स्त्री-भावना अधिक है। मुझ में वह काफी नहीं है।

' सुनकर मैं उनकी ओर देख उठा। पूछा—स्त्रीत्व है, इसी से वह साहित्य हृदय को अधिक छूता है?

बोले—हां तो। वह जगह-जगह Reminiscent (स्मरणशील) हो जाता है। स्मृति में भावना की तरलता अधिक होती है, संकल्प में भावना का काठिन्य अधिक होता है। विधायकता के लिए दोनों चाहिए—

कहते-कहते उनकी आंखें मुझसे पार कहीं देखने लगी थीं। उस समय उन आंखों की सुर्खी एकदम गायब होकर उनमें एक प्रकार की पारदर्शी नीलिमा भर गई थी। मानो अब उनकी आंखों के सामने जो हो, स्वप्न हो। उनकी वाणी में एक प्रकार की भीगी कातरता बजने लगी। वह स्वर मानो उच्छ्वास में निवेदन करता हो कि 'मैं कह तो रहा हूं पर जानता मैं भी कुछ नहीं हूं। शब्द तो शब्द हैं; तुम उन पर मत रुकना। उनके आगोचर में जो भाव ध्वनित होता हो उसी में पहुंच कर जो पाओगे पाओगे। वहीं पहुंचो, हम तुम पर रुको नहीं। राह में जो है बाधा है। लांघते जाओ लांघते जाओ। उल्लंघित होने में ही बाधा की सार्थकता है।'

बोले—जैनेन्द्र, मुझे कुछ ठीक नहीं मालूम। मैं बंगाली नहीं हूं। वे लोग भावुक हैं। भावुकता में जहां पहुंच सकते हैं, वहां मेरी पहुंच नहीं। मुझमें उतनी देन कहां? ज्ञान से जहां नहीं पहुंचा जाता, वहां भी भावना से पहुंचा जाता है। वहां भावना से ही पहुंचा जाता है। लेकिन जैनेन्द्र, मैं सोचता हूं काठिन्य भी चाहिए—

कहकर प्रेमचंद जैसे कन्या की भांति लज्जित हो उठे। उनकी मूंछें इतनी घनी थीं कि बेहद। उनमें सफेद बाल तब भी रहे होंगे। फिर भी मैं कहता हूं, वह कन्या की भांति लज्जा में घिर गए। बोले—जैनेन्द्र, रवीन्द्र, शरत् दोनों महान् हैं। पर हिन्दी के लिए क्या वही रास्ता है, शायद नहीं। हिन्दी राष्ट्रभाषा है। मेरे लिए तो वह राह नहीं ही है।

उनकी वाणी में उस समय स्वीकारोक्ति (Confession) ही बजती मुझे सुन पड़ी। गर्वोक्ति की तो वहां संभावना ही न थी।

बातों का सिलसिला अभी और भी चलता लेकिन भीतर से खबर आई कि अभी डॉक्टर के यहां से दवा तक लाकर नहीं रखी गई है, ऐसा हो क्या रहा है! दिन कितना चढ़ गया, क्या इसकी भी खबर नहीं है?

प्रेमचंद अप्रत्याशित भाव से उठ खड़े हुए। बोले—ज़रा दवा ले आऊं, जैनेन्द्र। देखो, बातों में कुछ ख्याल ही न रहा।

कहकर इतने ज़ोर से कहकहा लगाकर हंसे कि छत के कोनों में लगे मकड़ी के जाले हिल उठे। मैं तो भौंचक रहा ही। मैंने इतनी खुली हंसी जीवन में शायद ही कभी सुनी थी।

बोले—और तुम भी तो अभी शौच नहीं गये होगे। वाह, यह खूब रही! और हंसी का वह कहकहा और भी द्विगुणित वेग से घर भर में गूंज गया। अनंतर, मेरे देखते-देखते लपककर स्लीपर पहने, आले में से शीशी उठाई और उन्हीं कपड़ों दवाई लेने बाहर निकल गये।

मेरे मन पर प्रेमचंद के साक्षात्कार की पहली छाप यह पड़ी कि यह व्यक्ति जो भी है, उससे तनिक भी अन्यथा दीखने का इच्छुक नहीं है। इसे अपने महत्त्व या दूसरों के सम्मान में आसक्ति नहीं है। इस व्यक्ति को अपने सम्बन्ध में इतना ही पता है कि कोटि-कोटि आदमियों के बीच में वह भी एक आदमी है। उससे अधिक कुछ होने का, या पाने का वह दावेदार न बनेगा। मानवोचित सम्मान का हकदार वह है, और बस; उससे न कम न ज़्यादा।

उन दिनों अपने सरस्वती प्रेस, काशी से 'हंस' निकालने का निश्चय हो रहा था। मैंने पूछा कि प्रेस छोड़कर, अपने गांव का घर छोड़कर, यहां लखनऊ में नौकरी करें, ऐसी क्या आपके साथ कोई लाचारी है?

उनसे यह मेरी पहली मुलाकात थी। हममें कोई समानता न थी। मेरा यह प्रश्न घृष्टतापूर्ण समझा जा सकता था। लेकिन मैंने कहा न कि पहले ही अवसर पर उनके प्रति मैं अपनी सब दूरी खो बैठा था। मैं लाख छोटा होऊं, पर प्रेमचंद जी इतने बड़े थे कि अपनी उपस्थिति में वह मुझे तनिक भी अपने तईं हीन अनुभव नहीं होने देते थे। प्रश्न के उत्तर में निस्संकोच और अंकुठित भाव से अपनी आर्थिक अवस्था अथवा दुरवस्था सब कह सुनाई। तब मुझे पता चला कि यह प्रेमचंद जो लिखते हैं वह केवल लिखते ही नहीं हैं, उसको मानते भी हैं, उस पर जीते भी हैं। असहयोग में उन्होंने नौकरी छोड़ दी थी। कुछ दिनों तो वह 'असहयोग' ही एक काम रहा। फिर क्या करें? कुछ दिनों कानपुर विद्यालय में अध्यापकी की। फिर काशी विद्यापीठ में आये। आंदोलन तब मध्यम पड़ गया था। सोचने लगे, कहीं ऐसा तो नहीं है कि मैं और मेरा वेतन विद्यापीठ पर बोझ हो रहा हो। इस तरह के सोच विचार में उसे छोड़ दिया। अब क्या करें?

क्यों, मैंने कहा—आपके हाथ में तो कलम थी। फिर प्रश्न कैसा कि क्या करें?

नहीं जैनेन्द्र, वह बोले—तुम्हारा ख़्याल ठीक नहीं है। यह मुल्क विलायत नहीं है। विलायत हो जाय, यह भी शायद मैं नहीं चाहूंगा।

फिर बताया कि लिखने पर निर्भर रहकर काम नहीं चलता। मन भी नहीं भरता, ख़र्च भी पूरा नहीं होता। तबीयत बेचैन हो जाती है। फिर किन-किन हालतों में से गुजरना पड़ा, यह भी सुनाया। आख़िर यहां-वहां से कुछ पूंजी बटोरकर प्रेस खोला। पर बाज़ार वालों से निपटना न आता था। प्रेस एक गले का कौर बन गया जो न निगला जाय, न उगलते ही बने। अपना लेना पटे नहीं, देनदारों को देना सो पड़े ही। ऐसी हालत में प्रेमचंद जी जैसे व्यक्ति की गति अकथनीय हो गई। और कुछ न सूझा, तो प्रेस में ताला डाल घर बैठ रहे। प्रेस न चले तो न, पर जान को कब तक घुलाया जाय? पर ऐसी हालत में पैसे का अभाव ही चारों ओर दीखने लगा। और उस अभाव से घिर कर तबीयत घुटने लगी।

अब बताओ जैनेन्द्र, वह बोले—क्या अब भी नौकरी न करता? अब यह है कि रोटी तो चल जाती है। प्रेस प्रवासीलाल चलाते हैं। और बोले कि प्रेस से एक मासिक पत्र निकालना तय किया है, 'हंस'। क्या राय है?

मैंने पूछा—क्यों तय किया है?

'प्रेस का पेट भरना है कि नहीं। छपाई का काम काफी नहीं आता और फिर हमारा यह साहित्य का शगल भी चलता रहेगा।'

मैंने कहा—अच्छा तो है।

बोले—'हंस' को कहानियों का अखबार बनाने का इरादा है। उम्मीद तो है कि चल जाना चाहिए। ईश्वरप्रसाद जी को जानते तो हो न? नहीं? खैर, शाम को 'हंस' का कवर-डिज़ाइन लाएंगे। ज़िंदादिल आदमी हैं, मिलकर खुश होगे। कहानियों का एक अख़बार हिन्दी में हो, इसका वक्त आ गया है। क्यों?

'हंस' के संबंध में उनको मिथ्या आशाएं न थीं पर वह उत्साहशील थे। 'हंस' के समारंभ को लेकर वह उस समय नवयुवक की भांति अपने को अनुभव करते थे।

पहली मुलाकात में मैं वहां ज्यादा देर नहीं ठहरा। सवेरे गया, शाम को चल दिया। लेकिन इसी बीच में प्रेमचंद जी की अपनी निजता और आत्मीयता पूरी तरह प्रस्फुटित होकर मेरे सामन आ गई।

5

खाना खा-पीकर बोले—जैनेन्द्र, चलो दफ्तर चलते हो?

मैं चलने को उद्यत था ही। जिस ढंग से उन्होंने इक्के वाले को पुकारा, उसको पटाया, इक्के में बैठते-बैठते उसके कुशल-क्षेम की भी कुछ खबर ले ली, जिस सहजभाव से उन्होंने उससे एक प्रकार की अपनी समकक्षता ही स्थापित कर ली—वह सब कहने की यह जगह शायद न हो लेकिन मेरे मन पर वह बहुत ही सुंदर रूप में अंकित है।

रास्ते में एकाएक बोल—कहो जैनेन्द्र, सामुद्रिक शास्त्र के बारे में तुम्हारी क्या राय है?

मैंने पूछा—आप विश्वास करते हैं?

बोले—क्या बताऊं, लेकिन दफ्तरी एक दोस्त हैं, अच्छा हाथ देखना जानते हैं। भाई उनकी बताई कई बातें ऐसी सही बैठी हैं कि मैं नहीं कह सकता, यह सारा शास्त्र पाखंड है।

मैंने कहा—तो आप विश्वास करते हैं! मैं तो कभी नहीं कर पाया।

बोले—इतने लोग इतने काल से ईमानदारी के साथ इस ओर अनुसंधान में लगे रहे हैं, उनके परिणामों की हम अवज्ञा कर सकते हैं?

मुझे यह सुनकर विस्मय हुआ। मैंने कहा—तो विश्वास करना ही होगा? आप परमात्मा में जो विश्वास नहीं करते हैं।

प्रेमचंद जी गम्भीर हो गये। बोले—जैनेन्द्र, मैं कह चुका हूं, मैं परमात्मा तक नहीं पहुंच सकता। मैं उतना विश्वास नहीं कर सकता। कैसे विश्वास करूं, जब देखता हूं, बच्चा बिलख रहा है, रोगी तड़प रहा है। यहां भूख है, क्लेश है, ताप है। वह ताप इस दुनिया में कम नहीं हैं। तब उस दुनिया में मुझे ईश्वर का साम्राज्य नहीं दीखे, तो यह मेरा कसूर है? मुश्किल तो यह है कि ईश्वर को मानकर उसे दयालु भी मानना होगा। मुझे वह दयालु नहीं दीखती। तब उस दयासागर में विश्वास कैसे हो? जैनेन्द्र, तुम विश्वास करते हो?

मैंने कहा—उससे बचने का रास्ता मुझे कहीं नजर नहीं आता।

प्रेमचंद जी मौन हो गये। उनकी आंखों की पुतलियां स्थिर हो गई और वहीं दूर गड़ गई। उस मग्न मौन की गंभीरता ऐसी थी कि हम सब उसमें दब ही जायं।

आफिस पहुंचकर उन मित्र को मेरा साथ दिखलाया गया। उन्होंने काफी युक्तिपूर्ण बातें कहीं। मेरे लिए दुष्कर था कि वह डालूं कि जो कुछ बताया गया, वह गलत है। आफिस से लौटते वक्त प्रेमचंद जी ने पूछा—कहो जैनेन्द्र, अब क्या कहते हो?

मैंने कहा—सामुद्रिक शास्त्र पर मेरी आस्था की बात पूछते हो? वह ज्यों-की-त्यों है, यानी दृढ़ नहीं हुई।

यह बात सुनकर जैसे प्रेमचंद जी को दु:ख हुआ। दूसरों के अनुभव-ज्ञान की यह उन्हें अवज्ञा ही प्रतीत हुई। प्रेमचन्द जी के मन में यों मूलतत्त्व—अर्थात्, इश्वर के सम्बन्ध में चाहे अनास्था ही हो, लेकिन मानव-जाति द्वारा अर्जित वैज्ञानिक हेतुवाद पर और उसके परिणामों पर उनको पूरी आस्था थी। असम्मान उनके मन में नहीं था। वह कुछ भी हों, कट्टर नहीं थे।

दूसरों के अनुभवों के प्रति उनमें ग्रहण-शील वृत्ति थी। धर्म के प्रति उपेक्षा और सामुद्रिक शास्त्र में उनका यथा-किंचित् विश्वास–ये दोनों-वृति उनमें युगवत् देखकर मेरे मन में कभी--कभी कौतूहल और जिज्ञासा भी हुई है, लेकिन मैंने उनके जीवन में अब तक इन दोनों परस्पर विरोधात्मक तत्त्वों को निभते देखा है। वह अत्यंत स-प्रश्न थे, किन्तु तभी अत्यंत श्रद्धालु भी थे। कई छोटी-छोटी बातों को ज्यों-का-त्यों मानते और पालते थे, कई बड़ी-बड़ी बातों में साहसी सुधारक थे।

उसी शाम रुद्रनारायण जी भी आए थे। टॉल्स्टाय के लगभग सभी ग्रन्थ उन्होंने अनुवाद कर डाले थे। पर छापने को कोई प्रकाशक न मिलता था। इतनी लगन और मेहनत अकारथ जा रही थी। छोटा-मोटा प्रकाशक तो इस काम को उठाता कि भरोसे पर, पर साधन संपन्न बड़े प्रकाशक भी किनारा दे रहे थे। इस स्थिति पर प्रेमचंद भी खिन्न थे। उनका मन वहां था जहां साहित्य की असली नब्ज़ है। बाजज़ार की यथार्थताओं पर उनका मन मलिन हो आता था।

रात को जब चलने की बात आई तब बोले–तो आज ही तुम चल भी दोगे? मैं सोचे बैठा था कुछ रोज़ ठहरोगे।

उनके शब्दों में कोई स्पष्ट आग्रह नहीं था। आग्रह उनके स्वभाव में ही नहीं था। किसी के जाने-आने की सुविधा-व्यवस्था के बीच में वह कभी अपनी इच्छाओं को नहीं डालते थे। किसी के काम में अड़चन बनने से वह बचते थे। यहां तक कि लोगों से मिलत-जुलते असमंजस होता था कि कहीं मैं उनका हर्ज न कर रहा होऊं। आज के कर्मव्यस्त युग में यह उनके स्वभाव की विशेषता बहुत ही मूल्यवान थी। चाहे साहित्य-रसिकों को यह थोड़ी बहुत अखरे ही।

6

फिर सन् '30 का राष्ट्रीय आंदोलन आ गया जिसमें बहुत लोग जेल पहुंचे। इस बीच 'हंस' निकल गया ही था। प्रेमचंद जी उसके तो संपादक ही थे, इधर-उधर भी लिखते थे, आंदोलन में योग देते थे, और 'गबन' उपन्यास तैयार कर रहे थे। यह भाग्य ही हुआ कि वह जेल नहीं गए। उनको जेल के बाहर रहना ज़्यादा कठिन तपस्या थी। जेल में मैंने जो उनके पत्र पाए उससे मैंने जाना प्रेमचंद जी में मैंने क्या निधि पाई है। आरंभ में ही प्रेमचंद जी ने सूचना दी–'मेरी पत्नी जो भी पिकेटिंग के जुर्म में दो महीने की सज़ा पा गई हैं। कल फैसला हुआ है। इधर पन्द्रह दिन से इसी में परेशान रहा। मैं जाने का इरादा ही कर रहा था पर उन्होंने खुद जाकर मेरा रास्ता बंद कर दिया।'

उनके पत्रों में हिन्दी साहित्य की विहंगम आलोचना रहा करती थी, कुछ अपने मन की और स्थिति की, सुख-दुःख की बातें रहा करती थीं। एक पत्र में लिखा–

' 'गबन' अभी तैयार नहीं हुआ, अभी सौ पृष्ठ और होंगे। यह एक सामाजिक घटना है। मैं पुराना हो गया हूं और पुरानी शैली को निभाए जाता हूं। कथा को बीच से शुरू करना या इस प्रकार शुरू करना कि जिसमें ड्रामा का चमत्कार पैदा हो जाय, मेरे लिए मुश्किल है।'

मंगलाप्रसाद पारितोषिक पर लिखा–'पुरस्कारों का विचार करना मैंने छोड़ दिया। अगर मिल जाय तो ले लूंगा, पर इस तरह जैसे पड़ा हुआ धन मिल जाय। (अमुक) को या (अमुक) पा जायं, मुझे समान हर्ष होगा।'

आगे लिखा–'मैं तो कोई स्कूल नहीं मानता। आपने ही एक बार प्रसाद-स्कूल, प्रेमचंद-

स्कूल की चर्चा की थी। शैली में ज़रूर कुछ अन्तर है मगर वह अन्तर कहां है यह मेरी समझ में खुद नहीं आता। प्रसाद जी के यहां गम्भीरता और कवित्व अधिक है। Realist हममें से कोई भी नहीं है। हममें से कोई भी जीवन को उसके यथार्थ रूप में नहीं दिखाता बल्कि उसके वांछित रूप ही में दिखाता है। मैं नग्न यथार्थवाद का प्रेमी भी नहीं हूँ।'

किसी को अपनाने का उनका तरीका ही अलग था। इस पत्र में मुझे अपनाया क्या बनाया ही गया है। पर संपादकीय रवादारी देखते ही बनती है। मैं तो इस पर पानी-पानी होकर रह गया था। जिस पर यह कि पहली ही मुलाकात के बाद यह लिखा गया था–

प्रिय जैनेन्द्र जी !

मैं थरथर कांप रहा हूं कि आप 'हंस' में पुस्तकों की आलोचना न पावेंगे तो क्या कहेंगे। मैंने आलोचना भेज दी थी। कह दिया था इसे अवश्य छापना। पर मैनेजर ने पहले तो कई लेख इधर-उधर के छाप डाले और पीछे से स्थान की कमी पड़ गई। मेरी एक कहानी जो राष्ट्रीय रंग में थी, रह गई। आपकी कहानी भी रह गई। अब वे सब फरवरी के अंक में जा रही हैं, क्षमा कीजिएगा।

'गबन' छप गया है। बाईंडिंग होते ही पहुंचेगा। उस पर मैं आपकी दोस्ताना राय चाहूंगा।

भवदीय–धनपत राय

उनकी व्यावसायिक स्थिति और मानसिक चिन्ता का अन्दाज इस पत्र से कीजिए–

प्रिय जैनेन्द्र,

तुम्हारा पत्र कई दिन हुए मिला। मैं आशा कर रहा था देहली (घर) से आ रहा होगा पर आया लाहोर (जेल) से ! ख़ैर, लाहोर (जेल) मुलतान (जेल) से कुछ कम दूर है। उससे कई दिन पहले मुलतान मैंने एक पत्र भेजा था। शायद वह लौटकर आ गया हो, तुम्हें मिल गया हो। अच्छा मेरी गाथा सुनो। 'हंस' पर जमानत लगी। मैंने समझा था आर्डिनेन्स के साथ ज़मानत भी समाप्त हो जायगी। पर नया आर्डिनेन्स आ गया और उसी के साथ ज़मानत भी बहाल कर दी गई। जून और जुलाई का अंक हमने छापना शुरू कर दिया है, पर मैनेजर साहब जब नया डिक्लेरेशन देने गये तो मैजिस्ट्रेट ने पत्र जारी करने की आज्ञा न दी, ज़मानत मांगी। अब मैंने गवर्मेंट को एक स्टेटमेंट लिखकर भेजा है। अगर ज़मानत उठ गई तो पत्रिका तुरन्त ही निकल जायगी। छप, कट, सिलकर तैयार रखी है। अगर आज्ञा न दी तो समस्या टेढ़ी हो जायगी। मेरे पास न रुपये हैं, न प्रॉमेसरी नोट, न सिक्योरिटी। किसी से कर्ज़ लेना नहीं चाहता। यह शुरू साल है, चार-पांच सौ वी० पी० जाते, कुछ रुपये हाथ आते। लेकिन वह नहीं होना है।

'इस बीच मैंने 'जागरण' को ले लिया है। जागरण के बारह अंक निकले लेकिन ग्राहक संख्या दो सौ से आगे न बढ़ी। विज्ञापन तो व्यासजी ने बहुत किया लेकिन किसी वजह से पत्र न चला। उन्हें उस पर लगभग पन्द्रह सौ का घाटा रहा। वह अब बन्द करने जा रहे थे। मुझसे बोले, यदि आप इसे निकालना चाहें तो निकालें। मैंने उसे ले लिया। साप्ताहिक रूप में निकालने का निश्चय कर लिया है। पहला अंक जन्माष्टमी से निकलेगा। तुम्हारा इरादा भी एक साप्ताहिक निकालने का था। यह तुम्हारे लिए ही सामान है। मैं जब तक इसे चलाता हूं। फिर यह तुम्हारी ही चीज़ है। धन का अभाव है, 'हंस' में कई हज़ार का घाटा उठा चुका हूं। लेकिन साप्ताहिक के प्रलोभन को न रोक सका। कोशिश कर रहा हूं कि सर्वसाधारण के अनुकूल पत्र हो। इसमें

भी हज़ारों का घाटा ही होगा। पर करूं क्या। यहां तो जीवन ही एक लम्बा घाटा है। यह कुछ चल जायगा तो प्रेस के लिए काम की कमी की शिकायत न रहेगी। अभी तो मुझे ही पिसना पड़ेगा, लेकिन आमदनी होने पर एक सम्पादक रख लूंगा। अपना काम केवल एडिटोरियल लिखना होगा !

'कर्मभूमि' के तीस फार्म छप चुके हैं, अभी करीब छः फार्म बाकी हैं। अब उसे जल्द समाप्त करता हूं। सबसे पहले तुम्हारे पास भेजी जायगी और तुम्हारे ही ममताशून्य फैसले पर मेरी कामयाबी या नाकामी का निर्णय है।

' इधर पण्डित श्रीराम शर्मा का शिकार, स्वामी सत्यदेव जी की कहानियों का संग्रह, डॉ॰ रवीन्द्रनाथ की षोडशी आदि पुस्तकें निकली हैं। बाबू वृन्दावनलाल जी का कुण्डलीचक्र बड़े शौक के पढ़ा। लेकिन पढ़कर मन उभरा नहीं। गर्मी नहीं मिली, न चुटकी, न खटक। शायद मुझमें भावशून्यता का दोष हो।'

एक उलहने का पत्र देखिए—

प्रिय जैनेन्द्र,

'आदाब अर्ज़ ! भई वाह ! मानता हूं। जून गया, जुलाई गया और अगस्त का मैटर भी जाने वाला है। जुलाई बीस तक निकल जायगा लेकिन हजूर को याद ही नहीं। क्यों याद आये। बड़े आदमी होने में यही तो ऐब है। रुपये तो अभी कहीं मिले नहीं। लेकिन यश तो मिल ही गया है। और यश के धनी धन के धनी से क्या कुछ (कम) मगरूर और भुलक्कड़ होते हैं।

'अच्छा, दिल्लगी छोड़ो। यह बात क्या है? तुम क्यों मुझसे तने बैठे हो? न कहानी भेजते हो, न खत भेजते हो। कहानी न भेजो, खत तो भेजते रहो। मैं तो इधर बहुत परेशान रहा। याद नहीं आता अपनी कथा कह चुका हूं। बेटी के पुत्र हुआ और उसे प्रसूत ज्वर ने पकड़ लिया। मरते-मरते बची। अभी तक अधमरी-सी है। बच्चा भी किसी तरह बच गया। आज बीस दिन हुए यहां आ गई है। उसकी मां भी दो महीने उसके साथ रही। मैं अकेला रह गया था बीमार पड़ा, दांतों ने कष्ट दिया। महीनों उसमें लगे। दस्त आए और अभी तक कुछ-न-कुछ शिकायत बाकी है। दांतों के दर्द से भी गला नहीं छूटा। बुढ़ापा स्वयं रोग है। और अब मुझे उसने स्वीकार करा दिया कि अब मैं उसके पंजे में आ गया हूं।

'काम की कुछ न पूछो। बेहूदा काम कर रहा हूं। कहानियां केवल दो लिखी हैं, उर्दू और हिन्दी में। हां, कुछ अनुवाद का काम किया है।

'तुमने क्या कर डाला, अब यह बताओ। (वह प्रबंध) निभा जाता है या नहीं। कोई नई चीज कब आ रही है। बच्चा कैसा है, भगवतीदेवी कैसी हैं, महात्मा जी कैसे हैं? महात्मा जी कैसे हैं? सारी दुनिया लिखने को पड़ी है, तुम खामोश हो !

'सरस्वती' में वह नोट तुमने देखा? आज मालूम हुआ कि यह (अमुक) जी की दया है। ठीक है। मैं तो खैर बूढ़ा हो गया हूं और जो कुछ लिख सकता था लिख चुका और मित्रों ने मुझे आसमान पर चढ़ा दिया। लेकिन तुम्हारे साथ यह क्या व्यवहार ! भगवतीप्रसाद बाजपेयी की कहानी बहुत सुंदर थी। और इन (चतुरसेन) को हो क्या गया है कि 'इस्लाम का विष-वृक्ष' लिख डाला। इसकी एक आलोचना तुम लिखो और वह पुस्तक मेरे पास भेजो। इस कम्युनल प्रॉपेगेंडा का ज़ोरों से मुकाबला करना होगा। '

उनकी कैसी ही अवस्था हो, पर साहित्य में कदर्य और कदर्थ का विरोध करने में उन्हें हिचक न होती थी।,

परिस्थितियों ने उन पर कभी रहम नहीं किया। प्रेमचंद जी ने भी कभी उनसे रहम नहीं मांगा। वह जूझते ही रहे। सारी उम्र इसी में गुजारी फिर भी नई विपत्तियों का सामना करते उन्हें डर न होता था। वह बचते न थे, कर्त्तव्य से कतराते न थे। उन्हें पैसे का लोभ न था, हां घाटे का डर तो था ही। आमदनी चाहे कौड़ी न हो, पर ऊपर से घाटे का भूत तो मुंह फाड़कर खाने न दौड़े। इतना ही चाहिए। पर इतना भी नहीं हुआ। इन घाटे ने उनकी कमर तोड़ दी। 'हंस' चलाया, 'जागरण' चलाया। दोनों में भावना सेवा की भी थी। मैं कह सकता हूं कि उनमें व्यवसाय की भावना नहीं के बराबर थी। पर दोनों उनका मन और तन तो लेते ही रहे, तिस पर उनसे धन भी मांगते रहे। धन उनके पास देने और देते रहने को कहां था। आखिर सिनेमा की ओर से आए निमंत्रण को उन्हें सुनना पड़ा। 20-4-34 को उन्होंने पत्र लिखा–

प्रिय जैनेन्द्र,

'तुम्हारा पत्र ऐन इंतजार की हालत में मिला। तुमसे सलाह करने की खास जरूरत आ पड़ी है। अभी न बताऊंगा, जब आओगे, तभी उस विषय में बातें होंगी। मगर तुम्हें क्यों सस्पेंस की हालत में रखूं? बंबई की एक फिल्म कंपनी मुझे बुला रही है। वेतन की बात नहीं, कन्ट्राक्ट की बात है। आठ हजार रुपये साल। मैं उस अवस्था को पहुंच गया हूं जब मेरे लिए इसके सिवा कोई उपाय नहीं रह गया है कि या तो वहां चला जाऊं या अपने उपन्यास को बाजार में बेचूं। मैं इस विषय में तुम्हारी राय जरूरी समझता हूं। कंपनी वाले हाजरी की कोई कैद नहीं रखते। मैं जो चाहे लिखूं, जहां चाहे लिखू, उनके लिए चार-पांच सिनेरियो तैयार कर दूं। मैं सोचता हूं कि मैं एक साल के लिए चला जाऊं। वहां साल भर रहने के बाद कुछ ऐसा कन्ट्राक्ट कर लूंगा कि मैं यहीं बैठे-बैठे तीन-चार कहानियां लिख दिया करूं और चार-पांच हजार रुपये मिल जाया करें। उससे जागरण हंस दोनों मजे में चलेंगे और पैसों का संकट कट जायगा। फिर हमारी दोनों चीजें धड़ल्ले से निकलेंगी। लेकिन तुम यहां आ जाओगे तब कतई राय होगी। अभी तो मन दौड़ा रहा हूं।'

इसके कुछ ही दिन बाद दूसरा पत्र मिला–'भले आदमी, मकान छोड़ा था तो डाकिए से इतना तो कह दिया होता कि मेरी चिट्ठियां फलां पते पर भेज देना। बस बोरिया बकचा संभाला और चल खड़े हुए। मैंने तुम्हारे जवाब में एक बड़ा-सा डिटेल्ड खत लिखा था। वह शायद मुर्दा चिट्ठियों के दफ्तर में पड़ा होगा। (मैंने शायद तुम्हें लिखा है, कि) मुझे बंबई कम्पनी बुला रही है। क्या सलाह है? मुझे तो कोई हरज नहीं मालूम होता अगर वेतन सात-आठ सौ मिले। साल दो साल करके चला आऊंगा। मगर अभी मैंने जवाब नहीं दिया है। उनके दो तार आ चुके हैं। प्रसाद जी की सलाह है, 'आप बंबई न जायं।' तुम्हारी भी अगर यही राय है तो मैं न जाऊंगा। जौहरी जी कहते हैं, जरूर जाइये। और चिरसंगिनी दरिद्रता भी कहती है कि जरूर चलो। जीवन का यह भी एक अनुभव है।'

आखिर वह फिल्मी लाइन में गए ही। लेकिन अनुभव ने बताया कि वहां के योग्य वह न थे। फिल्म और प्रेमचंद, दोनों में पटना संभव न हुआ। वहां से उन्होंने लिखा–

'मैं जिन इरादों से आया था उनमें एक भी पूरा होता नजर नहीं आता। ये प्रोड्यूसर जिस

ढंग की कहानियां बनाते आए हैं, उस लीक से जौ भर नहीं हट सकते। Vulgarity को यह Entertainment Value कहते हैं। अद्भुत ही में इनका विश्वास है। राजा-रानी, उनके मंत्रियों के षड्यंत्र, नकली लड़ाई। बोसेबाजी। ये ही उनके मुख्य साधन हैं। मैंने सामाजिक कहानियां लिखी हैं जिन्हें शिक्षित समाज भी देखना चाहे। लेकिन उनको फिल्म करते इन लोगों को संदेह होता है कि चलें या न चलें। यह साल तो पूरा करना है ही। कर्जदार हो गया था, कर्ज पटा दूंगा, मगर और कोई लाभ नहीं। उपन्यास (गोदान) के अंतिम पृष्ठ लिखने बाकी हैं। उधर मन ही नहीं जाता। (जी चाहता है) यहां से छुट्टी पाकर अपने पुराने अड्डे पर जा बैठूं। वहां धन नहीं है, मगर संतोष अवश्य है। यहां तो जान पड़ता है, जीवन नष्ट कर रहा हूं।'

उनका एक फिल्म निकला था, 'मजदूर'। उसका जिक्र करते हुए एक पत्र में लिखा–

'मजदूर तुम्हें पसन्द न आया। यह मैं जानता था। मैं इसे अपना कह भी सकता हूं, नहीं भी कह सकता हूं। इसके बाद ही एक रोमांस जा रहा है। वह भी मेरा नहीं है। मैं उसमें बहुत थोड़ा-सा हूं। 'मजदूर में भी मैं इतना जरा-सा आया हूं कि नहीं के बराबर। फिल्म में डाइरेक्टर सब कुछ है। लेखक कलम का बादशाह ही क्यों न हो, यहां डाइरेक्टर की अमलदारी है। और उसके राज्य में उसकी हुकूमत नहीं चल सकती। हुकूमत माने तभी वह रह सकता है। वह यह कहने का साहस नहीं रखता, 'मैं जनरुचि को जानता हूं, आप नहीं जानते।' इसके विरुद्ध डाइरेक्टर जोर से कहता है, 'मैं जानता हूं, जनता क्या चाहती है। और हम यहां जनता की इसलाह करने नहीं आए हैं। हमने व्यवसाय खोला है, धन कमाना हमारी गरज है। जो चीज जनता मांगेगी वह हम देंगे।' इसका जवाब यही है–'अच्छा साहब' हमारा सलाम लीजिए। हम घर जाते हैं।' वही मैं कर रहा हूं। मई के अन्त में काशी में बन्दा उपन्यास लिख रहा होगा। और कुछ मुझ में नई कला न सीख सकने की भी सिफत है। फिल्म में मेरे मन को सन्तोष नहीं मिला। संतोष डाइरेक्टरों को नहीं मिलता, लेकिन वे और कुछ नहीं कर सकते, झख मारकर पड़े हुए हैं। मैं और कुछ कर सकता हूं, चाहे वह बेगार ही क्यों न हो। इसलिए चला जा रहा हूं। मैं जो प्लाट सोचता हूं, उसमें आदर्शवाद घुस आता है और कहा जाता है उसमें Entertainment Value नहीं होता। इसे मैं स्वीकार करता हूं। मुझे आदमी भी ऐसे मिले जो न हिन्दी जानें न उर्दू। अंग्रेजी में अनुवाद करके उन्हें कथा का मर्म समझना पड़ता है और काम कुछ नहीं बनता। मेरे लिए अपनी वही पुरानी लाइन मजे की है। जो चाहा लिखा।

' मेरा जीवन यहां भी वैसा ही है जैसा काशी में था। न किसी से दोस्ती न किसी से मुलाकात। मुल्ला की दौड़ मस्जिद। स्टूडियो गये, घर आये। हिन्दी के दो-चार प्रेमी कभी-कभी आ जाते हैं। बस। '

इस भांति फिल्म की लाइन से किनारा लेकर उन्हें लौट आना पड़ा। इसके बाद कुछ बहुत ज्यादा दिन उन्हें इस दुनिया में रहने के लिए नहीं मिले।

7

मुझे याद है, मुल्तान जेल में उनका एक पत्र मिला था। लिखा था–'कभी-कभी यहां बहुत सूना मालूम होता है, जैनेन्द्र। जी होता है, तुम कुछ लोगों से गले मिल लूं और फिर जिंदगी से रुखसत हो जाऊं। तुम बाहर कब आओगे? तुम इतनी दूर पड़े हो कि मैं तड़फड़ा कर रह जाता हूं ।'

उस पत्र को पढ़कर मुझे सुख नहीं हुआ था। मालूम हुआ था जैसे जीवन में सहानुभूति

उन्हें स्वल्प रह गई है। धन की, प्रतिष्ठा की, पद मर्यादा की उन्हें लालसा न थी, फिर भी साहित्यिक दिशा में उनकी आकांक्षाएं उड़ती ही थीं। साहित्य को लेकर लोक-संगठनात्मक कार्यों और योजनाओं की ओर रह-रहकर उनकी रुचि जाती थी। पर व्यवहार-दक्षता का उनमें अभाव था और वातावरण इतना जागृत न था कि उनका आवाहन कर, उनका उपयोग ले ले। अत: इच्छाएं उनमें उठतीं और वे फलवती न हो पातीं। परिणामत: एक व्यर्थता, निष्फलता, पराजय का भाव उनमें घर करता जाता था।

यह अनुभव करके उनको साहित्य के सार्वजनिक कार्यों की ओर खींचकर लाने की कुछ विधि की गई, पर वह प्रयोग भी विशेष सफल नहीं हुआ। इधर शरीर में रोग घर कर चला था। जीवन के इस ह्रास ने उसमें योग दिया। वह धीमे-धीमे जीवन के उस किनारे जा लगने लगे। न कह सकूंगा कि मन की साध उनमें बुझ गई थी। बुझी न थी, पर अविश्वास की, जैसे एक पराभव के भाव की राख छा गई थी। जिंदगी के हाथों कम थपेड़े उन्होंने नहीं खाए थे। वे सब उनके चेहरे पर, उनकी देह पर लिखे थे। वे चोटें जिस हद तक हो सकीं प्रेमचंद के मानस में से शुद्ध (Sublimate) होकर साहित्य के रूप में प्रस्फुट हुई थीं। पर तलछट भी अवशेष बचा ही था। उसी ने उनके मन को किसी कदर खट्टा बना रखा था। अंत समय में भी वह खटास पूरी तरह उनको नहीं छोड़ सकी।

किंतु इस संबंध की चर्चा इस स्थल पर विशेष न हो सकेगी। यहां मैं उनके एक पत्र का उल्लेख करने का लोभ संवरण नहीं कर सकता जो उनके मन के उद्विग्न स्नेह को फब्बारे की भांति ऊपर खिला देता है। वह माताजी के देहांत पर उन्होंने मुझे लिखा था। माताजी की मृत्यु पर तो शायद मैं नहीं भी रोया, पर इस पत्र पर आंखें भींग ही आईं—

प्रिय जैनेन्द्र,

'कल तुम्हारा पत्र मिला। मुझे यह शंका पहले ही थी। इस मर्ज में शायद ही कोई बचता है। पहले ऐसी इच्छा उठी कि दिल्ली आऊं। लेकिन मेरे दामाद तीन दिन से आए हुए हैं और शायद बेटी जा रही है। फिर यह भी सोचा कि तुम्हें समझाने की तो कोई बात है नहीं। यह तो एक दिन होना ही था। हां, जब यह सोचता हूं कि वह तुम्हारे लिए क्या थीं, और तुम उनके काल में आज भी लड़के से बने फिरते थे, तब जी चाहता है तुम्हारे गले मिलकर रोऊं। उनका वह स्नेह, वह तुम्हारे लिए जो कुछ थीं वह तो थी हीं, मगर उनके लिए तो तुम प्राण थे, आंख थे, सब कुछ थे। बिरले ही भागवानों को ऐसी माताएं मिलती हैं। मैं देख रहा हूं, तुम दु:खी हो, तुम्हारा मुंह सूखा हुआ है, संसार सूना-सूना-सा लग रहा है और चाहता हूं यह दु:ख आधा-आधा बांट लूं, अगर तुम दो। मगर तुम दोगे नहीं। उस देवी का इतना ही तो तुम्हारे पास है, मुझे देकर कहां जाओगे? इसे तो तुम सारे का सारा अपने सबसे निकट के स्थान में सुरक्षित रखोगे।

'काम से छुट्टी पाते ही अगर आ सको तो जरूर आ जाओ। मिले बहुत दिन हो गए। मन तो मेरा ही आने को चाहता है, लेकिन मैं आया तो तीसरे दिन रस्सी तुड़ाकर भागूंगा। तुम—मगर अब तो तुम भी मेरे जैसे हो, भाई। अब वह बेफिक्री के मजे कहां!

'और सच पूछो तो मेरी ईर्ष्या ने तुम्हें अनाथ कर दिया। क्यों न ईर्ष्या करता। मैं सात वर्ष का था तब माताजी चली गईं। तुम सत्ताईस वर्ष के होकर माता वाले बने रहो, यह मुझसे कब देखा जाता। अब जैसे हम वैसे तुम। बल्कि मैं तुमसे अच्छा। मुझे माता की सूरत भी याद नहीं

आती। तुम्हारी माता तुम्हारे सामने हैं और बोलती नहीं, मिलती नहीं।

'और तो सब ठीक है। चतुर्वेदी जी ने कलकत्ते बुलाया था कि नोगुची जापानी कवि का भाषण सुन जाओ। यहां नोगुची हिन्दू-युनिवर्सिटी आए उनका व्याख्यान भी हो गया। मगर मैं न जा सका। अक्ल की बातें सुनते और पढ़ते उम्र बीत गई। ईश्वर पर विश्वास नहीं आता, कैसे श्रद्धा होती है। तुम आस्तिकता की ओर जा रहे हो। जा नहीं रहे, पक्के भगत बन रहे हो। मैं सन्देह से पक्का नास्तिक होता जा रहा हूं।

'बेचारी भगवती अकेली हो गई।

'सुनीता' जाने कहां रास्ते में रह गई। यहां कहीं बाजार में भी नहीं। चित्रपट के पुराने अंक उठा कर पढ़े, पर मुश्किल से तीन अध्याय मिले। तुमने बड़ा जबरदस्त Ideal रख दिया। महात्मा जी के एक साल में स्वराज्य पाने वाले आन्दोलन की तरह। मगर तलवार पर पांव रखना है।

तुम्हारा--धनपत राय

[इस पत्र के अन्तिम पैरे के कारण यह कह देना आवश्यक है कि 'सुनीता' पूरी पढ़ने पर प्रेमचंद जी उससे सहमत न हो सके थे।]

8

प्रेमचंद जी के स्वभाव में बहिर्मुखता जरूरत से कम थी। उनके जीवन का सार्वजनिक पक्ष इसलिए अन्त समय तक कुछ अक्षम ही बना रहा। अन्तर्मुखता भी धार्मिक प्रकार की न थी, उसके प्रकार को कुछ बौद्धिक कहना होगा। वह शंका से आरम्भ करते थे और इस भांति एक समस्या खड़ी करके उसका समाधान पाने आगे बढ़ते थे। फिर भी लोक जीवन में जिन मूलभूत नैतिक धारणाओं की स्वीकृति उन्होंने देखी, उन धारणाओं पर प्रेमचंद जी अडिग विश्वास से डटे रहे।

बातचीत में उनके साथ अत्यन्त घनिष्ट बातों का प्रसंग भी अक्सर आ गया है। पारिवारिक अथवा व्यक्तिगत वृत्तों को ऐसे समय उन्होंने निश्छल विश्वास के साथ खोलकर कह दिया है। उस सबके आधार पर मैं कह सकता हूं कि उनका जीवन लगभग एक आदर्श सद्गृहस्थ का जीवन था। बुद्धि द्वारा उन्होंने स्वतन्त्र और निर्बाध चिन्तन के जीवन व्यवसाय को अपनाया सही, पर कर्म में वह अत्यन्त मर्यादाशील रहे। आर्टिस्ट के संकुचित पश्चिमी अर्थों में उन्होंने आर्टिस्ट बनने की स्पर्द्धा नहीं की। यही मर्यादाशील प्रामाणिकता उनके साहित्य की धुरी है। उनके साहित्य में जीवन की आलोचना तीव्र है, चहुंमुखी है। किन्तु एक सर्वसम्मत आधारशिला है जिसको उन्होंने मजबूती से पकड़े रखा और जिस पर एक भी चोट उन्होंने नहीं लगने दी।

जीवन को, विशेष कर लोक जीवन की समस्याओं को, सर्वथा बौद्धिक और नैतिक मानसिक रूप देने का परिणाम ही यह हुआ कि जब कि वह जीवन के सफल चित्रकार, भाष्यकार, व्याख्याकार हो सके सब उस जीवन को आन्दोलित करके उसमें नवचेतन और निर्माण-प्रेरणा डालने में उतने सफल नहीं हो सके। वह जननायक, लोकसंयोजक नहीं हो सके। बात यह है कि उनके साहित्य में लोकपक्ष की जितनी प्रधानता मालूम होती है, ठीक उतनी ही गौणता उस पक्ष का उनके जीवन में प्राप्त थी। वह अन्त तक अपने आप में एक संस्था नहीं बने, उन्होंने कोई संस्था नहीं बनाई। उनके उपन्यासों में (गोदान को छोड़कर लगभग सब में) संस्थाएं बनी हैं और उन संस्थाओ द्वारा लोक-जीवन के प्रश्नों का, उनके सुधार का,

समाधान दिया गया है। पर प्रेमचंद जी के जीवन के प्रकाश्य पक्ष में उसका अभाव नजर आता है।

अगामी साहित्य-समीक्षक और इतिहास-विवेचक को भीतरी क़ारण के प्रकाश में इस गांठ को समझना और खोलना होगा।

वह भीड़ से बचते थे। भीड़ को दिशा देने की उनमें क्षमता न थी। बात यह थी कि भीड़ में पड़कर वह उस भीड़ को समझते रह जाते थे। वह भीड़ के नहीं थे। सभा-सम्मेलनों में वह मुश्किल से ही जाते थे। वे सभा और सम्मेलन उनको पाकर भी विशेष लाभान्वित होते थे, यह नहीं कहा जा सकता। उनकी उपस्थिति अवश्य किसी भी सभा और किसी भी सम्मेलन के लिए गौरव का विषय थी पर ऐसा लगता था कि प्रेमचंद जी उस सभा में भाग क्या ले रहे हैं, मानो उस सभा का तमाशा देख रहे हैं।

दिल्ली में प्रान्तीय साहित्य-सम्मेलन किया और सभापति बनाया प्रेमचंद जी को, पर वह आने को ही राजी न हों। चिट्ठी पर चिट्ठी दी, तार दिये। आखिर माने ही तो तार में लिखा–Well I accept with protest

सार्वजनिक सभाओं के प्रति जब यह रुख था तब उधर उलटा ही हाल था। इससे कुछ ज्यादा रोज पहले की बात न थी। एक सवेरे गली में दीखता क्या है कि कन्धे पर कम्बल डाले, खरामा खरामा, चले आ रहे हैं प्रेमचंद जी। महात्मा भगवानदीन जी और पण्डित सुन्दरलाल जी भी तब घर पर थे। सुन्दरलाल जी चबूतरे पर से दातुन करते करते बोले–देखना जैनेन्द्र, यह प्रेमचंद जी तो नहीं आ रहे हैं।

मैंने कहा–वही तो हैं !

प्रेमचंद जी के पास आने पर मैंने अचरज से पूछा–यह क्या किस्सा है? न तार न चिट्ठी, और आप करिश्मे की भांति आविर्भूत हो पड़े !

बोले - तार की क्या जरूरत थी। बारह आने पैसे कौड़ फालतू है। और देखो, तुम्हारे मकान का पता लग गया कि नहीं !

बात यह थी कि मैंने एक कार्ड में लिखा था कि क्या आप आ सकेंगे? आएं तो अच्छा रहे। सो प्रेमचंद जी ने सुनाया कि–भई ! तुम्हारी चिट्ठी परसों पहुंचने पर कोई दो बजे मिली। टाइमटेबिल देखा, ट्रेन पांच बजे जाती थी। इससे पहले और कोई गाड़ी थी नहीं। उसी से चला आ रहा हूं।

मैंने कहा- यह क्या गजब करते हैं। पहले से कुछ खबर तो दी होती। इस तरह से तो आपको बड़ी दिक्कत हुई होगी। गनीमत मानिए कि दिल्ली बम्बई नहीं है। और ऐसे क्या आप दिल्ली से बेहद वाकिफ हैं?

बोले–नहीं जी, सोचा तुम्हारा मकान मिल ही जायगा सो बारह आने बचाओ क्या ना। और मकान मिल गया कि नहीं। और दिल्ली–जिन्दगी में पहली मर्तबा आया हूं।

जिन्दगी में पहली बार ! मैंने अविश्वास के भाव से कहा–आप कहते क्या हैं ! तिस पर आप हैं सम्राट् !

प्रेमचंद जी कहकहा लगा उठे। यह बात सच थी। नौकरी के सिलसिले में वह अपने इर्द गिर्द के जिलों में ही घूमे थे। दूर जाने का न कुछ काम पड़ा, न कुछ पड़ने दिया। सैर की धुन उनमें कभी थी नहीं। अपने सामने के ही कर्त्तव्य को वह महत्त्व देते रहे थे और उसी के पालन

में अपनी सिद्धि मानते थे। यह बात मेरे लिए अभूतपूर्व और अत्यंत आश्चर्यकारक थी। इक्यावन-बावन वर्ष की अवस्था में प्रेमचंद जी जैसे सर्वविश्रुत व्यक्ति दिल्ली में आकर यह कहे कि वह पहली बार यहां आया है—यह अनहोनी बात नहीं तो और क्या है !

तब चार पांच रौज प्रेमचंद जी यहां रहे। उन दिनों लिखना-लिखाना तो होना क्या था। पंडित सुंदरलाल जी थे, महात्मा भगवानदीन जी थे। प्रेमचंद जी को चाहने वाले और मांगने वाले उर्दू-हिन्दी के और लोगों की कमी न थी। चर्चाओं में और पार्टियों में वे दिन ऐसे बीते कि पता भी न लगा। उन्हीं दिनों की और यहां की ही तो बात है कि वह पंजाबी सज्जन मिले जिन्होंने प्रेमचंद जी को पाकर पकड़ ही तो लिया। उनकी कहानी दिलचस्प है और शिक्षाप्रद है।

स्थानीय हिन्दी- सभा की ओर से प्रेमचंद जी के सम्मान में सभा की जा रही थी। उन्हें अभिनन्दन-पत्र भेंट होने वाला था। उस वक्त एक पंजाबी सज्जन बड़े परेशान मालूम होते थे। वह कभी सभा के मंत्री के पास जाते थे, कभी इनके या उनके पास जाते थे। प्रेमचंद जी के पास जाने की शायद हिम्मत न होती थी। प्रेमचंद जी को उसी रात दिल्ली से जाना था। सभा का काम जल्दी हो जाना चाहिए और वह जल्दी किया जा रहा था। प्रेमचंद जी ने अपना वक्तव्य कहने में शायद दो मिनट लगाए। सभा की कार्यवाही समाप्त प्राय थी। तभी वह पंजाबी सज्जन उठे और सभा के सामने हाथ जोड़कर बोले—मैं प्रेमचद जी को आज रात किसी हालत में नही जाने दूंगा। उनके साथ सारी इस सभा को मैं कल अपने यहां आमंत्रित करना चाहता हूं।

लोगों को बड़ा विचित्र मालूम हुआ। तैयारी सब हो चुकी थी और प्रेमचद जी का इरादा निश्चित था। लेकिन वह सज्जन अपनी प्रार्थना से बाज न आए। वह बार-बार हाथ जोडते थे और अपनी बात सुनाना चाहते थे। किन्तु सभा के लोग इस विघ्न पर कुछ अधीर थे और उन सज्जन के साथ शायद ही किसी को सहानुभूति थी। प्रेमचंद जी भी इस भावुकता के प्रदर्शन से बहुत प्रभावित नहीं थे।

किन्तु उन सज्जन को कोई चीज न राक सकी। उन्होंने हाथ जोडकर कहा कि मेरी अरदाम आप लोग सुन लीजे फिर जो चाहे आप कीजियेगा। जब से अखबार में प्रेमचंद जी क यहा आन की खबर पढी तभी से उनके ठहरने की जगह पाने कोशिश करता रहा हूं। वह जगह नहीं मिली। अब इस सभा में मैं उनको पा सका हूं। मैं उनकी तलाश करता हुआ दर्शनों की इच्छा से लखनऊ दो बार गया। एक बार बनारस भी गया। तीनों बार वह न मिल सके। कई बरम पहले की बात है। मैं कमाने के ख्याल से पूरब की तरफ गया था। पर भाग्य की बात कि मेरे पास जो था सब खत्म हो गया। मैं घूमता-घामता स्टेशन पर आया। मुझे कुछ सूझता न था। आगे क्या होगा। सब अंधेरा मालूम होता था। जेब में दो रुपये और कुछ पैसे बचे थे। प्रेमचंद जी के अफसानों को मैं शौक से पढ़ा करता था। यूं ही टहलता हुआ ह्वीलर की दुकान पर एक रिसाले के स्पेशल नम्बर के सफे लौटने-पलटने लगा। उसमें प्रेमचंद जी का एक अफसाना नजर आया। मैंने रुपया फेंक रिसाला खरीद लिया। और प्रेमचंद जी की उस 'मन्त्र' कहानी को पढ़ गया। पढ़कर मेरे दिल की पस्ती जाती रही। हौसला खुल गया। मैं लौटकर आया और हार न मानने का इरादा कर लिया। तब से मेरी तरक्की ही होती गई है और यहां आपकी खिदमत में हूं। तभी से मैं उस 'मन्त्र' कहानी के मंत्रदाता प्रेमचंद की तलाश में हूं। अब यहां पा गया हूं तो किसी तरह छोड़ नहीं सकता। मेरी बीवी बीमार हैं, वह उठ बैठ नहीं सकतीं, चल फिर नहीं सकतीं। वह कब

से प्रेमचंद जी के दर्शन की आस बांधे बैठी हैं। और फिर हाथ जोड़कर उन्होंने कहा—अब फैसला आप सब साहबान के हाथ है।

प्रेमचंद जी की प्रवृत्ति रुकने की नहीं थी, लेकिन उनको रुकना पड़ा। यह घटना मेरे लिए तो आंख खोल देने वाली ही थी। यह और इस तरह की और-और बातों से प्रेमचंद जी के दिल्ली-प्रवास के दिन सहज में बीत गये। प्रेमचंद जी प्रसन्न मालूम होते थे। लेकिन एक बात जानकर मैं साश्चर्य असमंजस में पड़ गया। बातों-बोतों में प्रगट हुआ कि इधर के बीस-तीस वर्ष में यह पहले सात दिन गये हैं, जब उन्होंने कुछ काम नहीं किया।

मैंने अत्यंत विस्मयापन्न भाव से पूछा—आप हर रोज बिना नागा काम करते हैं?

बोले—हां, सबेरे के कुछ घंटों में तो करता ही हूं।

तब मैं जान सका कि किस अक्षुण्ण साधना के बल पर यह व्यक्ति दुनिया के राग-रंगों के प्रति अलिप्त और उदासीन रह सकता था, और कि किस भांति उसकी कीर्ति उसकी कठोर तपस्या के मोल उसको मिली थी। उस समय मुझे संदेह हो आया कि पार्टियों और दावतों का यह समारोह भी कहीं भीतर-भीतर उसकी आत्मग्लानि का कारण तो नहीं हो रहा है। जो औरों के लिए सम्मान था वह बड़ी आसानी से इस व्यक्ति के लिए बोझ भी हो सकता था। तब उनकी ऊपरी प्रसन्नता देखकर मेरा मन तनिक भी आश्वस्त नहीं हुआ कि पार्टियों और सम्मान भोजों के आधिक्य से सचमुच ही प्रेमचंद के मन को पीड़ा नहीं हो रही है।

यहां एक पार्टी में हसन निजामी साहब ने प्रेमचंद जी का अभिनंदन करते हुए कहा था कि—'शायद ही कोई प्रेमचंद जी का अफसाना, या मजमून होगा जो उर्दू में निकला हो और मैंने न पढ़ा हो। मैं ढूंढ-ढूंढ़कर उनकी चीज पढ़ता हूं। हालात में उतार चढ़ाव होते रहते हैं। दौर रंग बलता है। जमाना था कि लोगों की तबीयतें बदलती हुई थीं। सब पर फिरकेवाराना रंग सवार था। कौन था जो न बहका हो। पर प्रेमचंद तब साबित कदम रहे। उनकी निगाह वैसी ही सही और साफ रही। वह किसी झोंके से नहीं डिगे'

हसन निजामी साहब की तरफ से आकर ये शब्द और भी मानी रखते हैं और इन शब्दों में प्रेमचंद जी की अलक्ष्य और मूक सेवा का मुझे और भी सही अनुमान हुआ और मेरी श्रद्धा बढ़ गई।

लेकिन यह बात सच है कि बड़े शब्दों से कहीं अधिक उन्हें छोटी-सी सचाई छूती थी। जहां जिन्दगी थी, वहां प्रेमचंद जी की निगाह थी। जहां दिखावा था, उसके लिए प्रेमचंद के मन में उत्सुकता तक न थी। कुतुबमीनार, नई सेक्रेटरियट बिल्डिंग्ज, कौंसिल-चेम्बर्स, यह अथवा वह महापुरुष—इसको देखने-जानने की लालसा उनकी प्रवृत्ति में न थी। यों हम-तुम हमां-शमां से वह बेरोक मिलने को उद्यत रहते थे।

पहली बात उनमें त्रुटि तक पहुंच गई थी। जब शांतिनिकेतन जाने की बात आई तो उनका मन उसे पूरी तरह ग्रहण न कर सका। मैंने कहा—चलना चाहिए।

बोले—मैं तो वहां उस स्वर्ग की सैर करूं, यहां घर के लोग तकलीफ में दिन काटें, क्या यह मेरे लिए ठीक है? और सबको ले चलूं, इतना पैसा कहां है। और जैनेन्द्र, महाकवि रवीन्द्रनाथ तो अपनी रचनाओं द्वारा यहां भी हमें प्राप्त हैं। क्या वहां मैं उन्हें अधिक पाऊंगा?

मैंने फिर भी कहा—शान्तिनिकेतन को अधिकार हो सकता है कि वह आपको चाहे, आपने कर्म ऐसे किए हैं कि आप मशहूर हों। तब आप कर्मफल से बच नहीं सकते। चलिए न।

बोले—हां, जैनेन्द्र, यह सब ठीक है। लेकिन मैं अपने यहीं पड़ा हूं, तुम जाओ।

मैंने कहा—हां, मैं तो जाऊंगा।

बोले—जरूर-जरूर जाओ। मैं तो खुद कहने वाला था कि तुम्हें जाना चाहिए। जैनेन्द्र, जवान और बूढ़े में यही तो फर्क है !

इधर जीवन के अन्तिम पर्व की ओर उन्हें थोड़ा-बहुत साहित्यिक उद्देश्य के नाते से सभा समाजों में जाने को उकसाया जा सका था। यहां दिल्ली साहित्य-सम्मेलन के जलसे में वह आ गए थे। आ तो गए थे लेकिन अपने को पूरी तरह निरुपयोगी भी अनुभव कर रहे थे। बोले—जैनेन्द्र, सम्मेलन के जलसे में मैं आ गया। अब बताओ क्या करूं। मैं उनको क्या कहता। चुप रह जाता था। क्या उनको मैं बताता कि उनका स्थान क्या है और कहां है, और लोगों की क्या-क्या आशाएं उनके साथ बंधी हैं? लेकिन सच यह है, ऐसे मौकों पर अपनी उपस्थिति वह अयाचित अनुभव करते थे। जब लोग शब्दों को लेकर या पदों को लेकर आपस में बहस-तहस और छीन झपट करते थे तब उनका कहीं थोड़ी ठण्डी हवा खाने का जी होता था। कहा करते थे कि इनको भी थोड़ी ठण्डी हवा इस समय खा लेना चाहिए।

साहित्य के भविष्य के बारे में बातें हुआ करती थीं। सोचा, कुछ बौद्धिक आदान प्रदान का, परस्पर के सहयोग क्षेत्र का विस्तार होना चाहिए। प्रान्तीय मर्यादाएं ऐक्य-विकास पर बन्धन न होनी चाहिए। राष्ट्र एक है, उस ऐक्य को गहराई में अनुभूत करना होगा। इस ओर जो प्रयत्न हुए (यथा, भारतीय साहित्य-परिषद्) उनके समारंभ में प्रेमचंद जी ने उत्साहपूर्वक भाग लिया। पर उसमें भी उन्हें रस कम हो गया। वह अपने सहयोगियों से आशाएं ऊंची रखते थे। वह मानव प्रकृति का मूल्य यथार्थ से कुछ अधिक ऊंचा आंकते थे। परिणामत: जब जब वह समाज में आए, तभी-तब विरक्ति की भावना लेकर उन्हें फिर अपने में ही लौट जाना पड़ा।

9

साधारणतया कोमलता की धारा उनमें अन्त:सलिला सरस्वती के समान अप्रकाश्य ही से बहती थी। वह रचनाओं में जिस स्पष्टता से दीखती थी, व्यवहार में उतनी ही अगोचर हो जाती थी। फिर भी हठात् वह फूटकर ऐसे प्रकट हो उठी है कि प्रेमचंद जी को भी चकित रह जाना पड़ा।

एक बार की बात है। दिन अधिक नहीं हुए। सन् '34 का साल होगा। बनारस में बेनियापार्क वाले मकान में रहते थे। सबेर का वक्त था। जाड़े ढल रहे थे। नीचे के कमरे में धूप की किरनें तिरछी पड़ रही थीं। मैं जल्दी निवृत्त हो चुका था और उनकी एक पाण्डुलिपि देख रहा था। इतने ही में प्रेमचंद जी ऊपर से आये। पूछा—तुम नहा चुके?

मैंने कहा—नहा चुका।

मुझे आज देर हो गई।—कहते कहते वह नीचे फर्श पर बैठ गए।

शाम को—रात तक—चर्चा चलती रही थी कि सत्य का स्वरूप कहां तक स्थिर मानना होगा और कहां निरन्तर परिवर्तनीय। उस थिरता और परिणाम में परस्पर क्या अपेक्षा है। लोकाचार विकासशील है या नहीं, अथवा उसकी निश्चित मर्यादा-रेखाएं और निश्चित आधार-तत्व हैं। वही चर्चा किसी न किसी रूप में अब भी उठ आई। बात-बात में प्रेमचंद जी बोले—भई जैनेन्द्र, वह किताब Powerful (जबर्दस्त) है।

कुछ दिन हुए रूसी उपन्यास 'यामा' उनके यहां देखा था। उसी की ओर संकेत था। मैंने

तब तक वह पढ़ा न था।

बोले—कहीं-कहीं तो जैनेन्द्र, मुझसे पढ़ा नहीं गया। दिल इतना बेकाबू हो गया। एक जगह आंसू रुकना मुश्किल हुआ।

देखता क्या हूं कि जैसे वह प्रसंग अब भी उनके भीतर छिड़ गया है और उसी प्रकार आंसू रुकना किसी कदर मुश्किल हो रहा है।

बोले—उस जगह मुझसे आगे पढ़ा ही न गया, जैनेन्द्र, किताब हाथ से छूट गई। और पुस्तक के उस प्रसंग का वह अनायास ही वर्णन करने लगे।

मैं सुनता रहा।

धूप कमरे में तिरछी आ रही थी। उनके चेहरे पर सीधी तो नहीं पड़ रही थी फिर भी वह चेहरा सामने पड़ता था और उजला दीखता था। मैं कानों से सुनने से अधिक उस कथा को आंखों से देख रहा था। प्रसंग बेहद मार्मिक था। प्रेमचंद जी, मानो अवशभाव से, आपा खोए से, कहते जा रहे थे।

सहसा देखता हूं, वाक्य अधूरा रह गया है। वाणी कांप कर मूक हो गई है। आंख उठाकर देखा, —उनका चेहरा एकाएक मानो राख की भांति सफेद हो आया है। क्षण भर में सन्नाटा हो गया। मुझे जाने क्या चीज छू गई। पल भर में मानो एक मूर्छा व्याप गई। और पल बीते-न-बीते मैंने देखा, प्रेमचंद का सौम्य मुख एकाएक बिगड़ उठा है। जैसे भीतर से कोई उसे मरोड़ रहा हो। जबड़े हिल आए, मानो कोई भूचाल उन्हें हिला गया। सारा चेहरा तुड़-मरुड़ कर जाने कैसा हो चला। और फिर, देखते-देखते उन आंखों से तार-तार आंसू झर उठे। उस समय चेहरा फिर शांत हो गया था और आंसू झर झर झर रहे थे।

यह क्या कांड हो गया ! मानो प्रेमचंद जी बहुत ही लज्जित थे। लड़खड़ाती वाणी में बोले—जैनेन्द्र ! आगे उनसे बोला न गया। मानो वह जैनेन्द्र से क्षमा मांगाना चाहते थे। उनका अपने ऊपर से काबू बिल्कुल टूट चुका था। आंसू रुकना न चाहते थे। ओह, कहीं हिचकी ही न बंध जाय !

किन्तु मिनट दो मिनट में वह प्रकृतिस्थ हुए। गालों और मूछों पर से टपकते आंसुओं को उन्होंने पोछा नहीं। एक क्षीण लज्जित मुस्कान में मुस्काए। कठिनाई से बोले- मुझसे आगे नहीं पढ़ा गया, जैनेन्द्र !

यह व्यक्ति जो जाने किन किन मुसीबतों में से हंसता हुआ निकल आया है, जो अपने ही दुःख के प्रति इतना निर्मम रहा है, वह पुस्तक के कविकल्पित पात्र के दुःख के प्रति इतना तादात्म्य अनुभव कर सकता है कि ऐसी अवशता से रो उठे ! मेरे लिए यह अनुभव अनूठा था। इसके प्रकाश में मैं देख सका कि प्रेमचंद की अंतस्थ वृत्तियां कितनी सूक्ष्मदर्शी हैं। जो काल के दुर्दांत थपेड़ों में अचल रहेगा वही किसी की सच्ची वेदना सच्चे त्याग पर एकाएक गलकर किस भांति बह भी सकता है—मैंने तब जाना।

पुस्तक के उस प्रसंग की बात यहां न हो सकेगी। साधारणतया वह इतना वीभत्स, इतना अश्लील मालूम होता था ! पर उस प्रकार की विषम स्थिति में घिरी हुई, ढंकी हुई वहां थी एक प्रकार की आध्यात्मिक सौन्दर्य की झलक। अन्धेरे में थी इसलिए मानो उसकी चमक और भी उज्ज्वल थी। प्रेमचंद जी की आंख उसी पर पहुंची और मुग्ध हो गई।

मानवी भावनाओं का, परनिमित्त स्नेह का, दैन्य प्रेमचंद जी में न था। जिसको कलाकार

समझा और जाना जाता है, उसमें इसकी सम्भावना रहती है। कलाकार इतना आत्म-ग्रस्त हो जाता है कि औरों के प्रति उपेक्षावृत्ति धारण कर ले। प्रेमचंद जी आत्मग्रस्त न थे। वह बल्कि परव्यस्त थे।

प्रेमचंद जी ने एक बड़ी दिलचस्प आपबीती सुनाई। एक निरंकुश युवक ने किस प्रकार उन्हे ठगा और किस सहज भाव से वह उसकी ठगाई मे आते रहे, इसका वृत्तान्त बहुत ही मनोहर है। पहले-पहल तो मुझे सुनकर अचरज हुआ कि मानव प्रकृति के भेदों को इतनी सूक्ष्मता से जानने और दिखाने वाला व्यक्ति ऐसा अजब धोखा कैसे खा गया। लेकिन मैंने देखा कि जो उनके भीतर कोमल है, वही कमजोर है। उसको छूकर आसानी से उन्हें ऐंठा जा सकता है।

उसी उनकी रग को पकड़कर उस चालाक युवक ने प्रेमचंद जी को ऐसा मूंड़ा कि कहने की बात नहीं। सीधे सादे रहने वाले प्रेमचंद जी के पैसे के बल पर ऐन उन्हीं की आंखों के नीचे उस जवान ने ऐसे ऐश किये कि प्रेमचंद आंख खुलने पर स्वयं विश्वास न कर सकते थे। प्रेमचंद जी से उसने अपना विवाह तक करवाया, बहू के लिए जेवर बनवाये, और प्रेमचंद जी सीधे तौर पर सब कुछ करते गये।

कहते थे—भई जैनेन्द्र, सर्राफ को अभी पैसे देने बाकी हैं। उससे जो सोने की चूडिया बहू के लिए दिलाई थीं, उनका पता तो मेरी धर्मपत्नी को भी नहीं है। अब पता देकर अपनी शामत ही बुलाना है। पर देखो न जैनेन्द्र, यह सब फरेब था। वह लड़का ठग निकला। अब ऊपर ही ऊपर जो दो-एक कहानियों के रुपये पाता हूं उससे सर्राफ का देना चुकता करता जाता हूं। देखना, कहीं घर में न कह देना। मुफ्त की आफत मोल लेनी होगी। बेवकूफ बने, तो उस बेवकूफी का दण्ड भी हमें भरना होगा।

उस चतुर युवक ने प्रेमचंद जी की मनुष्यता को ऐसे झांसे मे पकड़ा और उसे ऐसा निचोडा कि और कोई होता तो उसका हृदय हमेशा के लिए हीन और कठिन और छूछा पड गया होता। पर प्रेमचंद जी का हृदय इस धोखे के बाद भी मानो और धोखा खाने की क्षमता रखता था। उस हृदय में मानवता के लिए सहज विश्वास की इतनी अधिक मात्रा थी।

सन्देह नहीं कि कडवे और तीखे अनुभव पाते रहने के कारण स्वभाव मे वह कुछ कठिन और अनुदार और शंकाशील भी हो चले थे। फिर भी माना उनका सहज औदार्य अनायास उनके अनुभव कठिन कलक्युलेशन पर विजय पा लेता था।

10

यहां उनके साहित्य की विवेचना अभीष्ट नहीं है। उस साहित्य के स्रष्टा साहित्यकार का ही समझने की इच्छा है।

हरेक के लिए एक चीज जरूरी है—वह, असंलग्नता। काल का जो प्रवाह हमारे सामने होकर चीजों को अदलता-बदलता चला जा रहा है, मनुष्य उस प्रवाह का शिकार ही नहीं है, वह उसके प्रति यत्किंचित् असंलग्नता धारण करके कुछ निर्माण भी करता है, अर्थात् अपनी ओर से उस प्रवाह को कुछ दिशा प्रदान भी करता है। मनुष्य इसी शक्ति के कारण मनुष्य है। अन्यथा वह पूर्णत: पशु ही रहता।

तटस्थ होकर घटनाओं को और व्यक्तियों को और तत्वों को देखने की यह शक्ति प्रेमचंद में प्रचुर मात्रा में थी। उनके विश्वास नुकीले न थे। वह दूसरों पर अपना आरोप करके देखने

के मोह में न थे। जो जहां था, उसको वहीं रहने देते थे। मानो उसको उसी की आंखों से देखना चाहते थे। कलाकार का यही इष्ट है। वह सबको उन्हीं के भीतर से देख सके, तो और क्या चाहिए। प्रेमचंद जी इस इष्ट की साधना में असावधान न थे। इस दृष्टि का विकास अध्यात्म की समत्व दृष्टि है। ' ब्राह्मणे गवि हस्तिनि, शुनि चैव श्वपाके च पण्डिता: समदर्शिन:।'

काल में रहकर भी कालातीत स्थिति में अपने को अनुभव करने की यह साधना बहुत हितकारी है। मर्त्यलोक में भी यही साधना अमरता की ओर ले जाती है। प्रेमचंद जी के साहित्य में पाई जाने वाली विविधता, सब पात्रों के प्रति लगभग समान भाव से होने वाला न्याय; उसमें व्याप्त सहानुभूति, उस साहित्य की प्रासादिकता और मनोरंजकता–सब इसी साधना के फल हैं। इस साधना के अभाव में स्वप्न निरा स्वप्न हो जाता है, और यथार्थता के साथ उसका विरोध तीव्र से तीव्रतर होता चला जाता है। वैसी साधनाहीन कल्पना में से रोमांटिक (रंगीन) साहित्य का जन्म होता है। उसके मूल में यथार्थ की कठोरता, अप्रियता से हठात् बचने की प्रवृत्ति है। वह दुर्बलता की द्योतक है। मैं मानता हूं कि आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रेमचंद पहले प्रणेता हैं जो यत्नपूर्वक यथार्थता के दबाव से बचने के लिए रोमांस की गली में भूलकर मौज करने नहीं गये। रोमांस को उन्होंने छोड़ ही दिया, सो भी नहीं। उस अर्थ में, रोमांस कभी छूटता है? कोई लेखक कल्पना को कैसे छोड़ सकता है? कल्पना बिना लेखक क्या। लेकिन अपने हृद्गत रोमांस को उन्होंने व्यवहार पर, वास्तव पर घटाकर देखा और दिखाया। उन्होंने यथार्थ को ही आदर्श की ओर उभारने का कोशिश की। उनके साहित्य की खूबी यह नहीं है कि उनका आदर्श के साथ व्यवहार का असामंजस्य नहीं है। वह आदर्श स्वयं में कम ऊंचा है तो इसलिए भी कम ऊंचा है कि वह नीचे वालों को उपर उठाकर उनके साथ-साथ रहना चाहता है। इस समन्वय की पुष्टता के कारण वह पुष्ट है।

एक बात और याद रखने की है। प्रेमचंद जब साहित्य में आये तो वह साहित्य, सर्वथा नहीं तो अधिकांश रूप में अवश्य, व्यक्ति के लिए एक शगल था, मनोविनोद का एक साधन और व्यवसाय था। प्रेमचंद जी आरंभ में उसके प्रति इसी नाते की धारणा पर साहित्य में प्रविष्ट हुए, शनै:-शनै: ही साहित्य के प्रति उनके मनोभाव उत्तरोत्तर गभीर और पवित्र होते गए। अपने साथ साथ वे हिन्दी पाठकों को भी उस प्रकार की मनोवृत्ति में उठाते चले गए। हमको यह याद रखना चाहिए कि 'चंद्रकांता संतति' या 'नरेन्द्रमोहिनी' के पाठक से उन्होंने आरंभ किया था। उस पाठक के भरोसे वह लेखक बने, और उन्हें लेखक बने रहना था। पाठक वही था लेकिन उसे 'भूतनाथ' से 'गोदान' तक ले चलना था। प्रेमचद के इस ऐतिहासिक दायित्व को भूलने से न चलेगा। महावीरप्रसाद जी द्विवेदी को विवेचक पाठक से काम पड़ा। वह काम इतना गुरु-गंभीर न था। उसमें विवाद से और तर्क से और योग्यता से काम चल सकता था। अधिक से अधिक वह इस या उस तर्क-धारा, विचार-धारा को मोड़ने का काम था। पर प्रेमचंद के जिम्मे तो समूचे व्यक्तित्व को, समूचे हिन्दी वर्ग को, एक तल से उठाकर दूसरे संस्कारी तल तक ले चलने का काम आया। वह काम समूचे व्यक्तित्व, समूची आत्मा को मांगता था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी को एक विशेष tradition (परम्परा) प्रदान की। उसे रूढ़ शिथिलता से उबार कर भारतेन्दु ने हिन्दी को हवा लगने दी। पर उन traditions की अपर्याप्तता, अनुपयुक्ता इधर प्रकट हो चली थी। भारतेन्दु के साहित्य में जीवन मानो नाटकीय रंगस्थली है। पर बीसवीं सदी का विज्ञान और वितर्क-संकुल जीवन उससे अधिक जटिल चीज हो चली। हिन्दी को

उस भारतेन्दु की साहित्य परम्परा से आगे बढ़कर इस जीवन-जटिलता का और उसके वैविध्य-वैषम्य का आकलन करने के लिए समर्थ होना था। यह काम परम्परा को तोड़ने से नहीं होता। परम्परा टूटती नहीं है, टूट सकती ही नहीं है। उनको पचाकर आगे बढ़ा जाता है; उन्हीं को विस्मृत किया जाता है, उभारा जाता है। यह काम आलोचना-विलोचना के बस का नहीं है। यह काम स्रष्टा का है, उसके लिए है। साहित्यिक परम्पराओं का निर्माण और संस्कार इतना अधिक विधायक कर्म है कि ध्वंसेच्छा अथवा सुधाराग्रह उसके लिए असंगत वृत्तियां हैं, उसके लिए तो अपने सम्पूर्ण जीवन का निवेदन ही चाहिए। इस युग में प्रेमचंद जी के ऊपर यह दायित्व पड़ा और उन्होंने निबाहा, ऐसा मेरा विश्वास है। मनोविनाद से उठते-उठते हम साहित्य के प्रति एक मिशन-भाव, एक पूजा भाव तक आ गए हैं और प्रेमचंद जी ने हिन्दी पाठक-लेखक के इस मानसिक विकास में महत्वपूर्ण योग दिया है।

उनकी रचनाओं को निर्माणकाल के अनुक्रम से देखने पर स्पष्टता से पता चलता है कि वह आगे बढ़ते हुए समय का साथ देने में अपने को लांघने से भी नहीं चूके। कहीं वह राह में ठहर नहीं गए, साथ देते ही गए। जो उनकी पहली कहानियां और पहले उपन्यास हैं, वह पिछली कहानियां और पिछले उपन्यास नहीं हैं—इसका कारण यही है कि वह प्रगति से पिछड़ने को तैयार न थे। जब कहानियों में मनोविज्ञान की धुन सवार हुई तब वह उस नई मांग और नए फैशन के प्रति अवज्ञाशील नहीं हुए। जब और जिस तरह की नई जिज्ञासा, नई मांग पाठक में जगी तब प्रेमचंद भी उसके प्रति जागरूक और उत्तर में तत्पर दीखे। युग के प्रतिनिधि लेखक के यही लक्षण हैं। वह निरन्तर वर्द्धमान, निरन्तर परिणामशील हैं। उन्होंने पाठक को बिछुड़ने नहीं दिया, उसको घेरे ही रखा। इसमें पाठक असन्तुष्ट भी हुआ तो हो, प्रेमचंद जी उसके हित को अपने मन से भुलाने वाले न थे। यही कारण है कि 'सेवासदन' की सुसम्पूर्णता और सुसम्बद्धता (Complete causal wholeness) 'गोदान' में नहीं है। गोदान चित्र की भांति असमाप्त और काल-प्रवाह के समान थोड़ा बहुत अनिर्दिष्ट है। पिछली रचनाएं पहले की भांति नैतिक उद्देश्य के ढकन से ढंकी सुरक्षित और बन्द नहीं हैं, मानो कहीं अनढंकी और खुली रह गई हैं- इसका कारण यही है। पाठक आदेश नहीं चाहता निर्देश नहीं चाहता, विस्मृति और जागृति केवल चाहता है तो प्रेमचंद जी भी पिछली रचनाओं में निर्देश नहीं देंगे, उन्मुक्त विस्मृति देंगे।

Subjective (आत्मापेक्षी) दृष्टि से प्रेमचंद जी अपनी साहित्य सृष्टि में निरन्तर गतिमान और प्रगतिशील रहे हैं। अपने भीतर जीवन का प्रवाह उन्होंने रुकने नहीं दिया। Objective (पदार्थापेक्षी) दृष्टि से मैं उनके साहित्य पर विचार भी करना नहीं चाहता हूं। इस लिहाज से किसी को कोई रचना अच्छी लग सकती है और दूसरा किसी दूसरी रचना पर अटक सकता है। लेकिन उस माप से प्रेमचंद के साहित्य का विभाजन उपयोगिता पूर्वक किया जायेगा, सही, पर उस भांति उस प्रेमचंद तत्व को पहुचना दुष्कर होगा जो उस समूचे साहित्य का एकता की सम्भावना देता है और जो उस सृष्टि का मूल है।

11

प्रेमचंद जी भौतिकतावादी नहीं, बुद्धिवादी थे। उनका आधार विवेक, अर्थात् विभेद विज्ञान था। फिर भी आज के युग की पाश्चिमी प्रवृत्ति से उनका आशंका थी। उनके जीवन में, उनके साहित्य में उस आशंका के लक्षण अति प्रगट हैं, और उसके प्रति खुली चतावनी और खुली चुनौती

है। उसमें घोषित है कि त्राण शक्ति में नहीं, सेवा में है। महिमा उदण्ड विभूति में नहीं शान्त समपर्ण में है। सिद्धि सुख पर ईर्ष्या करने में नहीं वेदना के साथ सहानुभूति करने में है। Social polity का समाधान शहर में नहीं गांव में है। बहुत कुछ चारों ओर बटोर कर संग्रह करने से जीवन का स्वास्थ्य बढ़ेगा नहीं, घटेगा; उपयोगिता भी बढ़ेगी नहीं, घटेगी,• और आन्तरिक आनन्द तो इस भाँति घिर कर, घुटकर पीला और निष्प्राण हो ही जायगा।

12

मुझे एक अफसोस है। वह अफसोस यह है कि मैं उन्हें पूरे अर्थों में शहीद क्यों नहीं कह पाता हूं। मरते सभी हैं। यहां बचना किसको है। आगे-पीछे सबको जाना है। पर मौत शहीद की ही सार्थक है, क्योंकि वह जीवन के विजय को घोषित करती है। आज यही ग्लानि मन में घुट-घुटकर रह जाती है कि प्रेमचंद शहादत से क्यों वंचित रह गए। मैं मानता हूं कि प्रेमचंद शहीद होने योग्य थे। उन्हें शहीद ही बनना था।

और यदि नहीं बन पाए हैं वह शहीद, तो मेरा मन तो इसका दोष हिन्दी संसार को भी देता है।

मरने से एक सवा महीने पहले की बात है। प्रेमचंद खाट पर पड़े थे। रोग बढ़ गया था, उठ चल न सकते थे। देह पीली, पेट बढ़ा था, पर चेहरे पर शांति थी।

मैं तब उनकी खाट के बराबर काफी-काफी देर बैठा रहा हूं। उनके मन के भीतर कोई खीझ, कोई कड़वाहट, कोई मैल उस समय करकराता मैंने नहीं देखा। देखते तो उस समय वह अपने समस्त अतीत जीवन पर पीछे की ओर भी होंगे, और आगे अज्ञात में कुछ तो कल्पना बढ़ाकर देखते ही होंगे। लेकिन उन दोनों को देखते हुए वह संपूर्ण शांत भाव से खाट पर चुप-चाप पड़े थे। शारीरिक व्यथा थी, पर मन निर्विकार था।

ऐसी अवस्था में भी (बल्कि, ही) उन्होंने कहा—जैनेन्द्र, लोग ऐसे समय याद किया करते हैं, ईश्वर। मुझे भी याद दिलाई जाती है। पर अभी तक मुझे ईश्वर को कष्ट देने की जरूरत नहीं मालूम हुई है।

शब्द हौले-हौले, स्थिरता से कहे गए थे और मैं इस अत्यंत शांत नास्तिक सन्त की शक्ति पर विस्मित था।

मौत से पहिली रात को मैं उनकी खटिया के बराबर बैठा था। सवेरे सात बजे उन्हें इस दुनिया पर आंख मीच लेनी थी। उसी सवेरे तीन बजे मुझसे बातें होती थीं। चारों ओर सन्नाटा था। कमरा छोटा और अंधेरा था। सब सोये पड़े थे। शब्द उनके मुंह से फुसफुसाहट में निकलकर खो जाते थे। उन्हें कान से अधिक मन से सुनना पड़ा था।

तभी उन्होंने अपना दाहिना हाथ मेरे सामने कर दिया। बोले—दाब दो।

हाथ पीला क्या सफेद था और फूला हुआ था। मैं दाबने लगा।

वह बोले नहीं, आंखें मींचे पड़े रहे। रात के बारह बजे 'हंस' की बात होकर चुकी थी। अपनी आशाएं, अपनी अभिलाषाएं, कुछ शब्दों से और अधिक आंखों से वह उस समय मुझ पर प्रगट कर चुके थे। 'हंस' की और साहित्य की चिंता उन्हें तब भी दबाए थी। अपने बच्चों का भविष्य भी उनकी चेतना पर दबाव डाले हुए था। मुझमें उन्हें कुछ ढारस था।

अब तीन बजे उनके फूले हाथ को अपने हाथ में लिए मैं सोच रहा था कि क्या मुझे

पर उनका ढारस ठीक है? रात के बारह बजे मैंने उनसे कुछ तर्क करने की धृष्टता भी की थी। वह चुभन मुझे चुभ रही थी। मैं क्या कहूं? क्या करूं?

इतने में प्रेमचंद जी बोले—जैनेन्द्र।

बोलकर, चुप मुझे देखते रहे। मैंने उनके हाथ को अपने दोनों हाथों से दबाया। उनको देखते हुए कहा—आप कुछ फिकर न कीजिए, बाबूजी। आप अब अच्छे हुए। और काम के लिए हम सब लोग हैं ही।

वह मुझे देखते रहे, देखते रहे। फिर बोले—आदर्श से काम नहीं चलेगा—

मैंने कहना चाहा—आदर्श

बोले—बहस न करो—कहकर करवट लेकर आंखें मींच लीं।

उस समय मेरे मन पर व्यथा का पत्थर ही मानो रख गया। प्रकार-प्रकार की चिन्ता-दुश्चिन्ता उस समय प्रेमचंद जी के प्राणों पर बोझ डाल कर बैठी हुई थी। मैं या कोई उसको उस समय किसी तरह नहीं बटा सकता था। चिन्ता का केंद्र यही था कि 'हंस' कैसे चलेगा। नहीं चलेगा तो क्या होगा। 'हंस' के लिए तब भी जीने की आस उनके मन में थी और 'हंस' न जियेगा यह कल्पना उन्हें असह्य थी। पर हिन्दी संसार का अनुभव उन्हें आश्वस्त न करता था। 'हंस' के लिए जाने उस समय वह कितना न झुक-गिरने को तैयार थे।

मुझे योग्य जान पड़ा था कि कहूं कि—'हंस मरेगा नहीं। लेकिन वह बिना झुके भी क्यों न जिए? वह आपका अखबार है, तब वह बिना झुके ही जियेगा।

लेकिन मैं कुछ भी न कह सका और कोई आश्वासन उस साहित्य-सम्राट को आश्वस्त न कर सका।

थोड़ी देर में बोले—गर्मी बहुत है, पंखा करो।

मैं पंखा करने लगा। उन्हें नींद न आती थी, तकलीफ बेहद थी। पर कराहते न थे, चुपचाप आंख खोलकर पड़े थे।

दस-पन्द्रह मिनट बाद बोले—जैनेन्द्र, जाओ सोओ।

क्या पता था अब शेष घड़ियां गिनती की हैं। मैं जा सोया।

और सवेरा होते-होते ऐसी मूर्छा उन्हें आई कि फिर उससे जागना न हुआ।

हिन्दी संसार उन्हें तब आश्वस्त कर सकता था, और तब नहीं तो अब भी आश्वस्त कर सकता है। मुझे प्रतीत होता है, प्रेमचंद जी का इतना ऋण है कि हिन्दी संसार सोचे—कैसे वह आश्वासन उस स्वर्गीय आत्मा तक पहुंचाया जावे।

गुण-ग्राहकता

श्री अवध उपाध्याय का एक पत्र।

(श्री अवध उपाध्याय आजकल यूरोप में गणित का अध्ययन कर रहे हैं। श्री प्रेमचंद जी की मृत्यु का समाचार आपको पेरिस में मिला। वहीं से आपने अपने '*लंगोटिया यार*' श्री अन्नपूर्णानन्द वर्मा को एक पत्र लिखा था जो नीचे प्रकाशित किया जाता है। श्री अवध उपाध्याय को हिन्दी

संसार प्रेमचंद का कठोर टीकाकार ही समझता आया है। इस पत्र से उनके प्रकृत भाव प्रकट होंगे। हमें आशा है कि प्रेमचंद जी के सम्बन्ध में उपाध्याय जी जो कार्य उनके पार्थिव जीवन में न कर पाये उसे अब करेंगे, क्योंकि प्रेमचंद साहित्यिक रूप में अब भी जीवित हैं और तब तक रहेंगे तब तक हिन्दी हमारी भाषा रहेगी।—हमें यह पत्र श्री अन्नपूर्णानन्द जी की कृपा से प्राप्त हुआ है।—सं०)

216 Rue St. Jacques
Paris V.
26-2-37.

प्रिय मित्र अन्नपूर्णा !

तुम्हारे पत्र से प्रेमचंद जी की मृत्यु का पता चला। इस दु:खद समाचार ने मेरे हृदय को मथ डाला, मैं रो उठा क्योंकि मेरे हृदय में एक कसक रह गई। मैंने प्रेमचंद के सब ग्रन्थों का अध्ययन किया था और मैं भली भाँति उनके गुणों से परिचित था। वास्तव में हिन्दी भाषा का एक स्तंभ टूट गया, हिन्दी का सर्वश्रेठ कहानी-लेखक उठ गया, आज हमारे उपन्यास सम्राट् का देहावसान हो गया। परन्तु उनकी अमर कीर्ति की ध्वजा सर्वथा फहराती रहेगी। मैं आज नि:संकोच भाव से कह रहा हूं कि अपनी लेखनी के द्वारा आज तक हिन्दी का कोई भी दूसरा लेखक प्रेमचंद की तरह प्रसिद्ध नहीं हो सका। भाषा प्रेमचंद की दासी-सी बन गई थी। उसे वे जैसे चाहते थे, नचाते थे। मानव-हृदय का ज्ञान भी उन्हें बहुत था। मेरा पूर्ण विश्वास है कि उनकी कृतियों में अमर साहित्य की सामग्री है। मेरी राय में प्रेमचंद का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास 'सेवासदन' और सर्वश्रेष्ठ गल्प-संग्रह 'नवनिधि' हिन्दी भाषा में सदा अमर रहेंगे। मुझे हार्दिक दु:ख है कि मैं प्रेमचंद जी के गुणों का वर्णन उनके जीवनकाल ही में नहीं कर सका। इस समय भी मैं गणित के अध्ययन में व्यस्त रहने के कारण, उनके गुणों का वर्णन नहीं कर सकता। दूसरी बात यह है कि उनके गुणों के वर्णन के लिए पुस्तक लिखने की आवश्यकता है। मैं इस छोटे से पत्र में क्या क्या लिखूं? परन्तु भाई ! मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूं, मैं उस समय भी उनके गुणों के बारे में भी लिखना चाहता था। तुम जानते हो, जो कुछ मैंने प्रेमचंद जी के बारे में लिखा था, वह सब कुछ शुद्धभाव से, द्वेषवश नहीं। यह संभव है कि मैंने गलती की हो, यह भी संभव है कि मेरी राय से बहुत लोग सहमत न हों परन्तु मैंने अपनी धारणा साफ-साफ और शुद्ध हृदय से लिखी थी। बात यह है कि प्रेमचंद के सब ग्रंथों के अध्ययन के बाद मेरी समझ में यह बात आई कि 'सेवासदन' ही उनका सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है। मैं चाहता था कि प्रेमचंद जी उसी सेवासदन के मार्ग का अवलंबन करें, 'रंगभूमि' और 'कायाकल्प' का नहीं। मैंने उनसे भी इस संबंध से बातें कीं परन्तु उन्हें विश्वास नहीं दिला सका। तदनन्तर मैंने खुले तौर से उनके विरुद्ध लिखकर उनका ध्यान आकर्षित करना चाहा। मैं चाहता था कि मैं प्रेमचंद जी के विरुद्ध लिखूं और वे उसका खुलकर उत्तर दें। मैं चाहता था कि हिन्दी भाषा में स्वतंत्र समालोचना की धारा बहे। परन्तु अन्त में प्रेमचंद जी के गुणों का भी वर्णन करना चाहता था। गुण और दोष मैं दोनों दिखलाना चाहता था। तुम जानते हो, हिन्दी में वह मेरा पहला लेख था। मैं तो वास्तव में पहले उनके गुणों का ही वर्णन करना चाहता था और बाद में दोषों का। परन्तु मेरे एक मित्र ने पहले दोषों का वर्णन करने के लिए उपदेश दिया और मैंने उसे स्वीकार कर लिया। इसी बीच में प्रेमचंद जी बुरा मान गये और हिन्दी के कुछ लोगों ने वास्तव में यह सोचना प्रारम्भ कर दिया

कि मैं द्वेषवश लिख रहा हूं। इसी बीच प्रेमचंद जी और सहगल जी मेरे पास आये और समालोचना बंद कर देने का विचार प्रकट किया। बस मैंने समालोचना बंद कर दी और मेरे सब विचार हिन्दी भाषा के सामने न आ सके। परन्तु मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूं कि प्रेमचंद जी हिन्दी के एक बड़े लेखक थे और मैं उनके गुणों को भी भली भांति जानता हूं। फिर कभी विस्तारपूर्वक इन सब गुणों का वर्णन करूंगा और यदि मुझसे बन पड़ा तो उनकी सहायता करूंगा।

तुम मेरे लंगोटिए यार हो। इसलिए तुम्हारे पास पत्र लिख रहा हूं और आशा करता हूं कि मेरी यह बात अवश्य मानोगे। वास्तव में मैं नहीं जानता कि हिन्दी संसार प्रेमचंद जी के स्मारक के लिए क्या कर रहा है। परन्तु मेरा विश्वास है कि वह स्मारक के लिए अवश्य प्रयत्न करेगा। अन्नपूर्णा ! स्मारक ठीक है, तुम भी इसमें सहयोग देना। परन्तु मैं तुमसे दोनों हाथ जोड़ कर प्रार्थना करता हूं कि तुम एक अलग समिति स्थापित करो जो उनके कुटुम्ब को सहायता दे। यदि तुम्हारे प्रयत्न से उनके कुटुम्ब की देखरेख हो सकी तो मैं तुम्हारा आजन्म आभारी रहूंगा। प्राय: यह देखा जाता है कि घर के प्रधान की मृत्यु के बाद उसके कुटुम्ब की सहायता करने वाले तो कम रह जाते हैं परन्तु उनके लूटने वाले अधिक हो जाते हैं। मेरी प्रार्थना है कि इस आपत्ति से उनके कुटुम्ब की रक्षा करना, अवश्य रक्षा करना। एक प्रार्थना तुम से और है। मेरी ओर से उस देवी–प्रेमचंद की धर्मपत्नी–के यहां जाना और कहना कि मैं सदा उनके साथ हूं। यदि वे कोई आज्ञा दें तो मैं सदा उनकी आज्ञा का पालन करूंगा और यदि मुझसे बन पड़ा तो उनकी सहायता करूंगा।

तुम नहीं जानते कि उस देवी से मेरा व्यक्तिगत परिचय है, उनके बनाये हुए भोजन मैंने कई बार खाए हैं। कई बार मैंने उन्हें तथा प्रेमचंद जी को अपने घर निमंत्रित किया और उन्होंने मुझे। मेरा उनका संबंध बड़ा घनिष्ट रहा। इसीलिए तुमसे प्रार्थना कर रहा हूं कि तुम उनके यहां मेरी ओर से अवश्य जाना और उन्हें विश्वास दिलाना कि मैं उनके साथ हूं।

अभिन्न हृदय मित्र, अवध उपाध्याय।

प्रेमचंद जी की कला और उनका मनुष्यत्व

श्री इलाचन्द्र जोशी

जब प्रेमचंद जी ने पहले-पहल हिन्दी में लिखना प्रारम्भ किया था तब मैं एक स्कूली लड़का था पर तत्कालीन हिन्दी साहित्य की सभी सामयिक बातों के सम्बन्ध में खासी जानकारी रखता था। उन दिनों प्रेमचंद जी की कहानियां अक्सर 'सरस्वती' में निकला करती थीं। उस युग में हिन्दी में कहानियों की जो मिट्टी खराब की जा रही थी उसे देखते हुए मेरे आश्चर्य और हर्ष का ठिकाना न रहा। जब मैंने देखा कि अकस्मात् एक ऐसे लेखक का आविर्भाव हुआ है जिसके भाव, भाषा और शैली में निरालापन और चमत्कार के अतिरिक्त एक ऐसी विशेषता वर्तमान है जो अपनी सहृदयता से बरबस पाठक के हृदय को मोह लेती है तब से मैं जिस किसी भी पत्र में प्रेमचंद जी की कहानी छपी हुई पाता उस पर भुक्खड़ की तरह झपट पड़ता।

शीघ्र ही प्रेमचंद जी की कहानियों के दो संग्रह निकले–'नवनिधि' और सप्तसरोज। जहां

तक मुझे याद है, 'नवनिधि' की कहानियां अधिकांशत: ऐतिहासिक थीं। तथापि उनका विषय-निरूपण ऐसा सुन्दर था कि लेखक का रचना-कौशल देखकर वास्तव में चकित रह जाना पड़ता था और उनमें भावों को खूबियां ऐसे अच्छे ढंग से व्यक्त की गई थीं, कि कोई भी पढ़कर मुग्ध हुए बिना न रह सकता था। मैंने इस पुस्तक को अपनी स्कूली अवस्था में कम-से-कम बारह बार पढ़ा होगा। इसके बाद 'सप्तसरोज' नामक संग्रह मेरे देखने में आया। इस संग्रह ने हिन्दी के कहानी-साहित्य में एक पूर्णत: अभिनूतन युग की सूचना दी। इसमें आधुनिक विश्व-साहित्य की कहानी-कला के 'टेकनिक' के पूर्ण प्रदर्शन के अतिरिक्त अन्तस्तल में प्रवेश करने वाली मार्मिक गहनता तथा सरल स्पष्ट वास्तविकता के 'बैकग्राउण्ड' में प्रतिफलित होने वाली स्निग्ध सुन्दर सहृदयता की अपूर्व मनोहर अभिव्यञ्जना हृदय में एक मधुर वेदना की गुदगुदी सी पैदा करती थी। प्राय: बीस वर्ष पहले मैंने 'सप्तसरोज' की कहानियां पढ़ी थीं और एक ही बार उन्हें पढ़ने का अवसर प्राप्त हुआ था, तथापि अभी तक उसकी कुछ कहानियां मेरे स्मृति-पटल में अत्यन्त उज्ज्वल तथा सुस्पष्ट रूप से अंकित हैं। 'सौत', 'बड़े घर की बेटी', 'पञ्च परमेश्वर' आदि कहानियां साहित्य संसार में सदा अमर होकर रहेंगी। ऐसी सुन्दर छोटी कहानियां हिन्दी में न उस युग के पहले कभी लिखी गई थीं, न उसके बाद ही कोई ऐसी कहानी मुझे पढ़ने को मिली जिनमें 'टेकनिक' और सहृदयता का ऐसा सामञ्जस्य पाया जाता हो।

इसके बाद 'सेवासदन' प्रकाशित हुआ। हिन्दी के उपन्यास-साहित्य में यह निर्विवाद रूप में युगान्तरकारी रचना थी। इसमें पात्रों के सुन्दर मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण के अतिरिक्त एक नवीन आदर्श की अवतारणा कलाकार की आन्तरिक समवेदना के साथ अभिव्यक्ति की गई थी। इस उपन्यास ने मेरे मन में एक नई अनुभूति और अनोखी प्रेरणा उत्पन्न कर दी।

'सेवासदन' प्रकाशित होने के शायद तीन-चार वर्ष बाद 'प्रेमाश्रम' प्रकाशित हुआ। इस बीच साहित्य और कला के सम्बन्ध में मेरे विचारों में बहुत कुछ परिवर्तन और विवर्तन हो गया था। प्राच्य तथा पाश्चात्य कला के प्राचीन तथा नवीन भावों के अध्ययन और मनन के बाद मेरे विचारों की धारा एक विचित्र उलटी-सीधी गति से तरंगित हो रही थी। अतएव मेरी ऐसी मानसिक अवस्था में जब प्रेमचंद जी का प्रेमाश्रम दीर्घ छ: सौ पृष्ठव्यापी विस्तृत तथा विशालकाय आकार में प्रकाशित होकर सामने आया तो मैं अपने 'फेवरिट' लेखक की इस नई कृति को अत्यन्त उत्सुकता से पढ़ने लगा। पर मुझे खेद हुआ जब मैंने उक्त रचना अपने मन की आशाओं के अनुरूप न पाई। इस रचना से मुझे लेखक की प्रतिमा के विराट् रूप से परिचय अवश्य हुआ, पर उसमें कला का निर्वाह मैंने अपने मन के अनुरूप न पाया। उन दिनों मेरी रगों में कच्ची उम्र का नया खून जोश मार रहा था। 'प्रेमाश्रम' के सम्बन्ध में तत्कालीन साहित्यलोचकों से मेरा मतभेद होने पर मैं रह न सका और अत्यन्त प्रबल आक्रोश के साथ परिपूर्ण शक्ति से मैं उन पर बरस पड़ा। इस पर आलोचना–प्रत्यालोचना का जो लम्बा चक्कर चला, उससे तत्कालीन साहित्य के ऐतिहासिक गगन में जो क्रांतिकारी बवण्डर मचा था, उससे उस युग के पाठक भलीभांति परिचित हैं। आज मैं अपनी उस असहनशीलता के कारण लज्जित हूं। पर यदि विचारपूर्वक उदार दृष्टि से देखा जाय, तो हमारे साहित्य के उस नवीन क्रांतिकारी युग में मेरे भीतर कला-सम्बन्धी प्राच्य तथा पाश्चाय भावों के विचित्र सम्मिश्रण से रासायनिक क्रिया-प्रतिक्रिया ने जो तहलका मचा रखा था उसके फलस्वरूप मेरे विचारों में उग्रता तथा असहनशीलता आनी अनिवार्य थी।

प्रेमचंद जी की कला के सम्बन्ध में यह कड़वी धारणा मेरे मन में कुछ समय तक रही। पर मैं उनकी प्रतिभा के बृहद रूप पर बराबर ज़ोर देता चला आया—मैंने उसे कभी अस्वीकार नहीं किया। 1927 में जब प्रेमचंद जी 'माधुरी' का सम्पादन कर रहे थे तो उनसे मैं लखनऊ में प्रथम बार मिला। उनके दर्शन मात्र से ही मैं सहम-सा गया। उनका चमकता हुआ विस्तृत ललाट, अन्तर्भेदिनी तथा सुगंभीर और शान्त आंखों, मोटी भौंहें और बड़ी-बड़ी मूछें मिलकर एक ऐसे विचित्र व्यक्तित्व को व्यक्त करती थीं जो पूर्णत: भारतीय होने पर भी अपने भावलोक के एकाकीपन में एक निराली वैदेशिक विशेषता रखता था। जहां तक मुझे याद है, रवीन्द्रनाथ ने ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के सम्बन्ध में कहा था कि यद्यपि वह अपने बाल्य-जीवन में पूरे बंगाली थे और बंगालियों के प्रति उनके मन में पूर्ण सहानुभूति थी तथापि अपने अन्तर्जीवन में वह एकदम अ-बंगाली थे और अपने सतेज व्यक्तित्व तथा उदार सदाशय स्वभाव के कारण वे स्वजातियों से पूर्णत: भिन्न जान पड़ते थे। प्रेमचंद जी को देखते ही मेरे मन में वही धारणा जम गई। मैंने युक्तप्रान्त में अपेन परिचित प्रतिष्ठित मित्रों से उनमें एक विशिष्ट विभिन्नता पाई। जार के युग में नाना कड़वे अनुभवों से निष्पेषित, प्रताड़ित तथा प्रपीड़ित रूस के प्रतिभाशाली मनीषियों के अतल व्यापी अव्यक्त विक्षोप की सघन गहनता उनके व्यक्त्वि में लक्षित होती थी। यदि गौर किया जाय तो प्रेमचंद जी तथा मैक्सिम गोर्की की बाह्याकृतियों में भी एक आश्चर्यजनक साम्य दिखाई पड़ता है। दोनों के फोटो उठाकर दोनों का व्यक्तित्व मिलाकर देखिये। आप हैरत में पड़ जायंगे कि दोनों देशों की भौगोलिक परिस्थिति, सभ्यता तथा संस्कृति म मूलत: भिन्नता होने पर भी दोनों देशों के आधुनिक साहित्य के दो विशिष्ट प्रतिनिधियों की मुखाकृतिया म प्रकट होने वाले व्यक्तित्व में इतनी अधिक समानता पाई जाती है।

केवल बाह्य समता ही नहीं, गोर्की और प्रेमचंद जी के भीतरी व्यक्तित्व म भी कुछ कम समता नहीं पाई जाती। जिस प्रकार गोर्की ने दलित मानवता के सुख-दु:खों का वास्तविकता अनुभव प्राप्त करके अपनी उस सच्ची महदयतापूर्ण तथा समवेदनामूलक अनुभूति का अपनी क्रियात्मक रचनाओ में अत्यन्त सुन्दर रूप स कलात्मक परिपूर्णता के साथ अभिव्यक्त किया उसी प्रकार प्रेमचंद जी न भी भारत की पिष्ट नोर्पीडित नि:शोषित तथा उपक्षित ग्रामीण जनता की आत्मा स अपनी अन्तरात्मा का पूर्ण सयाग सघटित करके उनका यथार्थ चरित्र चित्रित करके अपनी कलामयी अनुभूति का परिचय दिया है।

यद्यपि सामयिक पत्रों में प्रेमचंद जी की कला-सम्बन्धी धारणा से मेरा मतभेद कुछ कड़वे रूप में व्यक्त हो चुका था, पर जब मैं उनसे मिला तो उन्होंने अपनी बातों में किसी सामान्य संकेत से भी यह बात प्रकट न होने दी कि मेरे विचारों से मतभेद होने के कारण मेरे प्रति उनके मन में किसी प्रकार का द्वेषभाव उत्पन्न हुआ है। प्रारम्भ में उन्होंने कुछ संकोच के साथ बात अवश्य कीं, पर कुछ ही देर बाद वह ऐसे खुले कि दोनों को ऐसा अनुभव होन लगा जैसे हम लोगों की बड़ी पुरानी मैत्री हो। यह बात प्रेमचंद जी के हृदय की असाधारण उदारता के कारण ही सम्भव हुई थी। उस दिन से मेरा हृदय प्रेमचंद जी के प्रति श्रद्धा और सम्भ्रम के भाव से झुक गया। हिन्दी के बहुसंख्यक साहित्यिकों में विचार-विभिन्नता के कारण जो पारस्परिक असहनशीलता व्यक्तिगत रागद्वेष के रूप में अत्यन्त संकीर्णतापूर्वक व्यक्त होती रहती है, उसका लेश भी मैंने प्रेमचंद जी में नहीं पाया। उनके साथ घण्टे भर की बातचीत से मैं समझ गया कि हम दोनों को कलात्मक अभिव्यक्ति की अन्तर्धाराएं दो विभिन्न दिशाओं की ओर प्रवाहित हुई

हैं। प्रेमचंद जी वास्तविक और व्यक्त जीवन की कठोरता के भीतर आदर्शवाद के मूल प्राण की खोज करके उसे जनता के सम्मुख रखना चाहते हैं, और मैं अव्यक्त की अज्ञात माया की मोहिनी के फेर में पड़कर, वास्तविक जीवन के अन्तराल में छिपी छायात्मिका प्रकृति के रहस्य की ओर निरुद्देश्य दौड़ा चला जा रहा हूं। तथापि इस कारण से हम दोनों की मूलात्माओं के सम्पूर्ण सहयोग तथा समवेदनात्मक अनुभूति के मार्ग में किसी प्रकार की बाधा पड़ने का कोई कारण मुझे नहीं दिखाई दिया।

इसके बाद प्रेमचंद जी से मैं केवल एक बार थोड़े समय के लिए मिल पाया था। पर उनके प्रति श्रद्धा का जो भाव मेरे मन में एक बार जमा गया था वह स्थिर रहा और सदा अमिट होकर रहेगा।

जनता प्रेमचंद जी को केवल एक ऊंचे दर्जे के कलाकार के रूप में जानती है, पर कला के अतिरिक्त उनमें मनुष्यत्व कितना अधिक था, इस बात से बहुत कम लोग परिचित हैं। अपनी रचनाओं में उन्होंने जिन दलितात्माओं के निर्यातन का निदर्शन किया है उनके प्रति उनकी केवल मौखिक सहानुभूति नहीं थी, वह अपनी उस सहानुभूति को अनेक बार वास्तविक जीवन में व्यावहारिक रूप में प्रकट करके हमारे कलाकारों के लिए एक महत् आदर्श छोड़ गये हैं। कला की मार्मिक अनुभूति का वास्तविक मूल्य यहीं पर है। उन्होंने अपने जीवन में जिन कष्टों का अनुभव किया उससे उन्होंने दूसरे पीड़ितों को यथार्थ रूप में समझने में सहायता पाई, और केवल समझ कर ही वह चुप नहीं रहे, बल्कि अपनी घोर आर्थिक संकट की दशा में भी वह समय समय पर संकटापन्न परिस्थिति में पड़े हुए परिचित अथवा अपरिचित व्यक्तियों को यथासामर्थ्य व्यावहारिक सहायता पहुंचाने के लिए सदा उद्यत रहते थे। हिन्दी की साहित्यिक मण्डलियों के घोर स्वार्थपूर्ण वातावरण की संकीर्ण मनोवृत्ति को ध्यान में रखते हुए जब मैं प्रेमचंद जी के इस उदार मनुष्यत्व की सदाशयता पर विचार करता हूं तो मेरे हृदय में विह्वल श्रद्धा गद्गद होकर उमड़ उठती है।

प्रेमचंद जी की याद

श्री रामनरेश त्रिपाठी

प्रेमचंद जी की मेरी पहली मुलाकात सन् 1915 या 16 में प्रयाग में हुई थी। वह श्री महावीरप्रसाद पोद्दार के साथ आये हुए थे। उसके पहले मैं उनको नहीं जानता था। उस समय वह शायद गोरखपुर के किसी स्कूल में अध्यापक थे और बी॰ ए॰ की परीक्षा दे चुके थे। उनका परिचय देते हुए पोद्दार जी ने उनकी कहानियों की बड़ी प्रशंसा की थी। शायद उन दिनों वे 'सप्तसरोज' का प्रकाशन करने जा रहे थे।

उस मुलाकात के बाद मैंने पहले-पहल उनका 'सेवासदन' पढ़ा और उनकी ओर विशेष रूप आकर्षित हुआ। उसके बाद तो मैं उनकी कहानियों और उपन्यासों का नियमित पाठक बन गया।

प्रेमचंद जी उर्दू से हिन्दी में आये थे और थोड़े ही समय में उन्होंने हिन्दी में अपनी खास

शैली निर्धारित कर ली, जो उनकी बिल्कुल निज की थी, और मेरी राय में वही उनका सबसे अधिक स्थायी और वर्द्धनशील स्मारक है।

उनके घनिष्ठ मित्रों से उनके कौटुम्बिक जीवन की बहुत सी बातें सुनता रहता था, उनमें एक मुख्य बात यह थी कि वे एक गरीब गृहस्थ के घर के रत्न थे। इससे गरीब जनता के लिए उनमें स्वाभाविक सहानुभूति थी और यही कारण था कि उन्होंने जीवन के अन्त समय तक अपना हृदय और मस्तिष्क गरीबों को समर्पण कर रखा था। उनकी समस्त रचनाओं में उनके हृदय की यह अविचलित धड़कन विद्यमान है। वह हंसे भी तो गरीब-समाज में बैठकर, रोये भी तो गरीबों की दुनिया में; और उन्होंने मज़ाक भी किया तो उन्हीं भावों को लेकर। गरीबों का इतना बड़ा लेखक शायद ही इस देश की किसी भाषा में हुआ हो।

खेद है, प्रेमचंद जी को उनके जीवनकाल में हिन्दी वालों ने नहीं पहचाना। आज उनकी मृत्यु के बाद हम उनके अभाव को जिस मोह से अनुभव कर रहे हैं वह उनके जीवन-काल में हुआ होता तो हम उनको लेकर बहुत उच्च हुए होते। उन पर क्या-क्या इलजाम न लगाये गये; उनके सद्‌गुणों को ढकने के लिए क्या-क्या उद्योग नहीं किये गये, इन सबका स्मरण करके हमें लज्जा से सिर झुका लेना पड़ता है।

मैं गुजरात, काठियावाड़ और दक्षिण भारत में दो-तीन बार हो आया हूं। प्रत्येक बार नये-नये साहित्य-प्रेमियों से मिलने का मुझे अवसर मिला है। मैंने सर्वत्र प्रेमचंद जी को व्याप्त पाया। मैं अधिक सचाई के साथ कह सकता हूं कि अ-हिन्दी प्रान्तों में हिन्दी के लेखकों और कवियों में केवल प्रेमचंद जी ही का नाम सबसे अधिक प्रसिद्ध है। उनकी कहानियों के अनुवाद भिन्न-भिन्न भाषाओं में हो गये हैं जिन्हें उत्तर भारत के साहित्यिक शायद न जानते होंगे। यदि प्रेमचंद जी गुजराती या बंगला में लिखते होते तो निश्चय ही उन भाषाओं के उत्साही लोग उनका यथोचित सम्मान करके उन्हें भारतवर्ष के साहित्यिकारों में सर्वोच्च स्थान तक पहुंच चुके होते। हिन्दी वालों से अधिक सम्मान तो उनका उर्दू ही वाले करते थे। खेद है, आज उनकी मृत्यु के बाद हम उनका स्मारक बनाने की फिक्र में हैं।

प्रेमचंद जी से मिलने का मुझे कितनी ही बार मौका मिला था। वह बड़े ही मिलनसार, दोस्तदार, सदा प्रसन्नमुख और साफगो आदमी थे। वह जी खोलकर ऐसा हसते थे कि घर गूंज उठता था। उनका अट्टाहास तो अब भी कानों में गूंज रहा है। अभिमान की उनमें बू भी नहीं थी। बीमारी से पहले मेरा उनका साथ नागपुर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में हुआ था। हम दोनों एक साथ घूमने-फिरने, चाय पीने, जालपान करने और गपशप के लिए एक-दूसरे को ढूंढ़ लिया करते थे।

उनका अंतिम दर्शन मैंने उनकी रुग्ण-शय्या पर किया। मैं एक इच्छा लेकर गया था कि यदि उनमें चलने फिरने की शक्ति हो तो उन्हें सुल्तानपुर ले जाता, जहां की आबहवा उनका बहुत मुवाफिक पड़ती। पर वह तो करवट बदलने में भी लाचार थे। मुझे देखकर वह मुस्कुराये और धीरे से बोले—'किनारे लग चुका हूं, पता नहीं कब नाव छोड़ दूं।' यह कहकर उन्होंने एक शेर पढ़ा, जो मुझे सुनाई नहीं पड़ा। उनका रागहीन पीला चेहरा और हाथ अब भी मेरी आंखों में चित्रित हैं। भरे हुए हृदय से उन्हें जीने का मिथ्या आश्वासन देकर, क्योंकि देखते ही मुझे विश्वास हो गया था कि वह अब चंद दिनों के मेहमान हैं, मैं उनसे जुदा हुआ और इसके थोड़े ही दिन बाद 'लीडर' में यह दु:खदायी समाचार पढ़ा कि प्रेमचंद जी अब इस नश्वर संसार में नहीं रहे।

हमारे साहित्यिक आकाश का एक बड़ा नक्षत्र टूट कर गिर पड़ा; हिन्दी के नन्दन कानन का एक सुरभित सुमन अकाल ही में मुरझा गया; हमारे साहित्यिक जीवन का एक स्रोत सूख गया; गरीबों के लिए धड़कता हुआ एक हृदय यकायक बंद हो गया; सहृदय मित्रों का एक मध्यस्थ अपनी जगह खाली करके चला गया। अब केवल उसकी खूबियां हैं, और उनके अंदर उसकी सूरत देखकर आहें भरने वाले उसके कुछ मित्र—

'कमर बांधे हुए चलने को यहां सब यार बैठे हैं।
'बहुत आगे गये, बाकी जो हैं, तैयार बैठे हैं।।'

महान् साहित्यकार की स्मृति में

श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

सन् 1932 के नवम्बर महीने में मुझे बनारस जाना था। उससे पूर्व सिर्फ एक बार, वह भी सिर्फ एक दिन के लिए, स्वर्गीय पं० पद्मसिंह जी के साथ मैं बनारस गया था। शर्मा जी साथ थे, इससे तब वहां ज़रा भी दिक्कत नहीं हुई थी। शर्मा जी के निकट हर समय महफिल का-सा वातावरण बना रहता था, इससे वह यात्रा तो बड़े मजे की हुई। परन्तु सारा दिन बनारस में रहने पर भी वहां भौगोलिक स्थिति से मैं अपरिचित ही रहा। इसी कारण लाहोर से चलते समय मैंने हिन्दी के सबसे महान् साहित्यकार मुंशी प्रेमचंद जी के नाम इस आशय का पत्र डाल दिया कि मैं अमुक तारीख़ को बनारस पहुंच रहा हूं और यह भी कि बनारस से मेरा परिचय शून्य के बराबर है।

तब तक प्रेमचंद जी से मेरा घनिष्ट परिचय नहीं था। गुरुकुल कांगड़ी में वह दो-चार दिन रहे थे, तब और उसके बाद सन् 1931 में उनकी प्रथम दिल्ली-यात्रा के दिनों में उनसे मिलते-जुलते रहने का मुझे काफी अवसर मिला था। परन्तु वह परिचय इतना घनिष्ट नहीं था कि मैं उनके यहां ठहरने की इच्छा कर सकता। मुझे बताया गया था कि युक्तप्रान्त में बिना अत्यधिक निकट का सम्बन्ध हुए किसी को अपने घर पर ठहराने की प्रथा नहीं है। और यह भी मुझे मालूम था कि बड़े शहरों में अच्छे होटलों की कमी नहीं है। फिर भी मुख्यत: कुछ समय तक उनके अत्यन्त निकट रहने के प्रलोभन से मैंने उन्हें वह पत्र लिखा था।

एक दिन का भी विलम्ब किये बिना उन्होंने मेरे पत्र का जवाब दे दिया। उन्होंने लिखा कि उन्हीं दिनों किसी काम से वह लखनऊ जाना चाहते थे मगर अब वह उस प्रोग्राम को मुलतवी कर देंगे। 'तुम मेरे यहां ठहरोगे तो इससे मुझे बड़ी खुशी होगी।' और साथ ही अपने बेनिया पार्क वाले लाल मकान का पता भी उन्होंने मुझे समझा कर लिखा दिया।

उन दो- तीन दिनों में प्रेमचंद जी को मैंने बहुत निकट से देखा। उनके खुल कर ऊंचा हंसने की आदत से तो मैं पहले भी परिचित था; परन्तु उनकी हसी के पीछे कितनी पवित्र और सरल आत्मा विद्यमान है, यह मैंने उनके निकट रह कर ही अनुभव किया। मैंने देखा, उनके सहानुभूतिपूर्ण हृदय में किसी भी तरह की सांसारिक, राजनीतिक या सामाजिक रूढ़ियों के प्रति मोह नहीं है। धर्म, जाति या देश की सीमाओं को तोड़कर वह महान् कलाकार सभी अवस्थाओं

में मनुष्य के लिए उदार और अनुभूतिपूर्ण बन कर रहता है।

गुरुकुल कांगड़ी में मैंने देखा था कि प्रेमचंद जी बहुत बार काफी अन्यमनस्क से हो जाते हैं। एक मीटिंग में वह सभापति थे। कोई सज्जन भाषण कर रहे थे और सभापति महोदय का ध्यान अन्तर्मुखी हो गया। काफी समय तक उन्हें ख्याल ही न रहा कि वह कहां और क्यों बैठाए गए हैं। यही कुछ देखकर मेरा ख्याल बन गया था कि प्रेमचंद जी को बातचीत करने का विशेष शौक न होगा। परन्तु मेरी वह धारणा नितान्त अशुद्ध सिद्ध हुई। मैंने देखा कि उन्हें अत्यन्त मनोरंजक ढंग से बातचीत करने की कला आती है। सिर्फ उन्हें खुल जाने का अवसर मिलना चाहिए। हां, किसी-किसी समय अन्यमनस्कता का 'फिट' भी उन्हें ज़रूर आता था, और मेरा ख्याल है कि अन्यमनस्कता कलाकारों का विशेष अधिकार है।

अपनी उसी बनारस-यात्रा में मैं 'आज' के सम्पादक श्री बाबूराम विष्णु पराड़कर से भी मिलना चाहता था। जब प्रेमचंद जा से मैंने इस बात का जिक्र किया तो उन्होंने कहा—चलो, मैं भी साथ ही चलूंगा।

मुझे लेकर वह 'आज' कार्यालय पहुंचे। 'आज' कार्यालय के अनेक कार्यकर्ता प्रेमचद जी को पहचानते थे, उन्होंने पराड़कर जी को उनके आगमन की सूचना दी। पराड़कर जी उठकर बाहर चले आए और हम लोगों को भीतर ले गए। प्रेमचंद जी ने मेरा परिचय उनसे कराया और प्रथम परिचय की रस्मों के बाद पराड़कर जी ने प्रेमचंद जी से कहा—पिछले पन्द्रह बरसों से मेरी आपसे मिलने की जबरदस्त इच्छा थी। आज आपने बड़ी कृपा की।

प्रेमचंद जी ने मुस्कराकर कहा—मेरा भी यही हाल था। बरसों से इच्छा थी और आज इनकी मेहरबानी से ही चला आया।

मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा। मैंने अत्याधिक अचरज भरे स्वर में पूछा—क्या आप दोनों आज पहली बार ही एक-दूसरे से मिल रहे हैं।

प्रेमचंद जी खिलखिलाकर हंस पड़े। वही पवित्र और सरल हसी। पराडकर जी ने कहा--काम-काज के जंजाल में इतना फंसा रहता हूं कि कभी कहीं आने-जाने की फुरसत ही नहीं मिलती।

परन्तु मेरे लिए यह बात आख़ीर तक एक आश्चर्य का विषय रही कि इतने बरसों से बनारस में रहते हुए भी ये दोनों सज्जन कभी एक-दूसरे से मिले क्यों नहीं।

विदेशी उपन्यास, प्रेमचंद जी के विगत जीवन की घटना और उनके व्यापारिक अनुभव हम लोगों की बात-चीत के मनोरंजक विषय थे। मैंने देखा कि प्रेमचद जी अपने को अपने व्यवहार और कारोबार से पृथक् ऊंचा रखकर खुद अपनी कीमत पर अपना और दूसरों का मनोरंजन कर सकते हैं। और यह बहुत बड़ा गुण है।

प्रेमचंद जी का पारिवारिक जीवन मुझे पर्याप्त सुखी, शान्त और सन्तोषपूर्ण अनुभव हुआ। उनमें, उनकी पत्नी में और उनके बच्चों में परस्पर यथेष्ट मधुरता मैंने पाई। परन्तु जो भोजन वह करते थे, वह मुझे बहुत दोषपूर्ण प्रतीत हुआ। श्रीमती शिवरानी देवी जी से मैं अब यह अनुरोध करूंगा कि अपने भोजन में ताज़ी और कच्ची सब्ज़ियों, फलों तथा दही को वह विशेष महत्ता दें।

इस यात्रा के छः महीने बाद ही कलकत्ते जाते हुए कुछ घण्टों के लिए मैं बनारस उतरा और अब की बार किसी तरह की सूचना दिये बिना ही प्रेमचंद जी के यहां जा पहुंचा। उस दिन

बनारस में बेहद गरमी थी। थोड़ी ही देर में हम लोग दशाश्वमेघ घाट की ओर सैर के लिए चल दिये।

इससे कुछ ही दिन पूर्व किसी सज्जन ने प्रेमचंद जी की रचनाओं के खिलाफ कुछ लेख काफी महत्वपूर्ण ढंग से प्रकाशित करवाये थे। उन लेखकों का ज़िक्र चला तो मैंने कहा कि मैं उन आक्षेपों के उत्तर के रूप में कुछ लिखना चाहता हूं। प्रेमचन्द जी खिलखिलाकर हंस पड़े और कहा– जब कोई कमजोर आदमी ज़बरदस्ती किसी पहलवान से भिड़ पड़े तो उसके लिए सबसे बड़ी सज़ा यही है कि दूसरे लोग बीच में पड़कर उन्हें जुदा न कर दें।

अपने एक मित्र के लिए कानपुर से एक काफी बढिया चमड़े का सूटकेस मैं एक ही दिन पहले खरीदकर लाया था। घर पहुंचकर प्रेमचंद जी की निगाह उस पर पड़ी और खूब खिलखिलाकर हंस लेने के बाद उन्होंने कहा—यदि कभी मैं इतना बढ़िया सूटकेस लेकर सफर पर निकलूं, तो चोरी के डर से सारी रात जागते ही बीते।

उसके बाद अनके बार प्रेमचंद जी से मिलने का अवसर मिला। गत वर्ष फरवरी मास में कलकत्ता जाते हुए, सिर्फ उन्हीं से मिलने की इच्छा से मैं कुछ घण्टों के लिए बनारस उतरा था। पिछले एप्रिल में आर्य-प्रतिनिधि-सभा पंजाब की अर्द्ध शताब्दी पर, विशेषत: मेरे निमन्त्रण पर ही, वह लाहोर भी आये थे। और मेरी उनके साथ वही अन्तिम भेंट थी।

इस समय तक हिन्दी में 'साहित्यिक' का एक विशेष अर्थ समझा जाता रहा है। भाषा, व्याकरण और साहित्य पर ये लोग अपना सभी अधिकार समझते है। विचित्र से-विचित्र आकृति और उससे भी अधिक विचित्र पोशाक में ये लोग जनता को दर्शन देते हैं। 'साहित्यिक' नामधारी यह जमात सम्भवत: केवल हिन्दी जगत मे ही पाई जाती है। भाषा, साहित्य और व्याकरण के सम्बन्ध में इन लोगों ने जो विशेष प्रकार की रूढ़ियां काफी समय से बना रखी हैं, उन्हें इमान्दारी के साथ अपनाये बिना कोई व्यक्ति साहित्यिक नही कहला सकता। प्रेमचंद जी इस तरह के साहित्यिक नहीं थे। उनका साहित्य जीवन का साहित्य था और इसी से वह जनता का साहित्य बन सका।

प्रेमचंद जी विशेष प्रकार के 'साहित्यिक जीव' नही थे। उन्होंने कभी कोई गुट बनाने का प्रयत्न नहीं किया। न कभी उन्होंने सामाजिक, राजनीतिक या धार्मिक नेताओं के पास अपनी पहुंच बनाने की कोशिश की। सम्भवत: यही कारण था कि न तो उन्हें कभी मंगलाप्रसाद परितोषिक मिल सका और न कभी वह हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति ही बनाये जा सके।

खड़ी हिन्दी ने आज तक सिर्फ एक ही साहित्यकार ऐसा पैदा किया है जो अपनी प्रतिभा के बल पर अन्तर्भारतीय स्थिति बना सका। मैं पूछता हूं कि आज से सिर्फ पांच महिना पहले तक हिन्दी वालों के पास अन्य प्रान्तों के लोगों को दिखाने के लिए प्रेमचंद को छोड़कर और कौन साहित्यिक था? आज तो वह भी नहीं रहे।

मोलियर आज फ्रैंच साहित्य का सर्वश्रेष्ठ नाटककार माना जाता है। परन्तु मोलियर के जीवन काल में उसे ऊंची प्रतिष्ठा इसलिए नहीं मिल सकी कि वह स्वयं अपने नाटकों में अभिन्य करता था और उस समय अभिन्य करना कुलीनता के विरुद्ध माना जाता था और यह कि उसने अपने नाटकों में प्राचीन रूढ़ियों की अवहेलना की थी। यहां तक की फ्रान्स के सर्वश्रेष्ठ साहित्यिकों की संस्था फ्रैञ्च एकेडमी ने भी उसे कभी अपना सदस्य नहीं बनाया। मोलियर की मृत्यु के बाद फ्रैञ्च एकेडमी को अपनी भूल मालूम हुई। अपनी इस भूल का प्रायश्चित

करने का एक उपाय आखिर फ्रैञ्च एकेडमी ने खोज ही निकाला। फ्रैञ्च एकेडमी के कुल मिलाकर एक सौ सदस्य होते थे। न कम और न अधिक। किसी सदस्य की मृत्यु के बाद उस स्थान की पूर्ति कर दी जाती थी। मोलियर के देहान्त के बाद जब एकेडमी में कोई स्थान रिक्त हुआ तो उसकी जगह मोलियर को एकेडमी का सदस्य चुन लिया गया। जो लोग जीवित दशा में सदस्य बनते हैं, देहान्त के बाद उनका सदस्यत्व स्वयं समाप्त हो जाता है। परन्तु जिसे देहान्त के बाद सदस्य बनाया जाय, उसके सदस्यत्व का काल कैसे समाप्त हो? फ्रैञ्च एकेडमी के आज भी एक ही सौ सदस्य हैं—एक स्वर्गीय मोलियर और शेष 99 जीवित सदस्य। जीवित सदस्य बदलते रहते हैं, परन्तु मोलियर एकेडमी का स्थायी सदस्य है।

तो क्या इसी तरह इस वर्ष का साहित्य का मंगलाप्रसाद पारितोषक 'गोदान' पर देकर सम्मेलन अपने इस पारितोषिक को सम्मानित नहीं कर सकता? 'गोदान' को छपे अभी एक साल भी नहीं हुआ। वह हिन्दी का सबसे ताजा और सबसे श्रेष्ठ मौलिक उपन्यास है। मुझे बताया गया है कि नियम सम्बन्धी अड़चनें इसके मार्ग में हैं। मगर ये अड़चनें आखिर परमात्मा या प्रकृति की बनाई हुई नहीं हैं, हमी लोगों की बनाई हुई हैं, हम चाहें तो इन्हें दूर भी कर सकते हैं। शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य एक दिन में नया कानून बनाकर एक सम्राट के जीवित रहते हुए उसके राजत्याग को स्वीकार कर नया सम्राट् बना सकता है, तो इतने महीनों में हिन्दी साहित्य सम्मेलन अपने पारितोषिक सम्बन्धी नियमों में यह ज़रा-सा परिवर्तन भी नहीं करवा सकता?

बड़े का विनय

श्री श्रीप्रकाश, एम० एल० ए०

यों तो प्रेमचंद जी से मेरा सम्बन्ध सभी कार्यक्षेत्रों में था—कांग्रेस, ज्ञानमण्डल, विद्यापीठ, सब में वे सब काम कर चुके थे—तथापि मेरा उनका सम्पर्क, मेरे अभाग्य से, बहुत थोड़ा हुआ। जहां तक मुझे स्मरण आता है वह मेरे घर पर केवल एक बार आए थे। 'हंस' के किसी विशेषांक के लिए वह लेख चाहते थे। मुझे खेद है, उस समय मैं उनके लिये लेख न लिख सका। आज उनकी स्मृति के विशेषांक में दो-चार शब्द लिखकर वर्तमान सम्पादक के आज्ञापालन के साथ-साथ उस समय का प्रायश्चित भी कर लेना चाहता हूं।

जिस समय वह मेरे यहां आए थे उसकी स्मृति बड़ी स्पष्ट मेरे सामने है। प्रात:काल का समय था। मैं चाय पीने जा ही रहा था और उन्हें यकायक देखकर उनसे कहा कि आप भी चले चलिये। मैंने अपनी कन्याओं और पुत्रों का उनको परिचय दिया। सबके चेहरों की वही दशा हुई जो आज से इक्कीस वर्ष पहले मेरी हुई थी जब हिन्दू विश्वविद्यालय के शिलान्यास के समय किसी ने महात्मा गांधी की आर संकेत कर मुझसे कहा था—'ये ही गांधी जी हैं।' अर्थात् न मुझे उस समय यह विश्वास हुआ था कि दक्षिण अफ्रीका के वीर पुरुष, ब्रिटिश साम्राज्य का विरोध करने वाले, सत्यता-निर्भीकता-साहस के कारण संसार को हिलाने वाले, गांधी जी यही हो सकते हैं, न मेरे बच्चों को यह विश्वास हुआ कि हिन्दी के प्रचण्ड लेखक, साहित्यिक संसार के सम्मान प्राप्त प्रेमचंद जी यही हैं। यह समझकर कि मैं दिल्लगी कर रहा हूं—जिस मेरी प्रवृत्ति से मेरे

बच्चे आवश्यकता से अधिक परिचित हैं—वे सब हंस पड़े, और जब मैंने हर तरह से उन्हें विश्वास दिलाया कि ये वही हैं जिनकी कहानियां उन बच्चों ने पढ़ी थीं, तब जाकर सबने उनका समुचित आदर सत्कार किया।

गुण कहिये चाहे दोष, प्रेमचंद जी की विशेषता यही थी कि उन्होंने अपने बड़प्पन को न माना न जाना। साधारणत: हम सबका यह विचार होता है कि जो कोई नामी पुरुष है वह साधारण मनुष्य से डील-डौल में बहुत बड़ा होगा और उसकी बातचीत और आचार व्यवहार विशेष प्रकार का होगा। यह खयाल ही नहीं होता कि वह साधारण मनुष्य-सा भी हो सकता है। यही कारण है कि पुराने चित्रकार राजाओं और देवताओं के चित्र को बहुत बड़ा बनाते थे और उनके चेहरे के चारों तरफ ज्योति अंकित करते थे। इससे किसी को भ्रम नहीं होता था और बड़ा आदमी फौरन पहचाना जाता था पुराने लखेकों ने रावण, कुम्भकरर्ण आदि की रचना इतनी भीषण इसी कारण की है कि उनका बड़प्पन संसार में बना रहे। बाल्यावस्था का संस्कार ऐसा ही होता है कि हम जब बड़े आदमी की कल्पना करते हैं तो यही समझते हैं कि वह बृहदाकार कोई जीव होगा और यदि गान्धी जी या प्रेमचंद जी की तरह का साधारण मनुष्यों से भी छोटा पुरुष देख पड़ता है तो हमारे बड़प्पन के विचार को गहरा धक्का लगता है। समझदारों के हृदय में तो उनकी ममता बढ़ जाती है और उनकी रचनाओं का अधिक आदर होने लगता है, पर बच्चों को तो खासी ठेस पहुंचती है और उनके मन में सम्भवत: श्रद्धा कम हो जाती है। अंग्रेजी में इसी भाव को प्रदर्शित करते हुए कहा है—'अपने किंकर के प्रति कोई भी वीर पुरुष नहीं रहते' ('नो वन इज़ ए हीरो टु हिज़ वाले') क्योंकि नौकर अपने मालिक को हर समय और हर हालत में देखना है जिससे गुण और दोष दोनों ही प्रकट हो जाते हैं और उसकी श्रद्धा उतनी नहीं रहती जितनी दूर से देखने वालों की रहती है।

मैं कैसे कहूं कि प्रेमचंद जी में कोई दोष नहीं रहे होंगे? मनुष्य ही थे, त्रुटियां अवश्य ही रही होंगी, पर मैं उन्हें नहीं जानता। प्रत्यक्ष सम्पर्क मेरा उनका बहुत ही कम रहा। दूर से ही उनको जानता हूं और स्वभावत: उनका बहुत आदर करता हूं। उनके व्यक्तिगत जीवन की विशेषता मुझे यही प्रतित होती है कि विनय का भाव उनमें अत्यधिक मात्रा में मौजूद था। सम्भव है कि इसी कारण वे सामाजिक सम्बन्ध बहुत कम रख सकते थे और प्रत्यक्ष सम्पर्क से जो प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है, वह बहुत कम कर पाये। साथ ही वह काफी साहसी पुरुष थे और समाज के बन्धनों को उन्होंने निज के जीवन में बार-बार तोड़ा। राजनीतिक लड़ाई से अधिक कठिन सामाजिक लड़ाई होती है और सामाजिक बुराइयों का सामना करने का साहस अधिक कष्टप्रद और, इसी कारण, अधिक प्रशंसनीय भी है। उनका यह आन्तरिक साहस उनके लेखों और पुस्तकों में प्रतिबिम्बित हुआ है। उन्होंने राजाओं और गरीबों की कथाओं को छोड़ कर साधारण नर-नारियों की कथाएं लिखी हैं। महलों में न घूमकर झोंपड़ियों में घूमे हैं। साधारण लोगों के प्रतिदिन के जीवन के भोजन और विवाह सम्बन्धी अभिलाषाओं की चर्चा की है और निम्न श्रेणी के लोगों के जीवन को समझने का संसार को मौका दिया है। पौराणिक वीर पुरुषों के ही चारों तरफ मड़राते हुए और उन्हीं की चेष्टाओं और भावनाओं में मर्यादित कल्पनाओं से अपने को पृथक् कर उन्होंने वास्तवकिता पर अपने विचारों और आदर्शों को केन्द्रभूत किया। हमारे साहित्य को और हमारे समाज को उनकी यह देन बहुमूल्य है और इसके लिए उनके प्रति हमें कृतज्ञ होना चाहिए।

अवश्य ही हमारे ऐसे परतन्त्र, दरिद्र देशों में अधिकतर लोगों के जन्म से मृत्यु तक सहचर दु:ख और कष्ट ही होते हैं। इस कारण यह स्वाभाविक है कि प्रेमचंद जी के पात्र भी अपनी संसार-यात्रा में पग-पग पर कष्टों और दु:खों का ही सामना करें। मेरी प्रेमचंद जी से यह शिकायत रही कि वे अपने पात्रों को ऐसा फंसा देते हैं कि फिर बाहर नहीं निकाल पाते। और अपनी आरम्भिक कहानियों में उन्होंने कितने ही पात्रों से आत्महत्या करा डाली है। मेरे ऐसा आदमी, जिसने योरोपीय साहित्य की बहुत-सी कहानियां बाल्यावस्था में पढ़ी हों जिनमें लेखक अपने पात्रों को चाहे कितना ही फंसावे किसी-न-किसी लौकिक सम्भावना के अनुकूल प्रकार से-पूर्व के हिन्दी लेखकों के तिलस्म के प्रकार से नहीं-बाहर निकाल ही लाता है, प्रेमचंद जी का यह रूपक नहीं पसन्द कर सकता था।

शुरू में तो मुझे ऐसा ख़याल हुआ कि लेखकों की लेखन-कला का यह दोष है कि वह अपने पात्र को बाहर निकाल न सके और अन्त में उसकी अभिलाषा पूरी न करा सके। पीछे मैंने अनुभव किया कि भारत के वर्तमान जीवन में यह अनिवार्य है, तथापि मुझे शिकायत बनी रही और एक बार मैंने अपनी प्राकृतिक उद्दण्डता से उनसे कहा था कि मैं अब आपकी कहानियां कभी न पढ़ूंगा यदि आप अपने पात्रों को केवल फंसाना जानते हैं और उनकी रक्षा न करके उनसे आत्महत्या कराते हैं। उत्तर में उन्होंने अपनी कोई सफाई नहीं दी जैसा दूसरा देता न मुझे ही उन्होंने बेवकूफ साबित करने की कोशिश की जैसा मैं हूं और जैसा दूसरे लेखक अवश्य करते। उन्होंने तुरन्त 'दोष' स्वीकार कर लिया और कहा कि अपने पात्रों की आगे से वह रक्षा करेंगे। मुझे खेद है कि पीछे की उनकी कहानियों के पढ़ने का मुझे मौका नहीं मिला। पर मुझे मालूम हुआ है कि उन्होंने इस मामले में कुछ परिवर्तन अवश्य किया है। मैं यह तो नहीं कह सकता कि मेरे कहने से उन्होंने ऐसा किया, परन्तु मुझे सन्तोष है कि ऐसा किया गया।

प्रेमचंद जी के समय का दर्पण उनकी पुस्तकें हैं। जिस विशेष युग से हम गुजर रहे हैं उसे जानने और समझने में उनकी पुस्तकें सदा सहायक होंगी। भारत के इतिहास में यह युग भी विशेष युग है। पुराने और नये, पूर्व और पश्चिम का अद्भुत संघर्ष है, सबमें मस्तिष्क डांवाडोल हैं, समन्वय करना असम्भव हो रहा है। आगे अंधेरा देख पड़ रहा है। अनुभवसिद्ध साधनों से काम नहीं लिया जा रहा है। बड़ी-बड़ी आशाएं और अभिलाषाएं मंडरा रही हैं। परम्परागत धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक विचारों की कड़ी समालोचना हो रही है। व्यक्तिगत, कौटुम्बिक और सामाजिक जीवन सब अस्त-व्यस्त हो रहा है। इस युग का जिस लेखक ने चरित्र चित्रण किया है वह अपने अमर कर गया है। पर मैं उनकी अमरकीर्ति से सन्तुष्ट नहीं हूं। मुझे उससे यह शिकायत है और रहेगी कि वे इतनी जल्दी संसार से उठ गये।

उन्होंने अपने स्वास्थ्य की चिन्ता नहीं की। स्वास्थ्य की तरफ हम अक्सर उदासीन होते हैं और इसके कारण अपनी उपयोगिता से अपने को, अपने कुटुम्ब को और अपने समाज को असमय और कुसमय वञ्चित कर देते हैं। मैं उनकी स्मृति में आज श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हुआ उनके कुटुम्बीजनों के साथ हार्दिक समवेदना प्रकट करता हूं कि उनका अवलम्ब टूट गया, हिन्दी साहित्य के साथ दु:ख प्रकट करता हूं कि उसके भण्डार को सुशोभित करने वाला एक प्रधान पुरुष उठ गया, समाज के साथ सहानुभूति प्रकट करता हूं कि उसका एक सेवक, सुधारक, पथप्रदर्शक चला गया, और सब भाइयों, बहिनों, साहित्यकारों, कार्यकर्ताओं से प्रार्थना करता हूं कि अपना जीवन समझदारी के साथ सुसंघटित करें, इस बात को अनुभव करें कि

यदि शरीर बिना आत्मा के किसी काम का नहीं है, तो आत्मा भी बिना शरीर के अपनी विभूति संसार के सामने प्रकट नहीं कर सकती और प्रेमचंद जी की जीवनी और दु:खप्रद मृत्यु से यह शिक्षा ग्रहण करें कि आध्यात्मिक और मानसिक आकांक्षाओं की पूर्ति के साथ-साथ अपने शरीर को भी सुदृढ़ रखकर अपने को हर प्रकार से उपयोगी बनाते हुए चिरजीवी भी बनावें।

कवि का आमंत्रणा

श्रीमती 'नलिनी'

कुसुम कलेवर कविता कामिनी के कलित काव्य कानन के कमनीय कुसुमाकर !

उठो ! उठो !!

मूर्छना के मदिर प्रवाह में तिरते तुम्हें युग विगत हो गया ! विस्मृति की बेहोश घड़ियों के क्षणिक सुख में विस्मृत विभोर होकर तुम अपनी आराध्य देवी की आराधना करना भी भूल गये !

आओ ! आओ ! [illegible] प्रभात की पुण्य वेला में सस्मित प्रस्फुटित सरोज की भाँति अपने युगल चक्षुओं को खोलो !

देखो !

तुम्हारे साम्य साहित्य का नन्दन पारिजात प्रात: के धूमिल कान्तिहीन सुधांशु के पाण्डु कपोलों की भाँति [illegible] श्रीविहीन हो रहा है !

कला के चिर अमर पुजारी ! अपनी मौन मुद्रा भंग करो। तुम्हारे वियोग की समाधि पर विधुर वियोगिनी कलाकामिनी कब से प्रलाप कर रही है। अपने आकुल मूक आह्वानों से तुम्हारा अनुसन्धान कर रही है। तुम्हारे मानस [illegible] का बाल मराल आज अपनी सम्पुट सीपी मुक्तविहीन देखकर तृषित मीन सा मणि विहीन वासुकि-सा आकुल व्याकुल होकर म्रियमाण हो रहा है !

कुशल कलाकार ! आओ ! तन्द्रिल आँखों को खोलो ! ऊषा प्रेयसि ने अपने कमलकरों से प्राची के स्वर्णसौध के मृनाल वातायन के अवरुद्ध कपाट उन्मुक्त करके कनक-किरणों का सन्देश वाहक भेजकर विश्व को जागृति का अभिनव सजीला सन्देश भेजा है—स्वप्निल संसार स्पन्दित हो उठा है। [illegible] का स्पन्दन भी आनन्दगति से वसुधा के वक्ष पर विचरने लगा ! मधुदूती कोकिला विश्व [illegible] पर संगीत वर्षा करने लगी ! गन्धवाह अपनी झोली में सौरभ का उपहार लेकर भिखारी विश्व को विजयी के पारितोषिक की भाँति वितरण करने लगा ! पुहुपों की प्रत्येक पंखुरियों से अनुराग की अरुणाई फूटी पड रही है। विशाल वसुन्धरा का कण-कण अभिनव-श्री से अलंकृत हो रहा है ! ऐसी नयनाभिराम मनमोहक मुग्ध-स्निग्ध बेला में तुम्हारा असहनीय अभाव ! गुलाब में कटु शूलों-सा चन्द्रिकाविहीन निशीथ-सा प्रतीत हो रहा है ! आओ, देखो प्रकृति-क्रिया ने दूर्वादल के हरिताभ पांवड़े बिछाकर तुम्हारे पद-पूजन हेतु हेम-मल्लिका के धवल झालकर उसमें लगा दी हैं।

द्रुत गति से प्रात में दिनकर की भाँति-विहंसते आओ !!

श्रद्धांजलि

सेठ जमनालालजी बजाज

औपन्यासिक समाट् श्री प्रेमचंदजी के बारे में तो जितना लिखा जाय थोड़ा ही होगा। हिन्दुस्तानी लिखने वालों में वह बेजोड़ थे। राष्ट्रभाषा प्रचार के लिए उनकी आत्मा तड़पती थी। आज जब कि राष्ट्रभाषा का भविष्य इतना उज्ज्वल नज़र आता है, श्री प्रेमचंद जी की कमी और तीव्रता से महसूस होती है। साहित्य सेवा द्वारा उन्होंने भारत की राष्ट्रीयता को सींचा, उसकी संस्कृति को रौशन किया। ग्रामवासियों के प्रति उनकी आत्मीयता दर्जेकमाल की थी। उनकी याद आती है तो अब भी हृदय भर आता है। हमने एक महान् साहित्यकार को अपने बीच से खो दिया—परन्तु वे तो अमर हो गये। आज प्रेमचंद जी की वजह से साहित्य संसार में हमारा सर ऊंचा रहेगा।

प्रेमचंद जी की देन

श्री हरिभाऊ उपाध्याय

प्रेमचंदजी से मेरा प्रथम परिचय उनकी कहानियों द्वारा हुआ। 'पंच-परमश्वर' नामक उनकी कहानी मुझे बहुत पसन्द आई थी। उनसे मिलने का इत्तफाक तो कुल दो बार हुआ, एक बार लखनऊ में और दूसरी बार अभी नागपुर में। उनकी कहानियां और उपन्यास बोलते थे कि प्रेमचंद जी मामूली लेखक नहीं हैं। वे कुछ कहानियां और उपन्यास ही लिख जाने के लिए पैदा नहीं हुए हैं, बल्कि उनका जन्म हिन्दी-संसार को कुछ दे जाने के लिए है। जो साहित्य और समाज को कुछ देता और दे जाता है, वही वास्तव में सच्चा साहित्य-सेवी और समाज सेवी कहला सकता है। बुद्धि के द्वारा मनुष्य जो कुछ समाज को देता है, उसका उतना मूल्य नहीं है जितना उस वस्तु का जो वह अपने जीवन के द्वारा अपनी सहानुभूति और समवेदना के द्वारा भिन्न-भिन्न रूपों में देता है। प्रेमचंद जी ने अपने और अपने भिन्न-भिन्न पात्रों के जीवन के द्वारा हिन्दी समाज को जो कुछ दिया है, वह वे हर्गिज न दे सकते, अगर उनमें भारत के दीन दु:खियों के प्रति, ग्रामवासी किसान और मजदूरों के प्रति, गुलामी से पीड़ित अपने देशवासियों के प्रति व्यापक और गहरी सहानुभूति न होती। केवल बुद्धि के व्यापार से वे ऐसे सजीव-पात्रों की सृष्टि नहीं कर सकते थे। भले ही कथानक की रचना करने में और विवाद तथा विश्लेशण में उनके बुद्धि-कौशल ने काम किया हो, परन्तु वह सब फीका और निर्जीव होता, यदि उनके हृदय का जीवन-तत्व उन पात्रों के द्वारा सजीव न हुआ होता।

ऐसे महान् लेखक और, शुद्ध अर्थ में, साहित्य-सेवी और कलाकार के दर्शन की आकांक्षा रहा ही करती थी। एक बार लखनऊ में 'माधुरी-कार्यालय' में उनसे साक्षात्कार हुआ परिचय कराने पर भी यह विश्वास नहीं होता था कि सामने वाला व्यक्ति जिसे आंख खोलकर देखने में भी संकोच मालूम होता है, जिसके चेहरे पर जाहिरा कोई महानता के लक्षण होंगे दिखाई देते हैं, सचमुच प्रेमचंद ही है। मेरे मन में यह आश्चर्य हुआ था कि आंख मूंद कर बैठने वाला यह लेखक मनुष्य के जीवन का अवलोकन इतनी गहराई के साथ कैसे करता होगा, परन्तु उसी

समय मैंने अपनी गलती महसूस की, कि सचमुच जो बाहर से आंख मूंद लेता है, वही अन्दर से और अन्दर का बहुत कुछ देख सकता है। नागपुर में भी कुशल सामाचार के अलावा बातचीत का कोई मौका नहीं मिला। उस समय उनके चेहरे में एक स्फूर्ति ज़रूर मालूम होती थी।

मुझे उनका विशेष परिचय तो उनकी पुस्तकों द्वारा ही हुआ है। उनके प्रेमाश्रम की समालोचना 'हिन्दी-नवजीवन' में और रंगभूमि की विस्तृत समालोचना 'मालव-मयूर' में मैंने की थी। 'मालव-मयूर' वाली समालोचना कई मित्रों को पसन्द आई थी। असल में मैं समालोचक नहीं हूं। गुण-गाहक और प्रशंसक की पंगत में बिठाया जा सकता हूं। 'रंगभूमि' का 'सूरदास' मेरे हृदय में बैठ गया था। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ, मानो वह हिन्दुस्तान के स्वराज्य की कुंजी लेकर आया है। उसे पाकर ऐसा लगता था, मानो कोई खोई चीज मिल गई हो। मैंने उनका 'कर्मभूमि' और गोदान भी पढ़ा है। परन्तु दोनों 'रंगभूमि' ही होड़ के नहीं जंचे। 'गोदान' मैंने उनकी अन्तिम कृति के योग्य आदर के साथ पढ़ा पर मेरे हृदय को उसमें वह वस्तु न मिली जो 'रंगभूमि' में मिली थी। 'रंगभूमि' में एक गरीब अन्धे भिखारी ने अपने त्याग और आत्मबल के द्वारा एक विलक्षण जागृति और आन्दोलन खड़ा कर दिया था। आत्मबल क्या कर सकता है, इसका वह नमूना था। 'गोदान' में ऐसा कोई धीरोदात्त पात्र नहीं मिलता। उनके दूसरे उपन्यासों से यह जुदे प्रकार का है, यह यथार्थवादी है। इसका सबसे बड़ा मूल्य यह है कि यह दीन-हीन और प्रपीड़ित देहातियों के दु:खमय जीवन की ओर शिक्षित कहलाने वाले लोगों का ध्यान खींचता है, और उनके प्रति अपने कर्तव्य की याद दिलाता है। मिस मालती के जीवन परिवर्तन के द्वारा यह काम प्रेमचंद जी बड़ी खूबी से करते हैं। एक ओर देहात के गरीबों की दु:खगाथा है तो दूसरी ओर शिक्षित, धनी-मानी लोगों के ऊपर से सुखी और सुख लोलुप जीवन, लेकिन अन्दर से दु:खी और क्लेशमय जीवन का दृश्य है। दोनों चित्रपट एक साथ चलते हैं, बीच में कहीं-कहीं उनका मेल हो जाता है, नहीं तो ऐसा मालूम होता है, मानो दो स्वतंत्र उपन्यास लिखकर जोड़ दिये गये हों। जहां तक समाज की इन दो श्रेणियों के यथार्थ चित्रांकण से सम्बन्ध है, वहां तक 'गोदान' में प्रेमचंद जी बहुत सफल हुए हैं। जहां तक वर्तमान भारतीय समाज की ज्वलन्त समस्याओं को पेश करने से सम्बन्ध है, वहां तक प्रेमचंद जी 'गोदान' में ठीक-ठीक सफल हुए हैं, परन्तु उनका कोई हल किसी तत्व या व्यक्ति के रूप में उन्होंने पेश नहीं किया है। सम्भव है, वे खुद दुबिधा में रहे हों, या यथार्थवादी कला के दरबार में इसकी मनाही हो। मुझे यर्थाथवादी चित्रांकण से तृप्ति नहीं होती। जो कुछ समाज में है और हो रहा है, उसे हम देखते हैं और जानते भी हैं। पुस्तक में उन्हें पढ़ने और देखने से कई चित्रों का और कई दृश्यों का एक साथ, एक जगह, सम्मिलित रूप में, अवलोकन हो जाता है और उसका कुछ विशेष परिणाम मन पर ज़रूर होता है, परंतु सर्व-साधारण को उससे कोई मार्ग नहीं दिखाई पड़ता। वे हृदय में एक हलचल मचाकर छोड़ देते हैं। यह ज़रूरी नहीं कि वह हलचल फलोत्पादक ही हो, परन्तु जब हम उनका कोई हल पेश करते हैं, और किसी व्यक्ति के पुरुषार्थ के द्वारा उस कठिनाई को दूर करते हैं, या इष्ट वस्तु की सिद्धि कराते हैं, तब जनता को वह चीज़ मिलती है जो सहसा उनमें अपने आस-पास नहीं मिलती। धर्म और नीति ग्रन्थों में बहुत से उच्च और उपयोगी तत्वों और साधनों का विवेचन और प्रतिपादन मिलता है परन्तु जब हम किसी राम, कृष्ण, बुद्ध या ईसामसीह या गान्धी के जीवन में उन तत्वों को मूर्तिमन्त देखते हैं, और उनके परम पुरुषार्थ से विकट समस्याओं को हल होते और कठिनाइयों और विपदाओं को दूर होते देखते हैं, तब जन-साधारण को उन तत्वों, साधनों

और पुरुषार्थ पर विश्वास होने लगता है और उनमें यह स्फूर्ति पैदा होती है कि हम भी ऐसा क्यों न करें, क्यों नहीं कर सकते? 'गोदान' में जब 'गोबर' का आरम्भिक जीवन देखते हैं, तो ऐसा मालूम होता है, कि यह आगे चलकर किसानों का कोई नेता होगा और ग्रामीणों को अपने उद्धार का मार्ग दिखयेगा। परन्तु जब उसे शहर के जीवन में पड़कर हततेज आ असहाय होता हुआ देखते हैं तो प्रेमचदर्जी से कुछ शिकायत हाने लगती है और 'गोबर' के साथ सहानुभूति। 'मालती' जरूर अपने अन्तिम जीवन-क्रम के द्वारा सेवा-मार्ग की ओर संकेत करती है—शिक्षित और मध्यम वर्ग के लोगों के प्रतिनिधि के रूप में। इससे जरूर कुछ तसल्ली मिलती है।

प्रश्न यह है कि प्रेमचंदजी ने हिन्दी-जगत् को क्या दिया? मनुष्य अपने से अच्छी चीज़ तो जगत् को दे ही नहीं सकता। जो कुछ उसके पास होगा, उससे कम ही वह जगत् को दे सकता है, क्योंकि देने के अर्थात् अभिव्यक्ति से साधन और शक्ति मर्यादित होती है। प्रेमचंद जी के ग्रन्थों और पात्रों से सेवामय और सत्-जीवन व्यतीत करने की अखण्ड और अमर प्रेरणा मिलती है, इसे मैं उनकी सबसे बड़ी देन मानता हूं। सत्प्रवृत्ति और असत्प्रवृत्ति के संघर्ष की किसी भी अवस्था में वे अपने पाठक पर असत्प्रवृत्ति को इतना हावी नहीं होने देते, कि मनुष्य पतन के गर्त में सदा के लिए डूब जाय। दूसरी उनकी दन है, सरल, सुन्दर और स्पष्ट लेखन शैली। कई लोग प्रेमचंद की भाषा को हिन्दी-हिन्दुस्तानी का नमूना मानते हैं। विचार उनके सुलझे हुए और भाषा सरल और स्पष्ट। सूक्तियां हृदय में बैठ जाने वाली। मुझे याद है, जब प्रेमचंदजी ने हिन्दी लिखना शुरू किया, तो वे उर्दू की नकल किया करते थे। जब मैं 'सरस्वती' में काम करता था उनकी एक कहानी की हस्तलिपि मैंने देखी थी, जिसमें एक वाक्य था—'यह आपका बडा आधिक्य है, उनका मतलब था 'यह आपकी बड़ी ज्यादती है।' यह पढ़कर मुझे खूब हंसी आई थी। वही प्रेमचंद हिन्दी को एक उत्तम भाषा-शैली दे गये, यह कितने आनन्द और अभिमान की बात है।

एक रोज मैंने कुछ साहित्यिक मित्रों से पूछा—अब प्रेमचंदजी की जगह हिन्दी म किसको कहानी-लेखक और उपन्यास-लेखक मानें। प्रेमचंदजी का नाम आते ही, जैसे हठात् उनकी ओर अंगुली उठ जाती थी वैसे उनके अभाव में अब किसी भी ओर सहसा उठती दिखाई नहीं देती। जब प्रेमचंद थे, तब हम कहानी और उपन्यास-क्षेत्र में बंगला, मराठी, और गुजराती के मुकाबले में उसको खड़ा कर सकते थे। अब हम उनके अभाव में निष्प्रभ से जान पड़ते हैं। मगर हमें यह दिखता है कि हिन्दी के विद्यमान कहानी और उपन्यास-लेखकों की आत्मा में प्रेमचंदजी की आत्मा अवश्य काम करती रहेगी और प्रेमचंदजी अब पंचभौतिक बन्धनों से रहित होकर अधिक स्वतंन्त्रता और बल के साथ अपना जीवन-कार्य करते रहेंगे।

प्रेमचंदजी

श्री ए० चंद्रहासन एम० ए०

प्रेमचंदजी का स्वर्गवास उत्तर के हिन्दी भाषियों के उतना न खटका होगा जितना कि दक्षिण के हिन्दी प्रेमियों को। इसकी वजह साफ है। उत्तर के भाई उनकी समालोचना करके या तो प्रशंसा

के पुल बांधते आये हैं या निंदा के गड्ढे खोदते, पर दक्षिण के भाई-बहन प्रेमचंदजी की दिलचस्प रचनाओं को पढ़कर मुग्ध और चाव से राष्ट्रभाषा का अध्ययन में अग्रसर हुए हैं। अगर काशी के दीपस्तंभ का उजाला, प्रयाग आदि निकट जगहों से ज़्यादा, दूर दक्षिण में फैला तो इसमें अचरज की बात ही क्या है? दक्षिण के हिन्दी पाठकों पर प्रेमचंदजी का-सा प्रभाव दूसरे लेखक ने नहीं डाला है और यह बात निर्विवाद है कि यहां उनकी ही रचना सबसे अधिक लोकप्रिय है। हम लोगों की नजर में प्रेमचंदजी हिन्दी साहित्य का गौरव बढ़ाने वाले उपन्यास-सम्राट् नहीं, हिन्दी गद्य की प्रगति में युग-प्रवर्तन करने वाले साहित्य-महारथी नहीं, छोटी-छोटी कहानियों द्वारा जीवन के सब क्षेत्रों में क्रीड़ा करनेवाले पात्रों का प्रदर्शन तथा हृदय के भिन्न-भिन्न भावों का दार्शनिक विश्लेषण करने वाले कलाकार नहीं, पर हिन्दुस्तान को एक सूत्र में बांधने वाली राष्ट्रभाषा के आदर्श और जोरदार लेखक हैं।

यह मेरे लिए सौभाग्य की बात है कि मुझे प्रेमचंदजी का थोड़ा बहुत व्यक्तिगत परिचय प्राप्त करने के मौके मिले थे। सन् 1934 मार्च कयी बात है। दक्षिण भारतीय हिन्दी-प्रेमी यात्री-दल के अन्य सदस्यों को प्रयाग में छोड़कर मैं कुछ ख़ास काम पर पहले ही काशी पहुंचा। 'सप्त सरोज' और 'रंगभूमि' के रचयिता के दर्शन करने की अभिलाषा मेरे मन में पहले ही से थी। सोचा कि इस मौके का फायदा उठाऊं और जाकर प्रेमचंदजी से मिलूं। पता लगाकर शाम के वक्त उनके मकान पर पहुंचा। बाहर थोड़ी देर ठहरकर खां-खूं करने पर भी कोई नजर न आया तो दरवाजे पर गया और झांककर भीतर कमरे में देखा। वहां एक आदमी, बड़ी-बड़ी मूंछों के कारण जिसका चेहरा छिपा-सा था, फर्श पर बैठकर एकाग्रचित्त से कुछ लिख रहा था। मैंने सोचा कि लेखक श्रेणी का कोई होगा और आगे बढ़कर बोला कि मैं श्रीयुत प्रेमचंदजी से मिलना चाहता हूं। उन्होंने झट आंखें उठाकर आश्चर्य के साथ मुझे निहारा, कलम रख दी और मुंह भर हंसी भरते हुए बोले--'खड़े-खड़े क्या मुलाकात करेंगे? बैठिए और मुलाकात कीजिए।' अविश्वास और अचंभे में आकर मैं दो तीन मिनट तक खड़ा ही रह गया, पर जल्दी ही संभल कर बैठ गया। मेरे मन की प्रेमचंदजी की कल्पित मूर्ति बिल्कुल दूसरी थी। हमरे करीब दो घंटे तक अनेक विषयों पर बातचीत की। ज्यों ज्यों हमारी बतचीत आगे बढ़ी त्यों-त्यों मेरा आश्चर्य भी बढ़ता गया। ऐसी बतकल्लुफी, ऐसी सादगी, ऐसी सरलता एकदम अप्रतीक्षित थी। आज भी प्रेमचंदजी का नाम लेते ही उनकी हंसी, मूंछ और सादगी मेरी कल्पना दृष्टि के सामने खड़ी हो जाती है।

प्रेमचंदजी के व्यक्तित्व की श्रेष्ठता मुझे कुछ महीने पहले और स्पष्ट रूप से मालूम हुई जब कि मैं एक दिन के लिए लखनऊ गया था। मैं वहां एक सुप्रसिद्ध काव-संपादक-प्रकाशक की सेवा में दर्शनार्थ हाजिर हुआ। अपना परिचय देने के बाद करीब एक घंटे तक बैठा रहा। उस समय उन्होंने अपने बड़प्पन, कार्यकुशलता और कर्मचारियों के साथ के कड़े व्यवहार आदि का खूब परिचय दिया। जब मैं हार कर बिदा होने लगा तब बहुत 'बिज़ी' होने के कारण इतने समय तक बातचीत तक न कर सकने का दु:ख उन्होंने अवश्य प्रकट किया। प्रेमचंदजी के साथ इन महाशय की तुलना करते हुए मैं लौटा। उस दिन यह बात भी मेरी समझ में आ गई कि अमूल्य ग्रन्थों के लेखक होने पर भी प्रेमचंदजी आर्थिक कठिनाई क्यों झल रहे थे।

प्रेमचंद जी की मौत से हिन्दी संसार और भारत राष्ट्र को हानि अवश्य पहुंची है। पर हमें निराश न होना चाहिए। उन्होंने हमें वे चीज़ें दी हैं जिनसे देश और साहित्य का महत्व बढ़ा है,

और आगे भी बढ़ेगा भी। उनकी जीवनी से शिक्षा लेकर उनके बताये मार्गों पर कार्य करने से उनके अभाव की पूर्ति की जा सकती है।

श्री प्रेमचंद की अन्तर्दृष्टि

श्री उदयशंकर भट्ट

'मेरे विचार में बिरले ही प्रतिभाशली लोग अपनी सम्पूर्ण चेतना से संसार को देखते हैं। कल्पना और वास्तविकता दोनों भिन्न वस्तुएं हैं परन्तु कलाकार उन दोनों की समानान्तर रेखाओं के बीच से अपना मार्ग निकलता है! प्रेचमंद उन्हीं कलाकारों में से एक थे।' मेरे उन मित्र ने यह बात बहुत जोर देकर कही।

मैंने कहा—आपका कहना सत्य है; पर प्रेमचंद इसके अतिरिक्त और भी कुछ थे। कलाकार प्राय: दो तरह के होते हैं, एक तो वे जो केवल प्रतिभा के बल पर परिस्थितियों का गंभीर और सूक्ष्म अध्ययन करते हैं, वे सम्पन्न होकर भी गरीबी को अंतर की आंख से स्पष्ट देख पाते हैं और उनके वर्णन में वास्तविकता भी होती है, और दूसरे वे, आर्थिक, सामाजिक परिस्थितियां जिनकी प्रतिभा और विवेक को रगड़कर स्पष्ट और उज्ज्वल बना देती हैं। एक के उदाहरण हमारे साहित्य में रवि बाबू हैं ओर दूसरे के श्री प्रेमचंद। दूसरे शब्दों में यह कहना होगा कि प्रेमचंद परिस्थितियों के मूर्त रूप थे। ऐसे मूर्त जो कल्पना और कला के द्वारा चुटकियां लेते परिस्थिति के इलाज को ढूंढ़ते हैं। ऐसे कलाकार साहित्य की प्रेरणा करने वाले होते हैं। प्रेमचंदजी ने राष्ट्र और साहित्य के घूमिल हृदय में सुधारवादी प्राणों की प्रेरणा की । उन्होंने समाज के भीतर घुसकर सुख-दु:ख की तीव्र अनुभूति द्वारा राष्ट्र के हृदय को टटोला। उन्होंने शेक्सपियर की तरह मानव हृदय के उत्थान, पतन, स्वभाव आदि का गम्भीर अध्ययन करके रोमांस की रचना नहीं की। मैं समझता हूं, शेक्सपियर में दशा का चित्रण है, सुधार की चेष्टा नहीं। वह वेदना है जिसका इलाज स्वयं नाटककार को ज्ञात न था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसकी वेदना, परिहास, आनन्द का चित्रण संसार के साहित्य में अद्वितीय वस्तु है, परन्तु उनके प्राणों में कला का सौन्दर्य है, हृदय का आकर्षण है, एक मिठास है, एक टीस है, एक सुषुप्त-जागृति है जो इलाज ढूढ़ने के लिए, रोग के निदान के लिए प्रेरित नहीं करती। वहां निदान की इच्छा भी नहीं। वह एक ऐसा रस है जिसे विष जानकर भी पाठक पीने से इनकार नहीं कर सकता, अमृत जान कर भी नहीं पी सकता।

प्रेमचंद इस प्रकार की कोई धारणा को लेकर साहित्य में नहीं उतरे। उन्होंने सत्य को सत्य देखकर, परखकर, जांच कर टॉल्स्टॉय की तरह सत्य कहना सीखा। उन्होंने जीवन की सभी दिशाओं के, सभी परिस्थितियों के पात्रों के हाथों अपने व्यक्तित्व के द्वारा देश और समाज में भी रेखाएं खींची हैं, उन रेखाओं के द्वारा बने हुए स्पष्ट चित्र (कुछ-कुछ धुंधले होते हुए भी) अभी तक हमारे सामने अपनी समस्याओं का, जिनका समाज ने अभी तक कोई हल पेश नही किया, ज़िक्र कर रहे हैं। उनका साहित्य क्रांति की भावना को लेकर चला है। उन्होंने व्यक्ति और समाज को एक निश्चित दिशा की ओर संकेत किया है जिसमें बनावट नहीं स्वाभाविकता

है, सहज हृदय की स्फूर्ति भरी प्रेरणा है, आदर्श शान्ति है।

यह बताने की आवश्यकता नहीं कि उनके प्रवेश के पहले हमारे साहित्य की दिशा किस ओर थी। परन्तु जो निश्चित और सुधारक दिशा हमारे इस साहित्यकार ने हमें दिखाई है वह कला को मूर्तिवान बना देने के साथ ही गहरी जीवन-गति देने वाली भी है। उनका प्रत्येक पात्र, ऐसा लगता है मानो एक तथ्य का विश्लेषण करके अपने हृदय की दहकती हुई पीड़ा की ओर अचल गति से संकेत कर रहा है। और उसकी प्रत्येक क्रिया में ठोस, और अव्यर्थ अनुभूति काम कर रही है। धर्म की दकियानूसी प्रवृत्ति के प्रेमचंद घोर शत्रु थे। उन्होंने धर्म को विशाल और समाज में नये प्राणों के फूंकने का कारण समझा था। उनके विचार में धर्म परलोक के द्वार खोल देने के बजाय इस लोक को सुखी बनाने का मुख्य साधन होना चाहिए। इसी दिशा को लेकर प्रेमचंद की रंगभूमि, सेवासदन, प्रेमाश्रम आदि उपन्यासों की अवतरणा हुई है। उन्होंने सदा ही आडम्बर को अधर्म और धर्म (यदि वस्तुत: वह कुछ है तो) को समाज का एक अंग समझा। जो धर्म समाज का कल्याण नहीं कर सकता, समाज में आवश्यकतानुसार प्राण नहीं डाल सकता। उस धर्म से उन्हें आजीवन घृणा रही। दूसरे शब्दों में प्रेमचंद का धर्म, समाज और व्यक्ति की सद्भावना का धर्म था। इस अंश में प्रेमचंद समाज-सुधारवादी कलाकार थे। उन्होंने सदा रूढ़ियों की भर्त्सना की है।

अब उनकी कला के सम्बन्ध में लीजिए। प्रेमचंद की कृतियों और परस्पर की बातचीत से मालूम होता है कि वे 'Art for art sake' (कला के लिए कला) के कभी पक्षपाती नहीं रहे। वे Art for life sake, art for society sake (कला जीवन के लिए, कला समाज के लिए) या इसी प्रकार की कला के पक्षपाती थे। उनके विचार में कला साधन थी, साध्य नहीं। लक्षण थी, लक्ष्य नहीं। पिछली लाहौर की यात्रा में (जब वे आर्य-प्रतिनिधि सभी की अर्ध-शताब्दी के अवसर पर होने वाले आर्य-भाषा-सम्मेलन के अध्यक्ष की हैसियत से यहां आये थे) उन्होंने साहित्य गोष्ठी में भाषण करते हुए कला की बड़ी गम्भीर विवेचना की थी। उसमें उन्होंने बताया था कि 'कला हमारे जीवन की अन्तरंग साधना नहीं है। वह तो विश्व में सबसे चमत्कारपूर्ण जीवन की विश्लेषणात्मक क्रिया मात्र है। उससे हमारी आंखों में चमक पैदा होती है, हमारे प्राणों में स्फूर्ति होती है, वह प्राण कभी नहीं।'

उस समय मैंने अनुभव किया कि साहित्य को जीवन का साधन मानने वाले कलाकार कभी भी उसको चरमलक्ष्य नहीं मान सकते। 'आर्ट फार आर्टसेक' कला का वह चरम उद्देश्य है और उस देश में हो सकता है जहां विलासिता, समाज का स्वास्थ्य, स्वतंत्रता अपनी पराकाष्ठा तक पहुंच गये हों, जहां आनन्द और आनन्द के प्रकारों को ढूंढ़ निकालकर उनमें तल्लीन होने की चाह जीवन का उद्देश्य बन चुकी हो। पतनोन्मुख रोम का यह उद्देश्य हो सकता है, परन्तु उस देश का, जहां कला का अंग शिथिल है, जहां रोटी और भूख का सवाल सदा प्रबल रहता है, जहां समाज और धर्म, राजनीति और सम्पत्ति के एक कोने में क्रांति की गुप चुप चिनगारियां कभी-कभी सुलग उठती हों, कला का मुख्य अंग नहीं बन सकती। इसलिए हमारे इस साहित्य तपस्वी ने कला को कला के लिए मानने वालों का घोर विरोध किया है। वे ऐसी कोई चीज़ साहित्य में देखने के आदि नहीं थे जो उसके प्राणों में स्फूर्ति उत्पन्न न कर सके।

प्रेमचंदजी ने साहित्य, समाज, राजनीति के क्षत्रों में क्रान्ति का बीजारोपण किया है जो आगे चलकर विशाल वृक्ष में परिणत होगा, जिसकी सुशीतल छाया में सुखी राष्ट्र का निर्माण

होगा। उनका साहित्य स्वस्थ्य साहित्य है, जिसमें जागृति की औषधि है, जिसकी नींव पर राष्ट्र के साहित्य का विशाल भवन खड़ा होगा। और राष्ट्र अपने साहित्य के इस सूत्रधार का चिरकाल तक अभिनन्दन करता रहेगा।

हिन्दी साहित्य में श्री प्रेमचंदजी का स्थान

लेखक—श्री धीरेन्द्र वर्मा एम० ए० डी-लिट्

आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रगति कुछ दिनों डांवाडोल रहकर बीसवीं शताब्दी में पहुंचकर कुछ-कुछ स्थिर हो सकी। किन्तु इस शताब्दी में भी यूरोपीय महायुद्ध के पहले तक संस्कृत अंग्रेज़ी और बंगला की छाप अपने साहित्य में पर्याप्त रही। ये प्रभाव या तो साक्षात् अनुवादों के रूप में मिलते हैं या आधारभूत अथवा प्रभावित हिन्दी रचनाओं के रूप में। उधर यूरोप में महायुद्ध हो रहा था और इधर हिन्दी साहित्य अपने पैरों पर खड़ा होना सीख रहा था। आधुनिक हिन्दी साहित्य की भिन्न-भिन्न धाराओं में उपन्यास और कहानी की धारा सबसे प्रथम बाहरी प्रभाव को हटाने में सफल हुई और इस नवयुग में अपने साहित्य को ले जाने का मुख्य श्रेय स्वर्गीय प्रेमचंद जी को प्राप्त है।

प्रेमचंद जी हिन्दी के प्रथम स्वोंत्कृष्ट मौलिक लेखक थे। उन्होंने हिन्दी पाठकों की अभिरुचि को चन्द्रकान्ता के गर्त्त से निकलकर सुदृढ़ साहित्यिक नींव पर स्थिर किया। बंकिम बाबू के अथवा अंग्रेज़ी उपन्यासों के अनुवादों की मांग को तो उन्होंने बिल्कुल ही रोक दिया। हिन्दी साहित्य के इस विशेष क्षेत्र में कादम्बरी या हितोपदेश के अनुवादों का लोकप्रिय होना तो सम्भव ही न था। तो इसे अतिरिक्त प्रेमचंदजी ने समाज के आसाधरण वर्गों की ओर से दृष्टि को हटवा कर मध्यम तथा निचली श्रेणी के लोगों की नित्यप्रति की समस्याओं की ओर हिन्दी पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया। किसान, मज़दूर, क्लर्क, दूकानदार, और ज़मींदार, साहूकार, सरकारी अफसर और पूंजीपतियों से संघर्ष जैसे जीवित रूप में प्रेमचंद जी ने चित्रिन किया है, वैसा उनके पहले हिन्दी साहित्य में कभी नहीं हुआ था। वास्तव में प्रेमचंद जी साम्यवाद के संदेशवाहक थे। उन्होंने इन विचारों की नींव निश्चित रूप से डाल दी।

शैलीकार की दृष्टि से भी प्रेमचंदजी का स्थान हिन्दी साहित्य में असाधारण है। वह सरल, सुबोध, मुहावरेदार, सजीव गद्य-शैली का अभ्यास उर्दू लेखक के रूप में पहले ही कर चुके थे। अपने इस अभ्यास को वह अपने साथ ही हिन्दी के क्षेत्र में लेते आये। हिन्दी शैली की सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि वह प्राय: नुकीली और खुरदरी है। अभी वह काफी मंज नहीं पाई है। मुहावारों से तो लोगों को जैसे चिढ़-सी है। बोलचाल की भाषा को भी यथासंभव बचाने का उद्योग किया जाता है। प्रसाद-गुण की रक्षा की ओर भी साधरणतया जितना ध्यान देना चाहिए उतना नहीं दिया जाता। इन त्रुटियों का प्रधान कारण यह है कि हिन्दी गद्य जितना लिखा जाना चाहिए उतना अभी लिखा नहीं गया है। वह अभी संस्कृत तथा परिमार्जित नहीं हो पाया है। शब्दों के प्रयोग के चारों ओर अभी इतिहास नहीं इकट्ठा हो पाया है। इन बाधाओं के रहने पर भी प्रेमचंदजी ने अपना रास्ता निकाला और दूसरों को उस पर चलने के लिए आमंत्रित किया।

किसी भी लेखक या कवि के प्रभाव का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि वह लोकप्रिय हो और उसके आलोचक तक जाने में या अनजान में उसका अनुकरण करने लगें। यदि इस कसौटी में कुछ भी तथ्य है तो प्रेमचंदजी निःसंदेह आधुनिक हिन्दी साहित्य की अपनी धारा के सर्वश्रष्ठ प्रतिनिधि तथा प्रमुख लेखक थे और मुझे तो संदेह है कि हमारे साहित्य की अन्य धाराओं में भी उनसे आगे बढ़ा हुआ कोई प्रतिनिधि लेखक अभी तक पैदा हो चुका है। जिस तरह हरिश्चन्द्र उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में साहित्याकाश को चमका गये उसी तरह प्रेमचंद बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध को चमकाकर चले गये। दोनों ही चन्द्र हिन्दी साहित्यकाश की अमर निधियां हैं।

प्रेमचंद और देहात

श्री उपेद्रनाथ 'अश्क', बी० ए०, एल-एल० बी०

'भाई, मनुष्य का बस हो तो कहीं देहात में जा बसे, दो-चार जानवर पाल ले और जीवन को देहातियों की सेवा में व्यतीत कर दे।' (9 जुलाई, 1936)

यह पत्र जिसमें से मैं उक्त पंक्तियां दे रहा हूं, स्व० प्रेमचंदजी ने मुझे अपनी उस लम्बी बीमारी के शुरू में लिखा था जो अन्त में उनकी जान लेकर रही। उम्र का अधिक भाग शहरों में बिताने पर भी प्रेमचंद आयुपर्य्यन्त देहात में रहे। यह बात कुछ असंगत-सी जान पड़ती है परन्तु यदि आप उनके जीवन और उसकी हलचलों में रहने वाले शांतिप्रिय दिल से अभिज्ञ हैं, उस दिल की गहराई में गोता लगा सकते हैं तो आपको ज्ञात होगा कि शरीर के नाते चाहे वह नगर में रहे हों, परन्तु मन के नाते वह सदैव देहात में रहे, देहातियों—निरीह, निर्धन और भोलेभाले देहातियों के साथ रहे, उनके दुःख-दर्द में शरीक होते रहे और उन्हें विपत्तियों के गहरे खड्ड से निकालकर उन्नति के उच्च शिखर पर पहुंचाने के स्वप्न देखते रहे।

मैं प्रेमचंद और देहात को पृथक्-पृथक् नहीं समझता। एक की याद आते ही मेरे सामने दूसरे का चित्र खिंच जाता है और यद्यपि मुझे उनके समीप रहने का सुअवसर प्राप्त नहीं हुआ और मैं नहीं जान सका कि वह ब्राह्यरूप से कितने देहाती थे परन्तु उनकी अमर कृतियों को देखकर, उनका अध्ययन करके मैं इसके अतिरिक्त किसी नतीजे पर नहीं पहुंच सका कि देहात की रूप उनकी नस-नस में बसी हुई थी। शहरों में रहते हुए भी वह देहात में सांस लेते थे, शहरों में रहते हुए भी वह देहात की उन्नति तथा प्रगति के विषय में सोचते थे। वह जानते थे, भारत देहात में बसता है, उसकी स्वतन्त्रता और उन्नति देहातियों की स्वतन्त्रता और उन्नति पर निर्भर है। जब देहाती अंधश्रद्धा, झूठी मर्य्यादा, अशिक्षा, जहालत और कर्जे के बोझ तले दबे हुए हैं, फजूलखर्ची और दुर्व्यसनों की बेड़ियों में जकड़े हुए हैं तब तक भारत स्वतन्त्र नहीं हो सकता, वह भी दासता की बेड़ियों में जकड़ा रहेगा।

स्व० प्रेमचंद जी ने देहात पर बीसियों कहानियां लिखी हैं, 'पंच परमेश्वर, 'बेटी का धन', नमक का दारोगा' आदि। और दूसरी कहानियां देहात के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालती हैं, परन्तु अपने उपन्यासों में से मुख्य की नींव भी उन्होंने देहात और उनकी संस्कृति

पर ही रखी है। मैं उनके बृहद् उपन्यासों से यह बताने का प्रयास करूंगा कि शहरों की हलचल, सरगरमी और चकाचौंध ने उनके हृदय से देहात के उस शान्तिप्रद, सरल और मादक वातावरण को नहीं भुला दिया था जहां वह पैदा हुए, पले और परवान चढ़े। उनके उपन्यासों में, 'रंगभूमि', 'कर्मभूमि', 'प्रेमाश्रम' और 'गोदान' अधिकतर देहात की राम कहानी ही कहते हैं। और बताते हैं कि देहातियों के पैरों में कौन-सी बेड़ियां पड़ी हुई हैं और कौन-सी चीजें उन्हें घुन की भांति अन्दर-ही-अन्दर खाये जाती हैं।

प्रेमचंद के गांव

'उत्तरीय गिरिमाला के बीच में एक छोटा-सा हरा-भरा गांव है, सामने गंगा तरुणी की भांति हंसती, खेलती, नाचती-गाती चली जा रही है। गांव के पीछे एक बड़ा पहाड़ किसी वृद्ध जोगी की भांति जटा बढ़ाए, काला और गम्भीर, अपने विचारों में निमग्न खड़ा है। यह गांव मानो उसके बचपन की याद है, उल्लास और मनोरंजन से परिपूर्ण, अथवा भरपूर जवानी का कोई सुनहला स्वप्न। गांव में मुश्किल से बीस-पच्चीस झोंपड़े होंगे। पत्थर के टेढ़े-मेढ़े टुकड़ों को ऊपर नीचे रखकर दीवारें बनाई गई हैं। उन पर बनकट की टट्टियां है। इन्हीं काबकों में इस गांव के वासी अपनी गाय, बैल, भेड़, बकरियां को लिए राम जाने कब से बसे हुए हैं।' (कर्मभूमि)

नगर के जीवन से तंग आये हुए अमरकान्त को यह गांव सुन्दर और सुरम्य लगा। वह कहते भी हैं, 'ऐसा सुन्दर गावं मैंने नहीं देखा, नदी, पहाड़, जंगल इसका तो समा ही निराला है, जी चाहता है यहीं रह जाऊं और कहीं जाने का नाम न लूं। अमरकान्त ही क्यों, कोई भी प्रकृति-प्रेमी वहां जाकर अपना तप्त आत्मा को शान्त कर सकता है। भारत के देहात प्रकृति के ही रूप हैं। जहां पहाड़ हैं, नदी है, हरे-भरे वृक्ष हैं, खेत हैं, वहां पत्थर अथवा मिट्टी के बने छोटे-छोटे घरों का चित्र भी मस्तिष्क में खिंच जाता है। नगर तो प्रकृति के सुन्दर शरीर पर फोड़े हैं, उसकी सुन्दरता के डाकू हैं। यदि नागरिकों की कुत्सित चालों ने इन देहातियों के जीवन को तल्ख न कर दिया होता, तो शहर से देहात जाने वाला सचमुच ही वहां से आने का नाम न लेता।

एक दूसरी जगह प्रेमचंद ने 'बेलारी' फागुन के आगमन का वर्णन करते हुए लिखा है-

'फागुन अपनी झोली में नवजीवन की विभूति लेकर आ पहुंचा। आम के पेड़ दोनों हाथों से बौर की सुगन्ध बांट रहे थे। और कोयल आम की डलियों में छिपी हुई संगीत का गुप्त दान कर रही थी।'

देहात की यही सुन्दरता है जो प्रेमचंद को बार-बार अपनी ओर खींचती रही है और यही सुन्दरता है जिसका चित्र खींचते समय प्रेमचंद-ऐसा प्रतीत होता है-उसमें खो जाते थे। परन्तु देहात में सुन्दरता ही सुन्दरता हो, आकर्षण ही आकर्षण हो, यह बात नहीं। देहात का आकर्षण, देहात की रमणीयता देहातियों की सम्पन्नता पर निर्भर है। फाकेमस्त के चेहरे पर भर पेट खाने वाला का-सा नूर कहां? अमरकान्त 'कर्मभूमि' में जो गांव था वह 'गोदान' के बेलारी से भिन्न था। वहां के वासी भुक्खड़ नहीं थे। एक आना रोज़ाना अथवा बेगार की मजदूरी का वहां नाम भी न था। अमरकान्त चाहते थे, कोई काम मिल जाये तो गांव में ही टिक जायें। उनका अभिप्राय जानकार 'गोबर' कहता है-'काम की यहां कौन कमी है, घार भी कर लो तो रुपये रोज़ की मज़दूरी हो जाय, नहीं तो चप्पल बनाओ, चरसे बनाओ, परिश्रम करने वाला भूखा नहीं मरता, धेली की मज़दूरी कहीं गई नहीं।'

परन्तु बेलारी में परिश्रम करने पर भी भूखा रहना पड़ता है, वहां मजदूरी ऐसे आराम से नहीं मिलती। धनियां कहती है–

'कब तक पुआल में घुसकर रात काटेंगे, और पुआल में घुस भी लेंगे तो पुआल खाकर रहा तो न जायगा, तुम्हारी इच्छा हो तो घास ही खाओ, हमसे तो घास न खाई जायगी।'

होरी कहता है–'मज़दूरी तो मिलेगी, मज़दूरी करके खायेंगे।'

धनिया पूछती है–'कहां है इस गांव में मज़दूरी?'

रायसाहब वहां मजदूरी लेते हैं लेकिन एक आना रोज़ देते हैं। दातादीन पण्डित सेंतमेंत में या तीन आने रोज़ पर मज़दूरी लेते हैं, परन्तु ऐसी कड़ी कि उनके यहां कोई मज़दूर टिकता ही नहीं और बेलारी के समीप ही एक ठेकेदार भी मज़दूरी लेता है लेकिन ऐसी सख्त कि यह मजदूरी करते होरी अपनी जान से ही हाथ धो बैठता है।

ऐसी हालत में गांव का चित्र कैसे आकर्षक हो सकता अथवा प्रेमचंद किस प्रकार अपनी लेखनी के चमत्कार से ही इसे सुन्दर और आकर्षक बना देते? और यदि ऐसा करते भी तो इस चित्र में सूत (Harmony) कहां रहता? इसीलिए जब गोबर नगर से घर लौटता है तो वही गांव जो सम्पन्नता के दिनों में सुन्दर लगता, मन को शान्ति देता, अब रूखा, फीका और उजड़ा दिखाई देता है। 'कर्मभूमि' के गांव के पश्चात् अब 'गोदान' के इस गावं का भी नक्शा देखिये, कितनी दीनता और कितना दरिद्रय!

'गोबर ने घर की दशा देखी तो ऐसी निराशा हुई कि इसी वक्त वहां से लौट जाय। घर का एक हिस्सा गिरने-गिरने को हो गया था, द्वार पर केवल एक बैल बंधा हुआ था वह भी नीमजान ।'

'और यह दशा कुछ होरी की ही न थी, सारे गांव पर यह विपत्ति थी। ऐसा एक भी आदमी न था जिसकी रोनी सूरत न हो, मानो उनके प्राणों की जगह वेदना ही बैठी उन्हें कठपुतलियों की तरह नचा रही हो। द्वार पर मानो कूड़ा जमा है, दुर्गन्ध उड़ रही है मगर उनकी नाक में न गन्ध है न आंखों में ज्योति। सरेशाम ही से द्वार पर गीदड़ रोने लगते हैं पर किसी को गम नहीं।'

कहां है वह सुन्दरता, वह आकर्षण, वह पवित्रता, जो नगर से आने वाला मोह ले, उसका स्वागत करे, उसे बिठा ले बस अब तुम मेरी ठंडी छाया में बैठो, मेरी हरियाली से मन को शान्ति दो, मेरे पवित्र वातावरण में सांस लो। प्रेमचंद यथार्थवादी थे और अपने उपन्यासों में उन्होंने जहां-जहां देहात का चित्र खींचा है वहां प्राकृतिक दृश्यों की सुन्दरता के साथ-साथ देहात की सबसे बड़ी दिलकशी–देहातियों के जीववन को भी नहीं भूले।

देहात के मौसम

प्रेमचद की कलम में जादू था। जिस वस्तु का ज़िक्र उन्होंने किया उसका चित्र आंखों के सामने खिंच गया। आपने आयु भर कोई गांव न देखा हो, आपको देहात मौसिमों का कुछ भी ज्ञान न हो, आपको देहात के शीत से पाला न पड़ा हो, आप न जानते हों कि निर्धन किसान पर शरद ऋतु में क्या बीतती है, परन्तु आप प्रेमचंद की यर्थाथवादी कलम से खींची हुई तस्वीर देखें, सब कुछ जान जायंगे, जब कुछ अनुभव करेंगे। आपके सामने गांव की सर्दी और उसमें ठिठुरते हुए किसान का चित्र खिंच जायगा–

'माघ के दिन थे। महवट लगी हुई थी। घटाटोप अंधेरा छाया हुआ था। एक तो जाड़ों की रात, सरे माघ की वर्षा। मौत का-सा सन्नाटा छाया था। अंधेरा तक न सूझता था।' होरी पुनिया के मटर के खेत की मेंड पर अपनी मंड़ैया में लैटा हुआ था, चाहता था शीत को भूल जाय और सो रहे; लेकिन तार-तार कम्बल और फटी हुई मिर्जई और शीत के झोंकों से गीली पुआल, इतने शत्रुओं के सम्मुख नींद में साहस न था। आज तमाखू भी न मिली कि उससे मन बहलाता। उपला सुलगा लाया था, पर शीत में वह भी बुझ गया। बेवाय फटे पैरों को पेट में डालकर और हाथों में जांघों के बीच दबाकर और कम्बल में मुंह छिपाकर अपने ही सांसों से अपने को गरम करने की चेष्टा कर रहा था बूढ़ा कम्बल अब उसका साथी तो था मगर अब वह चबाने वाला दांत नहीं दु:खने वाला दांत है।'

कितनी दर्दनाक तस्वीर है ! गरमियों के दिनों में यदि वर्षा न हो तो क्या दशा होती है, ज़रा इसका भी हाल पढ़िये।

'सावन का महीना आ गया था और बगूले उठ रहे थे। कुओं का पानी भी सूख गया था और ऊख ताप से जली जाती थी। नदी से थोड़ा-थोड़ा पानी मिलता था पर उसके पीछे आये दिन लाठियां चलती थीं। यहां तक कि नदी ने भी जवाब दे दिया, जगह-जगह चोरियां होने लगीं, डाके पड़ने लगे। सारे प्रान्त में हाहाकार मच गया।'

और इस दशा में यदि वर्षा हो जाये तो किसानों के दिलों के सूखे कमल किस प्रकार हरे हो जाते हैं इसका ख़ाका भी प्रेमचंद ने खींचा है। देखिये–

'बारे कुशल हुई कि भादों में वर्षा हो गई और किसानों को प्राण हरे हुए। कितना उछाह था उस दिन। प्यासी पृथ्वी जैसी अघाती ही न थी और प्यासे किसान जैसे उछल रहे थे, मानो पानी नहीं अशर्फियां बरस रही हैं। बटोर लो जितना बटोरते बने। खेतों में जहां बगूल उठते थे, वहां हल चलने लगे। बालवृन्द निकल-निकलकर तलाबों और पोखरों और गड़हियों का मुआयना कर रहे थे। 'ओ हो तालाब तो आधा भर गया' और वहां से गडहिया की तरफ भागे।'

कितना सजीव चित्र है ! वर्षा होने पर जरा देहातियों की व्यवस्तता देखिये 'बरसात के दिन थे। किसानों को ज्वार और बाजरे की रखवाली से दम मारने का अवकाश न मिलता था। जिधर देखिये, हा हू कि ध्वनि आती थी। कोई ढोल बजाता था कोई टीन के पीपे पीटता था। दिन को तोतों के झुण्ड-के झुण्ड टूटते थे, रात को गीदड़ों के गोल, उस पर धान की क्यारियों में पौधे बिठाने पड़ते थे। पहर रात रहे ताल में जाते और पहर रात गए आते थे। मच्छरों के डंक से देह में छाले पड़ जाते थे। किसी का घर गिरता था, किसी के खेत की मेंड़ काटी जाती थीं। जीवन संग्राम की दोहाई मची हुई थी।'

वर्षा ऋतु के बाद का भी एक चित्र है–

'वर्षा ऋतु समाप्त हो गई थी। देहातों में जिधर निकल जाइये सड़े हुए सन की [illegible]। कभी ज्येष्ठ को लज्जित करने वाली धूप होती थी, कभी सावन को शरमाने वाले बादल [illegible]ते थे। मच्छर और मलेरिया का प्रकोप था, नीम की छाल और गिलोव की बहार थी। चरा[illegible] दूर तक हरी-हरी घास लहरा रही थी। अभी किसी को उसे काटने का अवकाश न मिल[illegible] था।'

प्रेमचंद [illegible] दृष्टि कितनी सूक्ष्म है और कलम में कितनी सफाई है, यह इन क़लमी चित्रों

को देखकर ही मालूम हो जायगा। सारी आयु देहात में बिताने वाला भी शायद इस बारीकी इस सफाई से देहात का चित्र न खींच सकता जैसा प्रेमचंद ने इसके बाहर रहते हुए खींचा है।

देहाती और उनकी दीनावस्था

प्रेमचंद के देहाती हमारे देहात कि, भोलेभाले, निरीह, गरीब, कर्जे के बोझ तले दबे हुए, पुरानी रस्मों और झूठी मर्यादा के पाबन्द, धर्म और दीन के बन्धनों से जकड़ हुए, आन की खातिर मर मिटने वाली दर्दरस, बेबस, मज़लूस, विपन्न देहाती हैं वह गुनाह करते हैं, परन्तु उनका गुनाह भी विवशता का दूसरा नाम है, पाप के कड़वेपन से पाक ! उनके पाप में भी उनकी सादा लौ ही टपकती है। उन्हें पाप करते देखकर क्रोध के बदले दया आती है। मैं कहता हूं, सरकार अथवा दूसरी संस्थाएं देहात सुधार कर शोर मचाने के बदले प्रेमाश्राम और गोदान की कापियां छपवा कर लाख-दो लाख की संख्या में मुफ्त में बांट दें तो कहीं अच्छा हो। केवल महकमें और संस्थाएं खोलने से काम न चलेगा। ज़रूरत इस बात की है कि जन साधारण को देहातियों की इस दीनावास्था का ज्ञान हो जाये और वह अनुभव करें के उनकी से असेम्बलियां, उनके ये चुनाव, उनके ये भाषण, देहात सुधार के सम्बन्ध में उनके ये दावे अभी तक महज़ खोखले साबित हुए हैं। सब स्वार्थ और मतलबपरस्ती के सिवा कुछ नहीं और इनसे देहातियों को कोई लाभ नहीं। उनकी अवस्था अब भी वैसी ही दीन है जैसी पहले थी।

प्रेमाश्रम में मनोहर गौस खां का कत्ल कर देता है, लेकिन क्या वह पापी है? क्या उसके इस अमानुषीय कर्म पर आपके दिल में उसके लिए उपेक्षा पैदा होती है? वह कमज़ोर गरीब मुफलिस देहाती है, रात को उसे ठीक तरह सुझाई भी नहीं देता। आयु के साठ पतझड़ देख चुका है, फिर क्या कारण है कि जिस काम को उसका युवक पुत्र बलिष्ट और मज़बूत होते हुए भी करने से झिझकता है उसे वह वृद्ध और दुर्बल होते हुए भी करने के लिए तैयार हो जाता है? यह उसी की ज़बान से सुनिये। दो घड़ी रात बीतने पर जब सब सो गये हैं, चारों तरफ सन्नाटा है, मनोहर बलराज को जगाता है और कहता है–

'अच्छा तो अब राम का नाम लेकर तैयार हो जाओ, डरने या घबराने की कोई बात नहीं। अपने मरजाद की रक्षा करना मरदों का काम है। ऐसे अत्याचारों को हम और क्या जवाब दे सकते हैं। बेइज्ज़त होकर जीने से मर जाना अच्छा है।'

और फिर यही मनोहर उस काम के लिए, जिसका उत्तरदायित्व उस अकेले पर है, सारे-का-सारा गांव बंधा जा रहा है तो, अपने हाथों अपने जीवन की रस्सी काट देता है। क्या उसका यह काम उसके चरित्र को हमारी नज़रों में ऊंचा नहीं कर देता? कौन जानता है कि आये दिन देहात में जो हत्याएं होती हैं, डाके पड़ते हैं लड़ाइयां की जाती हैं, उनकी तह में इसी प्रकार के जुल्म काम नहीं करते? इन जुल्मों की रोकथाम अपराधियों को फांसी की रस्सी पर लटकाकर, अथवा कालेपानी भेजकर नहीं हो सकती, वरन् उन कारणों को दूर करके ही हो सकती है जो इन सीधे-सीधे देहातियों को जान जैसी प्यारी चीज़ को तुच्छ समझने के लिए विवश कर देते हैं।

'गोदान' में होरी लड़की को बचाने का पाप करता है। दीनधर्म और मर्यादा पर मर मिटने वाला होरी रूपा जैसी कमसिन लड़की को रामसेवक जैसे अधेड़ व्यक्ति से ब्याह देने को तैयार हो जाता है। लेकिन क्यों? इसलिए कि–

'जीवन के संघर्ष में उसकी सदैव हार हुई, पर उसने कभी हिम्मत न हारी। प्रत्येक हार जैसे उसे भाग्य से लड़ने की शक्ति दे देती थी, मगर अब वह अन्तिम दशा को पहुंच गया था, जब उसमें आत्मविश्वास भी न रहा था कि वह धर्म पर अटल रह सकता है।'

एक दूसरे स्थल पर प्रेमचंद देहातियों की हीनावस्था का करुणापूर्ण चित्र खींचते हैं–

'चलते-फिरते थे, काम करते थे, पिसते थे, घुटते थे, क्योंकि पिसना और घुटना उनकी तकदीर में लिखा था। जीवन में न कोई आशा है न कोई उमंग, जैसे उनके जीवन के सोते सूख गये हों और सारी हरियाली मुरझा गई हो। जेठ के दिन हैं, अभी तक खलिहानों में अनाज मौजूद है, मगर किसी के चेहरे पर खुशी नहीं है। बहुत कुछ तो खलिहानों ही में तुलकर महाजनों और कारिन्दों की भेंट हो चुका है और जो कुछ बचा है वह दूसरों ही का है। भविष्य अन्धकार की भांति उनके सामने है। उनमें उन्हें कोई रास्ता नहीं सूझता। सारी चेतनाएं शिथिल हो गई हैं। सामने जो कुछ मोटा-झोटा आता है निगल जाते हैं, उसी तरह जैसे इंजन कोयला निगल जाता है। उनके बैल चूनी-चोकर के बगैर नांद में मुंह नहीं डालते, मगर उन्हें केवल पेट में कुछ डालने को चाहिए, स्वाद से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं। उनकी रसना मर चुकी है, उनके जीवन में स्वाद का लोप हो गया है।'

इसलिए–

'चाहे उनसे धेले-धेले के लिए बेईमानी करवा लो, मुट्ठी भर अनाज के लिए लाठियां चलवा लो। पतन की इन्तहा है जब आदमी शर्म और इज्ज़त को भी भूल जाता है।'

इस अवस्था में, इस करुणाजनक शोचनीय अवस्था में, क्या इन परेशान-हाल देहातियों पर जिनकी इस दीनदशा का कारण नगर और नगरों की फैशनपरस्तियां हैं, उपेक्षा के बदले दया नहीं आती? इस हालत में वह बड़े से बड़ा अपराध भी कर दें तो क्षम्य हैं। दण्ड के भागी यह निरीह देहाती नहीं बल्कि वे लोग हैं जो अपनी और दूसरों की हस्ती को भूल जाने के लिए विवश करते हैं, यह भूल जाने के लिए विवश करते हैं कि वे पशु नहीं, मनुष्य हैं और उनके पहलू में दिल और मस्तिष्क में सोचने की शक्ति मौजूद है।

देहात की जोंकें

देहात की नीमजान लाश से जो जोंकें चिमटी हुई हैं और इसके रक्त की अन्तिम बूंद तक चूस जाना चाहती हैं, प्रेमचंद उनको भी नहीं भूले। 'गोदान' के पण्डित दातादीन, झिंगुरी शाह, मंगरू शाह पटवारी पटेश्वरीलाल और कारिन्दा नोखेराम और प्रेमाश्रम के गौस खां, फैजुल्लाह, बिसेसर शाह, थानेदान दयाशंकर इत्यादि इन्हीं जोंकों की विभिन्न जातियां हैं। देहातियों के शरीर में रक्त का नाम तक नहीं रहा, वे मृतप्राय हो गए हैं परन्तु इस बात से उन्हें कोई मतलब नहीं, उन्हें तो जब तक आश है चिमटी रहेंगी, हलू चूसती रहेंगी, दया, धर्म, सहानुभूति का उनके यहां कोई काम नहीं।

होरी की गाय को, उसका सगा भाई विष देकर कहीं भाग गया है। उसकी अनुपस्थिति में पुलिस तलाशी करना चाहती है। होरी मर्यादा का पाबन्द है, वह नहीं चाहता कि उसके भाई के घर की तलाशी हो और कुल को बट्टा लगे। वह उसका शत्रु ही सही, उसकी वर्षों से सींची हुई आशाओं पर पानी फेर देने वाली ही सही, लेकिन भाई तो उसका ही है, तो क्या उसकी

तलाशी से कुल को बट्टा न लगेगा, भाई की इज्ज़त क्या उसकी इज्ज़त नहीं?

पटवारी पटेश्वरी होरी की इस कमजोरी से लाभ उठाना चाहते हैं। होरी के घर खाने को अनाज नहीं, उसे रोटी के लाले पड़े हुए हैं इससे उन्हें क्या? होरी के घर को चाहे आग लगे चाहे वह विध्वंस हो, वह तो इस सुअवसर पर हाथ रंगेंगे। बढ़कर थानेदार से कहते हैं 'तलाशी लेकर क्या करेंगे हुज़ूर, उसका भाई आपकी ताबेदारी के लिए हाज़िर है।'

दोनों आदमी ज़रा अलग जाकर बातें करने लगे।

'कैसा आदमी है?'

'बहुत ही गरीब हुज़ूर! भोजन का भी ठिकाना नहीं।'

'सच?'

'हां हुज़ूर, ईमान से कहता हूं।'

'अरे तो क्या एक पचासे का भी डौल नहीं?'

'कहां की बात हुज़ूर! दस भी मिल जायें तो हज़ार समझिए। पचास तो पचास जन्म में भी मुमकिन नहीं, और वह भी जब कोई महाजन खड़ा हो जायेगा।'

दारोगाजी में दया का सर्वथा आभाव न हुआ था। उन्होंने एक मिनट तक विचार करके कहा—'तो फिर उसे सताने से क्या फायदा? मैं ऐसों को नहीं सताता जो स्वयं ही मर रहे हों।'

पटेश्वरी ने देखा, निशाना और आगे पड़ा। बोले—'नहीं हुज़ूर, ऐसा न कीजिए, नहीं फिर हम कहां जायंगे। हमारे पास दूसरी कौन-सी खेती है?'

'तुम इलाके के पटवारी हो जी, कैसी बातें करते हो।'

'जब ऐसा ही कोई अवसर आ जाता है तो आपकी बदौलत हम भी कुछ पा जाते हैं नहीं पटवारी को कौन पूछता है?'

'अच्छा जाओ, तीस रुपय दिलवा दो। बीस रुपये हमारे, दस रुपये तुम्हारे।'

'चार मुखिया हैं, इसका तो खयाल कीजिए।'

'अच्छा आधेआध पर रखा और जल्दी करो।'

पटेश्वरी ने झिंगुरी से कहा, झिंगुरी ने होरी को इशारे से बुलाया। अपने घर ले गये, तीस रुपये गिनकर उसके हवाले किये और एहसान से दबाते हुए बोले—'आज ही कागद लिख देना। तुम्हारा मुंह देखकर रुपये दे रहा हूं, तुम्हारी भलमंसी पर।

और होरी तो यह रुपये दे देता परन्तु धनिया ने सब भंडा फोड़ दिया, बोली—

'हमें किसी से उधार नहीं लेना। मैं दमड़ी भी न दूंगी, चाहे मुझे हाकिम के इजलास तक ही चढ़ना पड़े। हम बाकी चुकाने के लिए पच्चीस रुपये मागते थे, किसी ने न दिए। आज अंजुरी भर रुपये निकालकर ठनाठन गिन दिए। मैं सब जानती हूं। यहां तो बांट बख़रा होने वाला था। सभी के मुंह मीठे होते। यह हत्यारे गांव के मुखिया हैं वा गरीबों का खून चूसने वाले। सूद-ब्याज, डेढ़ी-सवाई, नजर-नज़राना, घूसघास जैसे भी हो, गरीबों को लूटो।'

और ऐसी बीसियों ही घटनाएं हैं जहां ये देहाती जोंकें गरीब देहातियों का खून चूसती हैं झिंगुरी शाह शक्कर के कारख़ाने में होरी के एक सौ रुपये हथिया लेता है और बाकी के 25 नोखेराम ले लेता है और होरी के घर खाने को दाना तक नहीं। गिरधर मुश्किल से एक आना

मुंह में छिपाकर रख लेता है और उसकी ताड़ी पी आता है। ज़रा उसे शब्द सुनिये, बेदना भरी है–

'झिंगुरिया ने सारे-का-सारा ले लिया, होरी काका। चबैना को भी एक पैसा न छोड़ा। हत्यारा कहीं का। रोया गिड़गिड़ाया, पर उस पापी को दया न आई।'

आदर्श गांव

रंगभूमि और गोदान में प्रेमचंद ने देहात की तबाही का खाका खींचा है। औद्योगिक धंधों के युग में, कारख़ानेदारों के इस दौरे में, जब कि हिन्दुस्तान में भी मशीनों का गड़गड़ाहट का शोर सुनाई देने लगा है, प्रेमचंद देहात की तबाही और बर्बादी का दृश्य देखते हैं। पांड़ेपुर में भी बनारस के पड़ास में एक छोटा-सा गांव ही है। इसके विनाश का हाल पढ़कर प्रसिद्ध अंग्रेजी कविता Deserted Village (ऊजड़ गांव) की स्मृति ताज़ा हो जाती है। गोदान में देहात की जिस तबाही का ज़िक्र किया गया है उसका कारण हमारे समाज की आधुनिक व्यवस्था और उसकी कुरीतियां, खराबियां, ज़िमींदारों और उनके कारिन्दों के अत्याचारों और साहूकारों की ख़ून चूसने वाली सरगरमियां है। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि प्रेमचंद की आंखों के सामने सदैव तारीकी-ही-तारीकी रही है, उन्होंने गिरते, धंसते और विनाश की ओर शीघ्रता से अग्रसर होने वाले गांव ही देखे हैं। नहीं उन्होंने आदर्श गांव का स्वप्न भी देखा है और उस स्वप्न की सत्यता आपको 'प्रेमाश्रम' के लखनपुर में दृष्टिगोचर होगी।

मायाशंकार उस भाषण में, जो उसने अपने तिलकोत्सव पर किया, इस आदर्श की झलक मिलती है। उसे देहानियों की वास्तविक दशा का खूब ज्ञान है, जब ज्ञानशंकर ने उसे विलायत न जाने दिया था और अपने इलाकों का दौरा करने को कहा, तो उसने उनकी वास्तविक दशा का पूरा-पूरा परिचय पा लिया था। उसने देखा–

'चारों तरफ तबाही छाई हुई थी, ऐसा बिराला ही कोई घर होगा जिसमें धातु के बर्तन दिखाई देते हों। कितने घरों में लोहे क तवे तक न थे। मिट्टी के बर्तनों को छोड़कर झोंपड़े में और कुछ दिखाई ही न देता था, न आढ़ना, न बिछौना, यहां तक कि बहुत से घरों में खाटें तक न थीं। और वह घर ही क्या थे? एक-एक दो-दो छोटी तंग कोठरियां थीं। एक मनुष्यों के लिए, एक पशुओं के लिए। उसी एक कोठरी में खाना, सोना, उठना, बैठना–सब कुछ होता था।'

उसने यह भी देखा कि–

'जो किसान बहुत सम्पन्न समझे जाते थे, उनके बदन पर साबित कपड़े भी न थे, उन्हें भी एक जून चबेना पर ही काटना पड़ता था। वह भी ऋण के बोझ से दबे हुए थे। अच्छे जानवरों के देखने को आंखें तरस जातीं। जहां देखो छोटे-छोटे मरियल दुर्बल बैल दिखाई देते थे और खेतों में रींगते और चरनियों में औंघते थे।'

इस व्यापक दरिद्रता ओर दीनता को देखकर माया का कोमल हृदय तड़पकर रह गया था और उसने कम-से-कम अपने कर्तव्य का निर्णय कर लिया था। देखिये, अपने भाषण में वह इसकी घोषणा भी कर देता है–

'मेरी धारणा है कि मुझे किसानों की गर्दनों पर अपना जुआ रखने का कोई अधिकार नहीं। मैं आप सब सज्जनों के सम्मुख उन अधिकारों और स्वत्वों का त्याग करता हूं जो प्रथा नियम और समाज-व्यवस्था ने मुझे दिये हैं। अपनी प्रजा को अपने अधिकारों के बन्धन

से मुक्त करता हूं। वह न मेरे असामी हैं न मैं उनका ताल्लुकेदार हूं। वह जब सज्जन मेरे मित्र हैं, मेरे भाई हैं। आज से वे अपनी जोत के स्वयं जमींदार हैं। अब उन्हें मेरे कारिन्दों के अन्याय और मेरी स्वार्थ-भक्ति की यन्त्रणायें न सहनी पड़ेंगी। वह इज़ाफे, एख़राज, बेगार की विडम्बनाओं से निवृत्त हो गए।'

'मेरा अपने समस्त भाइयों से निवदेन है कि वे अपने-अपने हिस्से का सरकारी लगान पूछ लें और वह रकम ख़जाने में जमा कर दें। मुझे आशा है कि मेरे समस्त भ्रातृवर्ग आपस में प्रेम में रहेंगे और ज़रा-सी बातों के लिए अदालतों की शरण न लेंगे।'

और इस घोषणा के फलस्वरूप हम प्रेमाश्रम के अन्तिम पृष्ठों में स्वतन्त्र और सम्पन्न लखनपुर की तस्वीर देखते हैं। मायाशंकर अपने दौरे पर हैं इसी सिलसिले लखनपुर भी आये हैं। देखते हैं कि वहीं लखनपुर, जो तबाही और बर्बादी का मसकिन था, अब स्वर्ग को लजाने वाला बन गया है। वहां खूब रौनक और सफाई है। 'प्राय: सभी द्वारों पर सायबान थे। उनमें बड़े-बड़े तख़्ते बिछे हुए थे। अधिकांश घरों पर सुफेदी हो गयी थी। फूस के झोंपड़े गायब हो गए थे, अब सभी घरों पर खपरैल थे। द्वारों पर बैलों के लिए पक्की चरनियां बनी हुई थीं और कई द्वारों पर घोड़े बंधे दिखाई देते थे। पुराने चौपाल में पाठशाला थी और उसके सामने एक पक्का कुआं और धर्मशाला था। मायाशंकर सुक्खू चौधरी के मन्दिर पर रुके। वहां इस समय बड़ी बहार थी। चबूतरे पर इस समय चौधरी बैठे हुए रामायाण पढ़ रहे थे और कई स्त्रियां बैठी हुई सुन रही थी। मायाशंकर घोड़े से उतरकर चबूतरे पर जा बैठे। उन्हें देखते ही गांव वाले अपने काम-धन्धे छोड़कर आ गये थे, सबने उन्हें घेर लिया और सबकी कुशल क्षेम पूछने लगे।'

गावं की यह कायापलट उस घोषण के केवल दो वर्ष बाद हो गई है। अब तनिक देहातियों की आर्थिक स्थिति का हाल भी सुनिये और पहली दशा से उसका मिलान कीजिये। कादिर मियां, जिन्हें मायाशंकर चाचा कहकर पुकारते हैं, सहर्ष अपनी हालत बयान करते हैं—

'बेटा, और क्या दुआ दें? रोयें रोयें से तो दुआ निकल रही है। मुंशी को देखो, पहले बीस बीघे का काश्तकार था, सौ रुपये लगान देने पड़ते थे। दस बीस साल नजराने में निकल जाते थे। अब जुमला बीस रुपय लगान है और नज़राना नहीं लगता। पहले अनाज खलिहान से घर तक न आता था। आपके चपरासी कारिन्दे वहीं गल्ला दबाकर तुलवा लेते थे। अब अनाज घर में भरते हैं और सुभीते से बेचते हैं। दो साल में कुछ नहीं तो तीन-चार सौ ब[illegible]े होंगे। डेढ़ सौ की एक जोड़ी बैल लाये, घर की मरम्मत कराई, सायबान डाला। हाँडियों की जगह तांबे और पीतल के बर्तन लिये और सबसे बड़ी बात यह है कि अब किसी की धौंस नहीं। मालगुजारी दाखिल करके चुपके से घर चले आते हैं। नहीं तो जान सूली पर चढ़ी रहती थी। अब अल्लाह की इबादत में भी जी लगता है, नहीं तो नमाज भी बोझ मालूम होती थी।'

और यही हालत दुखरन भगत, कल्लू, डपटसिंह और बलराज इत्यादि का है बलराज के पास तो एक घोड़ा भी है। जिला-बोर्ड का सदस्य हो गया है इसके अतिरिक्त जहां पहले कोई समाचार-पत्र का नाम तक न जानता था वहां अब छोटा-सा [illegible]नालय भी है, अच्छे-अच्छे अखबार भी आते हैं। गांव वालों की नैतिक उन्नति भी काफी हुई है और बलराज के कौल के मुताबिक 'गांव में अब रामराज है।'

मायाशंकर ने देहातियों की जो दशा स्वयं देखी थी और जो दशा उसने बना दी है, उसमें

कितना अन्तर है ! यह है देहातियों का वह स्वर्ग जिसके स्वप्न प्रेमचंद देखते थे। काश हमारे जमींदारों में एक भी मायाशंकर निकलता तो प्रेमचंद को अपनी जीवन-सन्ध्या में निराश होकर 'गोदान' न लिखना पड़ता।

प्रेमचंद : हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ रचनात्मक प्रतिभा

श्री रामनाथ 'सुमन'

प्रेमचंद की मृत्यु को आज छः महीने होने को आये। इस बीच बार-बार उन पर लिखने को कहा गया है—मेरे दिल ने भी कहा है। मैं सोचता रहा हूं, मन जरा सुस्थ हो ले तो लिखूं। पर क्या लिखूं? दिल में अनेक भाव उठते हैं और एक दूसरे का मिटाते हुए मिट जाते हैं। इस बाढ़ में मन की नाव डगमगा रही है। सोचता हूं, हिन्दी-संसार ने उनके साथ क्या किया? उनके जीवन में उनकी कद्र न हुई—मौखिक और धुएं के सामन अस्पष्ट आकाश में उड़ जाने वाली कद्र तो बहुत हुई पर मैं उसकी बात नहीं कर रहा हूं। मेरे निकट इसका महत्व नहीं। मैं पूछता यह हूं कि प्रेमचंद की आत्मा को, उनके संदेश को कितनों ने पहचाना, समझा और ग्रहण किया। आज से 17 वर्ष पूर्व जब हिन्दी ने अपनी आत्मा को पहचाना न था और जब उसके अंदर कोई ऐसा न था कि उनकी अन्त:प्रतिमा को, उसे आत्म-रूप को, उसकी प्रच्छन्न शक्तियों को परदा फाड़कर बाहर कर देता, जब हम खोये और भूले हुए, बंगला की जूठन को लेकर तृप्त थे तब एक प्रौढ़ युवक हमारे बीच आया और उसने परदे को उठा दिया। उसने हमारे बीच वह चीज रखी जिसको पाकर हमने अपने को देखना—पहचानना सीखा और हम हम हुए। इस व्यक्ति ने प्रेम को सौदे और मोल-तोल तथा विलासिता के बाजार से उठाकर कर्त्तव्य की उच्च भूमि पर प्रतिष्ठित कर किया। इसने साहित्य में सर्वसामान्य के प्राणों का कम्पन व्यक्त किया। इसने हमें नशा करने वाला नही, जिलाने वाला, पुष्ट करने वाला साहित्य दिया। जहां हमारी सर्वश्रेष्ठ पत्रिकाए उधार एव उच्छिष्ट अन्न पर पनप रही थीं तहा इसने औरों को हमारी चीजें लेने और पढ़ने को बाध्य किया। पहली बार हमने अनुभव किया कि हमारे साहित्य में भी ऐसी चीजें हैं जिसे पाकर दूसरे धन्य होते, जिसे दूसरे लेते हैं और सिर चढ़ाते हैं।

प्रेमचंद जी पहले हिन्दी लेखक हैं जिनकी रचनाओं के न केवल बंगला, गुजराती, मराठी, उर्दू, तमिल इत्यादि देशी भाषाओं वरन् जापानी, अंग्रेजी, जर्मन इत्यादि विदेशी भाषाओं में भी अनुवाद हुए और अंग्रेजी लेखकों ने जिनकी तुलना संसार के सर्वश्रेष्ठ आख्यचायिकाकारों एवं औपन्यासिकों से की है।

पर यह केवल उपन्यासों का ही प्रश्न नहीं है, यह हमारे समस्त साहित्य की आत्मा का प्रश्न है। प्रेमचंद ने सबसे पहले हमारे साहित्य के पांव में मनोवैज्ञानिक प्रवंचना एवं दासता की जो बेड़ियां पड़ी थीं उन्हें तोड़ दिया। प्रथम बार साहित्य की आत्मा का सम्पुट-शतदल, तेज: पुंज के स्पर्श से खुलने लगा और प्रथम बार साहित्य की आत्मा उस मुक्त पक्षी की तरह ऊपर उड़ी जिसने वर्षों पिंजड़े में रहने के बाद एकाएक अपना खोया एवं भूला हुआ स्वतंत्रता का, आत्म-परिचय का उल्लास प्राप्त कर लिया हो। वह न केवल कहानी एवं उपन्यास-जगत् में

वरन् सम्पूर्ण साहित्य के जीवन में एक स्फूर्ति, एक प्रेरणा, एक प्राणद-स्पर्श उत्पन्न करते हुए आये।

मैं मानता हूं, हिन्दी में वंचकों की कमी नहीं है। मैंने सुना है—'उन्होंने क्या काम किया?' यह प्रश्न हमारी गुलाम एवं उल्टी—'परवर्टेड'—मनोवृत्ति पर कोढ़ का वह धब्बा है जो हमारे जीवन की शालीनता के विरुद्ध दुष्प्रवृत्ति के एक पदक-सा हमारे सामने सदा चमकता रहेगा। यह दाग धुल न सकेगा, पर इसका उत्तर समय ने दे दिया है और अभी आने वाला समय पूर्णतर उत्तर देगा। उन्होंने किया यह कि हिन्दी को राष्ट्र की अभिव्यक्ति का साधन बनाया। वह सच्चे अर्थों में हमारे राष्ट्रीय ग्रंथकार थे—उनकी रचनाएं कश्मीर से कन्याकुमारी तक पढ़ी जाती हैं। वही एक हिन्दी लेखक हैं जिनका नाम सब प्रांतों के साहित्य-पाठक जानते हैं; जिन्होंने हिन्दी को दूर-दूर तक फैलाया है और उस नाम को गर्व और गौरव से प्रदीप्त किया है। उन्होंने हिन्दी में समाज, देश एवं राष्ट्र के जीवन को प्रतिध्वनित किया है। उन्होंने हिन्दी राजाओं के विलासागारों एवं रईसों के मनोविनोद से उठाकर सर्वसाधारण की झोंपड़ियों तक ला खड़ा किया है। समय की मांग से प्रभावित, समाज के संघर्षों से दु:खी, हमारे सामाजिक जीवन को परिष्कृत करने की वेदना से संयुक्त, वह भावों एवं सिद्धान्तों, स्थिति एवं समय के संघर्ष में जीवन का चित्रण करते हुए चलते हैं।

2

कहानी के प्रति चिरकाल से मनुष्य की ममता है। इसमें मनुष्य सहज ही अपने को पा जाता है। इसमें उसके सुख-दु:ख, उसकी आशा-निराशाएं, उसके अन्त:भाव एवं आकांक्षाएं उसे अत्यन्त स्वाभाविक रूप से स्पर्श करती हैं। इसमें वह बिना किसी बोझीले प्रयास के अपने जीवन के बहुत निकट आता है, अपने को अनुभव करता है और दूसरों के जीवन से अपने ममत्व का सम्बन्ध स्थिर कर लेता है।

संसार में जो इतनी समस्याएं हैं और इतने द्वंद्व हैं उनके बीच अनादि-काल से मनुष्य आनन्द शोध में संग्लन है। उठते-बैठते, चलते-फिरते, शोक और हर्ष में, सफलता और विफलता में, आशा और निराशा में, आनन्द की वह यात्रा जारी है जगत् की विविधता और द्वंद्व में वैषम्य कहां है? उल्टे एक क्रम है, एक एकता है, एक सामंजस्य है। आनन्द की शोध में मनुष्य का यह अनुभव अत्यन्त मूल्यवान है। साहित्यकार जीवन के विविधि रूपों में इस केन्द्रीय प्रकाशरेखा को लेकर ही, जो नाशमान-सा लगता है—ऐसे उपादान-समूह से, एक चिरन्तन जीवन की, सत्य की सृष्टि करता है। इसीलिए संसार के श्रेष्ठ साहित्य अथवा ज्ञान में व्यक्ति मूल की तरह समाया हुआ है क्योंकि यह जो समाज है और जो उसकी समस्याएं है, व्यक्ति को छोड़कर खड़ी नहीं हो सकतीं और समाज व्यक्ति का एक प्रकार मात्र है।

इसीलिए शुद्ध कला की पूजा व्यक्ति की आत्मा को लेकर है। जो इसमें कला की उपयोगिता नहीं देख पाते, वे कला को जानते नहीं है। यह कला की चरम उपयोगिता है कि वह हमारे अन्तर में जो सत्य प्रच्छन्न है उसकी ओर हमारी आंखें खोलती है। इसीलिए विशुद्ध साहित्यकार जगत् का ब्राह्य द्वंद्व दिखा कर, व्यक्ति के मूल मनस्तत्व का निदर्शन एवं चित्रण करते हैं। समाज के बाह्यवरण और तात्कालिक परिस्थितियों की भिन्नता के बीच भी युग एवं स्थिति से ऊपर उठकर वे मानव जीवन के प्रति एक सनातन संदेश छोड़ जाते हैं।

परन्तु शुद्ध कला के इस रूप में पिछली शताब्दियों की विचार-धारा ने संशोधन भी किया है। ज्यों-ज्यों हमारी सभ्यता जटिल होती गई है, मनुष्य का व्यक्तित्व समाज में खोता गया है और अन्त में हमें समाज-यंत्र के एक पुर्जे के रूप में उसके दर्शन होते हैं। वह समाज का एक अंग मात्र बन गया है और समाज से भिन्न उसके अस्तित्व स्वीकार करने को आज का समाज-शास्त्री तैयार नहीं है।

आज की सारी समस्याएं वस्तुत: इसी व्यक्ति और परस्पर संघर्ष से उत्पन्न हुई हैं। आज सर्वत्र व्यक्ति और समाज में संघर्ष है तब यह संघर्ष है जब तक संसार शान्ति पा न सकेगा क्योंकि दोनों परस्पर विरोधी होकर जी नहीं सकते। आज की आवश्यकता यह है कि व्यक्ति और समाज दोनों एक दूसरे को उठाते हुए चलें। दोनों में समाञ्जस्य हो। इसलिए आज के साहित्यकारों पर हमारे जीवन के सामञ्जस्य का यह नूतन संदेश देने की एक बड़ी जिम्मेदारी आ पड़ी है।

प्रेमचंद की सफलता और देन यही है। व्यक्तिमूलक शुद्ध कला के पुजारी एवं समाज-तत्त्व के आलोचक साहित्यकार के बीच उन्होंने समन्वय एवं सामञ्जस्य स्थापित करने की चेष्टा की है। यह अवश्य है कि उन पर दूसरे 'स्कूल' की बड़ी गहरी छाप पड़ी है और वह स्पष्टत: समाज-तत्त्व-वादी उन लेखकों के 'स्कूल' की ओर झुके हुए हैं जो व्यक्ति एवं समाज के संघर्ष में समाज की एक गूढ़ समस्या लेकर हमारे सामने उपस्थित होते हैं (यदि रहे जरा-से बाहरी भेद के साथ ऐसी समस्याएं भी प्राय: व्यापक होती हैं) और परिस्थिति के उतार-चढ़ाव एवं दबाव में मानव का चित्रण करते हुए, पात्रों की गति या अवस्था द्वारा ही उस समस्या के हल की ओर निर्देश करते हैं। पिछले 17 वर्षों में भारत की राष्ट्रीय चेतना ज्यों-ज्यों जागती गई है और उसमें उथल-पुथल हुई हैं त्यों-त्यों प्रेमचंद पर उसका प्रभाव पड़ता गया है और वे दूसरे स्कूल की ओर झुकते गये हैं पर यह प्रभाव युग का प्रभाव है और इस प्रवाह के बीच भी व्यक्ति की श्रेष्ठता में उनका विश्वास, संस्कार-निर्मूल नहीं हो पाया है। इसीलिए प्रेमचंद में हमारी संस्कृति के संक्राति (Transitiou) काल का प्रतिबिम्ब है। उन्होंने समाज का ग्रहण किया है, उसके हितों के लिए उनमें तीव्र समवेदना है, पर व्यक्ति को भूलना उनसे नहीं हुआ है। उन्होंने एक मध्य स्कूल का निर्माण किया है। जिसमें व्यक्ति और समाज दोनों का अवलम्ब है। वह सदा व्यक्ति या समाज की जगह भावों को ही अधिक लेते हैं। जहां व्यक्ति को लेते भी हैं वहां भी हम उसे भाव के प्रतिनिधि, भावनाओं के एक चेतन चक्र के रूप में देखते है।

यही प्रेमचंद की विशेषता है। वह समय के निर्देश की ओर व्यक्ति को जाग्रत करते हुए चलते हैं। उनके उपन्यास शरतचन्द्र के व्यक्तित्वों (Individualities) से बहुधा शून्य हैं। उनके पात्र 'सिम्बोलिक' हैं और हमें इन पात्रों के रूप में समाज की विविध समस्याएं और उनके बीच पड़ा हुआ व्यक्ति याद आता है। इस प्रकार 'उपयोगितावादी' स्कूल की ओर झुके होकर भी प्रेमचंद ने व्यक्ति के व्यक्तित्व को सर्वथा लोप नहीं होने दिया है, और न समय के प्रवाह ने अपनी अन्तर्वाणी और आत्म-निर्णय बह जाने दिया है। जीवन की प्रत्येक अवस्था में उनकी विनोद की दृष्टि बनी रही है। वह किसी चित्र में एकदम निमज्जित नहीं हैं, वरन् सम्पूर्ण में निमज्जित हैं।

3

ऊपर मैंने जो बात कही है वह कहीं उतनी स्पष्ट नहीं है जितनी उनके अन्तिम उपन्यास 'गोदान'

में स्पष्ट है। कला और तत्त्वज्ञान की दृष्टि से 'रंगभूमि' प्रेमचंद का 'मास्टरपीस' है। वह मानव जीवन को एक व्यक्तित्व और एक सत्य प्रदान करता है। वह शरीर पर आत्मा की विजय का शंखनाद है वह सम्पूर्ण जीवन का एक चित्र और उस चित्र में चिरन्तरन तत्त्व की कला का प्रस्फुटन है। पर पिछले वर्षों ने प्रेमचंद के जीवन पर जो प्रभाव डाला उसका प्रतिनिधि-चित्र 'गोदान' है। इसमें 'रंगभूमि' की भाँति जीवन की कोई निर्दिष्ट 'फिलासफी' नहीं है, 'कर्मभूमि' की तरह समाज-क्षेत्र की कोई 'स्ट्रटेजी' नहीं है और न 'सेवासदन' की भाँति समाज-सेवा का स्पष्ट कार्य-क्रम है। इसमें केवल चित्र हैं और समस्याएं हैं नामकरण नहीं हैं; जिसे हल कह सकें, वह भी नहीं। चित्रों में रंग है; वे सजीव हैं। वे उठते है और बोलते हैं। इस महाप्राण लेखक ने उनके अन्दर चेतना और अपना रंग भरा है।

होरी नामक एक साधारण किसान को चारों ओर इस चित्र का विस्तार है। होरी औसत भारतीय किसान का एक सच्चा—Sincere—चित्र है। आरंभ से उसका जीवन संघर्षों की एक माला है। संघर्ष में आरम्भ होता है और संघर्ष में ही उसका अन्त हो जाता है। एक दु:ख सुलझा नहीं पाता कि दूसरा आ जाता है। वह अंत तक ऋणों से लदा हुआ, छोटी-छोटी कामनाओं में भी विफल है, परन्तु उनमें भारतीय ग्रामीण जीवन का 'मानवीय स्पर्श' भी है। वह संस्कारों और कुसंस्कारों, आशाओं और निराशाओं, असंतोष और संतोष, विरक्ति एवं अनुरक्ति से पूर्ण होकर सतत अपने कर्म-मार्ग पर चल रहा है।

मेरा अपना ख्याल है कि कोई भारतीय उपन्यासकार हमारे ग्रामीण जीवन से उतना परिचित नहीं है जितना प्रेमचंद हैं। सच पूछें तो यह उनका अपना क्षेत्र है और वह ग्रामीण जीवन के एक जातीय चित्रकार हैं। प्रेम के घात-प्रतिघात का चित्रण उनमें शरच्चन्द्र-सा नहीं मिल सकता। उनका समय जीवन 'रोमांस' से दूर रहा है। उनकी रचनाओं में सर्वत्र एक प्रकार का ग्रामीण वातावरण (Rural atmosphere) है, कृत्रिम नागरिकता (urabanity) कम है। जो है वह ग्रामीण सरलता में ओत-प्रोत है। जहां उनके पात्र एवं चरित्र नागरिकता की सतह से लिए गये हैं वहां भी उनमें एक प्रकार की विचित्र सरलता और सच्चाई (earnestness) है।

गोदान हमारे ग्रामीण जीवन कए अत्यन्त जीवित एवं मनोहर चित्र है। इसमें ग्रामीण जीवन की आशा है, निराशा है, त्याग है, भोग है, प्रेम है, द्वेष है, सरलता है कुटिलता है। इसमें हमारे ग्रामीण दाम्पत्य जीवन का सरल, कर्त्तव्य के सूत्र में जीवन के साथ बंधा हुआ प्रेम है, यौवन का विनोद है, यौवन का उल्लास है। इसमें गृह-कलह है और फिर उसी कलह का परिमार्जन है निराशा और अंधकार से भरे हुए इस ग्रामीण जीवन के 'बैक ग्राउण्ड'—पार्श्वभूमि—पर नागरिकता का विनोद, समाज सेवा, शिक्षा, वाणी-विलास सब अपने अहंकार के साथ खड़े हैं। उस अंधकार में इनका प्रकाश कोढ़-सा चमकता है। हम नागरिक सभ्यता की सुविधाओं और आकर्षणें के बीच प्रलुब्ध नहीं हैं, ग्रामीण जीवन के अंधकार में हमारा दम घुटता है, पर उतना नहीं जितना इस कृत्रिम नागरिक सभ्यता के प्रकाश में। अपने सारे दुर्गुणों और दोषों के साथ भी ग्रामीण जीवन का अपना सत्त्व है, अपना व्यक्तित्व भी है; जब इस नागरिक जीवन का अपना कोई व्यक्तित्व नहीं।

इस गोदान में प्रेमचंद ने हमें पुनिया, धनिया, झुनिया, सिलिया, चुहिया के जो-जो चित्र भेंट किये हैं वे अत्यन्त सजीव हैं और अपनी स्थिति के पूर्ण प्रतिनिधि हैं। इसी प्रकार होरी, भोला, दातादीन, झिंगुरीसिंह, नोखेराम, मंगरू साह और परमेश्वरीप्रसाद ग्रामीण जीवन के

विविध अंगों (Ingredients) के प्रतिनिधि हैं। इनके साथ मालती के रूप में आधुनिकता के प्रवाह में बहती हुई नारी है जो अंत में मेहता के रूप में बलिष्ठ पौरुष (Vigorous Manhood) को आत्मदान करती है। इनके साथ श्रीमती खन्ना प्राचीन नारी की वफादारी का स्मृति-दीप जलाये चल रही हैं। राय साहब एक परिस्थिति एवं संस्कार से प्रभावित पर सदेच्छु जमींदार के प्रतिनिधि हैं। व्यक्तिगत अहंकार समष्टि के हित में आत्मार्पण करने में बाधक होता है। मेहता एक उद्दाम, तेजस्वी, पौरुष से भरे हुए जीवन की फिलासफी का प्रतिनिधि है। यह एक शासक (Domineering) पुरुष के व्यक्तित्व का चित्र है,पर उसकी फिलासफी पर पश्चिम के अनात्मवाद का जो प्रभाव है वही उसकी अपूर्णता है और उसी ने उसे दाम्पत्य जीवन के प्रति एक तेजस्वी दृष्टिकोण देकर भी नारी (मालती) के प्रति आवेग की दृष्टि की है। होरी, मालती और मेहता इस उपन्यास की जान हैं।

गोदान को हम एक सम्पूर्ण—अपने में पूर्णता लिये हुए चलने वाला चित्र तो नहीं कह सकते, परन्तु अपने 'ब्लैक ऐंड ह्वाइट' में वह असाधारण है। उसकी अपूर्णता से पूर्णता के प्रति एक आकांक्षा है, एक संकेत है। अपूर्ण इसलिए कि इसका होरी व्यक्ति के सत्य से बहुत हटा-सा है; उसकी पराजय में व्यक्ति की आत्मा की विजय का संदेश नहीं है जैसा कि 'रंगभूमि' में है; यहां होरी मुख्यत: अवांच्छनीय समाज-व्यवस्था का एक अंग और यंत्र हो उठा है। परन्तु प्रेमचंद एक लोक-संग्रही मानव थे इसलिए यदि ऐसा न करते, तो अपने को इन्कार—'डिनाई' करते। साम्यवाद की उठती लहरों के बीच उनका संग्राहक (Receptive) मन उससे बिल्कुल अछूता रहने को तैयार न हो सकता था।

पर गोदान ने किया यह है कि हमारे सम्मुख एक दर्पण लाकर रख दिया है। इसमें हम अपने को, अपनी परिस्थिति को देखते हैं और अपना भयावना रूप देखकर सिहर उठते हैं। यह रूप-दर्शन हमारी तीव्र आत्मवंचना का स्वप्न भंग कर देता है और हम लज्जा और ग्लानि से भरे हुए सोचते हैं कि यह हमें क्या हो गया है। बस यही गोदान की सफलता है। वह हमें अपने समाजिक जीवन के सामने लगे हुए महान् प्रश्न चिह्न का उत्तर देने के लिए एक विचार-प्रवाह जाग्रत कर देता है।

गोदान हमारे ग्रामीण जीवन के अन्धकार पक्ष का एक महाकाव्य है। हमारे कार्यकर्ताओं को यह प्रकाश देगा, हमारे पाठकों में अनुभूति और विचार पैदा करेगा। इसकी भाषा सुन्दर, चलती हुई भाषा है। उसमें बोझ नहीं है; वह झरने की भांति कल-कल करती, उछलती और कूदती हुई चलती है। मुहाविरों का ऐसा सुन्दर उपयोग करने वाला, जीवन के अनुभवों को स्थान-स्थान पर, सुन्दर उपमाओं के बीच इतनी सफलता के साथ संक्षिप्त और घनीभूत करके रख देने वाला, हिन्दी में दूसरा उपन्यासकार नहीं हुआ।

और सबसे बड़ी सेवा जो 'गोदान' कार ने की है वह यह है कि उन्होंने हमारे हिन्दी-जगत् के भावचक्र को ग्रामीण जीवन से सम्बद्ध कर दिया है। यह जो हिन्दी का कथा-साहित्य केवल नगरों की प्रेमकुञ्जों में ही पनप रहा है, जहां कादम्बिनी-माला है, जहां बुल-बुल और गुल हैं, जहां बेला और चमेली के फूले हैं और खस की टट्टियों में मनुष्य ठंडा किया जा रहा है; जहां जीवन की प्रखर दोपहरी के दर्शन नहीं होते और प्रणय, खुली हुई स्वास्थ-वायु से भरी अमराइयों से दूर, थियेटरों एवं कॉलेजों की भीड़ में चोरी करता हुआ चलता है; जहां केवल नाज है और नाट्य है और जीवन कर्त्तव्य और कर्म के मार्ग को भूलकर सस्ते प्रेम की गुलकारियों

में भटक रहा है, वहां मृत, शिथिल और रसहीन मार्ग के प्रति विद्रोह करने का यश प्रेमचंद को मिलना चाहिए। उन्होंने हमारे मदिरालय में शीतल जल का एक मटका लाकर रख दिया है, जिसे पीकर प्रेमोन्माद कम हो सकता है।

दूसरी बात–एक सुसंस्कृत भावना की प्रतिमूर्ति प्रेमचंद में किसान, मजूर, विधवा, वेश्या क्लर्क सम्पूर्ण पीड़ित वर्ग 'एडवोकेसी' (वकालत) प्राप्त हुई है। और यह सब होते हुए भी भारतीय संस्कृति की मध्यरेखा से वह कहीं अलग नहीं हुए हैं। उन्होंने सदा विद्या पर मनुष्यता को और विज्ञान पर शिष्टता, उदारता, धर्म एवं नीति को तरजीह दी है। जहां उन्होंने नारी की वकालत की है वहां आधुनिक युग की तितलियों और मधुमक्षिकाओं के प्रति उनमें सूक्ष्म व्यंग भी है। उन्होंने जहां विज्ञान के प्रकाश की आवश्यकता दिखाई है वहां उसके शेषण पर निर्दय प्रहार भी किये हैं। सदा उन्होंने विलास और भोग पर कर्त्तव्य एवं त्याग की श्रेष्ठता स्थापित की है।

प्रेमचंद ज़िन्दाबाद !

श्री रामवृक्ष बेनीपुरी

करीब दस वर्ष पहले की बात।

काशी। कम्पनीबाग के निकट का वह चौराहा। एक साधारण-सा व्यक्ति खड़ा। कद, पोशाक, खड़ा होने का ढंग–सभी साधारण। सिर खाली। जिनमें विशुद्ध आर्यत्व की वंश-परम्परा-सूचक ललाई अभी नहीं खोई, वैसे अस्त-व्यस्त बाल, हवा के झोंके से उड़ रहे। जिन्दगी की कितनी धूपछांहों के चिह्न लिए गोरा चेहरा। ललाट में कितनी सीधी रेखाएं–गालों पर कितनी सिकुड़न। बे-तरतीब-सी मूंछें। दाढ़ी मानो कई दिनों से नाई की प्रतीक्षा में। शरीर में कमीज–जिसके ऊपर के दो बटन खुले हुए। एक हाथ में छाता। एक हाथ से कभी वह उड़-उड़कर ललाट से छेड़खानी करने वाले बालों को सम्हाले, या बिगडैल मूंछों को। साफ-सी दिखने वाली धोती। साधरण-सा ही जूता।

वह उत्सुक आंखों से एक ऐसे एक्के की तलाश में हैं जिस पर सवारी की एक ही जगह बची हो और जो छावनी की ओर जाता हो।

जब भाई शिवपूजनी ने बताया कि यही हैं हिन्दी के उपन्यास-सम्राट् प्रेमचंदजी, तब मुझे कम आश्चर्य नहीं हुआ। क्योंकि तब मैंने साहित्य-क्षेत्र में तुरत-तुरत पैर रखा था और इसे सोने और शहद से भरा-पूरा समझ रहा था। उपन्यास-सम्राट और इस सीधे-सादे वेष में ! यह तो अब समझ रहा हूं कि लक्ष्मी और सरस्वती की सौतियाडाह वाली नानी की कहानी में कितना सत्य है।

इसे बाद लगभग दो वर्षों तक, प्रेमचंदजी से प्राय: भेंट होती। मैं 'बालक' के सम्पादन और छपाई के सिलसिले में ज्यादातर काशी ही रहता और प्रेमचंदजी वहीं अपना सरस्वती प्रेस चलाते। प्रेस की हालत अच्छी नहीं थी। प्रेमचंदजी उसे ठिकाने पर लाने के लिए काफी मिहनत करते। दस बजे दिन से शाम तक पिले-से रहते। उस समय मेरा सम्बन्ध एक बड़े पुस्तक-प्रकाशक से था। मैं उन्हें काफी काम देता। हम दोनों में कुछ ऐसी घनिष्टता हुई कि एक बार

सरस्वती-प्रेस का प्रबन्ध-भार मुझ पर लादने को भी वह तैयार हो गये थे। अभी उस दिन श्रीयुत प्रवासीलाल वर्मा जी ने जब पटना में भेंट की और इस प्रसंग की चर्चा की, मैंने कम विकलता का अनुभव नहीं की। आह, यदि प्रेमचंदजी की सेवा के उपयुक्त अपने को पा सकता ! मेरा खयाल है, किसी अच्छे सहकारी या सेवक के अभाव के कारण अत्यधिक मिहनत और चिन्ता करने से ही प्रेमचंद पर मृत्यु का वार इतनी जल्दी हो सका। सचमुच जब कभी सोचता हूं कि प्रेमचंद ऐसे कलाकार को भी तंगदस्ती और झंझकों से इतनी लड़ाइयां करनी पड़ीं, तब अपने साहित्य के विकास की अवस्था का अन्दाजा लगा पाता हूं। उफ, अभी हमारे लिए दिल्ली बहुत दूर है !

उस पहली मुलाकात से, करीब-करीब उनकी मृत्यु के कुछ दिनों पहले तक, मेरी उनकी अच्छी जान-पहचान रही। खत किताबत रही और जब-तब उनके दर्शन भी कर आता।

पहले मैंने घनिष्टता की चर्चा की है, किन्तु मेरी घनिष्टता सदा घनिष्टता रही, जो किसी देवता और उसके पुजारी में होती है। मैं उन्हें हिन्दी की, जो अभी पूरी विकसित भी नहीं हो पाई, कला का साक्षात् अवतार मानता और उस कला के एक उपासक की तरह इस अवतार की मानसिक पूजा करता। यही कारण है कि मैं उनके मित्र की तरह उनके दिल में बैठकर उन बातों को नहीं ले पाया, जिनके आधार पर उनके मनस्तत्व की अच्छी-सी तस्वीर खींच सकूं। उनके बारे में मैं ज्यादा-से-ज्यादा जो कह सकता हूं, वह यही कि साधारण-सा पड़ने वाला यह आदमी, आदमी की हैसियत से भी, साधारण नहीं था। उसकी इस साधारण-सी सूरत-शकल के अन्दर एक महान् आत्मा छिपी थी। आप उसे गुदड़ी में लाल कहो, या मेरी भाषा में, राख से ढंकी चिनगारी कहो। सभी महान् पुरुषों की तरह वह सीधा-सादा था, इसीलिए वह इन झंझटों में रहा, लोगों ने उससे फायदे उठाये, उसे धोखे तक दिये--वरना, वह भी एक ठाठ की जिन्दगी बसर करता, दुनियवी नजरों उसकी चकाचौंध का लोहा मानतीं। किन्तु उसके इस सीधेपन में एक बांकपन भी था--जो सभी असाधारण पुरुषों में पाया जाता है। इसी बांकपन ने उसे समाज, सरकार और पूंजीवाद से दो-दो मोर्चे लेने को प्रेरित किया। उसके हाथ में कलम थी, तो क्या हुआ? वह भोला था। जब उसने देखा, समाज उसके प्रेम-सम्बन्ध में बाधक हो रहा है, उसने उसे जाकर ठोकर लगाई। जब देखा, सरकार अनीति की राह पर बेधड़क बढ़ती जा रही है, उसने उससे सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। जब देखा, शुद्ध साहित्य के क्षेत्र में भी पूंजीवाद अपना विषैला प्रभाव जमाये जा रहा है, उसने उसके खिलाफ युद्ध किया। अपना प्रेस, अपना प्रकाशन। क्या वह इनसे पैसे बटोर कर मालामाल होना चाहता था? गलत बात। यदि यह कामना उसकी होती तो आज 'सरस्वती-प्रेस' और 'हंस'-का कार्यालय किसी दूसरी ही रूप में होते। मैं वैसे लोगों को जानता हूं, जो कि रद्दी चीजों का प्रकाशन करके लाखपति बन गये। फिर प्रेमचंद का क्या कहना? किन्तु यहां तो उसका बांकपन था--टूट जाय, पर मुड़े नहीं--यह अड़, यह टेक!

किन्तु, उसकी महानता, उसकी साधारणता का सबसे बड़ा सूचक है उसकी कला। हिन्दी-साहित्य की विकास-धारा की दूरी जानने के लिए जो कुछेक 'मील के पत्थर' हमें गिनने पड़ते हैं। उनमें एक जो हमारे सबसे निकट का है, हम प्रेमचंद के नाम से अभिहित करते हैं। हमारे हिन्दी इतिहास--लेखकों ने हमारे साहित्य के काल-निर्देश में मनमाने ढंग से काम लिए हैं। उसकी कोई वैज्ञानिक भित्ति नहीं। साहित्य हमारे समाज का दर्पण है। सरह (हिन्दी के आदि-कवि)

से लेकर आज तक हमारा साहित्य इस दस-बारह सौ वर्षों के हमारे समाज की जीती-जागती तस्वीर है। समाज (इस महान् शब्द 'समाज' के अभ्यन्तर देश भी निहित है) जिस तरह सोया, जिस तरह करवटें बदलीं, कभी उठा, कभी फिर चादर तानकर सो गया। ठोकरों ने जिस तरह उसे फिर जगाया और आज वह जिस कशमकश में है, सबके अलग-अलग चित्र हमारे साहित्य में भरे पड़े हैं। सरह, चन्द, कबीर, तुलसी, सूर, बिहारी, भूषण, हरिश्चन्द, प्रेमचंद–जिस दिन आप अपने साहित्य का काल-विभाग वैज्ञानिक भित्ति पर करेंगे, इन्हीं को आधार मानकर आपको चलना पड़ेगा। सरह–हमारा समाज बौद्धधर्म की से हटकर तंत्रवाद का पूजक है, दुनिया-रहस्यमय, सबसे रहस्यमयी नारी। चन्द–बौद्धधर्म की प्रतिक्रिया रूप क्षात्रधर्म, किन्तु विलासिता साथ-साथ। तुलसी–नश्वरता पर भक्ति का पुट। सूर–भक्ति में शृंगार का पुट। बिहारी–शृंगार ही शृंगार, यानी विलास की घोर दौरदौरा। भूषण–फिर एक जागरण, किन्तु क्षणिक, विलास बना रहा। हरिश्चन्द–एक नई शक्ति ने नई ठोकरें लगाईं, 'जागो जागो रे भाई' की पुकार! प्रेमचंद–हमारे पीड़ित समाज में एक नये वर्ग की अगवानी की सूचना। और, चूंकि यह नया वर्ग एक बिल्कुल नये समाज के पुनर्गठन की सूचना देता है, अतः इसमें भी प्रेमचंद की महत्ता कहीं अधिक व्यापक है, सरह से लेकर हरिश्चन्द्र तक यद्यपि कितने उत्थान-पतन हुए हैं किन्तु इनका नतृत्व एक ही वर्ग के हाथ में रहा है। प्रेमचंद की रचनाएं एक बिल्कुल नये वर्ग के नेतृत्व का आभास देती हैं। अतः यह भी सम्भव है कि जब कुछ शताब्दी बाद हिन्दी का इतिहास लिखा जाय तो हमारे साहित्य को दो भागों में बांटा जाय, एक वह जिसका प्रारम्भ सरह से होता है और दूसरा वह जिसका प्रारम्भ प्रेमचंद से होता है।

मैं जानता हूं, कुछ लोग मेरे इस काल-विभाग पर नाक-भौं सिकोड़ेंगे, कुछ लोग कहेंगे प्रेमचंदजी के बारे में यह अतिशयोक्ति मैं उनकी मृत्यु-जनित भावुकता के कारण कर रहा हूं। मैं मानता हूं कि प्रेमचंदजी के प्रति मेरी भक्ति भावुकता से खाली नहीं है। भावुकता को मैं ऐसी बुरी चीज नहीं मानता कि अपने को इससे बचाऊं। मैं यह भी मानता हूं उनकी मृत्यु ने मुझे बहुत ही मर्माहत किया। किन्तु यह निश्चय जानिये, मेरा उपर्युक्त कथन, भावुक भक्त की आवेश-वाणी मात्र नहीं, उसमें तथ्य है। हां, इस तथ्य को जानने के लिए आपका साहित्य, कला, नीति, आदि को एक नई नजर से देखना–परखना होगा। पर, यह स्थान नहीं कि उस नुक्तये नजर के बारे में कुछ विस्तार से कह सकू।

संक्षेप में यों समझिये। हमारे हिन्दी-साहित्य का जन्म उस समय हुआ जब भारत सामन्तशाही युग से गुजर रहा था। संयोगवश देशी सामन्तशाही बहुत बिखरी, ढीलीढाली थी। कुछ विदेशी कबीले इस पर टूटे। दोनों लड़े। विदेशियों की विजय प्राप्त की। तहज़ीब–सामंतशाही तलवार, जीती, वहां हारे हुए लोगों की तहजीब ने उन पर विजय प्राप्त की। तहज़ीब–सामंतशाही तहजीब। कुछ दिनों तक दोनों में खूब घुटा। पर फिर कशमकश शुरू हुई–इतने ही में एक तीसरा कूद पड़ा। वह इन दोनों से मजबूत था, क्योंकि वह उनके युग से गुजर कर आगे के युग में पैर रख चुका था–यानी, यह तीसरा, सामंतशाही के बाद के वर्ग (पूंजीशाही) का प्रतिनिधि था। पूंजीशाही जीती, सामंतशाही हारी। पूंजीशाही के दौरदौरे शुरू हुए। इसने सामंतशाही की ठठरी कहीं-कहीं भले ही रख छोड़ी हो–(जैसे बिहार, बंगाल, यू पी० में) किन्तु उसने उसका सत्त जरा भी नहीं छोड़ा। यही नहीं, इस पूंजीशाही का पेट केवल इतने ही से नहीं भर सकता था–इसने आम शोषण शुरू किया। जिसका फल हुआ देश में ऐसे दो वर्ग का उदय, जो थे तो

अनादि काल से ही किन्तु जिनकी ओर हमारा ध्यान ही नहीं गया था। पूंजीशाही जिस प्रकार सामन्तशाही की ही पितृ-भक्ष औलाद है, उसी तरह यह मजूर-किसान वर्ग पूंजीशाही की पितृ-घाती सन्तान है।'

अब अपने साहित्य को देखिये। वह आज तक सामन्तशाही को ही केन्द्र-बिन्दु मानकर अपना क्रीड़ा-कौतुक देखाता रहा। चाहे हम किसी दशरथ राजा के बेटे की गाथा गायें या किसी शाहाजी के पुत्र शिवाजी की, पृथ्वीराज हों या अकबर, थे तो एक ही वर्ग के। कामुक जयपुर नरेश हों या काशी के कोई महाराज, या न कोई मिला तो स्वयं बेचारे श्रीकृष्ण तो हैं ही, उन्हीं के सिर पर खेल लीजिए। पर इन्हीं सबके बीच एक ही वर्ग का सिलसिला है, स्थान, काल, पात्र से थोड़ विभेद के अनुसार। किन्तु, इस युग का तो खात्मा हो गया। अब तो युग पूंजीशाही का है। पूंजीशाही का यश गाइये या उसकी विद्रोही सन्तान किसान मजूर का। यदि आप प्रगतिशील हैं, तो आप किसान मजूर को ही अपना पात्र बनायेंगे। प्रेमचंदजी ने यही किया। यही उनकी कला की सबसे बड़ी खूबी है, जो उन्हें सदा के लिए अमर रखेगी। इस दृष्टि से देखिये, तभी आपको यथार्थ रूप में मालूम हो सकेगा, प्रेमचंद कितने महान् कितने आसाधरण थे। आप उन्हें साहित्यिक नवयुग का अग्रदूत मज़े से कह सकते हैं।

और, जब आप यह देखेंगे कि इस वर्ग के इस प्रथम कलाकार ने ही अपनी कला को कितनी मोहक, आकर्षक ओर रंगीन बना पाया, तब तो आपको और भी ताज्जुब होगा। जिन्हें हम गूंगा मूक समझते थे, उन्हें उसने जुबान दी, जिन्हें हम अंधा सूर समझते थे, उसकी आंखों में उसने नूर बख्शी। झोंपड़ियों की कौन बात, खेत की मेंड़ पर बनी मड़ैयों तक को उसने बोलना, हंसना, प्यार करना, रोना सिखलाया। हमारे विविधता-पूर्ण समाज की इस निचली तह में भी विविधता की कमी नहीं, प्रेमचंद की कला ने स्पष्ट कर दिया। उनकी कहानियां देखिये, पता चल जायगा। उनकी अन्तिम रचना 'गोदान' के एक-एक पात्र—स्त्री और पुरुष—इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। गरीबों के भी दिल होते हैं, वे भी प्रेम करते हैं, प्रेम के लिए कुर्बानियां करते हैं, उनमें भी सहानुभूति और समवेदना होती है, जो धनियों की सहानुभूति और समवेदना की तरह उथली, केवल जुबान की नहीं होती। उनमें भी मान और सम्मान का ख्याल होता है और उस पर आघात किया जाय, तो जान लड़ाकर भी उसकी रक्षा वे करेंगे। हां, जिन्हें हम नर-कंकाल समझते हैं, उसमें भी जोश है, गरम खून है, प्रतिरोध की भावना है, लड़ने की ताकत है, बलिदान का माद्दा है—इत्यादि बातें आप प्रेमचंदजी की कला में भरी पड़ी पायेंगे।

प्रेमचंद उस युग में हुए, जब हमारा समाज, हमारा देश एक बड़े संक्रान्ति-काल से गुजर रहा है। बड़ी-छोटी शक्तियां आपस में टकरा रही हैं, जिनकी टक्कर वायुमण्डल को बेतरह विक्षुब्ध किये हुए है। कभी एक खास जगह में, एक महाभारत हुआ। आज तो ऐसे महाभारत, संसार को छोड़िये, हमारे देश के कोने-कोने में हो रहे हैं। इन महाभारतों के सजीव चित्रण के लिए हमें एक वेदव्यास चाहिए था। प्रेमचंद हमारे इस युग के वेदव्यास थे। 'सेवा-सदन' से 'गोदान' तक पढ़ जाना, हमारे इस युग के इतिहास को पढ़ जाना है। वैसा इतिहास, जो तारीखों और व्यक्तियों पर निर्भर न करके, उस अन्तर्धारा का सजीव चित्रण करता है, जो समाज की रीढ़ हैं।

उस साधारण झुर्रीदार चेहरे के अन्दर, बेतरतीब मूंछ और कुछ उभड़ी-सी भवों के बीच,

जो मामूली आंखें थीं, वे कितनी सूक्ष्मदर्शी, पारदर्शी थीं। इसका पता तब लगता है, जब हम उनके पात्रों पर विचार करते हैं। राजकुमार से लेकर भिखमंगों तक, खूंखार सरहदी से लेकर भोलेभाले यू॰ पी॰ के किसान तक, खानाबदोश जिप्सियों की शोख औरतों से लेकर शत-शत आंखों पर नृत्यशील नर्तकियों तक—अजी, केवल मानवों की क्या बात घोड़ों, बैलों तक को उसने अपनी रचनाओं के पात्र बनाया किन्तु उनका चरित्र-चित्रण कितना सच्चा, कितना स्वाभाविक, कितना योग्य हो गया है। पूंजीपति, जमींदार, किसान, मजदूर, हिन्दू, मुसलमान, क्रिस्तान, बूढ़ा, जवान, बच्चा; खोमचे वाला, कलन्दर, संपेरा; दानी-सूक्ष्म, राजा-रंक, गृहिणी-भिखमंगिन, ब्राह्मण-चमार, होली-ईद, अट्टालिका-झोंपड़ी—जो जहां है, अपनी जगह पर है, अपनेपन के साथ है। कहीं भी अस्वाभाविकता, बनावट का नाम नहीं। यदि दृष्टि से देखिये, तो वह संसार के कलाकारों में अपनी एक खास जगह रखता है।

प्रेमचंद को, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, केवल कलाकार का नहीं एक योद्धा का जीवन भी व्यतीत करना पड़ा। उसका बहुत-सा समय इस युद्ध में ही बीता। जब मैं दस बजे से पांच बजे तक उसे प्रूफ देखते, या प्रेस की दूसरी झंझटों को सुलझाते देखता, फिर उसकी रचनाओं को देखता, मुझे आश्चर्य होता, वह कब समय बचाता है जो इतना लिख पाता है। जिन्दगी में उसका ऐसा बहुत कम समय बीता जब एकमात्र साहित्य-निर्माण ही उसका पेशा हो। कभी स्कूल-मास्टरी, कभी प्रेस-मैनेजरी, कभी सम्पादकी, कभी पत्र-संचालन, कभी फिल्म निर्माता, यों सदा किसी न किसी पेशे में वह जुता रहा। तो भी, यदि उसकी कृतियों को आप परिमाण (Quanatity) के ख्याल से भी देखिये तो आश्चर्य होगा। मालूम होता है, उसके इस छोटे शरीर का जर्रा-जर्रा साक्षात् प्रतिभा था। यों तो उसकी स्वतंत्र, मौलिक रचनाएं भी आजकल के हमारे किसी साहित्यकार की कृतियों से, परिमाण के ख्याल से भी, बाजी मार सकती हैं, फिर यदि हम उसमें उसके द्वारा अनूदित और संकलित ग्रन्थों को भी जोड़ दें तो वह अनायास ही बेजोड़ बन जाता है।

प्रेमचद अपने उपन्यासों और कहानियों के लिए मशहूर है। कुछ लोगों का कहना है, उपन्यासों की अपेक्षा वह कहानी लिखने में ज्यादा सफल हुए। यों ही कुछ लोग कहा करते हैं कि उनकी कुछ चीजें बहुत ही शिथिल और उनके नाम के अनुरूप नहीं। पहली बात का जवाब देना फिजूल है—यह तो अपनी-अपनी रुचि की बात है। कोई छोटी चीजें पसन्द करता है, किसी की तृप्ति बड़ी चीजों से ही होती है। हां, एक बात और भी है। प्रेमचंद के प्राय: सभी उपन्यास समस्या-मूलक हैं। हमारी समस्याओं को लेकर उन्हें उनके यथार्थ रूप में दिखाना, उन समस्याओं के चलते उत्पन्न हुई गुत्थियों को अलग-अलग करके समझाना और फिर उन गुत्थियों के सुलझाव का अपना एक तरीका पेश करना—प्रेमचंद के प्राय: सभी उपन्यासों का यही मूल उद्देश्य है। दृष्टिकोण के भेद से समस्याओं के रूप, फल और सुलझाव के बारे में भिन्न-भिन्न रायें हो सकती हैं; उन रायों की विभिन्नता से उपन्यासकार के प्रतिपादन-प्रणाली पर हमें सहानुभूति या विरक्ति भी हो सकती है। फलत: उन उपन्यासों के बारे में रायें अलग-अलग हो सकती हैं। किन्तु उपन्यासकार की सफलता उसकी कृतियों के 'विषय' पर भी निर्भर नहीं माननी चाहिए, उसकी सफलता की मुख्य कसौटी है, 'चरित्र-चित्रण।' 'सुमन' (सेवासदन), 'सूरदास' (रंगभूमि) या 'होरी' (गोदान) की जिन्दगी की फिलासफी पर मत जाइए, देखिए, जहां जिस रूप में इनके कार्य हुए हैं, उनमें अस्वाभाविकता तो नहीं है। और, इसमें भी एक

बात तो खयाल में रखिए ही कि प्रेमचंद 'कला कला के लिए' वाले बे सिर पैर के जीव नहीं थे, वे आदर्शवादी लेखक थे, अत: साधारण कमजोरियों से अपने पात्रों को ऊपर उठाए रखना उनका कर्त्तव्य था।

अब दूसरी बात पर आइये उनकी कुछ रचनाएं मामूली हैं। मैं भी इस बात को मानता हूं। कभी-कभी मुझे भी इस बात पर झिझक हुई है। किन्तु, इसमें एक बात याद रखनी है कि प्रेमचंदजी को किस परिस्थिति में रहकर ये रचनाएं करनी पड़ीं। एक तरफ जीवन-युद्ध की वह झकझोर, दूसरी ओर आवश्यकतओं की चाबुकबाजी और तीसरी, मानो जले पर नमक, मेरे आपके ऐसे वे लोग जो अपनी पत्र-पत्रिकाओं के नाम पर और गरिमा को ऊपर उठाये रखने के लिए, उन्हें मुफ्त लिखने को, तकाजे के मारे नाकों दम किये रहते। यदि आप उच्चकोटि की चीजें ही चाहते हैं, तो पहले अपने कलाकारों की जिन्दगी को तो ऊंचा उठाइये, केवल थोथे आलोचक बनने से क्या होगा? प्रेमचंद ही की क्या बात—आज हिन्दी जगत् में दो-चार को छोड़कर, अन्य कलाकारों की जो हालत है, यदि उस पर ध्यान दिया जाय, तो रोंगटे खड़े हो जायं। धन्य मानिये जो इतने पर भी कुछ अच्छी चीजें आपको मिल जाती हैं।

प्रेमचंद की कला, जैसा कि मैं पहले कह चुका हूं, कि हमारे साहित्य के उस क्षेत्र में प्रवेश करने की सूचना है, जो अब अछूता रहा। यदि हम पारिभाषिक शब्दों की शरण लें, तो प्रेमचंद हिन्दी के प्रथम जन-साहित्य-निर्माता थे। हमारा साहित्य आज तक जमातों (Classes) का चरण-चुम्बन करता रहा, अब वह जनता (Masses) को अपना जीवन-संगी बनाने जा रहा है। प्रेमचंद हमारे साहित्य के इस महान् विच्छेद (Great departure) के स्तूप थे। इस बात ने जहां उन्हें साहित्यिक विकास कि इतिहास में एक अनुपम स्थान दे रखा है, वहां, इसके चलते उनकी रचनाओं में एक गड़बडझाला भी है, जिसे हम लोग, जो उनके साहित्यिक वशधर हैं नहीं भूलें। स्वभावत: और मुख्यत: प्रेमचंदजी जन-साहित्य के निर्माता थे, किन्तु इनकी रचनाओं में हम सामन्तशाही युग की कुछ अस्फुट झलक भी पाते हैं। ऐसा होना स्वाभाविक भी था। हमारी जनता में अब तक की चेतना अपनी प्रस्फुटित नहीं हुई और न हम जनसवियों का आदर्शवाद ही उतना निखर पाया है कि इसके पूर्व युग के अवशिष्टांश की कोई छाया हम पर न पड़े। अत: हमारी रचनाओं में कुछ ऐसा गडबड़झाला होना कोई गैरमामूली बात नहीं। मैंने स्वयं प्रेमचंदजी से इसकी चर्चा की थी, उन्होंने अपनी नई रचना 'गोदान' तक प्रतीक्षा करने को मुझे आदेश दिया था। 'गोदान' निस्सन्देह ही, इस दृष्टि से, उनकी पूर्व रचनाओ पर तरजीह पाने योग्य है, किन्तु वहां भी वह 'निखार' नहीं। जो लोग जन-साहित्य के निर्णय में प्रेमचंद जी के पद-चिह्नों पर चलने वाले हैं, उन्हें चाहिए कि अपने उस महान नेता के अधूरे काम को उनके अनिवार्य परिणाम तक पहुंचाएं।

यहां एक बात की और चर्चा कर देना जरूरी है। वह है भाषा के बारे में। प्रेमचंद ने हमें केवल जनता का साहित्य ही नहीं दिया, वरन् वह साहित्य कैसी भाषा में लिखा जाना चाहिए, उसका भी पथ-निर्देश किया है। जनता क्षरा बोले जाने वाले कितने ही शब्दों को, उनकी कुटिया-मुड़ैया से घसीट कर वही सरस्वती-मन्दिर में लाये और यों ही, कितने अनधिकारी शब्दों को, जो केवल बड़प्पन का बोझ लिए हमारे सिर पर सवार थे, इस मन्दिर से निकाल बाहर किया। हमें इस पथ पर भी आगे बढ़ना है।

यों चाहे जिस दृष्टि से देखिये—साहित्य में नवयुग के निर्माता के रूप में, उत्कृष्ट कोटि के कलाकार के रूप में, साहित्य-भंडार को बड़े परिमाण से पुष्टिकारण के रूप में, प्रेमचंद महान् थे, अति महान् थे। कोई भी साहित्य उनके ऐसे सुपूत को पाकर अपने को धन्य, कृतकृत्य मान सकता था और उसको अपनी हथेलियों पर लेकर इतराये फिर सकता था। किन्तु, खेद है, उन्होंने एक ऐसे साहित्य के लिए अपने को निछावर किया, जहां गुटबन्दों, मक्कारों और उजड्डों का बोल-बाला है, जिन्होंने उनको पूर्ण रूप से सम्मानित ही नहीं होने दिया, यही नहीं, वरन् उन्हें तंग किया, चिढ़ाया, कुढ़ाया। प्रेमचंद ने हिन्दी के साथ उर्दू भी लिखा। जब उर्दू वालों से मिलने वाले उनके सम्मान को देखते हैं, तो अपनी इस भाषा और भाषियों पर कुढ़न और चिढ़ होने से अपने को हम रोक नहीं पाते। प्रगतिशील लेखक संघ का हिन्दुस्तानी-सम्मेलन प्रयाग में हुआ था, जिसका सभापतित्व करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था। मैं वहां देख सका कि हमारे मुसलमान-दोस्त प्रेमचंद की मृत्यु पर कितने दुःखी हैं और उनकी स्मृति-रक्षा के लिए कितने उत्सुक। प्रगतिशील-लेखक-संघ की एक बैठक जो दिल्ली में हाल ही हुई थी, उसमें भी अपने मुसलमान-दोस्तों की छटपटाहट इस बारे में देखी। प्रेमचंदजी के मुंह से ही उसके जीवन-काल में, जान पाया था कि बड़े-से-बड़े मुसलमान नेता उनकी कदर कितनी करते थे। स्वर्गीय मौलाना मुहम्मद अली प्रेमचंदजी के बड़े प्रशंसकों में थे और उनसे सदा खत किताबत रखते थे।

किन्तु, अब जरा हिन्दी—अपनी इस 'राष्ट्रभाषा' की ओर आइये। हमारे साहित्य-क्षेत्र में सम्मान-प्रदर्शन के दो मौके हैं—हिन्दी-साहित्य सम्मेलन का सभापतित्व और मंगलाप्रसाद परितोषिक। प्रेमचंदजी इन दोनों से महरूम रखे गये—नाना तरह के प्रपंचों और बेइमानियों की शरण कुचक्रियों ने इसके लिए ली। राजनीति में जातपांत का विष तो जर्जर और मुमूर्षु बना ही रहा है, साहित्य में भी इसका कितना कुप्रभाव है यह मैंने प्रेमचंदजी के ही प्रसंग में देखा। मेरे यू. पी. के दोस्त—खासकर प्रयाग के दोस्त माफ करें, उन्होंने जो इस सम्बन्ध में पाप किये हैं उसका कोई भी प्रायश्चित नहीं है। मेरे कानों में वह वाक्य गूंज रहा है, जो हिन्दी-सम्मेलन के एक बड़े अधिकारी ने ब्राह्मण होते हुए, मुझसे कहा था—'बनीपुरी जी, आप इन कायस्थों के चक्कर में आते हैं, आप तो ब्राह्मण ठहरे!' उफ, कहां सरस्वती का सात्विक मन्दिर और कहां यह ब्राह्मण, कायस्थ, राजपूत आदि का भेद-भाव।

यों जिन्दगी भर तो उन्हें, 'भारतीय आत्मा' के शब्द में, 'उपेक्षित' रखा ही गया, उनकी मृत्यु के बाद भी उनकी स्मृति-रक्षा के लिए हमने क्या किया। देश पूज्य बाबू राजेन्द्रप्रसादजी की इच्छा रहते हुए भी उनके सभापतित्व काल में सम्मेलन अपने केंचुल को नहीं छोड़ सका। आंसू पोंछने के लिए प्रेमचंद दिवास मनाया गया, किन्तु वह भी बिना किसी खास कार्यक्रम का, मानो बेगारी टाल दी गई।

किन्तु हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ही तो सब कुछ नहीं है। प्रेमचंद के प्रशंसकों का कर्त्तव्य है, कि वे स्वतन्त्र रूप से कुछ करें। श्रीयुत जैनेन्द्रकुमारजी और 'आज'-सम्पादक पराड़करजी के संयुक्त मन्त्रित्व में एक ऐसी संस्था बनी थी। किन्तु, साफ कहने के लिए माफ किया जाय—जैनेन्द्रजी की स्वप्न-दर्शिता और पराड़करजी की सम्पादन-व्यस्तता के कारण यहां भी कुछ नहीं किया जा सका। यों तो प्रेमचंदजी को जल्दी भूला नहीं जा सकता, किन्तु स्मृति-रक्षा के लिए मृत्यु के बाद ही सचेष्ट होने से कार्य सम्पादन में सहूलियत होती है—भावावेश

में लोग जी खोलकर सहायता करते हैं। हमने यह मौका खो दिया, यह अफसोस की बात है।

पर देर होने पर भी यह काम तो हमें करना ही है। जैसा कि पहले कह चुका हूं, प्रगतिशील लेखक संघ की बैठक हाल ही में हुई थी। उसमें प्रेमचंद-स्मृति-रक्षा के बारे में विस्तार से बातचीत हुई और अन्त में इसके लिए तीन आदमियों की समिति बनाई गई, जिसमें एक मुझे भी रखा गया है। मेरा ख्याल है कि प्रेमचंदजी के प्रशंसकों एवं इस समिति में काफी सहयोग होना चाहिए और मिलजुल कर एक ऐसी चेष्टा करनी चाहिए कि जो देर हो चुकी सो हुई, अब तत्परता से कार्य शुरू हो।

स्मृति-रक्षा का क्या रूप हो?

मैं सबसे पहले कह दूं, जैनेन्द्रजी की जो स्कीम सर्वेंटस ऑफ इन्डिया या पीपुल सुसाइटी की तरह एक साहित्यिक संस्था प्रेमचंद जी की स्मृति में कायम करने का है, मैं उसका विरोधी हूं। किन्तु, अपने विरोध के कारणों पर मैं ज्यादा स्थान नष्ट नहीं करना चाहता। मैं अपनी योजना ही प्रेमचंद के प्रशंसकों और पूजकों के निकट रखता हूं।

सबसे पहले तो प्रेमचंद की रचनाओं का जनता में अधिकाधिक प्रचार करने की कोशिश होनी चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि प्रेमचंद जी की कृतियों का सस्ता-से-सस्ता संस्करण निकलना चाहिए। दूर की बात जाने दीजिए, बंगला में ऐसे प्रयत्न सफलतापूर्वक किए गए हैं, दो-ढाई रुपये में हम बंगला के उत्कृष्टतम लेखकों की पूरी कृतियां मजे से प्राप्त कर ले सकते हैं। प्रेमचंद की कृतियां, परिमाण के खयाल से भी, बहुत व्यापक हैं। अत:, हम सहूलियत के लिए उन्हें कई भागों में निकाल सकते हैं—एक भाग में उनके सभी उपन्यास, दूसरे भाग में उनकी सभी कहानियां, तीसरे भाग में उनके लेखों, व्याख्यानों आदि का संग्रह, चौथे भाग में उनके द्वारा अनूदित सभी चीजें। एक भाग ऐसा भी निकाला जाना चाहिए जिसमें प्रेमचंदजी की पूरी जीवनी, उनके प्रति लोगों की श्रद्धांजलि, उनकी कला की खूबियों पर अच्छे-अच्छे लेख आदि हों। यदि हमने यह तय कर लिया, तो प्रेमचद की स्मृति रक्षा का आधा काम कर लिया।

प्रगतिशील लेखक संघ ने एक बात और सोची थी। हम चाहते हैं कि 'प्रेमचद-पुरस्कार' के नाम से एक खासी रकम का सालाना पुरस्कार देने की व्यवस्था हो। यह पुरस्कार भारत की भिन्न-भिन्न भाषाओं में प्रकाशित कहानियां या उपन्यास की सर्वोत्तम पुस्तक पर दिया जाय। इस पुरस्कार के द्वारा हम लेखकों को उत्साहित करने के साथ ही साथ प्रेमचंदजी की कीर्त्ति को भी भारत-व्यापी बना सकेंगे।

प्रेमचंदजी की कुछ चुनी हुई रचनाओं का भिन्न-भिन्न भारतीय भाषाओं में अनुवाद कराकर उसके प्रकाशित करने की व्यवस्था भी होनी चाहिए। यदि कोशिश की जाय, तो यह बहुत ही आसान है। प्रेमचंदजी की चीजों के अनुवाद करने वाले या प्रकाशित करने वाले, आर्थिक दृष्टि से भी घाटे में नहीं रहेंगे। हां, इसमें सबसे बड़ी शर्त यह है कि चीजों के चुनाव में सावधानी की जाय और अधिकारी स अनुवाद कराकर उसे सजधज कर पकाशित करने की व्यवस्था की जाय। प्रगतिशील लेखक संघ के सहयोग से यह काम मजे में हो सकता है, क्योंकि भारत की प्राय: सभी भाषाओं में उसकी शाखाएं हैं ही।

फिर, प्रेमचंदजी के 'हंस' को चिरस्थायी बनाने का सामान तो होना चाहिए। 'हंस' जन-साहित्य के संदेश-वाहक के रूप में हिन्दी-जगत् के कोने-कोने को अपनी वाणी से

मुखरित और गुंजारित करता रहे। यह प्रेमचंद का सबसे बड़ा स्मारक होगा।

'प्रेमचंद-मन्दिर' के नाम से एक सुन्दर भवन बनाकर उसी में हंस, सरस्वती-प्रेस, प्रेमचंद ग्रंथावली और प्रेमचंद-पुरस्कार का दफ्तर रखे जायं।

और मेरा यह ख्याल है, यदि दो-तीन योग्य व्यक्ति, कम-से-कम दो वर्षों तक, अपना पूरा समय प्रेमचंद-स्मारक के लिए दें, तो इस योजना के पूरा होने में कोई भी संदेह नहीं रहे।

हम प्रेमचंद की कीमत अब भी जान सकें, उसकी कदर करने का शऊर हम में अब भी आये, उसकी स्मृति को हम सदा तरोताजा रखें और उसका पदानुसरण करें, इसी की कामना करता हुआ, मैं अपना यह लेख समाप्त करता हूं। पदानुसरण—किसी भी महापुरुष की स्मृति-रक्षा की सबसे जरूरी शर्त यही है। जन-साहित्य के निर्माण में अपने को बलिहार करते हुए हम, अपने इस स्वर्गीय नेता की पदपद पर जयध्वनि करें। प्रेमचंद मरकर भी अमर हैं। वह युग-युग अमर हैं, बोलिये—

प्रेमचंद जिन्दाबाद !

मेरा भी कुछ खो गया है !

डॉक्टर धनीराम प्रेम

जब तक रुपया हमारी जेब में रहता है तब तक हम उसे अच्छी तरह जानने की कोशिश नहीं करते। जो चीज हमारे निकट है, जो हमारी है, भला उसे भी क्या जानना? लेकिन जब वही रुपया खो जाता है तो हम उसकी एक-एक बात याद करने की कोशिश करते हैं। उसका सन् कौन-सा था, उस पर छाप किसकी थी, आदि सारी बातों की ओर हमारा ध्यान जाता है। यही बात स्वर्गीय प्रेमचंदजी के विषय में हुई है। हिन्दी-संसार ने—और विशेषकर हिन्दी-साहित्यिक संसार ने? उसे जीवन काल में उनका मूल्य न जान पाया, उनका वह आदर न किया, जो उनके योग्य था और जिसके करने से उसके करने वालों का ही गौरव दीखता। मुझे यह देखकर बड़ा कौतुहल और दु:ख होता है कि आज जो उनकी प्रशंसा के पुल बांध रहे हैं और चन्दे एकत्र करने आदि की बातें खूब जोरों से कर रहे हैं, उनमें से बहुतों ने उनके जीवन काल में उन पर नीच से भी नीच लांछन लगाये थे और उनकी टोपी उछालने की कोशिश की थी। खैर, मैं ईश्वर से यही मनाता हूं कि उनके भावों का परिवर्तन सच्चा और स्थायी हो।

बाबूजी के विषय में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। साहित्य, व्यक्तित्व, शिक्षा, गृहस्थी आदि कोई ही ऐसा पहलू शायद बच रहा हो, जिस पर पूर्ण प्रकाश न डाला जा चुका हो। परन्तु उनकी स्मृति में जितनी ही श्रद्धांजलियां चढ़ाई जायं थोड़ी हैं। मुझे उनके साथ रहने और उन्हें समझने का कई बार अवसर मिल चुका है। सन् 1920 म असहयोग के समय तक मैं उनके सारे उपन्यास और कहानियां पढ़ चुका था और उन्हें पढ़कर यह इच्छा बलवती हो गयी थी कि उनसे भेंट करके उन्हीं की तरह कुछ लिखूं। अलीगढ़ के असहयोग-प्रचार का कार्य करने के बाद किसी राष्ट्रीय विद्यालय में फिर से शिक्षा प्राप्त करने का विचार पैदा हुआ। सुना-कानपुर में मारवड़ी विद्यालय के हेडमास्टर श्री प्रेमचंद ही हैं। बस, वहां जाने का निश्चय यहो गया।

मैं समझता था, प्रेमचंदजी बहुत बड़े आदमी होंगे। भला एक साधारण से विद्यार्थी के पत्रों का उत्तर क्यों देंगे। परन्तु साहस करके एक पत्र लिख ही तो दिया और साथ में रख दी, एक अपनी लिखी हुई छोटी-सी कहानी। चार दिन बाद ही उत्तर आ गया और संशोधन के साथ कहानी भी। उत्तर में लिखा था, 'प्रियवर, तुम्हारे पत्र का उत्तर देने में दो दिन की देरी हो गई। वह इसलिए कि गांधीजी मेरे स्कूल में आये थे। तुम कहानियां अच्छी लिख सकते हो। मेरी सलाह है कि कुछ अच्छी अंगरेजी की कहानियां और उपन्यास समय मिलने पर पढ़ते रहा करो।' मुझे अच्छी तरह याद है कि किस प्रकार मैं उस पत्र को अपने मित्रों को दिखाकर प्रेमचंदजी के विशाल हृदय की सराहना करता फिरता था। उस पत्र ने उनके प्रति मेरी श्रद्धा और भी बढ़ा दी और वह शीघ्र ही मुझे कानपुर खींच ले गई। कानपुर में, मेरे दुर्भाग्य से, उनका साथ मुझे अधिक दिनों तक न मिल सका, क्योंकि थोड़े दिन बाद ही वे कानपुर छोड़कर बनारस चले गये और मैं जेल चला गया।

उसके बाद कई वर्ष यों ही बीत गए। जब सन् 1931 में मैं विलायत से लौटकर आया और 'चांद' के लिए कहानी भेजने को एक पत्र लिखा, तो उत्तर आया कि, 'अरे, मैं नहीं जानता था कि अपना धनीराम ही 'डॉ० धनीराम प्रेम, लन्दन' है। तुम्हारी कहनियां पढकर कुछ खिंचाव होता था, लेकिन यह नहीं समझा था कि इसका कारण यह है।' उसके बाद बराबर पत्र-व्यवहार होता रहा। 'चांद' में थोड़े दिन रह कर ही जब में बम्बई आ गया तो मैंने उन्हें लिखा कि मैं साहित्य से अलग होना चाहता हूं। उसके उत्तर में उनका पत्र पहुंचा 'अरे भाई, कही यह हो सकता है कि इतने खेल-खेल कर तुम साहित्य से आसानी से नाता तोड़ दो। मै इस बात का अनुरोध करता हूं कि तुम कम से कम दो घंटे रोज साहित्य के लिए अवश्य दो।' और यह उन्हीं का अनुरोध था कि मैं अन्य कार्यो में फंसे रहने पर भी हिन्दी मे कुछ न कुछ लिखता रहा हूं। नहीं तो शायद अब तक मेरा सम्बन्ध हिन्दी-साहित्य से कभी का टूट गया होता। जहां तक मेरा खयाल है, इसी प्रकार प्रेमचंदजी ने हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में दर्जनों नवयुवकों का प्रवेश कराया और उन्हे वहां जमाया। यह भी हिन्दी के लिए उनकी एक बडी भारी सेवा थी।

जब से उन्होंने कानपुर का मारवाड़ी विद्यालय छोडा था, तब से हम दोनों ने एक दूसरे को देखा नहीं था। इस बात को लगभग 10 वर्ष हो गए थे। मैं सुन रहा था कि किसी फिल्म कम्पनी के लिए कहानी लिखने के लिए प्रेमचंदजी को बम्बई आने वाले हैं। इसकी कोई सूचना उन्होंने स्वयं नहीं भेजी थी। एक दिन बड़े तड़के एक महाशय मोटर लेकर मेरे घर आए और कहा कि 'प्रेमचंदजी आपको बुला रहे हैं।' कुछ विस्मय, कुछ हर्ष और कुछ संकोच के साथ मैं होटल की ओर चल दिया, जहां वे ठहरे थे। यह स्पष्ट था कि गाड़ी से उतरकर होटल में सामान रखा ही गया था कि उन्होंने सबसे पहले मुझे ही बुलाया।

दस वर्ष के बाद फिर उनके दर्शन हुए। मुझे उनमें जरा भी परिवर्तन दिखाई न दिया। वही सादगी, वही मुस्कराता हुआ मुख-मुडल, वही अट्टहास। समय ने शरीर पर चिह्न अवश्य बना दिये थे। मैं समझता था कि वे मुझे पहचान न सकेंगे। क्योंकि दस वर्ष मं मैं बालक से युवक हो गया था और रहन सहन आदि मे बहुत परिवर्तन हो गया था। परन्तु वे मुझे देखते ही पहचान गए। पांच-छ: दिन उनके साथ रहा। मारवाड़ी सम्मेलन तथा कई अन्य संस्थाओं की ओर से उनका स्वागत हुआ। मुझे लगभग सभी सभाओं में शामिल होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था और यह

देखकर मुझे अभिमान होता था कि अन्य भाषाभाषियों के हृदयों में भी उनका कितना सम्मान था।

उन्होंने 'सेवासदन' का फिल्म-अधिकार महालक्ष्मी सीनेटोन को दिया था। मैंने जब उनसे इस विषय में वार्तालाप किया तो मेरा कहना था, 'आप इस सीनेटोन कं० को अपने सब से अधिक लोकप्रिय उपन्यास का अधिकार न दें। क्योंकि मैं नानूभाई वकील आदि को अच्छी तरह जानता हूं। ये लोग आपकी कृति का सत्यानाश कर डालेंगे।'

कुछ देर बाद वे चुप रहे। फिर बड़े दु:ख के साथ बोले—'भाई, तुम तो आर्थिक परिस्थितियों के थपेड़ों से वाकिफ हो।'

मैं चुप हो गया। उनकी बात ठीक थी। साहित्यिक के रूप में उन्होंने क्या कमाया और लोगों ने उनकी क्या कद्र की? संयुक्तप्रांत और दिल्ली के धनकुबेरों ने अपने रुपयों से रद्दी-से-रद्दी फिल्म खरीदकर बम्बई की कम्पनियों को मालामाल कर दिया, परन्तु उनमें से किसी एक ने भी प्रेमचंदजी की कहानियां खरीदकर फिल्म न बनाई। बम्बई में गुजराती और मराठी कम्पनियां बहुधा अपनी भाषा के लेखकों से कहानियां लिखवाकर हिन्दी में अनुवाद करा लेती हैं। लेकिन हिन्दी-भाषा-भाषियों में अपनी भाषा के लिए वह स्वाभिमान कहां?

लोगों ने प्रेमचंदजी की कड़ी आलोचना की थीं, उस फिल्म के लिए, जिसमें उनका हाथ बहुत कम था। उन्होंने केवल अपने उपन्यास का अधिकार बेचा था। दुर्भाग्य से उन्हें ऐसा डाइरेक्टर और सीनारियो लेखक मिला, जो साहित्य से बिल्कुल ही कोरा है। ऐसी हिरोइन मिली, जो सुमन का पार्ट करने के लिए नितान्त अयोग्य थी।

कुछ दिनों बाद प्रेमचंदजी अजण्टा कम्पनी में स्थायी रूप से आ गये और मेरे घर के पास ही रहने लगे। उस एक वर्ष में हम में बिल्कुल घर की-सी बात हो गई। इसके लिए, मैं यह कहे बिना नहीं रह सकता कि, माता शिवरानीदेवी का स्नेहमय व्यवहार ही अधिक स्पष्ट था। इन्हीं दिनों में साहित्य-संबंधी अनेक विषयों पर हममें खूब खुलकर वार्तालाप हुआ, इन्हीं दिनों हम लोगों ने भारत के प्रान्तीय साहित्य की एकता की स्कीम बनाई। उन्होंने 'हंस' को नया स्वरूप दिया और मैंने 'भारत का कहानी साहित्य' प्रकाशित किया।

बम्बई छोड़ने के बाद वे कुछ दिनों के लिए फिर यहां आये थे। वही हमारा अन्तिम मिलन था। सैकड़ों साहित्यिकों ने उनके साथ रहने, उनकी बातें सुनने और उनकी मैत्री प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त किया। मेरा उनसे झगड़ा भी हुआ। उनके प्रेस में छपने के लिए मैंने एक पुस्तक भेजी थी। दो महीने का वायदा था और छ: महीने में भी वह पूरा न हुआ। काफी पत्र-व्यवहार हुआ और कटु शब्दों का परिवर्तन। अन्त में मैंने वह अधूरी पुस्तक वापस मंगा ली। जब सारा झगड़ा समाप्त हो गया, तो उन्होंने मुझे एक व्यक्तिगत पत्र लिखा। वह उनका आखिरी लम्बा पत्र था। इसके बाद एक और पत्र मुझे मिला था, परन्तु उसमें थोड़ी-सी लाइनें ही थीं। उस पत्र में उन्होंने लिखा था, 'इस देरी में मेरा कोई अपराध नहीं था। बात यह है कि प्रबन्ध में मैं बहुत ही कच्चा हूं और दुर्भाग्य से इस कारण मेरे अपनों को ही दु:ख अधिक पहुंचा है, प्रेस में से लोग रुपया खा गये हैं। तुम यहां आकर अगर देख सको तो मेरी मुश्किलों को समझोगे। शायद हम लोगों की किस्मत में कटु शब्द बदलना लिखा था। खैर, अब हमारा व्यक्तिगत सम्बन्ध और भी सुदृढ़ होगा। जब हम मिलेंगे, तो यह धब्बा मिट जायगा।'

धब्बा तो उनके पत्र से ही मिट गया था, परन्तु उनके दर्शन फिर न हो सके। मुझे इस

बात की जीवन भर टीस रहेगी कि उस झगड़े के बाद हम एक बार भी नहीं मिले सके। बम्बई के मारवाड़ी सम्मेलन ने प्रेमचंद-दिवस के लिए जो सभा बुलाई थी, उसके सभापति के पद के आसन पर जब मैं बैठा तो मुझे दु:ख से यह याद आ गई कि उसी सम्मेलन की सभा में उनका स्वागत हुआ था और फिर उसी सम्मेलन की सभा में उनको हम सदा के लिए बिदाई दे रहे हैं।

प्रेमचंद सैकड़ों को स्नेह करते थे, उन्हें भी लाखों प्रेम करते थे। उनका बहुत कुछ खो गया है। जिस साहित्य को उन्होंने बनाया, उसका और माता शिवरानी का तो सर्वस्व ही खो गया है। परंतु मुझ जैसे व्यक्ति भी रोकर यह कह रहे हैं—'मेरा भी कुछ खो गया है।'

स्वर्गीय प्रेमचंदजी

श्री भगवान दास हालना

स्वर्गीय प्रेमचंद जी हिन्दी के एक सच्चे उन्नायक और उसका मुख उज्ज्वल करने वालों में से थे। योग्य सपूत को पाकर हिन्दी वास्तव में गौरवान्वित और धन्य हुई थी। कुछ लोगों का कहना है कि जीते जी सम्मेलन के सभापति बना कर उनका यथार्थ आदर नहीं किया गया। मैं तो यही कहूंगा कि वास्तव में जो देश-रत्न और महान् पुरुष हैं, जिनमें ऊंचे-ऊंचे गुण हैं वे स्वयं आदर रूप हैं, उनका कोई आदर करेगा? लोकमान्य तिलक कांग्रेस के सभापति नहीं बने पर क्या सारा देश अपनी श्रद्धांजलि से उनकी यथार्थ पूजा नही करता था? और अब भी नहीं करता है? इसी प्रकार यदि प्रेमचंद जी सम्मेलन के सभापति होते तो भी सम्मेलन का ही गौरव बढ़ता प्रेमचंदजी का विशेष क्या आदर होता? प्रेमचंदजी की मृत्यु पर उनके देशवासियों ने—विशेषत: हिन्दी और उर्दू के प्रेमियों ने जो सच्चा और हार्दिक शोक प्रकट किया वह वस्तुत: बहुत ही थोड़े साहित्य-सेवकों और देश-रत्न पुरुषों को नसीब होता है। इतना अधिक शोक प्रकाश हिन्दी की सेवा करने वालों में तो शायद बहुत ही कम लोगों के लिए हुआ हो।

प्रेमचंदजी से पहले बंकिमचन्द्र के उपन्यासों से ही हिन्दी अपना मान समझती थी। किन्तु प्रेमचंदजी ने हिन्दी में ऊंचे से ऊंचे मौलिक उपन्यास लिखकर हिन्दी का सच्चा मान बढ़ाया। उनके उपन्यास और कहानियां बड़ी शिक्षाप्रद हैं, वे बे-जोड़ लेखक थे और ऐसी सरल सुंदर और मुहावरेदार भाषा लिखते थे कि देखते ही बनता है। उन्होंने हिन्दी की इतनी अधिक और सुंदर सेवा की है, कि इतनी अधिक पुस्तकें लिखीं हैं कि उसकी प्रशंसा के लिए शब्द नहीं मिलते। वे महान् आत्मा थे, लोगों के हृदयों के मनोविकारों का बड़ा ही सुंदर चित्र चित्रित करते थे। वे अपनी पुस्तकों के पाठकों में ऊंचे से ऊंचे गुण उत्पन्न करना चाहते थे, वे देश के सच्चे सेवक थे, वे हृदय से चाहते थे कि लोग गन्दा और निकम्मा साहित्य न पढ़कर ऐसी उत्तम चीजें पढ़ें जिनसे लोग अपने दुर्गुण छोड़कर अच्छे-अच्छे गुणों को ग्रहण करें वे सदा ऊंचे विचार रखते थे और सादा जीवन व्यतीत करते थे। वे अपने 'हंस' से सच्चा प्रेम करते थे। लोगों ने समझाया था कि वे गवर्मेंट की जमानत से 'हंस' जीवित नहीं रहेगा। प्रेमचंद जी की यद्यपि अर्थिक दशा अच्छी नहीं थी, पर उन्हें 'हंस' से इतना अधिक प्रेम था कि यत्न करके जमानत दे ही दी और

स्वयं मरे पर 'हंस' को नहीं मरने दिया। कुछ काल से वे महात्मा गांधी के संसर्ग में भी विशेष रूप से आये थे और 'अखिल भारतीय साहित्य परिषद' के वे सदस्य थे और महात्मा जी सभापति। यदि प्रेमचंद जी कुछ काल और जीवित रहते तो भाषा और देश की उन्हें और भी गौरव-पूर्ण सेवा करने का अवसर मिलता, इसमें जरा भी संदेह नहीं है। अब लोगों का यही कर्त्तव्य है कि जो ऊंचा रास्ता उन्होंने दिखाया है उसका अनुकरण करें। वे बड़े ही मिलनसार, नम्र, मधुरभाषी, सच्चे और सरल पुरुष थे, जिनका अपने मित्रों और हिन्दी संसार पर बहुत अधिक प्रभाव था। प्रेमचंद जैसे पुरुष-रत्न का, सच्चे साहित्य सेवक का उचित स्मारक बनना चाहिए। इस कार्य में देश के धनी पुरुषों से तो सहायता मिलेगी ही पर मेरी अल्प बुद्धि में हर हिन्दी लेखक और सेवक का यह धर्म होना चाहिए कि इस स्मारक में अपनी सामर्थ्य के अनुसार आर्थिक सहायता देकर प्रेमचंद जी के प्रति प्रेम और श्रद्धा-पूर्ण पुष्पांजलि देना न भूलें। यह संतोष की बात है कि उनकी योग्य धर्मपत्नी श्रीमती शिवरानीदेवी जी उन्हीं के कदमों पर चलकर व अन्य प्रकार के साहित्य की उचित सेवा कर रही हैं। अपनी लेखनी और मन को पवित्र करने के लिए ही मैंने यह छोटा लेख लिखा है।

स्वर्गीय आत्मा की स्मृति में

श्री का० श्री० श्रीनिवासाचार्य

दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा (मद्रास) के चतुर्थ पदवीदान-समारंभ के शुभ अवसर पर उपन्यास सम्राट् बाबू प्रेमचंदजी और श्रीमती शिवरानीदेवी जी के दर्शन करने का सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ था। प्रेमचंदजी का स्मरण करते ही सरलता और सहृदयता की उस प्रतिमा और विलक्षण-शक्ति भरी पैनी दृष्टि की झांकी हमें मिलती है।

'हंस' के पाठकों को प्रेमचंदजी की बीमारी की खबर अगस्त 1936 में ही मिली थी। पर किसे आशंका थी कि उनकी वह रुग्णता यह उग्ररूप धारण करेगी और उस भारतीय विभूति को हमसे इतनी जल्दी, असमय में ही, छीन लेगी।

बाबू प्रेमचंदजी की गणना भारत के उन महान् सयंमशील ऋषियों में है जो अपनी तपस्या का फल जन-साधारण को दे जाते हैं।

दक्षिण भारतीयों पर उनकी कितनी श्रद्धा थी, यह उनके इन वाक्यों से स्पष्ट है—

'अगर मैं यह कहूं कि आप भारत के दिमाग हैं तो वह मुबालगा न होगा। जिन दिमागों ने अंग्रेजी राज्य की जड़ जमायी, अंग्रेजी भाषा का सिक्का जमाया, जो अंग्रेजी आचार-विचार में भारत में अग्रगण्य थे और हैं, वे लोग राष्ट्रभाषा के उत्थान पर कमर बांध लें तो क्या कुछ नहीं कर सकते? और यह कितने बड़े सौभाग्य की बात है कि जिन दिमागों ने एक दिन विदेशी भाषा में निपुण होना अपना ध्येय बनाया था, वे आज राष्ट्रभाषा का उद्धार करने पर कमर कसे नजर आते हैं, और जहां से मानसिक पराधीनता की लहर उठी थी, वहां से राष्ट्रीयता की तरंगें उठ रही हैं। जिन लोगों ने अंग्रेजी लिखने और बोलने में अंग्रेजों को भी मात कर दिया, यहां तक कि आज जहां कहीं देखिये, अंग्रेजी पत्रों के सम्पादक इसी प्रान्त के विद्वान् मिलेंगे, वे अगर

चाहे तो हिन्दी बोलने और लिखने में हिन्दी वालों को भी मात कर सकते हैं।

लक्षण कहते है कि उनके इन वचनों का सफल सिद्ध करने में दक्षिण भारत प्रयत्नशील है और होगा।

'राष्ट्रभाषा के सम्बन्ध में उनके विचार यों थे–'इसे हिन्दी कहिए, हिन्दुस्तानी कहिए, या उर्दू कहिए, चीज एक है। नाम से हमारी कोई बहस नहीं। जीवित भाषा तो जीवित देह की तरह बराबर बनती रहती है। 'शुद्ध हिन्दी' तो निरर्थक शब्द है। भारत शुद्ध हिन्दू होता तो उसकी भाषा शुद्ध हिन्दी होती। यहां तो मुसलमान, ईसाई, फारसी, अफगानी सभी जातियां मौजूद हैं। हमारी भाषा भी व्यापक रहेगी भाषा सुंदरी को कोठरी में बन्द करके आप उसका सतीत्व तो बचा सकते हैं, लेकिन उसके स्वास्थ्य का मूल देकर। उसकी आत्मा स्वयं इतनी बलवान् बनाइये कि वह अपने सतीत्व और स्वास्थ्य दोनों ही की रक्षा कर सके। बेशक हमें ऐसे ग्रामीण शब्दों को दूर रखना होगा जो किसी खास इलाके में बोले जाते हैं। हमारा आदर्श तो यह होना चाहिए कि हमारी भाषा अधिक-से-अधिक आदमी समझ सकें। अगर इस आदर्श को हम अपने सामने रखें तो मिलते समय भी हम शब्द-चातुरी के मोह में न पड़ेंगे। मैं अपने अनुभव से इतना अवश्य कह सकता हूं कि उर्दू को राष्ट्रभाषा के स्टेण्डर्ड पर लाने में हमारे मुसलमान भाई हिन्दुओं से कम इच्छुक नहीं है। मेरा मतलब उन हिन्दू-मुसलमानों से है जो कौमियत के मतवाले हैं।

'यह हम सभी का कर्त्तव्य है कि हम राष्ट्रभाषा का उसी तरह सर्वांगपूर्ण बनावें जैसी अन्य राष्ट्रों की सम्पन्न भाषाएं है। हमें राष्ट्रभाषा का कोष बढाते रहना चाहिए। यह संस्कृत और अरबी-फारसी के शब्द, जिन्हें देखकर आज हम भयभीत हो जाते हैं। जब अभ्यास मे आ जायंगे तो उनका हौवापन जाता रहेगा। भाषा-विस्तार की यह क्रिया धीरे-धीरे ही होगी। इसके साथ विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं क विद्वानों का एक बार्ड बनाना पड़ेगा जो राष्ट्रभाषा की जरूरत के कायल हैं उस बोर्ड में उर्दू, हिन्दी, बंगला, मराठी, तमिल आदि सभी भाषाओं के प्रतिनधि रखे जायं और इस क्रिया का सुव्यवस्थित करने और उसकी गति को तेज करने का काम उनको सौंपा जाय।'

हमार आधुनिक विद्यालयों पर उनके उद्गार बड मार्के के थे–

'हमारे जितने विद्यालय है सभी गुलामी के कारखाने हैं, जो लडकों को स्वार्थ का, जरूरता का, नुमायश का, अकर्मण्यता का गुलाम बनाकर छोंड दन हैं, और लुत्फ यह है कि यह तालीम भी मोतियो के मोल बिक रही है। हमारे पास ऐसे विद्यालय होने चाहिए जहां, ऊंची-से-ऊंची शिक्षा राष्ट्रभाषा में, सुगमता से मिल सके। इस वक्त अगर ज्यादा नहीं तो एक तो ऐसा विद्यालय किसी केन्द्र-स्थान में होना चाहिए।'

वे उस दिन का स्वप्न देख रहे थ, जब राष्ट्रभाषा पूर्ण रूप से अंग्रेजी का स्थान ले लेगी, जब हमारे विद्वान् राष्ट्रभाषा में अपनी रचनाए करेंगे, जब मद्रास और मैसूर, ढाका और पूरा सभी स्थानों से राष्ट्रभाषा के उत्तम ग्रन्थ निकलेंगे, उत्तम पत्र प्रकाशित होंगे और भूमण्डल की भाषाओं और साहित्यों की मजलिस में हिन्दुस्तानी साहित्य और भाषा को भी गौरव का स्थान मिलेगा, जब हम मंगनी के सुंदर कलेवर में नहीं, अपने फटे वस्त्रों में ही सही, संसार के साहित्य में प्रवेश करेंगे। हमें आशा है, प्रेमचंदजी के स्मारक इस दिव्य स्वप्न को यथार्थ रूप में परिणित करने का प्रयत्न करेंगे।

प्रेमचंदजी उन इने-गिने लेखकों में से थे, जिनकी कृतियों का अनुवाद भारत की अन्य-

अन्य भाषाओं में भी हो गया है। इधर 'मणिक्कोडि' आदि पत्रिकाओं में उनकी कई कहानियों का तमिल अनवाद निकल चुका है। प्रेमचंदजी का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास 'सेवासदन' श्रीमती अम्बुजम्माल द्वारा अनुवादित होकर आजकल 'आनन्द-विकटन्' में प्रकाशित हो रहा है।

प्रेमचंदजी की कृतियां यथार्थ और आदर्श के चित्रण से, मनोवैज्ञानिक सत्यों से और प्रेमानुभूति से पूर्ण हैं। एक अलोचक उन्हें यथार्थवादी साबित करते हैं, तो दूसरे आलोचक का कहना है कि वे आदर्शवादी थे। बाबूजी ने स्वयं कहा था–

'मैं यथार्थवादी नहीं हूं। कहानी में वस्तु ज्यों की त्यों रखी जाय तो वह जीवन-चरित्र हो जायगी। शिल्पकार की तरह साहित्यकार का यथार्थवादी होना आवश्यक नहीं, वह हो भी नहीं सकता। साहित्य की सृष्टि मानव-समुदाय को आगे बढ़ाने–उठाने के वास्ते ही होती है। आदर्श अवश्य हो, पर यथार्थवाद और स्वाभाविकता के प्रतिकूल न हो। उसी तरह अगर यथार्थवादी भी आदर्श को न भूले तो वह श्रेष्ठ है। हमें तो सुन्दर आदर्श-भावनाओं को चित्रित करके मानव-हृदय को ऊपर की ओर उठाना है; नहीं तो साहित्य की महत्ता और आवश्यकता क्या रह जायगी?'

प्रान्तीय साहित्यों के राष्ट्रीकरण में वे उद्योगशील रहे और उच्चतम भारतीय साहित्य को विश्व-साहित्य के उच्चतिउच्च आसन पर बिठाना उनका लक्ष्य रहा। हिन्दी-उर्दू की एकता पर वे हमेशा जोर देते थे और उनकी अमर कृतियां इसके स्थायी प्रमाण हैं।

हमें विश्वास है, 'हंस' उनके इन लक्ष्यों को पूर्ण करेगा।

दक्षिण भारत में प्रेमचंद

श्री ब्रजनन्दन शर्मा, हिन्दी प्रचारक, मद्रास

'प्रेमचंदजी के मरने से हिन्दी साहित्य रूपी आभूषण का जड़ाऊ हीरा गिर गया। आभूषण का सौन्दर्य जाता रहा।'–यह वाक्य है एक 15 वर्ष के तेलगू-भाषा-भाषी बालक का, जो उसने प्रेमचंदजी के निधन पर अपने लेख में लिखा था। यद्यपि यह एक साधारण विद्यार्थी के 'कम्पोजीशन' का वाक्य है, तथापि इस वाक्य में सारे दक्षिण भारत की आवाज गूंज रही है।

प्रेमचंदजी के निधन से उत्तर के लोगों के हृदय पर जैसा आघात लगा, उससे कम आघात का अनुभव दक्षिण से हिन्दी प्रेमियों ने नहीं किया। सारे मद्रास प्रान्त में शोक सभाएं हुईं और लोगों ने दिवांगत आत्मा के प्रति श्रद्धांजलि आर्पित की। जिस दक्षिण भारतीय ने प्रेमचंद की एक भी कहानी पढ़ी थी वह यह समाचार सुनकर अवाक् रह जाता था। उस समय मुझे मालूम पड़ा, प्रेमचंदजी हिन्दी की ही नहीं, भारत की विभूति थे। पर उनकी जीवनावस्था में यह अनुभव नहीं हुआ।

आज उनके निधन से बहन शिवरानीदेवी ही विधवा नहीं हुई, वरन् राष्ट्रवाणी भी कुल काल के लिए विधवा हो गई है। शिवरानीदेवी तो अपने बच्चों का मुंह देखकर तथा मित्रों की सहानभूति पर धीरज धर रही हैं, पर बेचारी हिन्दी को कौन धीरज धरावे? अब कौन प्रेमचंद बनने का हौसला करेगा? प्रेमचंदजी के जीवन को देखते हुए कौन ऐसा साहस करेगा? प्रेमचंद

जी की एक चिट्ठी, जो कुछ मास पहले 'हंस' की आर्थिक दुरवस्था का जिक्र करते हुए आई थी, अब भी मेरे फाइल में पड़ी हृदय में शूल भोंक रही है। वह पुकार-पुकारकर कह रही है कि प्रेमचंदजी के अकाल-मरण की जिम्मेदारी मृत्यु पर ही नहीं वरन् हम पर भी है, और है उन प्रकाशकों और सम्पादकों पर जिन्होंने प्रेमचंदजी का रक्त चूसकर अपना पेट बढ़ाया है। प्रेमचंदजी की आखिरी नायक होरी मानो उनका अपना ही चित्र है। आमरण पूंजीपतियों के हाथ का शिकार बनकर, आमदनी का ज्यादा भाग साहित्य की सेवा में खर्च कर, अन्त में अपनी मनोकामना सिद्ध होने के पहले ही परिश्रम से चूर-चूर होकर अकाल-काल-कवलित हो जाना—प्रेमचंदजी की संक्षिप्त जीवनी है, और वही होरी के चरित्र में दिखाया गया है। जिस तरह प्रेमचंद जी के निधन पर हमारी आंखों में आंसू छलछला आये थे, ठीक उसी तरह—होरी के मरण पर भी हम फूट-फूटकर रो उठते हैं। फिर प्रेमचंद बनने की कौन हिम्मत करेगा? इतने पर ही हमने उन्हें नहीं छोड़ा। उनके वेदना-व्यथित हृदय की और कला की हमने धज्जियां उड़ाईं और मूंछों पर ताव दिया। हायरे अभाग्य।

इसमें शक नहीं कि प्रेमचंदजी हिन्दी-भाषी जनता के सच्चे प्रतिनिधि थे। यही नहीं, वरन् वे हिन्दुस्तानी भाषा और सभ्यता के सच्चा उपासक और पोषक थे। उनकी कला, उनका आदर्शवाद, उनकी कल्पना, उनके चरित्र, उनकी सौन्दर्यनुभूति, उनका सब कुछ उत्तर भारत (हिन्दी प्रान्त) का सच्चा प्रतिनिधित्व करता है। प्रेमचंदजी उस जनता के सच्चे प्रतिनिधि थे जो नित्य तुलसी रामायण का पाठ करती है। तुसली के बाद मध्यवर्ग की जनता के महान, अमर साहित्यकार प्रेमचंद ही हुए। उनमें भारतीय आत्मा बोलती है। अगर किसी श्रद्धालु का यह विश्वास इस अविश्वास युग में मान्य हो कि, वाल्मीकि ही तुलसी हुए, तो मेरा यह कथन भी मान्य होना चाहिए कि तुलसी ही इस युग के प्रेमचंद हुए। जिस तरह तुलसी शिवकेशव का समन्वय करके श्रेय के अधिकरी हुए हैं, उसी तरह प्रेमचंद हिन्दी-उर्दू की समस्या को एक तरह से सुलझा गये हैं। राष्ट्रभाषा की रूपरेखा के नाम पर जो झगड़ा चल रहा है, हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी का जो हो-हल्ला मच रहा है, उसका हल प्रेमचंदजी ने अपनी भाषा द्वारा कर दिया है। उनकी भाषा ही राष्ट्रभाषा का सच्चा स्वरूप है। उनकी व्यंजनात्मक शैली से ही हिन्दुस्तानी या हिन्दी अपनी पूरी अभिव्यक्ति कर सकेगी। सचमुच वैसी जानदार भाषा लिखने वाला आज तक कोई माई का लाल पैदा नहीं हुआ।

खैर, आज न तो मैं प्रेमचंदजी की जीवनी लिखने बैठा हूं और न उनकी कला-समीक्षा ही। यह काम महान् साहित्य-समीक्षकों का है, क्योंकि प्रेमचंदजी महान् थे मैं तो अभी सिर्फ दक्षिण भारत की हिन्दी-प्रेमी जनता की ओर से प्रेमचंदजी के प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पण कर रहा हूं।

मुझे वह दिन कभी नहीं भूल सकता। प्रेमचंदजी नाथूरामजी प्रेमी के साथ 'दक्षिण भारत-हिन्दी-प्रचार-सभा' के सालाना जलसे में पदवीदान-समारंभ का भाषण करने आये थे। हम प्रचारक लोग मधु-मक्खियों की तरह उन्हें घेरे रहते थे। बहुत से हिन्दी-प्रेमी और विद्यार्थी सिर्फ प्रेमचंदजी का दर्शन करने के लिए ही दस-दस और पन्द्रह-पन्द्रह रुपये खर्च करके वहां पहुंचे थे। बहन शिवरानीदेवी भी उनके साथ थीं। जब लोगों ने सुना कि प्रेमचंदजी सारे दक्षिण भारत में हिन्दी-प्रचार के केन्द्रों का निरीक्षण करेंगे—तो द्रविड़ भाषा-भाषी सज्जनों के मुंह पर जो आनन्द की चमक मैंने देखी वह उत्तर भारत के किसी व्यक्ति के मुंह पर पाना असम्भव

था। हिन्दी-प्रेमियों की दृष्टि में उनका किसी केन्द्र का निरीक्षण करना जवाहरलाल या राजेन्द्रप्रसाद के दौरे से कम महत्त्वपूर्ण न था। पर दुर्भाग्यवश, फिर कभी का वादा करके मैसूर और बंगलोर होते हुए वे बम्बई लौट गये। हमारी आशा, आशा ही रह गयी। 'फिर कभी' फिर कभी न आया। आज भी प्रेमचंदजी की मृत्यु स्वप्नवत् मालूम पड़ती है। आज भी उनके अनुभवों की गहराई बताने वाला झुर्रीदार चेहरा, करुणा से छल-छलाती आंखें, उनकी जिन्दादिली को व्यक्त करने वाली मुस्कराहट, साहित्य सेवा की चिंता में डूबा सिकुड़न वाला ललाट, दिमाग की उलझी हुई समस्याओं की तरह उलझी हुई मूंछें, आर्थिक दुरवस्था की द्योतिका झुकी हुई कमर और पूंजीपतियों का शिकार होने की घोषणा करने वाली रक्तहीनता और सफेदी आंखों में घूम रही है।

प्रेमचंदजी राष्ट्रभाषा के गौरव थे। जब कभी यहां किसी साहित्यिक मित्र के सामने हिन्दी-साहित्य के तेज और श्री की बात चलती है तो हम प्रेमचंदजी के नाम पर ही उनसे बोलने का साहस करते हैं। हिन्दी-साहित्य की दरिद्रता को दरिद्र प्रेमचंद ने ढंक दिया। आज हम प्राचीन साहित्य में गोस्वामीजी और नवीन-साहित्य में प्रेमचंदजी की दुहाई देकर ही दक्षिण में सिर उठाकर जी रहे हैं। पाठकों को आश्चर्य और कुछ संकोच भी होगा यह सुनकर, कि प्रेमचंदजी को उत्तर की उपेक्षा दक्षिण में ज्यादा सम्मान और गौरव प्राप्त है, क्योंकि यहां के सिंह या शर्मा लोगों ने पार्टीबन्दी का रंगीन चश्मा लगाकर उन्हें नहीं देखा। उन्होंने प्रेमचंद को कलाकार और आदर्शवादी के रूप में ही देखा है। मद्रास प्रान्त का हिन्दी-विद्यार्थी समाज, जिसकी संख्या अब हजारों से आगे बढ़ गई है। प्रेमचंद का नाम सुनकर उछल पड़ता है। बहुत से समझदार और बुद्धिमान लोग उन्हे टॉल्स्टॉय भी कह डालते हैं। मेरे एक आन्ध्र मित्र ने, जो अपने को साम्यवादी कहते हैं, कहा था कि प्रेमचंद अगर गोदान के बाद लिखते तो वह उपन्यास 'मां' की जोड़ा का होता, और सोवियट-हिन्दुस्तान के गोर्की होते, पर हमारे दुर्भाग्य ने छींक दिया।

दक्षिण में तुलसीदास की अपेक्षा प्रेमचंद के पाठक अधिक हैं। यहां उन्होंने साहित्य क्षेत्र में तुलसी से ज्यादा ख्याति पाई है। यह लिखते डरता हूं पर सत्य का अनुरोध बाध्य करता है। हिन्दी के किसी विद्यार्थी से, जो तुलसी और प्रेमचंद की कृतियों से कुछ परिचित है पूछिये कि तुम हिन्दी[1] कवियों में सबसे बड़ा किसको मानते हो, तो वह फौरन कह उठेगा—प्रेमचंद। हो सकता है कि उसकी कसौटी ठीक न हो अथवा उसका हिन्दी-साहित्य ज्ञान अपरिपक्व। परन्तु प्रेमचंद ने यहां के विद्यार्थीयों पर तो जादू डाला है वह और किसी कवि या लेखक ने नही। प्रेमचंद जी के साहित्य की जितनी खपत दक्षिण में हुई है उस अनुपात में उत्तर में नहीं हुई। आप यहां के किसी देहाती गांव में जाइये, यदि वहां एक भी हिन्दी प्रेमी। हों तो आपको सेवासदन, सप्त-सरोज और प्रेमचंदजी अवश्य मिलेंगे। और किताबों की रूप-रेखा चाहे भले ही न दिखाई पड़ें।

यहां की पत्रिकाओं में हर महीने प्रेमचंद की एकाध कहानी का अनुवाद निकलता है। सेवासदन, प्रेमाश्रम, कर्मभूमि, वरदान आदि का अनुवाद हो भी गया है। नवनिधि का एक बहुत पुराना अनुवाद तेलगू में 'मल्लिका गुच्छम' के नाम से मेरी नजरों से गुजरा है। जो शायद प्रेमचंदजी का हिन्दी में जन्म होने के पहले का है। प्रेमचंदजी के साहित्य ने यहां काफी प्रशंसा प्राप्त की

---

1 यहां कवि और लेखक में फर्क नहीं माना जाता है। कवि से दोनों का बोध होता है।

है और प्रभाव भी डाला है। मेरे एक वकील मित्र हैं। उन्होंने प्रेमचंद से प्रभावित होकर अपने पुत्र का नाम प्रेमचंद रखा है।

मैं यह निस्संकोच होकर कह सकता हूं कि प्रेमचंदजी का उपयोग दक्षिण में ज्यादा हुआ है। पर हिन्दी भाषी जनता ने अभी तक प्रेमचंदजी से पूरा लाभ नहीं उठाया है। मेरे एक मित्र ने उस दिन कहा कि क्यों साहब, देखिये शरत् बाबू के उपन्यासों के कैसे सुन्दर फिल्म तैयार किये गये हैं। 'रंगभूमि' का फिल्म तैयार किया जाय और 'के० सी० दे' महोदय को सूरदास का पार्ट दिया जाय, तो फिल्म सबको मात कर जायगा? मैंने उन्हें जवाब तो नहीं दिया पर मन में कहा कि अभी हिन्दी वालों को प्रेमचंद के ऊपर कीचड़ उछालने से ही फुर्सत नहीं मिली है, फिल्म कौन बनाये? और फिर शरत् बाबू का जो गौरव प्रत्येक बंगाली के हृदय में है वह हम हिन्दी-भाषियों के हृदय में हों तब न?

अन्त में मै दक्षिण के हिन्दी-प्रमियों की ओर से हिन्दी-विद्वानों और प्रमियों से विनती करता हूं कि प्रेमचंदजी को अब भी हम पहचानें, उनकी इज्जत करें और उनकी स्मृति-रक्षा के उपाय करें, जिससे पुन: पुन: प्रेमचंद के पैदा होने की भूमि तैयार हो।

यदि प्रेमचंद के मकान को या उनके कमरे को ज्यो का त्यों सुरक्षित रखा जाय, उसमें प्रेमचंदजी की प्रिय वस्तुओं का संग्रह हो, उनके नित्य व्यवहार में आने वाली चीजें रखी जायं, तथा इस तरह उसे 'प्रेमचंद म्यूजियम' बना दिया जाय तो वह हिन्दी-प्रेमियों का एक तीर्थ-क्षेत्र हो जायगा। दक्षिण से काशी जाने वाले हिन्दी प्रेमी यात्री भी विश्वनाथ के दर्शन के साथ-साथ उसके भी दर्शन करेंगे। आशा है, उनकी स्मृति रक्षा के लिए जो सज्जन प्रयत्न करें वे इस बात पर भी ध्यान देंगे।

प्रेमचंदजी ने देश का इतिहास अपने शरीर की आखिरी बूंद देकर लिखा है। क्या हम उनका इतिहास भी सुरक्षित न करेंगे?

प्रेमचंद, जैसा मैंने पाया

श्री जनार्दन राय

1933 का मध्य जुलाई महीना और मैं नया-नया बनारस में—उदयपुर मे इतनी दूर पहली दफा उत्तर भारत के इस प्राचीन-ख्यात नगर में। जलती हुई दोपहर, पैदल मैं और एक मेरे ताज परिचित साथी चले जा रहे हैं—सरस्वती प्रेस का पता पूछते-पाछते। कभी कबीर-चौरा कभी दाल-मंडी होते हुए चौक, यों हम प्रेमचंदजी से पहली मुलाकात के लिए विश्वविद्यालय से चले जा रहे हैं। मन में एक आतुर उमंग भरा, शंकित द्वंद्व मच रहा है—मिलेंगे तो? पर किस तरह पेश आयेंगे?—ध्रुवसाहब की भांति तो नहीं, एक सहमा देने वाले रुआब में, उदयपुर के बड़े आदमियों की भांति तो नहीं—ऊपर से मीठे, मन में कडुवे?

मेरे मन का वह द्वंद्व स्वाभाविक था। एक बात और भी थी। 1927 का (मैं स्मृति से लिख रहा हूं) एक प्रात:काल मुझे प्रेमचंदजी ने मन में, विचार में सम्बद्ध कर गया। 'रंगभूमि' पढ़कर मैंने अपने ममेरे भाई से सवा आने की कोई कॉपी मांग ली और एक उपन्यास प्रारंभ

किया। वह प्रेरणा-स्रोत जैसे पाताल भेद कर आया था, जिसने मुझे मरु-भूमि में जीवित रखा। वह जैसे एक अद्वितीय चिनगारी थी, जो मेरे मन के अंधकार में जल उठी, जिसने अब तक मुझे रोशन रखा है। 1933 तक मुझ पर कई उल्कापात हुए। पहला उपन्यास जो मैंने प्रेमचंद जी को 1928 में प्रकाशनार्थ भेजा था, एक सज्जन मेरे जाली हस्ताक्षर कर उड़ा ले गए और प्रेमचंदजी पुरस्कार भेजते-भेजते रह गए। उस समय भी वे अदालत में साक्षी देने के लिए तैयार हो गये थे; पर वहां तक जाना न पड़ा। जब मेवाड़-सत्ता ने उसी उपन्यास को भस्म कर दिया, मैंने सहर्ष वस्तुस्थिति का मुकाबिला किया।

कंधे पर कहानियों और एक उपन्यास से लदा झोला, ललाट पर पसीने की बूंदें, धूल में झुलसे चप्पल, देह पर पसीना, और मन में उमंग की बिजली। यों में सरस्वती प्रेस पहुंचा। मन में उल्लास तो था पर दहलीज पर पैर रखते ही संकोच, भय, सकपकाहट और सहमता आ गई। जैसे एक राजा पहली दफा वायसरिगल-लॉज में पैर रखे, पहली दफा कुलवधू ससुराल की दहलीज में घुसे, जैसे पहली दफा जुगनू को चांद का स्पर्श हो, लहर जैसे प्रथम बार अपने आसीम वारिवक्ष को निहारे, यों मैं पौर में घुसा। एक कंपोजीटर बगल रगड़-रगड़कर नहा रहा था, मैंने पूछा—प्रेमचंदजी कहां विराजते हैं? उसने यों ही सहज इशारा किया—बगल के कमरे में। मैंने मुड़कर उस कमरे में झांका। दो-तीन व्यक्तियों से घिरी, मेज पर झुकी-सी, कागज-पत्रों के ढेर से आच्छादित मैंने एक मूर्ति देखी। रेशमी तमखुई बिखरे बाल, पतली तीनी भवों पर संकुचित पर प्रभविष्णु ललाट, अनुभव की रेखाओं से खुदा और सरल, गहरी देखने वाली आखें। प्रेमचंद, वही ! वही, मछली के अगले पंजे जैसी ब्रुश-नुमा मूंछें और सारी मुद्रा पर स्वप्न-लीनता का अत्यन्त सूक्ष्म रौगन ! यही प्रेमचंद हैं, अंत:कारण ने सौ जबान से कहा। वहीं, दरवाजे में ही खड़े-खड़े मैंने प्रणाम किया।

एक बार साधारणतया मेरी ओर देख सिर हिलाकर मुझे अन्दर बुलाया और पुन: कार्य में मशगूल हो गये। मैंने पास ही अत्यन्त संकोच के साथ सिकुड़कर बैठते हुए कहा—मैं उदयपुर से आ रहा हूं।

किसी पत्र को देखते हुए सिर हिलाकर आपने कहा—हुं हुं ! जनार्दन न? फिफ्थ इयर में आये हो न?

मैंने मन-ही-मन झेंपकर जवाब दिया—जी नहीं, थर्ड इयर में आया हूं बीच में दो वर्ष पढना छोड़ दिया था।

'अच्छा !' पत्र रखकर आपने मेरी ओर देखा।

अपने अपना झोला खोला और उनके पत्र निकाले। बोला—लखनऊ वाली घटना के बाद मैं समझता हूं, अपना प्रमाण मुझे देना चाहिए। ये रहे आपके पत्र।

पहली दफा मैंने वह बाल-सुलभ सुन्दर आत्मा की मुक्त लहरि के सामान मुखुर-मुखुर हास्य सुना और स्तब्ध रह गया।

आप बोले—तो? ये पत्र भी तो उड़ाये जा सकते हैं? हा, हा, हा ! मैं जान गया तुम्हीं जनार्दन हो। अच्छा हुआ, यहां आ गये ठीक हुआ।

मैंने कहानियां निकालीं, उपन्यास का पोथा निकाला और प्रेमचंद जी के आगे रख दिया और उन्होंने सब काम छोड़ दिया वे कृतियां हाथ में लीं। शायद किसी की कृतियां हाथ में लेकर जांचा-पड़ताल के बिना वे नीचे न रखते थे। उपन्यास के रजिस्टर को उलट-पुलट आपने

कहा—छपने में शायद आठ सौ पेज तक जाये ! खूब है भई ! अच्छा इन सबको मैं दखूंगा यहीं हो, अब तो?

उस दिन तो परिचयात्मक बातें ही हुईं, पर मैं होस्टल जैसे बदलकर लौटा। मेरे ये भाव उस समय स्पष्ट न थे, मेरा परिवर्तन-श्रीगणेश भी मुझे उतना प्रतीत न था। पर मैंने एक नये मार्ग पर पैर रखा था। पहली मुलाकात में प्रेमचंद में मुझमें अदृश्य पर अनुभव-महिम स्वप्न जगा दिये। और रात? रात आह्लाद में रमी हुई थी। 1930 के बाद ऐसी पवित्र स्वतः मगन नींद उस दिन आई थी। यह महापुरुष इन ऐसे कतिपयों से कितना अलग पड़ता है, मैंने सोचा।

फिर तो प्रति मुलाकात दिन-ब-दिन मुझे उनके निकट, निकट से निकट लाती गई। मानो प्रेमचंद एक प्राचीन मन्दिर थे, जिसके सभी पट खुले हुए थे। प्रकाश का एक झूमर जो चारों ओर से अलोकित होता है। दस बारह दिन बाद मैं बेनिया बाग में उनके निवास पर पहुंचा। मकान देखकर मन में संतोष हुआ, चलो, घर का घर तो अच्छा है। प्रेस है, यह घर है—हमारा यह युगस्रष्टा कलाकार अच्छी हालत में तो है और जब, भूकम्प ने इस मनचाही को तोड़ना चाहा तब मुझे सबसे पहले प्रेमचंदजी के घर की चिन्ता हुई थी—कहीं उसमें कोई खराबी न आ गई हो। पर 1934 में एक दिन बेनिया बाग वाले उसी मकान में एक पंजाबी ने हुक्का गुड़-गुड़ाकर मुझे टका-सा जवाब दिया—'पेमचंद वेमचंद यहां नईं है !' तब कहीं मुझे मालूम हुआ, रंगभूमि और कायाकल्प के लेखक के अपना घर का घर भी नहीं है।

बेनिया बाग में शायद तीसरी बार मैं उनके यहां (पहली बार घर पर) पहुंचा। पुस्तकें आल्मारियों से भरी, मेज पर अखबार और नोटबुकें तथा बैठक के कमरे में गद्दी तकिया—कुहनी मेज। दीवार पर एक केलेंडर। बस इतना ही। इस सादगी के वातावरण के पीछे मसोसने वाला अभाव न था, क्योंकि उसका प्रदर्शन रंक होता है। प्रेमचंद की वह कुहनी के बल लेटी हुई मूर्ति रंक न थी, उसमें अपरिग्रह की भावना झलक रही थी। एक दम कमरे के वातावरण ने मुझे सुझाया, यह इनकी सुन्दरता है।

मैंने इधर-उधर की बातों के बाद कहानियों की बाबत पूछा— आपने मेरी कहानियां पढ़ी होंगी।

'हां, अच्छी हैं।' यों कहकर आपने बंडल से एक कहानी—रचका (पीछे 'द्वन्द्व' नाम से 'हंस' में छपी)—निकाली और पढ़ गये। बोले, इसे अपने नाम से भेज दूं तो 25 रुपये मिल जायं ! कहानी की सभी बातें यहा हैं।'

मेरा मन फूला, घमंड में नहीं—सच्चे प्रोत्साहन के धूप को पाकर जैसे एक डोड़ा विकच उठे, कुन्द-कली हंस उठे, वैसे जैसे प्रभात-वायु के झोंके से लहरियां जाग उठें !

आपने कुछ देर बाद पूछा—क्या चाहते हो?

मैंने कहा—आपकी इच्छा हो, वह कीजिये। मैं तो तुष्ट हो गया। ये मैने आप ही के लिए लिखी थीं। आपकी रुचीं, में सफल हुआ।

एक गहरी दृष्टि से उन्होंने मेरा अंतर टटोला। बोले—फिर भी?

मैंने जवाब दिया—आप मुझे हिन्दी-सेवा के योग्य समझते हों, 'हंस' के उपयुक्त इन्हें समझते हों—मुझे प्रोत्साहन के योग्य मानते हों, तो इन्हें प्रकाशित करिये। अन्यथा आपके चरणो में ही इन जैसे-तैसे फूलों को रहने दीजिए। आप ही मेरे परीक्षक हैं।

और प्रेमचंदजी ने मेरी परीक्षा लेनी शुरू की। पर ढंग स्नेह का था। एक के बाद एक,

यों दो-तीन कहानियां प्रकाशित कीं, और मैं जैसे इस फल से उदासीन होता गया। लेखक और सम्पादक का बरताव, अपना मुंह लेकर बिदा हुआ, और वीरान होते-होते बच गया। आज हिन्दी का एक नवयुवक लेखक, जो इस महिमामय प्रगतिशील संसार में रचनाएं लिए घूमता है, कितना अकेला होता है? सम्पादक इसलिए सम्मान करते हैं कि उन्हें मुफ्त अच्छी रचनाएं चाहिएं और पाठक अपने अभाव की अनुभूति में भाव की पूजा भर कर लेता है। यश के अबरकी कपड़े पहन यह प्राणी यों घूमा करता है, मानो घरहीन, परिवारहीन एक अंधा भिखारी, कुछ गीत लिए कुछ भाव लिए। लेकिन कलाकार का वह वरद प्रेम, जो कायापलट देता है, व्यक्तित्व की बीमारी शमा देता है। कितने अभागों को मिलता है? मैं सोचाता हूं प्रेमचंदजी का मुझे जांचना ऐसे ही स्नेह का वर्षण था। मैं जब इस क्षितिज के पास पहुंचा, एक कुहरों में क्रान्त उभार-भरा बादल था, इस सुनहली रश्मि ने मुझ में प्राण भर दिया, बिजली भर दी।

यों प्रसंगोपात्त प्रेमचंदजी मुझे एक प्रकार से संस्कृत करते रहे। मेरा मानसिक क्षितिज विकसित करते रहे—मुझे लेखक होने के लिए अधिकाधिक योग्य बनाते गये, और मैं उनको जैसे अधिक पास से देखता गया, वे मुझे अपने साहित्य से ऊपर प्रतीत होते गये। 'ऊपर' से मतलब यह नहीं कि उनका साहित्य उनके जीवन से प्रसूत न हुआ हो। इसका अर्थ यही है कि वे अपने स्वप्नों से कहीं अधिक सुन्दर थे। एक दिन दोपहर को जैनेन्द्रजी तथा वे बैठे बातें कर रहे थे—मैं भी बैठा था। साहित्य के विभिन्न अंगों पर वार्तालाप हो रहा था। वार्तालाप जैसे समुद्र के किनारे बैठे हुए दो व्यक्ति कर रहे हों—समस्या के बाद, तरंग पर तरंग। भाषा, राष्ट्र-भाषा अनुभव, प्रतिभा आदि सभी विषयों पर चर्चा हो रही थी, और अनुभव की समस्या ने तो जैसे प्रेमचंदजी की वाणी में जोम भर दिया, बोले—बिना अनुभव लिखना तो लगो है! हमने मसूरी में तांगे चलाये! थी न हिमाकत?

फिर वह चमत्कृत करने वाला सरल मुक्त हास्य! मैं आज सोचता हूं, प्रेमचंदजी अपनी गलतियों को ऐसा पहचानते और हम अपनी गलतियों को आदर्श का रूप देते फिरते हैं। जैनेन्द्र जी ने बहस छोड़ दी, मुझे वह उतना अपना न बना सकी। वह पहला दर्शन था प्रेमचंदजी के इस माननीय मित्र का। पर प्रेमचंद में जो था, वह जैनेन्द्र में न मिला। आज भी नहीं। एक बार उन्होंने कहा—हिन्दी उपन्यास-क्षेत्र में मैं तो बालक हूं। मैं हंसे बिना न रह सका। कितना गंभीर-धीर यह बालक है, जिसने 'सूर' की रचना की है।

ये संस्मरण अत्यंत व्यक्तिगत हो रहे हैं, पर इसके लिए मुझे चिन्ता नहीं है। मैं तो प्रेमचंद को जैसा मैंने पाया, वैसा यहां कुछ स्मृतियों में आहवाहित कर दे रहा हूं। जनार्दन झा 'द्विज' जी की 'प्रेमचंद की उपन्यास कला' नामक पुस्तक पर मेरे मुंह से निकल गया—आप पर तो सात सौ पृष्ठ का पोथा होना चाहिए।

आप कुछ किलककर बोले—तुम लिखना।

मैंने कहा, उत्साह के साथ कहा—यह एक तीव्र कामना है—

बीच में बात काटकर आपने कहा—अभी नहीं, मैं मर जाऊं, उसके बाद!

और किसे पता था, 1937 में मुझे ये काली पंक्तियां लिखनी पड़ेंगी? जीवन-चरित्र में क्या लिखूंगा? कितनी ऐसी बातें हैं, जिनका मेरे पास नोट नहीं है; पर प्रेमचंद धीरे-धीरे मेरे केन्द्र बन गये थे। खूब खुलकर मैं उनके साथ जीता था। और आज उनके शरीर के बिना भी मैं इन कुछ स्मृतियों के बल पर जी रहा हूं। एक दिन मैंने पूछा—साहित्य-सेवा किस प्रकार की

जाय? अपने सहजभाव से कहा—अच्छी-अच्छी पुस्तकें लिखकर। उसके लिए न सभा कि जरूरत है, न समाज की। उसके लिए चरित्र की, हृदय की, तपस्या की जरूरत है बस।

और मैं दिवसों अपने अतीत पर सोचता रहा। मुझे मालूम हुआ, अपने अंधकार से मैं किस प्रकाश की प्रशस्ति लिखूंगा? क्या करूं? अपना गत चिट्ठा कह दूं? यहां एक आदर्श की लड़ाई मुझ में छिड़ पड़ी। और वर्ष भर बाद 'हंस' में उन्होंने मुझ पर कुछ पंक्तियां लिखीं। तारीफ करने की उनकी आदत जरा बहकी हुई थी। पर प्रेमचंदजी का मेरे विषय में विचार वह बता रहीं थीं। भर चौंक मैंने उस नोट को पढ़ा और धक् से रह गया। एक करवत चल गई, रात भर मैं सोचता रहा—लिख दूं सब? पर कैसे लिखूं? एक बार मैं एक साथी खो चुका हूं। यह गहरी हानि इस बुत के स्नेह के मरहम से शान्त हो रही है। पर क्या इस कृपा-सदन को धोखा दूं? और यहां मेरी अंतरात्मा क्रांति की अंगड़ाई में उठ बैठी। मैंने लिख दिया, मैं ऐसा रहा हूं—वैसा रहा हूं। यही कुछ बातें थी जिन्हें खोल मैंने कष्ट उठाए थे, पर इस समय तो मैंने सब कुछ को दाव पर रख दिया था। मैंने वजीर खो दिया है, बादशाह अब खो दूं। पर एक प्रकाशमय सवेरे प्रेमचंद ने शीतल क्षमा की, प्रेम की ज्योति की वर्षा की। जीवन के सभी घाव भर गए, और मैं सबल हो गया—ताजा। उन्होंने लिखा—जितना पवित्र हमारा जीवन होगा, उतना ही शुद्ध हमारा साहित्य होगा। अमीरी प्रतिभा के लिए अनुकूल भूमि नहीं है। इसमें कुछ ऐसी बातें हैं, जो गरीबी ही में फल सकती हैं। फिर उन्होंने हिन्दी की तू-तू मैं-मैं स्थिति पर दुःख प्रगट किया। और मुझे आदेश दिया था कि मैं उससे दूर रहूं। मैंने सोचा, जीवन के सौन्दर्य को कलाकार किस आंख से देखता है? एक तो महाशय 'क' थे, जिन्होंने पाप को लेकर सदाशय को ठुकरा दिया और एक यह हैं, जिन्होंने सदाशय को चूमकर पाप को ठोकर मार दी। क्यों प्रेमचंद ने मुझे मनुष्य न बना दिया?

एक बार आपने कहा—मैं तुम्हें यों ही मुंह नहीं लगा रहा। तुममें मैंने प्रतिभा पाई है। अब मेरा धर्म है, उसे रास्ते पर लगा दूं। सबसे पहली बात चरित्र चाहिए, एक पागल साधना-प्रेम चाहिए—उसका कुछ मैं तुम में देख सका हू। उस समय तो ठंडी आधी में रह-रहकर काप उठा था। यह सुनकर। पर मैं समझ गया था, मुझ कहां तक अपना परिचय इनको देना है।

'कीचड़ का कमल' आपने पढा? समय निकालकर पढा और एक दिन बोले—ढाई सौ पत्ते तो हम एक दफा में पढ़ गये। मैं समझता हू, हिन्दी की टोन बढ़ रही है। पर भुवनेश्वरी के चरित्र से मैं सहमत नहीं होता। तुमने उसे खींचा तो ठीक है, पर पुलिस रिपोर्ट तो कुछ नहीं है।

और उन्होंने एक विवाद का जन्म दे दिया। मैं उनको सुन रहा था। और सोच रहा था, यह व्यक्ति क्या मुझे इतना ज्योतित मानता है कि मैं यों रचना के आदर्श द्वारा समझाया जाऊं। वे हुक्मिया यह कह सकते थे, कि तुम उसका चित्रण बदल दो वरना उपन्यास छप न सकेगा, अथवा उसके बिना कृति कुछ भी न रहेगी। प्रेमचंद मुझ पर दबाव डालकर जा चाहते करवा सकते थे, पर उन्होंने यथाथ और आदर्श की एक सहमत कर आलोचना ही छेड़ दी। कहां तो हमारे सम्पादक आठ-आठ महीनों तक नए लेखकों की कृतियां पढ़ते तक नहीं और कहां प्रेमचंदजी ने पौने चार सौ घने लिख गये फुलिस्केपों को पढ़ा और प्रत्येक चरित्र पर राय दी, उज्र पेश किये। मुझे समझाया, बुझाया—सहमत किया। उस समय मैं उनसे इतना प्रभावित था कि उनके कहने पर उपन्यास को फाड़ फेंक सकता था। पर बड़ी खूबी से उन्होंने मुझे

समझाया–नग्न यथार्थ और नग्न आदर्श दोनों ही अतियां हैं नग्न यथार्थ पुलिस का रिपोर्ट भर हो जाता है। नग्न आदर्श प्लेटफार्म का फतवा।

मैंने डरते-डरते भी उज्र-सा किया–पर लेखक यथार्थ के चित्रण में जीवन ही तो खींचता है। पुलिस की रिपोर्ट और लेखक का यह चित्रण तो दो वस्तुएं हैं–

'पर यथार्थ के नाम में विकारों का चित्रिण तो न होना चाहिए। जीवन का अन्धकार तो है; उसे हम क्यों अन्धकार ही चित्रित करें? कलुष तो है, उसे हम सौन्दर्य में क्यों न बदल दें? जीवन में होता भी यही है। दुनिया तो दु:खमय है, पर क्या दु:खमय जीवन में सुख की रचना हम नहीं करते।' उस समय तो मैं सहमत होने के लिए हो गया। नन्हीं मछली मगर के सामने ठहर कैसे सकती? और मुझे हां नां कहने का अधिकार ही क्या था? किताबों में पढ़े गये यूरोपीय फतवे मेरे दिमाग में चक्कर काट रहे थे, मैं भी उस बीमारी से पीड़ित था, जिससे आज हमारे ढेरों लेखक पीड़ित हैं। यथार्थ की आंखें रंगीनी ही तो देखती हैं; वह मन विनोद खोजता है, बताशे चाहता है; वह भोग चाहता है; जो निर्माण नहीं करता, क्षय करता है; नाश करता है। जीवन के सतत भोग में हमें जीवित कौन रखता है, में सोचता हूं। और आज एक प्रतिध्वनि उठती है, आदर्श की साधना। प्रेमचंद–प्रचारवाद के लिए बदनाम प्रेमचंद ने–मुझे खूबसूरती से यह दृष्टि प्रदान की और आये दिन मुझे एक प्रकाश मिला, मुझे जैसा दिखा, यथार्थ और आदर्श बुद्धि के झगड़े हैं। जीवन में ऐसी सीमाएं, रेखाएं नहीं। यह तो विविधता की एकात्मक साधना भर है। यहीं, यहीं समवेदनों की पांच ज्वालाएं मन की पकड़ में बंधतीं और जीवन की चेतना का प्रारम्भ होता है। यहीं बुधता की लौ जलती है, यहीं सौंदर्य का जन्म होता है। यह बहुता का सर्वांगीण एकता में बदले जाना ही जीवन की धारा है। साहित्यिक रचना इस सत्य के विपरीत कैसे हो सकती है? इसलिए मैं आज आदर्श के साधना हो को जीवन मानता हूं। प्रेमचंद यही दूसरी तरह देख सके थे। उनकी शैली में इस ध्रुव सौन्दर्य को चालाकी के साथ, घुमा फिराकर व्यक्त करने का मायाजाल परिष्कृत न हुआ था। इसलिए उनमें कला कला के लिए की भ्रान्ति न मिली। पर क्या हमारी वे धारणाएं आज बदल नहीं रहीं?

सांदी के कहने पर मैंने उसी उपन्यास को दुबारा लिखा और प्रेमचंदजी को अर्पा। समर्पण में मैंने लिखा था, आप मेरे प्रेरणा गुरु हैं। आपने पूछा–यह प्रेरणा-गुरु फिर क्या बात है? एक सुनहली हंसी निकलूं-निकलूं, हंसूं- हंसूं!

मैंने कहा–आपकी 'रंगभूमि' ने मुझे जो प्रेरणा दी है, वही आज तक मेरे साथ है। अत: आप मेरे प्रेरणा-गुरु हुए।

उत्तर में वह चारित्रिक हास्य!

फिर तो मैं कोई कहानी लिखता, पहले कह आता। और हम दोनों प्रेस से घर तक बातें करते हुए चलते। तांगा, मोटर, गाड़ी आप से आप बचाते हुए हम चले जाते। वे संध्याएं कितनी सुन्दर थीं। आज मालूम हो रहा है। प्रेमचंदजी बातें करते हुए ठहर जाते और नारंगी, केले, दातुन खरीदते। मैं देखता–अपने चरित्र ये कैसे ग्रहण करते हैं। क्या कुछ बातें करते हैं किसी खोमचे वाले के साथ, चाट खाते हैं। क्या? मैंने उन्हें बाजार में तंबोली के यहां पान का बीड़ा खरीदते न पाया। तब वह कौन-सी मूक, छिपी-छिपी शक्ति है, जो गरीबों की विपन्न मूर्तियां आविर्भूत कर देती है? क्या वह उनके ही पूर्व-जन्मों का अज्ञात प्रकाशन है? नहीं तो इतनी अनुभूति, इतनी सजीवता कैसे आवे। मैं जानता हूं, लेखक अपने चरित्रों में जीता है, पर इन सभी चरित्रों

के पीछे कोई न कोई व्यक्ति रहता है। यही बात प्रेमचंदजी ने मुझसे पूछी थी। उपन्यास के एक-एक पात्र को लेकर मुझसे पूछा था, यह तुम्हें कहां से मिला? और मैं अपने ध्यान की व्यक्तियां बताता गया था। अब मैं देखना चाहता था, कालूखां इन्हें कहां से कैसे मिला। पर मैं आज तक यह समझ न पाया, प्रेमचंद अपने पात्र कैसे पकड़ते थे। तब क्या पतंग जलकर ही दीपक के सभी सपनों का मर्म जान जाता है? एक बार दिल्ली में उन्होंने मुझसे पूछा—कुतुब देख आये? मैंने उत्तर दिया, जो नहीं, किले में उसकी एक बड़ी तस्वीर देख ली है। ठहाका मार कर आपने कहा था—हां, जी हम लोगों के पास कल्पना भी तो है; उससे चाहे वह देख लें! दुनिया में न हो, वह भी देख लें।

समझा, तब यह वह कल्पना थी, जो आंखें देखकर दिल का दरिया नाप लेती थी, रोयें छू कर जीवन की ज्वाला देख लेती थी, आंसू और हास्य को निहारकर सुख-दुःख का इतिहास जान लेती थी। पर कितने महिमामय वे मन के नैना थे? हमारे शिव का वह तीसरा नयन आज बन्द हो गया क्या?

बनारस की उन सड़कों पर हम साहित्य, कला दर्शन, धर्म, इतिहास, विज्ञान सभी विषयों पर बातें करते चले जाते। 'हम' का प्रयोग तो संख्यावाचक है अतः मैं तो श्रोता ही था उनका अध्ययन मेरी पाठशाला था और उन्होंने मेरी चुप्पी का अर्थ भी समझ लिया। एक दिन शाम हम 'आज' कार्यालय के पास होकर गुजरे और प्रेमचंदजी ने कहा—मैं तो हिन्दी में यों ही आ गया हूं। मुझे साहित्य-सेवा का अधिकार ही नहीं। मैं तो अब चला, जिन्दगी खतम हुई। पर तुम्हारे सामने अभी जीवन का जीवन पड़ा है। तुम सच्चे साहित्य-सेवी बनो। और वे रुके; मेरे भाव, मेरी रुचि, मेरी एकाग्रता जैसे तौली। मैंने उदासीन—उदासीन सन्ध्या को बेनियाबाग की घटाओं पर जैसे मूक पाया। वे बोले—अपने मार्ग, अपने अध्ययन, अपनी फिलॉसोफी के बिना कोई सच्चा कलाकार नहीं हो सकता। अपनी आंखों से जीवन देखो, अपने अनुभव से उसे जांचो। जैसा पाओ वैसा लिखो।

यह गुरु मंत्र न था, उनके अपने अभाव (!) का एक सहदय उद्गार था। पर मेरे लिए यह मंत्र ही था, एक मशाल, जिसे हाथ में लेकर मैं अपने स्वप्न-मार्ग प्रकाशित कर सकूं। नए होनहारों के लिए प्रेमचंद का यह कथन क्या मार्ग-दर्शक नहीं है? मैंने कमरे में पहुंचकर उसे नोट कर लिया। तब से, अधकचरा ही सही, इस दिशि में मैंने प्रयत्न अवश्य किया है। और मुझे मालूम हुआ है, वाकई इस विशिष्टता के बिना कोई सच्चा कलाकार नहीं कहला सकता। जीवन की पूजा, जो सौन्दर्य के असीम आनंद की आराधना है, आत्मा की गूढ़ आंखों के नयन-जल के बना नहीं होती। वह व्यक्ति होना चाहिए।

प्रेमचंद का यह पूर्णिमा-दर्शन मुझे दिल्ली-सम्मेलन बाद बम्बई से पत्र द्वारा हुआ था। पर दिल्ली में हिन्दी संसार का यह किसान एक अजब बल का धनो मिला। 'जागरण' बन्द क्यों नहीं कर देते? प्रश्न। उत्तर—'मोह बन्द करने नहीं देता।' मैंने उनकी पुतलियों में एक अथाह निराशा देखी है। बोले—'और फिर काम न करूं, तो बैठा बैठा क्या करूं? जीवन में काम तो करना पड़ता है।' उस मनन-लीन भाव भंगिमा की तह में मुझे वह वीतराग मिला, जहां से झनकार करते हुए कर्म की एक नृत्य गति प्रारम्भ होती है। जीवन का प्रेम, जो जीवन का सर्वसात पाकर अधिक जलता है—अधिक रंग पकड़ता है, मिला वह मूक-भूमि में सोते हुए योद्धा की मानो मूर्छा हो। प्रेमचंद क्या चाहते थे? प्रसंग छोड़कर मैं पूछता हूं। लोग कहते हैं, वे धन चाहते थे;

यश चाहते थे; प्रमोद क्षेत्र चाहते थे। श्रीनाथसिंह और अन्य ऐसे आन्दोलनों की चिल्ल-पों बहुत से अपराध बना चुकी हैं; पर ये उनमें हों भी तो ये जीवन के अपराध हैं। पर प्रेमचंद न यश चाहते थे, न धन, न प्रमोद-क्षेत्र ही। वह एक ज्वाला थी जो अपने लिए तैल चाहती थी, शिखा चाहती थी। सम्मेलन में जाने से पहले मैंने पूछा—आप सभापति बनने पर राजी होंगे? मुक्त हास्य के साथ आपने कहा—बना दें भी तो! फिर मजाक छोड़कर बोले—हिन्दी में आज हमें न पैसे मिलते हैं न यश मिलता है। दोनों ही नहीं। इस संसार में लेखक को चाहिए किसी की भी कामना न करे बिना लिखता रहे। तुम्हें लिखना हो तो यह बात नोट कर कर लो। हिन्दी को तपस्वी चाहिए, यह था उनका मतलब। प्रेमचंद का तपस्वीपन एक युद्ध शुद्ध मनुष्यत्व था। दिल्ली-सम्मेलन के संस्करण मैं कभी भी नहीं भूल सकता। वे छ: दिन अजर दिवस हैं और उनका ध्यान एक अपूर्व कम्पन। हरिऔधजी, प्रेमचंदजी आदि के साथ रहने का वह प्रथम अवसर था और हमारी छाती गज-गज उछल रही थी।

प्रदर्शिनी का उद्‌घाटन हो चुका था। और प्रेमचंदजी एक झुंड में खड़े थे। बोले—कोई नाई तो खोज लाओ।

शायद किशोरीलाल वाजपेयी थे, बोले—अब तक आपकी हजामत नहीं हुई? इशारा श्रीनाथसिंहजी के आन्दोलन की ओर था। मै जल गया, मन में आया, पर ऐसे प्रसंग विष पीने के प्रसंग हैं और ये ही घूंटें कालान्तर में हृदय का बल बनाते हैं—जीवन। प्रेमचंद तो माधवप्रसाद खन्ना के पास जा बैठे, पर दिवस भर मुझ पर चिन्तित वातावरण छाया रहा, एक विषाद, जो दु:ख की तीव्रता से पैदा होता है। यह था सूरे, सोफिया, अमरनाथ, होरी और धनिया के लेखक के प्रति हमारा सम्मान-भाव—बरताव। जिसके वरद हाथों ने भूतनाथ और चंद्रकान्ता-संतति का मार्ग एक राजमार्ग में बदल दिया, उस प्रणवीर के प्रति हमारा यह विवेक क्या हमारी योग्यता नहीं बताता?

पर प्रेमचंद? प्रेमचंद को मैंने एक नई सजधज में देखा। अब तक मैं उन्हें प्रेस में—घर में पिता, आचार्य, सम्पादक, मित्र की भांति ही देखता आया था—अब उन्हें ''तिमान समाज के एक व्यापक दायरे में स्थित देखा। मुझे वे मनुष्य एक अधिक मजबूत और धुन के अच्छे महामना व्यक्ति मिले। पंडाल के द्वार पर एक स्वयंसेवक ने उनको भूल से रोक दिया, आप दर्शकों में जा बैठे। मीटिंग खतम होने पर जब लोग 'ये प्रेमचंद! ये प्रेमचंद!' कहकर आपस में अंगुलियां बताते, जैसे आप जन-हीन मार्ग पर चले जा रहे हों। और जब उस अखिल भारतीय साहित्य के मंच पर उनको लेकर एक खासा वैयक्तिक विवाद चल पड़ा, यह व्यक्ति सुदूर कनकौओं की लड़ाई देखने में मगन था। एक उदासीनता, जो जीवन की सजीवता का उद्‌गम है, मैंने उनकी उस वृद्ध देह में प्रकाशित देखी। शेर की तरह झपटकर उन्होंने मेरे हाथ से अपनी धोती ले ली, जब मैं अपनी भावना में विभोर उसे धोने लगा। 'यह न चलेगा! भविष्य में कभी यह न करना, नहीं!' पर मैं क्या करता? सेवा ही मेरे प्राण की अभिव्यक्ति है उसके प्रति, जिसे मैं श्रद्धा, प्रेम, स्नेह से अपना स्वीकार करता हूं। प्रेमचंद के प्रति मैं अपनी भक्ति, अपनी श्रद्धा कैसे प्रगट करता? मैंने जवाब दिया—मेरी भी तो कुछ चलने दीजिए! और वे चुप। ओह! वह घटना कितनी रोमांचकारी है? मेरी इस करतूत ने उन पर जो प्रभाव डाला और उससे 'हंस' में उन्होंने मेरा जो 'जिक्र' किया, वह मैं ऊपर लिख चुका हूं।

पर इस आन्तरिक आनंदमय स्पर्श की अनुभूति पर व्यंग जैसे सघन बदली था। मैंने

प्रेमचंदजी की भवों में एक वेदना सोई पाई। वह जैसे समस्त जीवन का उपहास कर रही हो, ऐसा मुझे लगा। वे उस व्यंग को पचाने की कोशिश कर रहे थे। मुझे लगा, वे इतनी परवाह क्यों करते हैं? और मन में आया, यह उनसे कह दूं। लेकिन वाह रे मैं, कितना गलत मेरा वह अंदाज था? रात को उस निर्जन सड़क पर प्रेमचंद का वह तरंग-विनिंदित मुक्तहास आज भी मेरे कानों में गूंज रहा है, ऐसा गुंजार रहा है वह कि ट्रेन की यह कर्ण-कटु आवाज भी उससे मात हो रही है। जैसे अंतरिक्ष में वह सुन्दर हंसी एक अमर थाती के सामन विहंसोही-प्रकृति ने संग्रह कर रखी है! हम लोग—मोदी, और वे—एक बजे रात कवि-सम्मेलन के हुड़दंग की ठेलमठेल देख रहे थे, आवास पर। एक-एक तुक्काड़ के नाज-नखरे ले-लेकर यह दुःखी, दुःखी प्रेमचंद हंस रहा था। हंस रहा था, जैसे सारा जीवन एक मस्त हास्य हो, आनन्द की एक तरंग। विजन-विजन चांद दूधिया आकाश में और एक कातर स्वप्न-स्मृति की भाँति किले की काली काली दीवारें। हम हंसते जा रहे थे। पर यह तो देखो, प्रेमचंद मारे हंसी के टेढ़े हो रहे हैं, लक्कड़! हंस तो हम भी रहे थे, पर हमारे मन मानो सीकचों में बन्द मुंह झलका रहे हों—और इस साहित्य के 'होरी' को तो देखो, जैसे प्रतिपल एक नई हंसी हो! चांदनी रात का वह हास्य आज मुझे पूछ रहा है, तब क्या प्रेमचंद प्रेम और आनन्द की आंसुओं भरी हंसी थे?

बिछौने में उठ बैठते ही मिलने वालों का तांता लगा रहता था और यह दस-दस, ग्यारह-ग्यारह बजे तक खतम न होता। हमें सज्जनों से कहना पड़ता, मुंशीजी को हाथ-मुंह तो धोने दीजिए। यह क म मोदी ने अपना कर्त्तव्य बना रखा था। न मालूम वह क्या सोच थी, वह कौन सी विरक्ति थी, जो उन्हें कपड़ों से, खाने से, पीने से अलग-सा रखती थी? तेल डालियेगा न? 'तुम्हारी इच्छा!' कुर्ता बदल लीजिए। 'अच्छा!' ये ठंडे उत्तर थे।

दिल्ली के संस्मरण अधिकतर कष्टप्रद ही हैं। पर इन्हीं संस्मरणों के बल पर तो प्रेमचंद मुझे अधिक गहरे दिखे। फिर तो वे साल भर तक बम्बई रहे। सिनेमा-संसार में घूमते हुए भी आपने केवल एक ही फिल्म देखा था, और यह भी धनीराम जी कह सुनकर लिवा ले गये थे। संयम की यह सीमा नहीं तो क्या है? यहां तो नया फिल्म आया कि उड़े! चाहे फिर पैसे उधार लेना पड़े। आपकी तबियत बम्बई में कैसी रही? ये बोले—अच्छी रही, संयम से रहते हैं, तो अच्छी क्यों न रहेगी? मैं चुप रह गया। मन में सोचा, यहां तो असंभव ही का बोल-बाला है। प्रत्येक कमजोरी को या तो हम आज फैशन के नाम में, माननीयता के लगो ख्याल के नाम पर हकूक माने बैठे हैं! अवश्याकता इस मदी और सभ्यता का रहनुमा शब्द है। प्रेमचंद मेरे लिए यहां भी एक सबल चुनौती थे, उपरोक्त इशारा, उपदेश।

बम्बई में वे कैसे रहते थे? धन उन्हें मिल रहा था, उनके पत्र बता रहे थे, वे वहां अधिक दुःखी रहते थे। उन्होंने एक पत्र लिखा था—धन कमाना ही जीवन का उद्देश्य नहीं है। कब 'मे' खतम हो और कब बनारस उड़ूं? यहां फिर मजे में गप-शप होगी। सिनेमा की अन्दर की असलियत ने उन्हें निराश ही किया। आदर्श-चेता व्यक्ति के लिए धोखे और पतन का दूसरा स्थान शायद ही और कोई हो, यह उनकी टिप्पणी की ध्वनि थी। मैं तो वहां आदर्श के प्रचार के लिए गया था, पर डाइरेक्टर के राज में कुछ नहीं हो सकता। आदर्श के प्रचार की भूख उन्हें थी। पर उसके पीछे मानव-जाति के कल्याण की कितनी लगन उफन रही थी, यह मैं जानता हूं। उनकी इस भूख ने ही उन्हें इतना साधना-प्रिय बना दिया था।

अब बीमारी। गए अगस्त में घर से लौटा, तो मालूम हुआ वे बीमार हैं। मन में अज्ञात

शंका पैदा हो गई। तब से बराबर वह ज्वाला जलती ही गई। पर बीमारी में वे खूब खुले। इसके पहले भी मैं ईश्वर और आत्मा पर उनके विचार जानता था; शनैः शनैः मृत्यु के मुख में जाते हुए भी वे जीवन के प्रति वैसे ही रहे। 'यह तो होता ही रहता है।' 'आज' के प्रतिनिधि से आपने कहा था—हां, जन्म-मरण का चक्र तो चलता ही रहता है; पर सौन्दर्य के पुजारियों का अंत कितना दु:खद है, ईश्वर ! और उसमें भी जीवन की सुन्दरता के उपासकों का। प्रेमचंद किसी उदासीन शक्ति को मानते थे। बीमारी भर वे मुझे समझाते रहे, कि जीवन में ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। सन्तोष के लिए, अभाव शमन के लिए, आशा की उत्तेजना के लिए उसकी कल्पना कर लो; पर यह है अपने ही अहं का विस्तरण। वे मनुष्य के एक सर्वस्पर्शी सौन्दर्य के प्रकाश में विश्वास करते थे, जो मंगल और कल्याण के रूप में व्यक्त होता है; जिसका मार्ग सत्य है, तपस्या है। वे चाहते थे, हमारी सभ्यता का रूप इसी उद्देश्य की अनंत साधना का हो और सदाशय उनका अशस्त्र था। जीवन को वे ऐसा प्यार करते थे, मानो चींटी गुड़ की डली को। डॉ॰ आत्रेय को आपने कहा था, जीवन योगवाशिष्ठ लिखना नहीं है। बुद्धि का आलोक विलास के अन्तिम रूप में यदि हमें मिले तो उसका मूल्य ही कितना है? पर जीवन का उनका प्रेम उनके अन्तिम दिवसों को सतत युद्ध का रूप दे गया। मैं जानता हूं, किस ललक से वे अच्छा होना चाहते थे। महीनों हो गए, कलम नहीं पकड़ा। जीवन भर जिसे लिखा हो, मजदूरी ही उसके जीवन का आदर्श हो, वह यों खटिया तोड़ता रहे? जब तक कमजोरी घर न कर गई, प्रेमचंद नीरव सरात को लिखते रहे। जलन और रोग का भार उनके लिखने में बाधक न हो सका। लेकिन दिन आया, वह पड़े रहने के सिवा कुछ न कर सकते थे। ओह, घुटना हिलाते-हिलाते वे कभी-कभी आकाश में देखा करते थे, क्या वे किसी चिन्ता में यों देखा करते थे, मैं सोचता हूं। पर नहीं वे आंखें चिन्ता से नहीं गंभीर ध्यानस्थता से ही टिकी रहती थीं। तब क्या वे जीवन के अन्तिम एकरूपता का अनुभव कर रहे थे? वे कभी-कभी फूलों को निरखा करते थे, क्या उनका मूक सुख-दु:ख पूछते थे। यह कवि क्या देखता था, उन फूलों में? और काम करते हुए मजदूरों को जब देखते थे, तब वे किसी युग की ज्योति निहारते थे? ये प्रश्न हैं जिनका उत्तर मैं स्वयं ही दे सकता हूं। बीमार शरीर, पर सच्चे प्रेमचंद का कार्य तो जारी था।

एक दिन घबराकर मैंने पूछा—यदि कहीं कुछ हो गया तो क्या होगा?

सहज उत्तर मिला—क्या होगा, मर ही तो जाऊंगा। तुम लोग हो। और फिर कौन जाने मैं मरूंगा भी।

पर इस सन्देह के हृदय में मुझे जीवन का गहरा-घना मोह ही मिला—वह अनुराग जो बिन्दु से सागर, सागर से महासागर होता रहता है, जो स्वरूप से विरूप होने की चेष्टा में असीम है, अनन्त है। प्रेमचंद की दार्शनिक भूमि घोर जड़वाद के निकट ही एक मानवीय प्रयत्नवाद थी। वे मनुष्य की सभ्यता में उसके आन्तरिक मंगल का उत्तरोत्तर विकास चाहते थे। उनका अध्यात्म जीवन का खुलकर जीना था। अपने समय की मूल प्रवृत्तियों का उनमें एक क्रियात्मक केन्द्र था, जहां से उनके स्वप्न जो स्वस्थ, सप्रेम-मानव-समाज का दिवस देखने को लालायित रहते थे, फूटते रहते थे। और आज का मनुष्य उन्हें मोहे बिना कैसे रहता? प्राचीनता के रूढ़, जर्जर और प्राणहीन स्वरूप का यह कट्टर विरोधी नवीनता के भयों को भी भलीभांति जानता था। खास कर भारतीय दार्शनिक सम्पत्ति पर उनका रोष प्रबल था। अत: संघर्ष की तरंगों में क्रांत मनुष्यों में बातूनी दार्शनिक उन्हें जला देता था। ईश्वर और धर्म मनुष्य के अहं की चरम

सीमा है, उनका प्रोफेसर मेहता 'गोदान' में एक जगह कहता है। यह प्रेमचंद की एक असहाय पुकार है।

मजदूरी को वह अपना धर्म मानते थे, इतना कि विलास से उन्हें जघन्य घृणा थी। एक उदाहरण, जो दुःखद हास्य का प्रतीक है, उनके आत्मा की इस मजबूत नींव को बता देगा। उनकी चारपाई घेरे हम सब बैठे थे और शिवरानीदेवी उन्हें सन्तरे का रस पिला रहीं थीं। मैंने कहा—आजकल तो आपके चेहरे पर सुर्खी नजर आती है। डाक्टर ने भी हामी भरी और जो वहां थे, सभी ने हां में हां मिलाई। प्रेमचंद ने बड़ी रमुज के साथ उत्तर दिया—'हां जी आजकल संतरे भी तो खूब खा गया हूं।' एक कहकहा ! पर इस चुटकी में कितनी गहरी लड़ाई बोल रही है, ताल ठोंक रही है ! मजदूर, गरीब—एक निराश्रित पोषण के सार्वभौम चक्र में पीसित प्रेमचंद की प्रेरणा का सर्वदा झरित उद्गम था। इस दीन हीन अंधकार के प्राणी में वे प्रकाश की संगीत-पूर्ण पीढ़िया मानो पा जाते थे। अतः प्रतिदिन लिखने का उन्होंने धर्म बना लिया था। 'मैं मजदूर हूं, जिस दिन न लिखूं, उस दिन मुझे रोटी खाने का अधिकार नहीं है।' उनके ये शब्द जीवन का वह वाक्य है जो जीवन ही से प्रगट हुआ है। इसीलिए वे जीवन की आग से लिखा करते थे, इसलिए वे समाज के सड़े को दूर करने का जिहाद करते रहते थे, इसीलिए हमें उनका एक योगात्मक जीवनवाद साहित्य में मिलता है। उसने हमारे भूत की थोथी बहकों की परीक्षा की, उनकी चिल्लाहटों से बहरे हमारे जीवन को देखा और वर्तमान के संघर्ष की नस-नस पहचानी। वह नवयुग के प्रकाश को क्षितिज के पार देख चुका था, उन आंखों से जो कलाकार की कहती है। मालती ! वहां चलो, जहां चांदनी में सपने सो रहे हैं ! मैं पूछता हूं, उनके वे स्वप्न क्या थे? अवश्य वे प्रेम-पागल मानव-जाति की कामना के स्वप्न ही थे।

पर इतना होते हुए भी क्या वे निराश न थे? घुटने हिलाते-हिलाते उन्होंने एक बार मुझसे कहा था—ये लड़के जैसे यहां पैदा हुए हैं, कहीं और हो जाते ! जैसे हवा की आंधी लाखों मच्छड़ों को उड़ा ले जाती, बाट तबाह कर जाती है, हमारा जीवन भी उसी समान है। और इसके परे शायद वे देखना चाहते थे। मैं पूछता हूं क्या तब सौंदर्य का मंगल का उनका स्वप्न इस निष्ठुर नींव पर रेंगता था? मुझे तो कुछ समझ में नहीं आता। मैं तो उनकी वह हंसी जानता हूं, जहां जीवन की अंधेरी-उंजेरी एक विस्मृति में किलकती रहती थी।

इस युग का उनका सम्मान बहुत ऊंचा था। वे इस समय की जड़ताओं को जानते हुए भी मनुष्य-मनुष्य के प्रतिदिन बढ़ते जाते सम्पर्क के कायल थे। और यहीं उनकी लोक-संग्रह की भावनाओं का निवास-स्थान था। निश्चय ही सभ्यता के खेत में प्रेमचंद एक विशिष्ट व्यक्ति थे, जो हमारी आज की सत्प्रेरणाओं के गत्यात्मक अभिव्यञ्जन करती है। पर वे विकार को आदर्श मानने को तैयार नहीं थे। आदर्श सत्य का एक स्वप्न है, एक स्वयं-स्फूर्त अनुभूति है—वे यह मानते थे।

पर अन्तिम दिवसों में वे कैसे तपे थे, गले थे, लड़े थे ! ''मैं एक बुढ़िया का हृदय चाहता हूं, जनार्दन ! यों अब जीया नहीं जाता।' बुद्धि की ज्वालाओं में जल-जलकर जीवनी का यह पतंग सिवा जलन के और कुछ न पा सका तब? ओह, निश्चय, वैसा जीवन तो अखंड दीपक का जलना भर है। वे कलाकार थे, हृदय का दरिया न मालूम कितनी पूर्णिमाओं से जल रहित हुआ था; पर अन्त में वे सहस्रशीर्षा रूप में हो गये ! और मैंने उन पुतलियों में अन्तिम बार देखा,

एक नीरव सुनसान मैंने पाया। कौन रहस्य यह जीवन है, मैं सोचता हूं। पण्डित वे न थे, विचारक थे, द्रष्टा थे—पर उन्हें क्या मिला? कौन जानता है यह?

लेकिन क्या प्रेमचंद सचमुच ही मर गये हैं? पाठको, विश्वास है आपको कि यह जीवन की सड़क कूटने वाला 'होरी' सदा के लिए नष्ट हो गया? यह कैसे हो सकता है? हां, उनकी रथी निकल गई, मणिकार्णिका घाट के गंदे कोने में उनका पिण्ड भस्म हो गया। पर प्रेमचंद? क्या वे भ्रान्ति थे, स्वप्न थे, एक ख्याल थे? ओह? क्या मैं आत्मा के अमर अस्तित्व में विश्वास कर लूं? प्रेमचंद, मर कर तुम मुझे आत्मा का स्पर्श बता गए। प्रेम की मेरी ये निराश तरंगें निर्जन तट को चूम लौट आती हैं और मैं कभी-कभी अकेला पाता हूं अपने को। एक दिन मैंने उनसे कहा था, आप ही मेरे विश्वास के समस्त भवन हो गये हो। और 'लील् अंगारिया' मैं आप ही के लिए लिखूंगा। आज यह विजन मैं क्या आपके बिना निराश हूं?

नहीं। मुझे उनके मृत्यु से दुःख नहीं है पर मेरी चिन्ता और ही है। मैं पूछता हूं, सौन्दर्य की यह लहर क्या कर गई इस शोषण और मरण की लीला-भूमि में। हमारे युग की यह आवाज आज क्या सदा के लिए थम गई? कदापि नहीं। जब उनके पात्र, उनकी वाणी हमारी जड़ रगों में जीवन भर रही हैं, भरेंगी, तब क्या उनका वह स्वप्न-वेत्ता ही क्षणभंगुर था? यह तो जीवन का, समय का, समस्त का, दुःखांत व्यंग होगा। तब अमर प्रेमचंद में हमारा विश्वास हमारे उनके अभाव में, वियोग में, प्रेम में, ज्यों का त्यों है।

कितनी बार तब से मैंने कल्पना की है। वे कहां होंगे? क्या कहीं जन्म ले लिया होगा वा किसी गन्धर्व योनि में गए होंगे। किस लोक को वह ज्योतिर्मय हंस उड़ गया?

पर ये प्रश्न ही प्रश्न है, जो प्रतिध्वनि के अपने ही तीर से मूक हो जाते हैं। और मुझे उन्हें पूछना ही न चाहिए। लेकिन इतना तो अवश्य ही है, प्रेमचंद की ऐसी स्मृति के होते हुए जीवन को दुःखद, काला, निराशापूर्ण अभाव कैसे माना जाए।

केवल तीन ख़त

भदन्त आनन्द कौसल्यायन

विद्यार्थी जीवन में मुझे इस बात का अभिमान था कि मैं न कभी कोई उपन्यास पढ़ता हूं न नाटक। अच्छे लड़कों को उपन्यास, नाटक पढना न चाहिए। एक मित्र ने बड़ी कोशिश से मेरे गले यह बात उतारी कि सभी नाटक, सभी उपन्यास हेय नहीं हैं। उन्होंने कहा कि तुम प्रेमाश्रम और सेवा-सदन पढ़कर देखो तो तुम्हारी सम्मति बदल जायगी। मैंने उन्हें पढ़ना शुरू किया, मुझे अच्छे लगे। लेकिन चूंकि मैं इतनी जल्दी हारने, कम से कम, हार मानने के लिए तैयार न था, मैंने बिना समाप्त किये ही उन्हें रख दिया।

अब मैं इस बात पर अभिमान करने लगा कि मैं प्रेमाश्रम और सेवा-सदन जैसे उपन्यासों को बिना समाप्त किये छोड़ सका। पर जिसे मैं अपनी जीत घोषित करता था वह थी मेरी हार। प्रेमाश्रम और सेवा-सदन का जादू मुझ पर असर कर गया था।

मुछ ही दिन बीतने पाये थे, न जाने कब और कैसे मैंने मन को समझा लिया। एक दिन

मेरे हाथ चुपके से फिर प्रेमाश्रम और सेवा-सदन उठा लाये और मुझको होश तब आई जब मैंने दोनों को समाप्त कर दिया। 'कर्मभूमि', 'कर्बला', 'वरदान'—अब जो मिलता वह पढ़ता, और कहा करता कि जो बातें धर्मग्रन्थों में नहीं हैं वह प्रेमचंद के उपन्यासों में है। धर्मग्रन्थ उपदेश देकर तबियत को चिढ़ाते हैं, प्रेमचंद उपदेश न देकर उपदेश दे जाते हैं।

किसी समय उपन्यास नाटकों से नाक भौं सिकोड़ने वाला विद्यार्थी अब प्रेमचंद की भाषा और उनके भावों की प्रशंसा करते न अघाता था। वह उनके किसी भी ग्रन्थ को लेकर बैठता, कागज कलम उसके हाथ में रहती—न जाने कहां कौन अनमोल रत्न मिल जाय? रत्नों की उन चुस्त वाक्यावलियों में क्या कमी थी?

सन् 1928 से 35 तक के साल मेरे जीवन के जलावतनी के साल रहे हैं। इधर सिंहल, बर्मा, स्याम और यूरोप के एक-दो देशों में ऐसा भटकता रहा कि कभी-कभी किसी मासिक पत्र में प्रेमचंद जी की कोई रचना पढ़ लेने के अतिरिक्त सिलसिले से कुछ न पढ़ सका। सन् 1935 में जब कुछ स्थिरता के साथ सारनाथ में रहने लगा तब सुना कि हमारे महाबोधि विद्यालय में एक विद्यार्थी है जो प्रेमचंद जी का सम्बन्धी है और जो उनका पत्र लेकर विद्यालय में भर्ती होने आया है। प्रेमचंद जी का कोई अपना हमारे विद्यालय में पढ़ता है, सुन बड़ी प्रसन्नता हुई मैंने चि॰ कृष्णचन्द को बुलवा भेजा और उससे पता लगा कि सारनाथ से कुल डेढ़ दो की कोस दूरी पर लमही में प्रेमचंद जी रहते हैं। और आजकल घर पर ही हैं। मैंने धर्मदूत[1] के दो-तीन अंकों के साथ चि॰ कृष्णानन्द के हाथ पत्र भेजा। अगले दिन उत्तर मिला—

25-8-35

'प्रिय कौसल्यायन जी, वन्दे !

तीन अंक मिले। अनेक धन्यवाद। मैं दिन भर घर पर रहता हूं। इस मास के अंत तक बाहर जाने वाला हूं। मकान ले रखा है आप जाने का कष्ट करें तो बड़ी कृपा हो।

भवदीय
प्रेमचंद।'

पत्र पाकर हृदय में बड़ी गुदगुदी उठी। इतनी आसानी से इतने बड़े कलाकार के दर्शन करने को मिलेंगे। यह कैसे होंगे? किसी के लेख में पढ़ा था कि खद्दर का कुर्ता पहिने दिन भर कागज पर कलम दौड़ाया करते हैं। उनका अमूल्य समय मैं लूंगा, क्यों लूंगा? तो न जाऊं? लेकिन बिना जाये कैसे रह सकूंगा? यदि आज इस इच्छा को दबा लिया, तो यह कल फिर तंग करेगी। ऐसी हालत में अच्छा है कि आज इसे पूरा कर ही लिया जाय। लेकिन कुछ-न-कुछ बात जो करनी होगी। इच्छा तो केवल यह थी कि एक-आध घंटा मुझे चुपचाप उनके पास बैठे रहने भर की छुट्टी मिल जाय, लेकिन चुपचाप कौन किसे बैठने देता है—इस सभ्यता के युग में?

सोचा, तो कुछ प्रश्न ले चलूं। लेकिन प्रश्न करने के लिए भी तो अकल चाहिए, ज्ञान चाहिए और ईंजानिब हैं 'साहित्य-संगीत-कला-विहीन:'। इस तरह के नाना विचार उठते रहे और स्कूल की छुट्टी हो गयी। चि॰ कृष्णचंद ने पूछा—'चलेंगे'? मैंने कहा 'हां' और साथ हो लिया।

---

1 सारनाथ में 'धर्मदूत' नाम का एक छोटा-सा पत्र निकलता है।

खेतों की मेड़ों पर बड़ी सावधानी से चलते हुए, कहीं-कहीं बरसाती पानी के छोटे-छोटे गढ़ों को फांदते-लांघते मगरिब में डूबते सुनहरी सूर्य की किरणों का आनंद लूटते समय घर पहुंचा जब सूर्य अस्त हो रहा था, हो चुका था। कृष्णचन्द ने जाकर खबर दी। अन्दर से कुंडी खटकी और सामने की बैठक का दरवाजा ऐसे खुला जैसे कोई परदा हटा हो। उसके पीछे से एक हंसती हुई मूर्ति ने ऐसे अपनेपन से मेरा स्वागत किया कि मुझे बेवकूफी पर हंसी आने लगी—ऐसे घरेलू तबियत के आदमी से मिलने के लिए इतनी उधेड़बुन ! उन्होंने बात छेड़ी—शायद राहुल जी का हाल पूछा, मैंने उत्तर दिया। सिंहल साहित्य की बात चली और फिर तो प्याज के छिलकों की तरह एक बात में से दूसरी बात ऐसे निकलती गई कि कितना ही समय व्यतीत हो गया और पता ही नहीं लगा। एक बार ईश्वर की चर्चा भी चली। उन्होंने कहा 'जो ईश्वर को नहीं मानते हैं, वह भी किसी स्वजन के मरने पर रोते हैं, जो मानते हैं उनसे भी बिना रोये नहीं रहा जाता। ऐसी हालत में ईश्वर मानने का फायदा?' मुझे पता लगा कि हमारा कलाकार निरंतर विकसित हो रहा है। उस दिन लौटते समय अंधेरा और बरसात तक कारण रास्ते में कुछ कष्ट हुआ, काफी कष्ट हुआ, लेकिन उससे तो तीर्थयात्रा का पुण्य भी बढ़ा।

सिंहल-प्रवास के कारण मुझे वहां की भाषा और साहित्य का कुछ ऊपरी ज्ञान हो गया है। जिस समय भारतीय साहित्य-परिषद के मुख-पत्र के रूप में 'हंस' निकलना आरम्भ हुआ, मुझे ख्याल आया कि सिंहल साहित्य का भी उसमें कुछ स्थान रहना चाहिए। एकाध सिंहल कविताओं के अनुवाद 'हंस' में छपे। एक दिन मैंने श्री नन्ददुलारे वाजपेयी का एक विचारपूर्ण लेख पढ़ा, जिसका शीर्षक था 'बुद्धिवाद'। मुझे अच्छा लगा। उसमें बुद्ध-विचार के बारे में कुछ विचार थे। उनके विचारों के सम्बन्ध में एक छोटा-सा नोट लिखकर उस चर्चा को आगे बढ़ाने का अपना लोभ संवरण न कर सका। 'बुद्ध का बुद्धिवाद' शीर्षक से मैंने कांपते हाथों कुछ पंक्तियां लिखीं—किसी के विचारों की आलोचना करना और उसको भरसक कटु न होने देना कठिन अभ्यास-साध्य कार्य है और उन्हें सम्पादक 'हंस' के पास भेज दिया। मैं उन दिनों सिंहल में था। लौटती डाक में प्रेमचंद जी ने उत्साह बढ़ाया—

14-2-36

'प्रिय आनंद जी,

आपका नोट मिला। धन्यवाद। इसकी जरूरत थी। छापूंगा।

हां, सिंहल, साहित्य के विषय में अगर कोई लेख भेज सकें तो बड़ा अच्छ हो। इसे तो हम कुछ जानते ही नहीं। उसका कुछ आलोचानात्मक इतिहास ही हो तो कोई हर्ज नहीं।

अगर इंग्लैण्ड जायें तो वहां से 'बौद्ध साहित्य' पर एक अच्छा-सा लेख लिखें, केवल उसके धर्म-साहित्य पर नहीं, बल्कि बैद्धकालीन साहित्य पर। ऐसे लेख की बड़ी जरूरत है।

आशा है आप प्रसन्न हैं।

आपका

प्रेमचंद।'

मैंने हिन्दी पत्रों में अधिक लेख नहीं लिखे, इसलिए अपने सम्पादक-प्रवरों से कोई विशेष-पत्र-व्यवहार भी नहीं रहा। लेकिन जिन-जिन सम्पादकों ने कभी-कभी कुछ लिख कर मुझे उत्साहित किया है उनमें कभी किसी ने इतनी नपी तुली उत्साहवर्धक पंक्ति नहीं लिखी—

'आपका नोट मिला। धन्यवाद। इसकी जरूरेत थी। छापूंगा।'

दूसरी बार इंग्लैण्ड जाने का विचार छोड़कर मैं सिंहल से वापस सारनाथ चला आया। एक दिन मुझे भारतीय साहित्य-परिषद के मंत्री की चिट्ठी मिली जिसका मतलब था। कि यदि कोई आपत्ति न हो तो मुझे भा॰ सा॰ परिषद का सभासद बना लेना चाहते हैं। हिन्दी भाषी-भाषियों में सिहंल साहित्य के कुछ परिचय रखने वाला-यही अपने राम की विशेषता समझी गयी होगी। मैंने धन्यवादपूर्वक प्रतिज्ञा-पत्र भरकर लौटा दिया। किसी भी संस्था का सभासद बनते समय एक भिक्षु के लिए जो बात विचार लेने की होती है, वह चन्दे की है। सो इसमें न था। भा॰ सा॰ परिषद के उद्देश्यों से मेरी सहानुभूति थी और है, तथा मैं श्रद्धापूर्वक कुछ सेवा करना चाहता था और चाहता हूं। सभासद बनने के बाद मेरे पास भा॰ सा॰ परिषद के मंत्री के हस्ताक्षर से कभी-कभी पत्र आने आरम्भ हुए-लेकिन सभी अंग्रेजी में। सम्भव है कभी कोई हिन्दी में आया हो, लेकिन दिमाग पर जोर डालने पर भी तो याद नहीं आ रहा है। मैं स्वयं अंग्रेजी में पत्र लिखता हूं, कभी-कभी भारत में भी और वैसे भारत के बाहर। जो दो चार भाषाएं जानता हूं, उन सब में समय-समय पर पत्र लिखवाने रहना चाहता हूं-कम से कम इसी ख्याल से कि अभ्यास बना रहे। लेकिन भा॰ सा॰ परिषद के मंत्री तो दूसरी चीज है। वह अपने व्यक्तिगत पत्र चाहे जिस भाषा में लिखे लेकिन भारतीय-साहित्य परिषद के मंत्री के पत्र तो उसे हिन्दी में और केवल हिन्दी में ही लिखने या लिखवाने चाहिए। हिन्दी में न लिख कर यदि किसी अन्य भारतीय भाषा में लिखे तो भी मुझे आपत्ति नहीं, लेकिन, भा॰ सा॰ परिषद का मंत्री और पत्र लिखे एक अभारतीय भाषा में और ऐसी अभारतीय भाषा में, जिसकी मानसिक गुलामी से देश को मुक्त करना हमारी राष्ट्रीय समस्या है। कुछ इसी प्रकार के विचारों से क्षुब्ध होकर मैंने प्रेमचंद जी को एक पत्र लिखा। उत्तर मिला-

'प्रिय आनंद जी,

क्या आप समझते हैं, अंग्रेजों की गुलामी से भारतीय परिषद् मुक्त है? जब कांग्रेस की सारी लिखा-पढ़ी अंग्रेजी में होती है, तो भारतीय परिषद् तो उसी का बच्चा है। मन्त्री जी हिन्दी नहीं जानते, मगर हिन्दी के भक्त अवश्य हैं। अगर आप ऐसे भक्तो का दबायेंगे तो वह भाग खड़े होंगे।

'हंस' सितम्बर से सस्ता साहित्य देहली से प्रकाशित होगा। मैंने उसके सम्पादन से इस्तीफा दे दिया। मैं इधर एक महीने से बीमार हूं।

अगर अच्छा हो गया तो यहां से अपना एक नया पत्र प्रागतिक लेखक-संघ की विचारधारा के अनुसार निकालूंगा।

मुझे आशा है, इस नई योजना में मैं आपकी मदद कर भरोसा कर सकूंगा।

प्रेमचंद।'

इस पत्र को उद्धत कर चुकने पर मन में इतने भाव उठ रहे हैं, कि आगे कुछ लिखा नहीं जाता। उस दिन बीमारी की अवस्था में मैं कविवर मैथिलीशरण जी के साथ जो उनके दर्शन कर आया, बस वही अंतिम दर्शन रहे। 'अगर अच्छे हो जाते-' तो उनकी अंत के दिनों की इच्छा थी 'एक नया-पत्र प्रागतिक लेखक-संघ की विचारधारा के अनुसार निकालने की।' मुझे यह देखकर संतोष और हर्ष हो रहा है कि माता शिवरानीदेवी 'हंस' को चलाये जा रही हैं। उसका यद्यपि

नाम पुराना ही है, लेकिन है वह प्रेमचंद जी का 'नया पत्र।'

मुझसे उसकी जो 'मदद' बन सकेगी, वह मेरा सौभाग्य होगा।

प्रेमचंद

श्री ऋषभचरण जैन

मुझे प्रेमचंद को पास से देखने और समझने का कुछ मौका मिला था और मेरी राय है कि वह सचमुच बहुत बड़े आदमी थे। यों 'बड़ा आदमी' उसे भी कहा जाता है जिसके पास बहुत-सा रुपया हो, और उसे भी जो बहुत पढ़ा-लिखा हो या जिसने अपनी आत्मा को ऊपर उठा पाया हो। लेकिन इन सभी तरह के बड़े आदमियों के बड़प्पन का पता हमें उनकी बाहरी तड़क-भड़क देखकर या धुआंधार स्पीच या फिर आत्म-ज्ञान के लम्बे लेक्चर सुनकर ही होता है। प्रेमचंद एक उसे आदमी थे जिनके पास रुपया खुदा का नाम ही था, किसी खास तरह की डिग्री भी नहीं थी, जिसके सहारे उनकी गिनती दुनिया के बड़े भारी पढ़े-लिखों में की जा सकती। फिर भी एक बहुत बड़े आदमी थे।

प्रेमचंद का जीवन सख्तियों और मुसीबतों की एक किताब है। उन्हें न बचपन में गेंद-बल्ला खेलना नसीब हुआ, न जवानी में इश्कबाजी का मौका मिला, अधेड़ होने पर भी दिल, दिमाग और तन के लिए वह चीजें हासिल न हुईं, जिनके सहारे आज के साहूकार बुढ़ापे में जवान बने रहते हैं। उन्होंने हमेशा मोटा खाया और मोटा पहना। वह गरीब बाप के बेटे थे और गरीबी की डरावनी छाया में उन्होंने स्कूल और कालेज की सीढ़ियां पार कीं। जिस वक्त वह बी० ए० पास करके एक स्कूल के मास्टर हुए, तो उनके जीवन की ताजगी जा चुकी थी, वह अब जवानी और बुढ़ापे की चौखट पर खड़े थे। उनके मिजाज का रंग फीका पड़ गया था, और दुनिया की तरफ उनकी तबीयत का रुख अजीब बन गया था। यही वह ज़माना था, जब हिन्दुस्तान में गांधी की आंधी चल रही थी और लोग सूखे तिनकों की तरह उसमें उड़े जा रहे थे। लोग मुल्क पर कुर्बान हो जाने के लिए पागल हो रहे थे। तभी ही आंधी के झोंके ने प्रेमचंद को भी हिता दिया औन उन्होंने सरकारी नौकरी से इस्तीफा दे दिया।

फिर उनका कानपुर के मारवाड़ी स्कूल में हेडमास्टर बनना, एक विधवा से विवाह करना, पहले नवाबराय और फिर प्रेमचंद के नाम से उर्दू और हिन्दी में लिखना—यह ऐसी बातें हैं जिन्हें आप में से शायद सभी जानते होंगे या हाल ही में अखबारों में उनके बारे में निकले हुए लेखों में आपने पढ़ लिया होगा। मैं यहां ऐसी कुछ बातें बताना चाहता हूं, जो बहुत ही कम लोगों को मालूम हैं और जिनसे उनके जीवन के इस-उस पहलू पर रोशनी पड़ती है।

प्रेमचंद से मैं पहले-पहल मिला तो मैं थोड़ा-बहुत लिखना शुरू कर चुका था। लेकिन यह वह स्टेज था, जब आदमी खुद यह नहीं जानता कि बड़े लोग उसकी चीजों के बारे में क्या सोचते हैं। मेरा एक नावल 'मास्टर साहब' तभी छप चुका था और उस वक्त मुझे पर कुछ इतना नाज़ था कि मैंने इस डर से प्रेमचंद के पास उसकी कापी न भेजी कि कहीं वह उस पर नापसंदी की मुहर न लगा दें। इस वक्त वह 'माधुरी' में थे। मैं चाहता था, खुद मिलने पर अगर उनके

साथ तबीयत की मीजान खा सकी तो 'मास्टर साहब' उन्हें दिखाऊंगा। लेकिन मेरे अचरज की हद न रही, जब उन्होंने खुद ही 'मास्टर साहब' का जिक्र छेड़ा और बताया कि उसे उन्होंने पढ़ा है और वह उन्हें पसन्द आया है।

तब तो उनसे बातचीत का लंबा सिलसिला छिड़ा। वह एक निहायत सीधी सादी बैठक में निवार के नंगे पलंग पर बैठे थे जहां न गद्दा था, न तकिये थे, न गलीचों की बहार थी और न झाड़-फानूस ही दिखाई देते थे। बदन पर शायद गाढ़े की एक घटिया सिलाई की कमीज और धोती थी, और अधपके बाल और किसान जैसा चेहरा लिए उन हिन्दी के उपन्यास-सम्राट् से ऐसी ऐसी बातें हुई, जिन्हें सुनकर मुझे अनेक बार चमकना पड़ा।

तभी प्रेमचंद के विचार जानने का वास्ता पड़ा।

वह पक्के 'आइडियलिस्ट' थे। अपने उपन्यास-कहानियों में उन्होंने शायद मोटेराम शास्त्री की 'सत्याग्रह' और कुछ दूसरी कहानियों को छोड़कर हमेशा 'आइडियलिज्म' का पल्ला पकड़े रक्खा। मेरा उनसे उस मामले में विरोध था। मैं कहता था कि उपन्यास-कहानी के मामले में हमें सन्त-महन्त, लेक्चरर या धर्म-गुरु बनने की जरूरत नहीं, कहानिया जिन्दगी की तस्वीरे हैं और जिन्दगी कमजोरियों का मजमुआ है। उनका कहना था, कहानी लिखी जाती है दिलचस्पी के लिए और शिक्षा के लिए। मेरा कहना था, कहानी दिलचस्पी के लिए जरूर लिखी जाती है, लेकिन दिल की भूख मिटाना कहानी का सबसे पहला काम है। हो सकता है कि आपकी भूख सदाचार का लेक्चर देने वाली कहानी से मिटती हो, लेकिन मेरी भूख, गी द मोपासां, एण्टन चेखब, वाशिंगटन इर्विंग और रवीन्द्र की कहानियों से मिटती है, या खुद अपनी कहानियों से भी मिटती है। लेकिन इन सब बातों के जवाब में उन्होंने एक मार्के की दलील दी थी जिसका मतलब था कि, हिन्दुस्तान को फिलहाल प्रेमचंद की कहानियों की जरूरत है, गी द मोपासा और एण्टन चेखव की नहीं।

सच, हिन्दुस्तान को आज भी प्रेमचंद की कहानियों की ही सबसे ज्यादा जरूरत है। क्या उनके 'सप्त-सरोज' की सातों कहानियां ऐसी चीजें नहीं, जिसे हजारों बरस तक एक ऋषि की वाणी समझकर 'हमारे बच्चे पढ़े? क्या उनकी चार सौ के करीब कहानियों में जीवन का कोई ऐसा पहलू है, जो जाहिर होने से रह गया हो? क्या उनकी कहानियां हमें हिन्दुस्तान के कल, आज और आने वाले कल की चमका देने वाली झांकी नहीं देतीं? प्रेमचंद की बहुत-सी कहानियां हमारी राय में धर्ममन्दिरों तक में पढ़ी जाने लायक हैं।

उसूल का मतभेद दूसरी बात है, लेकिन मैं सच्चा दिल से प्रेमचंद को हिन्दुस्तान का प्रतिनिधि कहानीकार (Representative story-writer) मानता हूं। खेत, किसान गांव, ढोर, खलिहान—हिन्दुस्तान की बपौती है, और इन चीजों के इर्द-गिर्द घूमती हुई जितनी कहानियां प्रेमचंद ने लिखी हैं, उतनी और किसी ने नहीं। इसलिए मैंने प्रेमचंद को हिन्दुस्तान का Representative story-writer कहा है और जहां तक मै समझता हूं—ठीक कहा है।

लेकिन जब एक बार मैंने उनसे पूछा कि हिन्दी में आपकी सबसे अच्छी कहानी कौन-सी है, तो उन्होंने सीधे-साधे ढंग में जवाब दिया कि उनकी सबस अच्छी कहानी अभी छपी ही नहीं है। कितना अजीब जवाब था ! सच तो यह है कि इसी जवाब में उनकी महानता का भेद छिपा था।

मैंने प्रेमचंद का हरेक उपन्यास पढ़ा है। यों तो उनके सभी उपन्यास लोगों ने पसन्द किये

हैं, लेकिन 'रंगभूमि' मेरी राय में उन्हीं का नहीं हिन्दुस्तान का सबसे अच्छा उपन्यास है। 'रंगभूमि' में कहानी है काव्य (Poetry) है, फिलौसफी है, मनोविज्ञान (Psychology) है और ढूंढने पर नीति, धर्म और सोशलिज्म का भी बहुत-सा मसाला मिल जायगा। 'रंगभूमि' हमारी जिन्दगी का खाका है, जिसके जोड़ की कल्पना थैकरे के 'बैनिटी-फेयर' में और मेरी कॉरिली के 'बेण्डेट्टा' में जरा-जरा मिल जाय, वरना दुनियां में और कहीं नहीं मिलेगी।

'रंगभूमि' में तो हमारी आत्मा की जीती-जागती तस्वीर खड़ी दिखाई देती है, जहां हम अपने घर का, अपनी सोसाइटी का, अपने देश का सीधा और सच्चा खाका देख पाते हैं।

'प्रेमाश्रम' और 'सेवासदन' भी प्रेमचंद की जानी हुई चीजें हैं। लेकिन इन चीजों को सिर्फ उपन्यास कहना उनके साथ बेइन्साफी करना है। मैं तो इन दोनों चीजों को बीसवीं सदी के 'रामायाण', 'महाभारत' समझता हूं, जिसमें उन्होंने हिन्दुस्तान की सोसाइटी के असल रूप की बढ़िया Allegory (अलंकृति–रूपक) की है।

प्रेमचंद की दूसरे उपन्यास 'प्रतिज्ञा', 'निर्मला', 'गबन', 'कर्मभूमि', 'गोदान' अपने-अपने ढंग की अच्छी चीजें हैं और ऊपर लिखे तीनों उपन्यासों की लाइन में एक के बाद दूसरी का अपना-अपना अच्छा स्थान है।

प्रेमचंद की आदत में 'प्रोपेगण्डा' की जगह न थी। उन्होंने इतनी किताबें लिखीं लेकिनएक छोटी-सी कहानी 'समर-यात्रा' को छोड़ कभी उनकी कोई चीज जब्त न हुई। उनकी निगाह हर किसी कि तरफ हमदर्दी से भरी थी। वह आदमी की कमजोरियों को भूल ही नहीं जाते थे, उनमे दिलचस्पी लेते थे, और उनकी इज्जत करते थे। उनका भाव न सरकार के लिए नफरत भरा था, न हिन्दू-मुसलमान, ईसाई के लिए उनके मन के विचारों में भेद था। वह आदमी थे और आदमियों के ही प्रतिनिधि (Representative) थे, और उन्होंने कभी अपने आपको विचलित न होने दिया।

प्रेमचंद का स्वभाव बहुत ही हंसमुख और दिल्लगीबाज था। बात का जवाब ऐसा बावन तोले पाव रत्ती देते थे, कि सुनने वाला दंग रह जावें। चीजों के बारे में उनका भाव बहुत ही आनन्द-भरा रहता था। उनकी कलम में और सूरत मे जो सिधाई हम देखते हैं। उनकी बातों से ऐसा न लगता था। वह एक मिठास-भरे आदमी थे, जिनके चेहरे-मोहरे पर चाहे वक्त की सख्ती असर कर गई हो, लेकिन दिल ज्यों-का-त्यों कच्चे दूध की तरह मधुर और स्वच्छ था। पांच बरस पहले जब वह दिल्ली आये थे, तो मैं, जैनेन्द्र और वह कुतबमीनार की सैर को गये। साथ मे थोड़ी-सी पूरियां थीं। खाने बैठे तो सवाल हुआ कि पानी कौन लावे। मैंने कहा, जो जायेगा, वह घाटे में रहेगा, क्योंकि पूरियां कम हैं जैनेन्द्र की राय थी कि मुझे ही यह खतरा लेना चाहिए। लेकिन प्रेमचंद ने कहा—मैं बूढ़ा आदमी हूं, मैं जाता हूं, मुझ पर आप लोग जरूर ही रहम करेंगे। पानी तो उन्हें न लाने दिया गया, लेकिन उनकी बातों ने हमें खूब हंसाया। जब मैंने उनसे कहा कि कुतुब की लाट पर चढ़ा जाये, तो हज़रत जवाब देते हैं, कि नीचे खड़े हुए इस लाट का बड़प्पन हमारे दिलों पर है, ऊपर चढ़ने पर वह कम हो जायगा, इसलिए ऊपर चढ़ना मुनासिब नहीं। इसी मौके पर मैंने एक फोटो खिंचवाया। जब इस फोटो की कापी प्रेमचंद को भेजी गयी, तो उन्होंने लिखा—'फोटो मिला, मेरा मुंह टेढ़ा आया है, क्या करें, नसीब ही टेढ़ा है।' इसी मरतबा एक और घटना भी हो गई थी। उस मौके पर दिल्ली की हिन्दी-प्रचारिणी-सभा ने उन्हें मान-

पत्र देने का निश्चय किया। प्रेमचंद शायद उसी रात को चले जाने वाले थे। लेकिन अकस्मात् एक पंजाबी सज्जन ने खड़े होकर कहा–'साहबो, मैं प्रेमचंदजी को आज न जाने दूंगा। बरसों पहले की बात है; मेरे बुरे दिन आ गये। मैं लाहौर का निवासी हूं, लेकिन बुरे वक्त में अपना शहर छोड़कर रोज़गार की तलाश में कलकत्ता पहुंचा। उस समय मेरी जेब में सिर्फ एक रुपया था। इत्तफाक से स्टाल पर उर्दू का रिसाला बिक रहा था, जिसमें मुंशी प्रेमचंद की एक 'मन्त्र' नाम की कहानी छपी थी। साहबो, मैंने जेब के उस आखिरी रुपये का मोह छोड़कर रिसाला खरीद लिया और इस कहानी ने मेरी जीवन में ऐसा 'मन्त्र' फूंका कि आज मेरा जीवन एक दम बदल गया है।' यह महाशय अब दिल्ली के ठेकेदारी का व्यापार करते हैं और सम्पन्न हैं। उन्होंने प्रेमचंद को जाने न दिया और दूसरे दिन सब लोगों को अपने यहां आमन्त्रित किया।

प्रेमचंद चले गये हैं। लेकिन क्या इस तरह के छोटे-मोटे लेख में हम उनकी महानता का वर्णन कर सकते हैं? इसके लिए तो वक्त चाहिए और काबिल लिखने वाला चाहिए। मैं तो फिलहाल इस तरह लोगों का ध्यान बटाना चाहता हूं कि हिन्दुस्तान के इतने बड़े आदमी के जीते जी हम उसे साथ-साथ इन्साफ न कर सके।

श्री प्रेमचंद जी याद में

श्री महेशप्रसाद, मोलवी आलिम फाजिल

सन् 1912 ई० में श्री प्रेमचंद जी हमीर जिला में शिक्षा विभाग के सब-डिप्टी-इन्स्पेक्टर थे। महोबा में रहते थे। मुझे ठीक याद नहीं कि मई का महीना था। या जून का जबकि मुझे आर्य समाज के एक प्रचार के रूप में महोबा जाना पड़ा था। उस समय मुझे उन्हीं के यहां ठहरना पड़ा था। यही पहला अवसर था कि मुझे केवल दर्शन का ही सौभाग्य प्राप्त न हुआ था बल्कि उनके यहां ठहरने और सात-आठ दिनों तक ठहरने के कारण उनके आचार-विचार से भी बहुत कुछ लाभ उठाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

मैं उस समय नवयुवक था। सांसारिक अनुभवों से बहुत कम परिचित था। मुझसे कहीं अधिक अनुभवी थे। अत: दोनों समय एक साथ भोजन करने, दिन-रात में कई बार बातचीत होने से निम्नलिखित बातों के संबंध में उनसे लाभ उठाने का अवसर प्राप्त हुआ था–

(1) आर्यसमाज और उसके कार्य-सम्बन्धी बातों के विषय में।

(2) उनके द्वारा ही मुझे ईसाइयों के उस कार्य के विषय में बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त हुआ था जो उस समय केवल महोबा में ही नहीं, बल्कि हमीरपुर जिले में भी हो रहा था। उन्होंने बताया था कि हमारी सामाजिक त्रुटियों का ही फल है कि महोबा अथवा बुन्देलखण्ड के स्थानों में हिन्दुओं के अनेक लड़की-लड़के ईसाईयों के घरों में पहुंच गये हैं।

(3) महोबा से सम्बन्ध रखने वाली कई-ऐतिहासिक बातें मुझे उनसे ही मालूम हुईं थीं, और उन बातों के जानने के कारण महोबा का विशेष रूप से देख सका था।

(4) कुछ बातें लेखन-शैली विषयक थीं।

उस समय मेरे साथ दो महाशय और थे। हम तीनों का सत्कार उन्होंने निरन्तर सात-आठ रोज तक जिस प्रेम व नम्रता के साथ किया था उसको हम कभी नहीं भूल सकते। निदान आज, जब कि उनके व्यक्तित्व और उनके उस सद्व्यवहार, सरलता, व उदारता का ध्यान दिल में आता है, तो प्रशंसा और श्रद्धा के भाव हृदय से निकले बिना नहीं रह सकते।

सन् 1912 ई० के बाद उनसे पुन: मिलने का अवसर सन् 1921 ई० में बनारस में मिला था। महोबा में मिलने व ठहरने का स्मरण दिलाते ही उनको पूर्व बातों का ख्याल आ गया। इसके पश्चात् कभी-कभी मिलना-जुलना बराबर हो ही जाता था परन्तु यह बात कहे बिना नहीं रह सकता कि सन् 1921 ई० या उसके बाद में उनकी प्रतिष्ठा सन् 1912 ई० में यद्यपि कहीं अधिक हो गई थी तथापि उनमें नम्रता व सरलता आदि सद्भावों में कुछ कमी मुझे प्रतीत न हुई, बल्कि वह भी उन्नति के शिखर पर ही बैठी हुई प्रतीत हुई।

2

श्री प्रेमचंद जी को जो अक्षय कीर्ति हिन्दी में प्राप्त है वह स्पष्ट ही है ; उर्दू में भी उनकी प्रतिष्ठा हिन्दी से कम नहीं है।

24 और 25 अक्टूबर सन् 1936 ई० को अलीगढ़ में उर्दू की एक विशेष सभा हुई थी। उसमें भारत के अनेक भागों के लोग सम्मिलित हुए थे। जिनको उर्दू के प्रति प्रेम है। उस अवसर पर श्री प्रेमचंद जी के बारे में मुझे अनेक लोगों ने जो कुछ पूछा और उनकी मृत्यु पर अनेक उर्दू समाचार-पत्रों और पत्रिकाओं में जो कुछ छपा उससे मालूम हुआ कि मुसलमान उर्दू भक्त भी उनको उसी आदर की दृष्टि से देखते थे।

यह कहना भी अनुचित नहीं कि श्री प्रेमचंद जी हिन्दी जगत् में प्राय: उपन्यास लेखक, कहानी लेखक के रूप में ही प्रसिद्ध हैं। किन्तु 'जागरण' और 'हंस' के लेख व टिप्पणी आदि इस बात के साक्षी हैं कि वह कुछ और भी थे। इसके सिवा उर्दू के कुछ पत्र पत्रिकाओं में उनके जो लेख किसी समय में अनेक विषयों पर निकल चुके हैं उनसे स्पष्ट है कि वह अच्छे टिप्पणीकार, समालोचक, उच्चकोटि के विचारशील व्यक्ति थे। उनकी एक पुस्तक उर्दू में 'बा कमालों के दर्शन' के नाम से प्रकाशित है। इसमें अनेक महापुरुषों के जीवन चरित्र हैं। यह वह चरित्र भाषा, विचार और शैली की दृष्टि से बड़े अच्छे हैं।

बहुत दिन हुए उन्होंने अपना एक उर्दू लेख किसी पत्रिका में छपवाया था। वह भारतीय इतिहास से सम्बन्ध रखने वाला था। मुझे खेद है कि न तो इस समय उस पत्रिका का नाम याद आ रहा है और न उस लेख का ही।

3

'जमाना' पत्रिका के सम्पादक मुंशी दयानारायण निगम जी के साथ श्री प्रेमचंद जी का घनिष्ट सम्बन्ध था। सन् 1923 ई० में निगम जी को एक छोटे बच्चे की मृत्यु का दु:ख सहना पड़ा था। इस अवसर पर निगम जी को आपने जो पत्र उर्दू में लिखा था उसका आशय यह था—
'भाई जान ! तस्लीम—

कल प्रात:काल एक पत्र लिखा। सांयकाल आपका कार्ड मिला। पढ़कर दु:खी हुआ बीमारियों और परेशानियां तो जीवन के तत्त्व हैं; किंतु बच्चे की शोकजनक मृत्यु एक हृदय विदारक घटना है और उसे सहन करने का यदि कोई ढंग है तो यही कि संसार को एक तमाशा

का स्थान या खेल का मैदान समझ लिया जाय। खेल के मैदान में वही व्यक्ति प्रशंसा का भागी होता है जो जीत से फूलता नहीं, हार से रोता नहीं। जीते तब भी खेलता है, हारे तब भी खेलता है। जीत के बाद यह उद्योग होता है कि लड़े नहीं। हार के बाद जीत की अभिलाषा होती है। हम सबके सब खिलाड़ी हैं, किन्तु खेलना नहीं जानते। एक बाजी जीती, एक गोल जीता, तो 'हिप हिप हुर्रे' की ध्वनि से आकाश मण्डल गूंज उठा, टोपियां आकाश में उछलने लगीं, भूल गये कि यह जीत सर्वदा के लिए विजय की गारण्टी नहीं है कि दूसरी बाजी में हार न हो। इसी प्रकार यह भी स्पष्ट रहे कि यदि हारे तो उत्साहरहित हो गये, रोये, किसी को धक्के दिये, फाउल खेला और ऐसे उत्साहहीन हो गये मानो फिर जीत के मुख देखने का सौभाग्य प्राप्त न होगा। ऐसे ओछे, अधम व्यक्ति को खेल से विस्तृत मैदान में खड़े होने का कोई अधिकार नहीं। अंधेरी कोठरी और पेट की चिन्ता, केवल यही उसके जीवन की सृष्टि है।

हम क्यों ख्याल करें कि हमें भाग्य ने धोखा दिया? ईश्वर को क्यों कोसें? हम इस विचार को सम्मुख रखकर क्यों दु:खी हों कि जगत् हमारे सामने से हमारी भरी थाली खींच लेता है? क्यों इस चिन्ता से पीड़ित हों कि डाकू हमारे ऊपर छापा मारने की ताक में है? जीवन को इस दृष्टि से देखना अपने हृदय की शान्ति से हाथ धोना है। बात दोनों एक ही है। डाकू ने छापा मारा तो क्या, हार में घर की सारी पूंजी खो बैठे तो क्या? भेद केवल यह है कि एक बात मजबूरन होती है और दूसरी अपनी ओर से होती है। डाकू जबरदस्ती जान और माल पर हाथ बढ़ाता है, किन्तु हार जबरदस्ती नहीं आती। खेल में सम्मिलित होकर हम स्वयं हार और जीत को बुलाते हैं। डाकू के द्वारा लूटा जाना जीवन की साधारण बात नहीं, बल्कि यह तो एक असाधारण घटना है। खेल में हारना और जीतना साधारण बातें हैं। जो खेल में सम्मिलित होता है वह भलीभांति जानता है कि हार और जीत दोनों सामने आयेंगी। इस कारण उसे हार से निराशा नहीं होती, जीत से फेल नहीं जाता। हमारा काम तो केवल खेलना है—खूब दिल लगाकर खेलना, खूब जी तोड़कर खेलना, अपने को हार से इस प्रकार बचाना, मानो हम दोनों लोकों की सम्पति खो बैठेंगे। किन्तु हारने के पश्चात्, पटखनी खाने के बाद, धूल झाड़कर हमें खड़े हो जाना चाहिए और फिर ताल ठोंकर विरोधी से कहना चाहिए कि एक बार और!

खिलाड़ी बनकर वास्तव में आपको बहुत शान्ति प्राप्त होगी। मैं स्वयं नहीं कह सकता कि इस कसौटी पर मैं पूरा उतरूंगा या नहीं, पर अब मुझे किसी क्षति पर इतना खेद कदापि न होगा जितना आज से कुछ वर्षों पूर्व हो सकता था। मैं संभवत: अब यह न कहूंगा कि हाय, जीवन व्यर्थ हुआ! कुछ न किया!

जीवन खेलने के लिए मिला था। खेलने में कमी नहीं की। आप मुझसे अधिक खेले हैं। और हार और जीत दोनों देख चुके हैं। आप जैसे खिलाड़ी के लिए भाग्य को कोसने की आवश्यकता नहीं। कोई गोल्फ और पोलो खेलता है, कोई कबड्डी खेलता है। बात एक ही है। और हार जीत दोनों ही मैदान में हैं। कबड्डी खेलने वाले को जीत की प्रसन्नता कुछ कम नहीं होती। इस हार के लिए खेद न कीजिए। आपने स्वयं खेद न किया होगा। आप मुझसे अधिक अभ्यासी हैं।' इत्यादि

मृत्यु के कुछ काल पहले मैं कई बार पहले उनकी सेवा में पहुंचा था। वह जान गये थे कि अब बीमारी से छुटकारा पाना असंभव है, किन्तु उनके मुख या शब्दों से किसी प्रकार भी

घबराहट या चिन्ता प्रतीत नहीं होती थी। निदान जो कुछ उन्होंने लिखा वह सर्वथा उन पर चरितार्थ हो रहा है। इस सम्बन्ध में अधिक क्या कहा जाय। ईश्वर उनकी आत्मा को शान्ति प्रदान करे!

प्रेमचंद

श्री गौरीशंकर मिश्र 'द्विजेन्द्र'

प्रेमचंद ! तुम छिपे, किन्तु यह नहीं समय था;
प्रेमसूर्य का अभी कहां हा ! हुआ उदय था।
उपन्यास औ' कथा-जगत तमपूर्ण निरन्तर—
दीप्यमान था अभी तुम्हारा ही कर पाकर।
अस्त हुए तुम, त्वरित यहां छा गया अंधेरा,
दिया भ्रांति ने डाल तिमिर में आकर डेरा।
उपन्यास है सिसक रहा, रो रही कहानी,
देख रहे यह वदन माड़ कैसे तुम मानी।
सोचो, उससे रूठ भागना कभी उचित है?
जिसमें आत्मा, प्राण, देह—सर्वस्व निहित है !
क्या-क्या इसके हेतु नहीं तुमने हैं वारे?
गल्प तुम्हारा और गल्प के थे तुम प्यारे !
हिन्दी-उर्दू बहन-बहन को गले मिलाया,
आपस के चिर बैर भाव को मार भगाया।
रोती हिन्दी इधर, उधर उर्दू बिलखाती,
भला आज क्यों तुम्हें नहीं करुणा कुछ आती?
छोड़ सभी को क्षीण-दीन तुम स्वर्ग सिधारे,
रोक नहीं हा ! सके तुम्हें शुचि प्रेम हमारे।
आज नहीं तुम, किंतु तुम्हारी लिखी कहानी—
सदा रहेगी जगत-बीच बन अमिट निशानी।

मुन्शी प्रेमचंद मरहूम

मौ० मुहम्मद आकिल एम० ए०, जामिया मिल्लिया, दिल्ली।

प्रेमचंद जी को कहानियों के मशहूर और कामयाब लेखक की हैसियत से तो मैं बहुत पहले से जानता था लेकिन उनसे मेरी जाती वाकफियत दिसम्बर, 1935 में पहली बार बनारस में

हुई। मैंने बनारस नहीं देखा था और मैं चाहता था कि हिन्दू धर्म, सभ्यता और शिक्षा के इस केन्द्र की यात्रा करूं। यह वह जमाना था जब भारतीय साहित्य-परिषद ने प्रेमचंद जी के रिसाला 'हंस' को अपना लिया था और कुछ दिनों तक मेरा नाम भी इसके सलाहकारी मण्डल में एक सदस्य की हैसियत से छपता रहा था। प्रेमचंद जी इस रिसाले की जान थे। वही उसको पूरी तरह तरतीब देते थे, वही उसको अपनी सरस्वती प्रेस में छापते थे; नाम को भारतीय साहित्य-परिषद ने इसे अपनाया था वरना 'हंस' हर समय प्रेमचंद जी का ही था। बहरहाल सलाहकारी मण्डल में सदस्य बनने के बाद प्रेमचंद जी से जान पहचान होना लाजिमी बात थी। दूसरे, मैं जामिया मिल्लिया के रिसाला 'जामिया' की भी देख-भाल किया करता था। इसलिए अपने रिसाले के वास्ते कहानी या मजमून लिखाने के लिए भी मुझे अक्सर प्रेमचंद जी के पास खत भेजने पड़ते थे। इस तरह बगैर एक दूसरे को देखे हुए हम दोनों एक दूसरे को जानने लगे थे। वह मुझे कम जानते थे, लेकिन मैं उनकी शोहरत की वजह से ज्यादा जानता था।

बनारस जाने में, जहां बनारस की और चीजों को देखने की ख्वाहिश थी, वहां सबसे ज्यादा तमन्ना प्रेमचंद जी से मिलने की थी। इसलिए बनारस रवाना होने से पहले मैंने प्रेमचंद जी को, यह पता चलाने के लिए खत लिखा कि जब मैं वहां पहुंचूंगा, वह बनारस में मौजूद होंगे या नहीं। उन्होंने इसके जवाब में मुझे दावत दी कि मैं बनारस में उन्हीं के यहां आकर ठहरूं। मैं बनारस में उनके यहां तो न ठहर सका। मेरे एक करमफर्मा मौलवी अब्दुल मजीद साहब मदनपुरा में रहते हैं। उनके यहां होते हुए और कहीं ठहरना तो मुमकिन न था, इसलिए ठहरा तो मैं उनके यहां; लेकिन उनके मकान पर सामान रखने के बाद पहली बात जो मैंने दर्याफ्त की वह प्रेमचंद जी का पता था, और पहला काम मैंने किया वह प्रेमचंद जी से मुलाकात था।

प्रेमचंद जी का मकान क्वींस कॉलेज के पीछे एक मुहल्ले में था। प्रेमचंद जी जिस मकान में रहते थे वह दो मंजिला और खासे पुख्ता किस्म का था। इसके गिर्द एक आहाता भी था। लेकिन बनारस के इस हिस्से की आबादी कुछ ज्यादा गुंजान न थी। और आस-पास की फिजा और महौल में भी कुछ कस्बती कैफियता पाई जाती थी। प्रेमचंद जी के अहाते में सज्जा, फूल-फुलवारी कुछ न थी, मकान में कुछ ठाठ या शान नजर न आती थी प्रेमचंद जी मकान के बालाई हिस्से में रहते थे। नीचे के हिस्से में काम होता था जिसके सबूत के लिए टाइप के हुरूफ इधर-उधर देखे जा सकते थे। नीचे के हिस्से में शायद किसी तरफ एक गाय रहती थी। मैंने दरवाजे पर दस्तक दी। दो दफे कुंडी बजाने पर एक आदमी निकला जो मुझे जीने के रास्ते से ऊपर प्रेमचंद जी के कमरे में ले गया। उनकी मुलाकात का खास कमरा या दफ्तर, जिसमें कुर्सियां और मेज लगी हुईं थीं। इस वक्त बन्द था। उस कमरे का पता मुझे दूसरे रोज लगा था। जब मैं मिस फिल्सबोर्न और डाक्टर सलीम के साथ दोबरा उनसे मिलने गया था। इस रोज जिस कमरे में मेरी उनसे मुलाकात हुई वह खासा बड़ा, खुला हुआ, साफ और हवादार कमरा था। जमीन पर सफेद चांदनी का एक फर्श बिछा हुआ था। एक कोने में एक नेवाड़ी पलंग था जिसके करीब पीकदान रखा हुआ था। प्रेमचंद जी फर्श पर बैठे हुए थे और एक कापी पर हिन्दी में अपने किसी नाविल के मसविदे को, जिसको वह जल्द छपवाना चाहते थे, लिख रहे थे। प्रेमचंद जी के तआरुफ की कोई जरूरत ही न थी। उनकी तस्वीरें मैं बाहर देख चुका था। मेरी तआरुफ अलबत्ता जरूरी था सो मैंने खुद ही कर दिया और उनसे गुफ्तगू का सिलसिला शुरू किया।

खासतौर पर बातचीत हिन्दू-मुसलमान के ताल्लुकात के बारे में थी। इसी जमाने में 'हंस' में मैंने एक मजमून, 'हिन्दू मुसलमान किधर जा रहे हैं? के उनवान से लिखा था। पहले इस पर गुफ्तगू होती रही, फिर भारतीय साहित्य-परिषद और 'हंस' की जबान के सख्त होने के बारे में। इसी जमाने में बहुत तनकीदें उर्दू के मुख्तलिफ अखबारों और रिसालों में छपी थीं, खासकर डाक्टर अशरफ की तनकीद जो अलीगढ़ के रिसाला 'सुहेल' में निकली थी, जिसमें प्रेमचंद जी से खासतौर पर शिकायत की गई थी कि वह उर्दू के बेहतरीन अदीब होने के बावजूद भी बहुत कठिन हिन्दी लिखते हैं। फिर सरहदी सूबे हिन्दी के बारे में जो सर्कुलर निकला था उसका भी तजकिरा हुआ। गरज यह कि और ऐसी ही बहुत-सी बातें मेरे और उनके सामने थीं। और एक ऐसी जबान के पैदा करने का सवाल भी था जो एक तरफ अरबी और फारसी की ठूंस-ठांस से आजाद हो और दूसरी तरफ संस्कृत और भाषा के अल्फाज इसमें बहुत ज्यादा न हों। मेरा कहना था कि अगर आपस इख्तिलाफ और फर्क इस तरह बढ़ता गया, जैसा कि दोनों तरफ के इन्दिहा-पसंद कोशिश कर रहे हैं तो लाजिमन यह नतीजा निकलेगा कि हिन्दुस्तान में एक तमद्दुन, तहजीब और जबान की जगह दो मुख्तलिफ तमद्दुन तहलीबें और जबानें पैदा हो जायंगी। एक शुभाली मगरिबी इलाके का तमद्दुन और जबान और दूसरी बस्ती और जुनूबी का। संस्कृतियों का इख्तिलाफ मुमकिन है बढ़कर कौमी तफरीक का बाइस बन जाय और हिन्दुस्तान में एक हुकूमत और कौम की जगह दो मुख्तलिफ हूकूमतें और कौमें पैदा हा जायं। एक उत्तरी पश्चिमीय हिस्से की कौम और हुकूमत और दूसरी मध्य और दक्षिणी प्रदेशों की। इस सिलसिले में मैंने अपने एक मजमून का भी हवाला दिया था जो रिसाला 'जामिया' में 'हिन्दू और मुसलिम कौमी तहरीकें और हिन्दुस्तानी कौमियत की तहरीक' के उनवान से शाया हुआ था।

प्रेमचंद जी मौजूदा हालत पर अफसोस कर रहे थे और इसकी ज़िम्मेदारी मज़हब की गलत ताबीर पर कर रहे थे। प्रेमचंद जी ने मुझसे कहा कि मुझे रस्मी मज़हब पर कोई एतकाद नहीं है, पूजा-पाठ और मन्दिरों में जाने का कभी मुझे शौक नहीं। शुरू से मेरी तबियत का यही रंग है। बाज़ लोगों की तबियत तो मज़हबी होती है, बाज़ लोगों की ला-मज़हबी। मैं मज़हबी तबियत रखने वालों को बुरा नहीं कहता, लेकिन मेरी तबियत रस्मी मज़हब की पाबन्दी को बिल्कुल गवारा नहीं करती। उन्होंने कहा कि मेरी संस्कृति और तर्जे-माशरत भी मिला-जुला है, बल्कि मुझ पर मुसलमानों की तहज़ीब का हिन्दुओं की तहज़ीब से ज्यादा असर पड़ा है। मैंने मकतब में मियां जी से फारसी, उर्दू पढ़ी। हिन्दी से बहुत पहले मैंने उर्दू लिखना शुरू किया, हिन्दी ज़बान मैंने बाद में सीखी। इस सिलसिले में देहली के रिसाले 'साकी' ने जो तनकीद की थी कि प्रेमचंद जी उर्दू के लिए मरहूम हो चुके हैं उसके बारे में हंसकर कहने लगा कि 'साकी' के एडीटर को मैंने लिखा है कि मैं उर्दू के लिए न सिर्फ जिन्दा हूं बल्कि ज्यादा जोरों से जी रहा हूं। मेरे दो एक नावेलों को छोड़कर, जिनका मैं जल्द उर्दू एडीशन शाया करने वाला हूं और मेरे तमाम नावेल और बेशतर कहानियां उर्दू और हिन्दी दोनों जबानों में शाया हो चुकी हैं। कभी मैं उर्दू में पहले लिखता हूं, और उसका हिन्दी में अनुवाद करता हूं, और कभी हिन्दी में लिखता हूं और बाद में उसका उर्दू तर्जुमा करके शाया कराता हूं। उनका कहना था कि हिन्दू-मुसलमानों के यह सब इख्तिलाफात बनावटी और झूठे हैं, दरअसाल दोनों एक हैं। इस ज़माने में गालिबन वह तरक्कीपसन्द मुसन्निफों की अंजुमन के सदर बन चुके थे और मज़हब के बारे

में उनके खयालात और भी आज़ाद-पसन्द हो गये थे। कहने लगे कि मैंने सज्जाद ज़हीर और उनक साथियों से कहा कि भाई, हम बुड्ढे हो गये, लेकिन दिल उन सब बातों को करना चाहता है जो तुम लोग कहते हो, इसलिए हम भी अपनी नाव तुम्हारे तूफानी समुन्दर में डालते हैं। अब यह जिधर भी जाय, हमें इसकी फिक्र नहीं। वह निहायत दिलचस्प अंदाज में मजे ले-लेकर बातें कर रहे थे। बीच-बीच में कह-कहे लगाते जाते थे, मालूम होता था उमंग, जोश और जिन्दगी का सैलाब उनके अन्दर उबल रहा है। मैं उनके बाजू पर बैठा हुआ था। उनके सामने एक गोरी रंगत के नौजवान जो कॉलेज में पढ़ते थे, बैठे हुए थे। यह गालिबन उनके कोई करीबी अजीज मालूम होते थे, क्योंकि वह कभी-कभी उठकर घर के अंदर चले जाते थे। इसी गुफ्तगू के दौरान में कुछ देर के लिए सम्पूर्णानन्द जी के छोटे भाई भी आकर बैठ गये थे। गुफ्तगू का सिलसिला अर्से तक जारी रहा। प्रभचंद जी को उसी वक्त एक सभा के सालाना जलसे की सदारत के लिए भी जाना था। इस सभा का मकसद यह था कि मुसलमानों के हिन्दुस्तान में आने से पहले जो हिन्दी इस मुल्क में रायज थी उसे आम किया जाय और उसके लिए सभा ने तालीम का बंदोबस्त कर रखा था। प्रेमचंद जी इस सभा के बारे में मुझसे गुफ्तगू कर रहे थे कि मोटर आ गई और वह मुझे अपने साथ सभा के जलसे में ले गये।

यह तो मेरी प्रेमचंद जी से पहली मुलाकात थी। इसके बाद दूसरी मुलाकात सन् '36 में देहली हुई थी। प्रेमचंद जी हिन्दू, मुसलमानों के मेल के लिए बड़ा और मुस्तकिल काम करना चाहते थे, इसलिए वह जामिया मिल्लिया में आये और उन्होंने हम लोगों को एक जलसे का इंतजाम करने को आमादा किया। उन्होंने कहा कि देहली के उर्दू के अदीबों को जमा करने का आप लोग इन्तजाम कीजिए और हिन्दी के अदीबी को मैं और जैनेन्द्रकुमार साहब यहां आने की दावत देंगे। चुनांचे चाय पर उर्दू और हिन्दी अखबारनवोसों की एक खासी बड़ी तादाद इकट्ठी हो गई। शुरू में गैरस्मी बात-चीत में प्रेमचंद जी ने उर्दू और हिन्दी अदीबों के मिलने और तबादला खयाल करने की अहमियत पर जोर दिया। चाय के खत्म होने पर बाकायदा जलसा शुरू हुआ जिसमें प्रेमचंदजी ने एक निहायत पुरअसर तकरीर में इस बात को खूबी के साथ समझाया कि जब तक उर्दू और हिन्दी के अखबारनवीस आपस में दोस्ताना ताल्लुकात पैदा करके एक दूसरे के खयालात और नुक्तयेनिगाह को हमदर्द के साथ समझने की कोशिश न करेंगे, उस वक्त तक इस इत्तफाक और इत्तहाद की कोशिशें भी कामयाब नहीं होंगी। और लोगों की तकरीरें हुईं और नतीजा यह निकला कि 'हिन्दुस्तानी सभा' नाम की एक संस्था स्थापित कर दी गई। उसके जो मेम्बर थे वह और आगे बढ़े और उन्होंने एक मुश्तरका हिन्दुस्तानी जबान पैदा करने का भी इरादा कर लिया। उन्होंने कहा कि ऐसी जबान लिखनी चाहिए जिसमें न अरबी-फारसी के अलफाज ज्यादा आएं, न संस्कृत भाषा के, बल्कि सीधी-सादी ठेठ हिन्दी हो। प्रेमचंद जी को खुद इस बात पर ज्यादा विश्वास न था। हिन्दी और उर्दू दोनों जबानों के एक निहायत अच्छे लेखक होने की वजह से वह इस बात को खूब जानते थे कि रोजमर्रा की बात-चीत और मामूली बातों को इस तरह की जबान में बयान किया जा सकता है, लेकिन जब कभी जरा ऊंचा उठकर गहरी बात कहनी ही होगी तो उसके लिए संस्कृत, अरबी या फारसी की मदद लेना जरूरी होगा। प्रेमचंद जी जब कहानियां लिखते थे तो उसकी जबान तो बहुत सादा और आमफहम होती थी, और हिन्दी और उर्दू दोनों जबानों को जानने वाले उससे मजा ले सकते थे। लेकिन जब कोई

इल्मी, तनकीदी या गहरी बात उन्हें लिखनी होती थी तो उर्दू में खूब फारसी अरबी के अलफाज और हिन्दी में संस्कृत के शब्द इस्तेमाल करते थे। इससे उनके उर्दू जानने वाले दोस्त जब उनकी हिन्दी को पढ़ते थे तो उन्हें बहुत गुस्सा आता था कि प्रेमचंद जी ने यह क्या जबान लिख दी और जब उनके हिन्दी जानने वाले मित्र उनकी उर्दू को पढ़ते थे तो उन्हें बहुत क्रोध आता था कि प्रेमचंद जी कैसी कठिन फारसी अरबी लिखते हैं। चुनांचे तरक्कीपसंद मुसन्निफों की सभा में जो उन्होंने भाषण दिया था उस पर हिन्दी वालों ने बड़ी ले-दे की थी। इसलिए इन सब बातों को अच्छी तरह जानते हुए प्रेमचंद जी तो आसानी से एक मुश्तरका हिन्दुस्तानी जबान के पैदा होने की आशा नहीं कर सकते थे। उनका मकसद शुरू में 'हिन्दुस्तानी सभा' कायम करने से सिर्फ यह था कि हिन्दी और उर्दू लिखने वाले एक जगह मिलकर बैठें, एक-दूसरे के खयालात मालूम करें, एक-दूसरे को समझें, और दोस्ती और मुहब्बत की वजह से एक-दूसरे के साथ मुरौवत और इज्जत से पेश आयें, और जब अपने अखबार, रिसाला या किताब में कोई बात लिखें तो इस बात को भी दिल में रखें कि उसका पढ़ने वाला हमारा उर्दू जानने वाला मुसलमान मित्र या हिन्दी जानने वाला हिन्दू दोस्त भी है, जो बात हम लिख रहे हैं कहीं वह नागवार न हो। लेकिन जब 'हिन्दुस्तानी सभा' के दूसरे मेम्बरों ने कहा कि हम एक मुश्तरक हिन्दुस्तानी ज़बान भी बनाना चाहते हैं, तो उन्होंने उसकी मुखालफत नहीं की। यह प्रेमचंद जी से मेरी दूसरी मुलाकात थी।

प्रेमचंद जी से मेरी तीसरी मुलाकात भारतीय साहित्य-परिषद के नागपुर वाले अधिवेशन में हुई थी। प्रेमचंद जी और मैं एग्रीकलचरल कॉलेज के बेडिंगहाउस में बिल्कुल बराबर-बराबर कमरों में थे और दो-तीन दिन तक मेरा उनका रात-दिन का साथ रहा। उस मौके पर भारतीय साहित्य-परिषद के खुले अधिवेशन में प्रेमचंद जी ने बड़ी दिलेरी और हिम्मत का काम किया। वह रिसाला 'हंस' के एडीटर थे। रिसाला 'हंस' भारतीय साहित्य-परिषद् का ऑरगन था, भारतीय साहित्य-परिषद् के कर्ता-धर्ताओं में उनका शुमार होता था। हिन्दी साहित्य-सम्मेलन वाले चाहते थे कि भारतीय साहित्य-परिषद् का सब काम हिन्दी द्वारा हुआ करे। महात्मा गांधी ने एक बीच का रास्ता निकाल कर कहा था कि उसका सब काम 'हिन्दी अथवा हिन्दी-हिन्दुस्तानी' द्वारा हुआ करे। मौलवी अब्दुलहक और मैंने इसकी मुखालफत करते हुए कहा था कि हिन्दुस्तानी का लफ्ज एक दरमियानी लफ्ज है जो न हिन्दी वालों को नागवार होना चाहिए न उर्दू वालों को। लेकिन यह बात तस्लीम नहीं की गई। उस मौके पर मामला कुछ ऐसा आ पड़ा था कि महात्मा जी की बात की मुखालफत करने की किसी की हिम्मत नहीं हुई थी। लेकिन प्रेमचंद जी खड़े हुए और उन्होंने हिन्दुस्तानी के द्वारा भारतीय साहित्य-परिषद् की कार्रवाई की जाने पर एक निहायत जोरदार तकरीर की। उर्दू के हलके में यह बात मशहूर है कि इसकी वजह से प्रेमचंद जी हिन्दी लिखने वालों में बहुत बदनाम भी हो गए। पता नहीं यह कहां तक सही है। लेकिन यह काम उन्होंने दिलेरी और हिम्मत का किया था जिससे उर्दू वाले उनसे बहुत खुश थे।

गरजे कि यह तीन मुलाकातें मेरी प्रेमचंद जी से हुई थीं और हर दफा की मुलाकात ने मेरे दिल में प्रेमचंद जी की इज्जत और मुहब्बत पहले से बहुत ज्यादा बढ़ा दी थी। प्रेमचंद जी अपनी जिन्दगी का एक नया वरक उलट रहे थे। उनकी जिन्दगी का यह दौर यकीनन उनकी जिन्दगी

के तमाम दूसरे दौरों से ज्यादा शानदार और मुल्क व कौम के लिए निहायत फायदारिसां साबित होता। लेकिन मौत के बेरहम हाथ ने उन्हें हमसे जुदा कर दिया। उनकी दिल की हसरतें दिल ही में रह गईं, और उनके दोस्त हैरतजदा से होकर रह गये कि यह क्या हुआ। क्या जिस मिशन को पूरा करने का प्रेमचंद जी ने बीड़ा उठाया था हिन्दू और मुसलमान उसको अंजाम तक पहुंचने का इरादा करेंगे? उनकी आखिरी उम्मीद 'हिन्दुस्तानी सभा' और तरक्की पसन्द मुसन्निफों की अंजुमन के साथ वाबिस्ता थी। प्रेमचंद जी के जो लोग मद्दाह हैं उन्हें उन दोनों संस्थाओं को जिन्दा रखने और तरक्की करने की कोशिश करना चाहिए।

प्रेमचंद-मेरी निगाहों में

प्रो० अशफाक हुसैन बी० ए० (ऑक्स फोर्ड)

हिन्दुस्तानी भाषा और साहित्य के इतिहास में प्रेमचंद के लिए मुनासिब और मौजूं जगह मुकर्रर करना शायद अभी ठीक न होगा, क्योंकि अभी उसका मौका नहीं आया है। आज-कल के ज़माने पर उनका असर पड़ा है उसका इस वक्त और अन्दाज़ा करना तो शायद और भी ज्यादा मुश्किल है। न तो मैं साहित्य के बारे में ही और न उसकी आलोचना के बारे में ही कोई खास लियाकत रखता हूं। तो भी मौके पर प्रेमचंद जी के साथ जो मेरी मुलाकात हो रही है, उसका मेरे दिल पर जो असर पड़ा है, अगर उसका मैं यहां थोड़ा-सा ज़िक्र कर दूं तो मुमकिन है कि उसकी कुछ कद्र हो सके या वह लोगों को दिलचस्प मालूम हो।

करीब-करीब पूरे सात बरस हुए, एक बार यों ही सरसरी तौर पर प्रेमचंद जी के साथ मेरी मुलाकात कराई गई थी। वह मुलाकात सचमुच इतने सरसरी तौर पर हुई थी जिस समय मैंने सुना कि ये प्रेमचंद जी हैं, तब मुझे इस बात का भी ख़याल न हुआ कि ये वही प्रेमचंद जी हैं जिनकी लिखी हुई 'चौगाने-हस्ती' है। उससे करीब-करीब एक साल पहले मेरे साहित्य-सेवी दोस्तों में प्रेमचंद जी की लिखी 'चौगाने-हस्ती' नामक उर्दू पुस्तक सम्बन्ध में बहुत काफी और बहुत बड़ा बहस-मुबाहसा हो चुका था। मुझे प्रेमचंद जी बहुत ही लज्जाशील मालूम हुए और उनमें कोई ख़ास ऐसी बात मालूम न हुई जो किसी का दिल अपनी तरफ खींच सकती। उनका रंग जर्द था, बड़ी-बड़ी मूछें थीं, कमजोर आंखें थीं और करीब-करीब बिलकुल सूखा हुआ चेहरा था। अपने दुबले-पतले जिस्म पर खद्दर का कुरता और धोती पहने हुए थे। सिर पर खद्दर की टोपी और पैरों में चप्पल थी। बस इसके सिवा और कुछ भी नहीं। लेकिन गौर से देखने पर मालूम होता था कि उनकी आंखों में झलकने वाली कमजोरी सिर्फ ऊपरी और देखने की ही थी; और जब वे बातें करते थे, तब उन आंखों में एक ऐसी ख़ास चमक दिखाई देती थी जिससे ज़ाहिर होता था कि वह बहुत समझदार हैं और अपने इरादे के और ख़यालात के बहुत पक्के हैं। उनकी ये सब ख़ूबियां पहले-पहल देखने पर इसलिए ज़ाहिर नहीं होती थीं कि वह उनकी लज्जाशीलता के परदे में छिपी होती थीं। लेकिन फिर भी मुझे दरअसल यह न मालूम हो सका कि ये कौन शख़्स हैं, क्योंकि वह बहुत कम बातें करते थे और उनकी बातों से उनके बारे में कुछ भी पता नहीं चलता था। एक तो वह बातें ही बहुत कम करते थे, और

दूसरे जब वह बोलते थे, तब उनकी बातों से न तो कोई ख़ास लियाकत ही ज़ाहिर होती थी और न उनमें कोई ख़ास दिलचस्पी ही थी। हां उनकी आंखों में ज़रूर कुछ ख़ास बात थी। और नहीं तो इसके इलावा उनकी शक्ल से किसी के दिल पर कोई ख़ास असर नहीं पैदा होता था।

लेकिन खुशकिस्मती से कुछ ऐसी हालतें पैदा हो गईं जिनकी वजह से उस वक्त हम लोगों में बहुत काफी रब-जब्त पैदा हो गई। अगर यह बात न होती तो मैं बहुत-सी ऐसी यादगारों से महरूम रह जाता जिन्हें मैं अब सबसे ज़्यादा कीमती समझता हूं। मुमकिन है कि किसी वजह से और लोगों को इसका बिल्कुल उलटा तजुरबा हुआ हो। लेकिन इजना ज़रूर जानता हूं कि जब धीरे-धीरे मुझे यह जानने का अवसर मिला कि इस परदे के अन्दर क्या है, तब मैंने देखा कि ऊपर से दिखने में प्रेमचंद जी जो कुछ मालूम होते थे उससे वह बिल्कुल अलग शख़्स थे। असल में मामूली पत्थर के अन्दर एक ऐसो जवाहिर छिपा हुआ था जो बहुत कम देखने में आता है।

मैं पहले ही कह चुका हूं कि वह कोई बहुत ज़्यादा बातें करने वाले आदमी नहीं थे। लेकिन जब एक बार वह खुले दिल से बातें करने लगते थे, तब वह सिर्फ बहुत ज्यादा बातें ही नहीं करते थे; बल्कि बहुत बढ़िया बातें भी करते थे, और इससे भी बढ़कर बात यह है कि मालूम होता था कि उन्हें बात चीत करने में बहुत ज्यादा मज़ा आता है। मुझे ख़ासतौर पर दो मौके याद हैं। एक बार वह दिल्ली के सन् 1934 वाले हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के जलसे से लौटकर आये थे और वहां का सब हाल सुना रहे थे। उन्होंने जो कुछ वर्णन किया था, वह इतना अच्छा था कि आज तक मैंने किसी जलसे का उतना अच्छा वर्णन कभी सुना ही नहीं। उनके उस ज़िक्र में हमदर्दी भी थी और जोश भी था। जलसे की सभी बातों का उन्होंने ज़िक्र किया था और साथ-ही-साथ उसमें सब बातों की आलोचना भी होती चलती थी। और सबसे बड़ी बात यह थी कि उनकी सभी बातों में एक बहुत बढ़िया और दिल में जगह करने वाला मजाक भी रहता था। ख़ासकर कवि सम्मेलन का उन्होंने जो हाल बतलाया था, उसमें तो बातों के अन्दर बहुत ही उम्दा मजाक भरा हुआ था। 'दूसरा मौका वह था जब कि मेरे दोस्त ने उनकी ख़ातिर कुछ लोगों की दावत की थी और उन्हें अपने यहां खाने के लिए बुलाया था। मेरे उन दोस्त के घर के लोगों के ख़याल ज़माने की हालत देखते हुए काफी आगे बढ़े हुए थे, जिसका उन पर बहुत अच्छा असर पड़ा था। लेकिन मालूम होता था कि उन पर सबसे ज़्यादा असर इस बात का पड़ा था कि उनका मकान देखने में बहुत शानदार और बिल्कुल नये फैशन का था। गम्भीर विषयों की बातें करना छोड़कर प्रेमचंद जी बराबर बहुत-सी ऊपरी और फालतू बातों के बारे में ही बहुत कुछ कहते रहे। कहते थे कि मज़हब या धर्म को हम लोगों ने किस तरह मजाक बना रखा है, और इसके उदाहरण में वह यह भी बतलाते थे कि नाथद्वारे में और भिन्न-भिन्न दूसरे धर्मों के इसी प्रकार के मन्दिरों में ये-ये रस्में हैं, जिन्हें देखकर हंसी आती है; और इसी तरह की और भी बातें करते थे। लेकिन जब तक सब लोग खाना खाते रहे, तब तक अकेले प्रेमचंद जी ही बातें करते रहे और सभी लोगों को बराबर खुश रखते और हंसाते रहे। मैं यह तो नहीं कह सकता कि मेहमानदारी का बदला वह इसी तरह चुकाना जानते थे, लेकिन फिर भी मैं बराबर बहुत तअज्जुब से उनकी तरफ देखता रहा। क्योंकि सोचता था कि क्या ये वही शख़्स हैं जो पहली बार मुलाकात होने पर दो वाक्य भी नहीं कह सकते थे और अब ये ऐसी-

ऐसी अच्छी बातें कर हैं कि मानो बात-चीत करने की विद्या में पारंगत ही हैं। इससे पहले मैंने उन्हें केवल साहित्य, राजनीति और अर्थशास्त्र के गम्भीर विषयों पर ही बातें करते हुए सुना था और इसलिए आज उन्हें इस तरह की मज़ेदार बातें करते हुए देखकर मुझे बहुत ही ज़्यादा ताज्जुब हो रहा था। मेरे लिए वह बिल्कुल एक नया तजुरबा था।

इस प्रकार मुझे प्रेमचंद जी के जीवन का वह दूसरा अंग दिखाई दिया जिससे पता चलता था कि सचमुच बहुत ही ऊंचे ख़याल रखते हैं और बहुत-सी बातों के बहुत अच्छे जानकार हैं। मामूली तौर पर उनके बारे में लोग यही जानते हैं कि वह छोटी-छोटी कहानियां और उपन्यास लिखते थे, और शायद कुछ लोग यह भी जानते होंगे कि राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ वह यथेष्ट परन्तु अस्पष्ट सहानुभूति रहते थे। लेकिन ज़्यादा जान-पहचान और रब्त-जब्त होने पर पता चलता था कि वह राजनीति और अर्थशास्त्र का भी बहुत अच्छा और राग-विराग आदि से रहित ज्ञान रखते थे। मामूली तौर पर उनकी कहानियां और उपन्यास पढ़ने वाले उनकी इन बातों की जानकारी के सम्बन्ध में जो कुछ समझते थे, उससे कहीं अधिक और विस्तृत अध्ययन उन्होंने इन सब विषयों का किया था।

प्रेमचंद जी साम्यवादी तो थे, परन्तु उस तरह के कट्टर और उग्र साम्यवादी नहीं थे जो सारी वर्त्तमान सामाजिक व्यवस्था का एक सिरे मे नाश करके उसकी जगह तुरन्त ही चरम सीमा का साम्यवाद स्थापित करना चाहते हैं। हां वह भावत: साम्यवादी थे और साम्यवाद की बहुत-सी बातों को अच्छा समझते थे। दीन-दुखियों और गरीबों के साथ उनकी हमेशा बहुत काफी हमदर्दी रहती थी; और साथ ही इसलिए हम उन्हें बहुत ही समझदार साम्यवादी कह सकते हैं कि वह यह नहीं मानते थे कि साम्यवाद में जितनी बातें हैं, वह सब सिर्फ अच्छी ही अच्छी हैं और उसमें कुछ भी बुराई या दोष नहीं है, और न यही समझते थे कि साम्यवाद का प्रचार होते ही समाज के लिए बहिश्त का दरवाज़ा खुल जायगा। लेकिन हां इतना ज़रूर समझते थे कि आजकल समाज जिस बहुत बुरी हालत को पहुंच गया है, उसे देखते हुए अगर साम्यवाद का कोई बिगडा हुआ रूप भी चल पड़े तो उससे भी लोगों का बहुत कुछ फायदा हो जायगा। और साथ ही वह यह भी समझते कि साम्यवाद का प्रचार हुए बिना रह ही नहीं सकता-उसका प्रचार लाजिमी है। उसका ख़याल था कि हमारे मुल्क के ज़मींदार और पूंजीदार अपनी ताकत के झूठे ख्याल और बहुत ज्यादा लालच की वजह से बिल्कुल अन्धे हो रहे हैं और इसीलिए किसी न किसी तरह का साम्यवाद ज़रूर ही यहां बहुत जोर पकड़ेगा। खुद साम्यवाद में तो इतनी बड़ी कोई खूबी नहीं है कि वह लोगों के दिल पर उतना ज़्यादा असर कर सके, लेकिन हमारे मुल्क की हालत इतनी ज़्यादा ख़राब है कि यहां के लोगों के दिलों पर उसका ज़रूर असर पड़ेगा, और अगर वह यहां चला तो जोर भी काफी पकड़ेगा। साथ ही उनका यह भी ख़याल था कि जिस समय यहां साम्यवाद क्रान्ति होगी, उस समय फजूल ही बहुत ज़्यादा खून-खराबी होगी और लोगों के लिए वह बहुत मंहगी पड़ेगी। यों तो प्रेमचंद जी हमेशा बहुत ही खुश रहा करते थे और कभी रंजीदा होना जानते ही नहीं थे। लेकिन सिर्फ एक मौका होता था जबकि उनका दिल बहुत ही दु:खी होता था। जब वह अपने मुल्क की माली हालत का ख़याल करते थे और यह सोचते थे कि इसका अन्त क्या और कैसा होगा, तब उनकी सारी खुशी जाती रहती थी और वह बहुत ज़्यादा रंजीदा होते थे। इसके सिवा और कभी किसी मौके पर मैंने उन्हें रंजीदा या गमगीन नहीं देखा। लेकिन उस हालत में भी उन्हें उम्मीद की एक झलक दिखाई देती थी-आशा

की एक किरण उनकी आंखों के सामने रहती थी। वह समझते थे कि क्रान्ति तो होगी और ज़रूर होगी, लेकिन कांग्रेस अपना एक ख़ास काम यह समझ लेगी कि समाज की आर्थिक अवस्था में पूरा-पूरा सुधार करना चाहिए और साम्यवाद की एक समझदारी की योजना अपने सामने देखकर उसके अनुसार काम करेगी, तो सारा काम बहुत आसनी से हो जायगा। उन्होंने जो आशा आज से छ: बरस पहले प्रकट की थी वह आज पूरी होती दिखाई देती है। भिन्न-भिन्न प्रान्तों में इस समय जो स्थायी मन्त्रिमंडल स्थापित हुए हैं, उन्होंने अपने जो कार्य-क्रम और जो योजनाएं बतलाई हैं, अथवा कम से कम हो कुछ करने का वादा किया है, उसे देखते हुए हम कह सकते हैं कि देश की आर्थिक अवस्था के सुधार की बहुत कुछ नींव पड़ सकेगी।

लेकिन सबसे बढ़कर बात यह है कि प्रेमचंद जी देश-भक्त थे। वह सामाजिक और धर्मिक झगड़े-बखेड़ों और विभागों आदि से सदा बिल्कुल अलग रहते थे और आदि से अन्त तक भारतवासी ही भारतवासी थे। वह अपने को किसी धर्म, समाज या फिरके का आदमी नहीं समझते थे, बल्कि सिर्फ एक हिन्दुस्तानी समझते थे। कभी-कभी कुछ लोग यह कहा करते थे कि प्रेमचंद जी हिन्दुओं के पक्षपाती थे। लेकिन उनके ऐसे आलोचकों की इस तरह की बातों से यही पता चलता है कि उन आलोचकों के मन पर धर्मिक और सामाजिक झगड़ों के ज़हर ने कितना ज़्यादा असर कर रखा है। उनके एक आलोचक तो इतने बड़े नासमझ थे कि उन्होंने प्रेमचंद जी के धार्मिक पक्षपात का सबूत देने के लिए 'चौगान दस्ती' के ताहिरअली के चरित्र की कुछ बातें उद्धृत कर दी थीं। उनका कहना था कि प्रेमचंद जी को कोई हिन्दू पात्र नहीं मिल सकता था जिस पर वह गबन का इलज़ाम लगाते? लेकिन मैं तो यह समझता हूं कि यह सवाल ही अपना सबसे अच्छा जवाब है—जवाब खुद सवाल में ही निकल आता है। यह तो एक मामूली-सी बात है कि उनके इस तरह के आलोचकों ने ताहिरअली का सीधा-सादा चरित्र ही पूरी तरह से नहीं समझा था और वह यह बात भूल गये थे कि उनके 'गोशए आफियत' नामक उपन्यास में सबसे अधिक सुन्दर चरित्र कादिर बाबा का ही अंकित किया गया है। लेकिन अगर इन सब बातों को ताक पर रख दिया जाय, तो भी इस बात में कोई शक नहीं रह जाता कि प्रेमचंद जी अपनी किसी कहानी या उपन्यास में अपने किसी पात्र का चरित्र अंकित करने लगते थे तब वह इस बात का ज़रा भी ख़याल नहीं करते थे कि वह पात्र हिन्दू है या मुसलमान है या कनफूची के धर्म को मानने वाला है उनमें इस तरह के धार्मिक पक्षापत का कोई भाव बिल्कुल था ही नहीं। धर्मिक झगड़ों के सम्बन्ध में उनके ख़याल बहुत ही समझदारी के थे और बहुत ही अच्छे थे। वह इस प्रकार के प्रश्नों की उपेक्षा करते थे। और मुनासिब यही था कि इस तरह के झगड़े की बातों में उनका नाम ही न लिया जाय।

इस मौके पर मुझे एक और बात का ज़िक्र कर देना भी जरूरी मालूम होता है। वह हिन्दी साहित्य-परिषद् (सम्मेलन?) में शामिल हुए थे और इसीलिए कुछ मुसलमानों ने उनकी बहुत कड़ी आलोचना की थी। अलीगढ़ से 'सुहैल' नाम का एक उर्दू अखबार निकलता है। उसमें छपने के लिए प्रेमचंद जी ने अपनी दो रचनाएं भेजी थीं, जिनमें से एक तो हिन्दी में थी और दूसरी उर्दू में। इसके लिए एक साहब ने प्रेमचंद जी के बारे में बहुत-सी उल्टी-सीधी बातें लिख डाली थीं। उनकी हिन्दी वाली रचना में तो संस्कृत के कई शब्द थे और उर्दू वाली रचना में उससे भी अधिक फारसी के शब्द थे। इसकी आलोचना जिस तरह के लोगों को करनी चाहिए थी, उसी तरह के लोगों ने की थी और कहा था कि प्रेमचंद जी दो-रुखी चालें चलते हैं, दोनों तरफ

मिले रहना चाहते हैं और दोनों तरफ से अच्छे बने रहना चाहते हैं। उनकी इस तरह की आलोचना सुनकर मुझे किसी कदर रंज हुआ था। इसका जवाब बिल्कुल सीधा-सादा और साफ है। प्रेमचंद जी ने अपनी वह दोनों रचनाएं दो अलग-अलग तरह के लोगों के लिए लिखी थीं और इसीलिए उन्होंने उनमें अलग-अलग प्रकार की भाषा का प्रयोग किया था। मैं यह मानता हूं कि अगर वह चाहते तो दोनों ही मौकों पर सीधी-सादी भाषा लिख सकते थे लेकिन प्रेमचंद जी यद्यपि कभी अपने मार्ग से विचलित नहीं हुए—उन्होंने कभी अपना अख़्तियार किया हुआ रास्ता नहीं छोड़ा, लेकिन फिर भी वह कभी ऐसे तरीके काम में नहीं लाते थे जिससे किसी का दिल दुखे। यह उनका स्वभाव था—उनकी आदत थी। अगर सच पूछिए तो वह दिल से चाहते थे कि एक ऐसी हिन्दुस्तानी भाषा बने जिसे सब लोग आमतौर पर समझ सकें, और यह बात उनके दिल को जितनी लगी हुई थी उतनी शायद ही कोई और बात लगी हों। उन्होंने चार बरस पहले इस बारे में मुझसे बहुत-सी बातें की थीं। इस बारे में देश के बहुत से लोग अपने मन में कुछ-न-कुछ सोच समझ रहे हैं और उन्हीं लोगों की तरह मैं भी इस मामले पर गौर करता रहा हूं, और इसीलिए मैंने प्रेमचंद जी से कहा था कि इस सम्बन्ध में सबसे पहला काम यह होना चाहिए कि एक ऐसी सभा कायम की जाय जो ऐसी भाषा चलाने की कोशिश करे जिसे सब लोग आम-तौर पर समझ सकें। उन्होंने काफी जोश के साथ मेरे ख़याल के मुताबिक काम करना मंजूर कर लिया था और हम लोगों ने इस बारे में बहुत काफी बहस की थी। उनका कायदा था कि वह हर मामले में बहुत ही ठंढे दिल से और सब तरह का पक्षपात छोड़कर विचार करते थे और इसी तरह उन्होंने इस बारे में भी विचार किया था, और इसीलिए हम लोगों ने आपस में यह तै किया था कि तजवीज के मुताबिक उसी हालत में काम शुरू किया जाना चाहिए जिस हालत में देश के बहुत से लोग इसे मंजूर कर लें, और ख़ासकर वह लोग मंजूर कर लें जिन्हें आगे चलकर इस बारे में काम करना है। जब वह बम्बई पहुंचे तब वह श्री कन्हैयालाल मुन्शी तथा उन्हीं की तरह के कई ऐसे आदमियों से मिले जो पहले इस सवाल पर गौर कर रहे थे। यह बात दूसरी है कि वह लोग कुछ और ही तरीकों से यह सवाल हल करना चाहते थे। उन्होंने मुझे लिखा कि तुम अपनी तजवीज का एक मसौदा बना कर भेज दो। लेकिन उन्होंने देखा कि उस वक्त लोगों के दिलों पर हिन्दी साहित्य-परिषद् का सिक्का अच्छी तरह जमा हुआ था, और हाल में अगर उसी के मुकाबले में एक नई तजवीज लोगों के सामने पेश की जाती तो उससे शायद और तो कोई मतलब न निकलता हां यही नतीजा होता कि लोग दो हिस्सों में बंट जाते। इसलिए उन्होंने यही तै किया था कि हम हिन्दी साहित्य परिषद् के साथ ही मिलकर काम करेंगे और वहीं से अपना यह उद्देश्य भी सिद्ध करने का प्रयत्न करेंगे। परमात्मा ने अब उन्हें हम लोगों मे से हटा ही लिया है, इसलिए अब तो सिर्फ अन्दाज से ही यह कहा जा सकता है कि इस बारे में उन्हें कहां तक सफलता होती और कहां तक न होती।

प्रेमचंद जी के मरने से मुझे बहुत रंज हुआ और मैं समझता हूं कि मेरा एक ज़ाती नुकसान हुआ। लेकिन अपने उस ज़ाती नुकसान की वजह से मुझे जो कुछ रंज हुआ था वह उस बहुत बड़े रंज के सामने बिल्कुल दब गया जो इस बात का ख़याल करके होता है कि उनके न रहने से हमारे राष्ट्रीय जीवन में एक बहुत बड़ी कमी हो गई है—एक बहुत बड़ी जगह ख़ाली हो गई है, अब इतिहास ही प्रेमचंद जी के बारे में जैसा उचित समझेगा, वैसा निर्णय करेगा। लेकिन

खुद मुझे तो इस बात में ज़रा भी शक नहीं है कि प्रेमचंद जी के न रह जाने की वजह से सारे हिन्दुस्तान का बहुत बड़ा नुकसान हुआ है। उनमें ऐसी खूबियां थीं जो बहुत कम आदमियों में होती हैं। साथ ही साथ उनमें वह सब गुण भी थे जो एक सच्चे कलाकार में उच्चकोटि का रचनात्मक कार्य करने के लिए होते हैं, और ऊंचे दरजे के देश-हितैषी में जो नितान्त निस्वार्थ भक्ति और निष्ठा होती है, वह भी उनमें पूरी तरह से मौजूद थी।

प्रेमचंद जी की कुछ संस्मृतियां

श्री अहमद अली एम० ए०

छः बरस पहले की बात है। सन् 1931 में मैंने अपनी कालिज की पढ़ाई ख़तम की थी और यूनिवर्सिटी में पढ़ाना शुरू किया था। मैं एक ऐसे सज्जन को जानता था जिन्हें हम लोग मास्टर साहब कहते थे। वे किसी स्कूल में पढ़ाते थे। वे पहले मेरे कुछ दोस्तों को उनके घर भी पढ़ाया करते थे और अब भी अक्सर उनके यहां आया-जाया करते थे। वहीं मेरी और उनकी मुलाकात हुई थी। वे पूरे दार्शनिक थे और बहस-मुबाहसा करने का उन्हें बहुत शौक था। वे मेरे यहां भी अक्सर आते थे। एक बार ऐसा हुआ कि एक मुद्दत तक वे नहीं आये। बहुत दिनों के बाद जब वे मुझसे मिलने के लिए आये, तब मैंने उनसे पूछा कि आप इतने दिनों तक कहां थे और क्यों नहीं आते थे। उन्होंने कहा कि मेरे एक दोस्त आ गये थे जो मेरे ही यहां ठहरे थे। उनके वह दोस्त मुन्शी प्रेमचंद जी थे। मुझे इस बात का अफसोस हुआ कि मुंशी जी यहां आकर चले भी गये और मुझे पता ही न लगा।

मैं मुन्शी जी को इसलिए जानता था कि मैंने 'प्रेम पचीसी', 'प्रेम बत्तीसी' और 'चौगाने हस्ती' नाम की उनकी किताबें पढी थीं। मैं यह मानता हूं कि मैंने उनकी सभी कहानियां नहीं पढी थीं और न मैं उनका लम्बा उपन्यास ही ख़तम कर पाया था। लेकिन फिर भी जो कुछ मैंने पढ़ा था, उसका मुझ पर काफी असर पड़ा था। हमारी जिन्दगी में जो बहुत-सी भली और बुरी बातें हुआ करती हैं उन सबका पता मुझे उनकी किताबों से लगा था। उनमें बहुत बडी ख़ूबी यह थी कि वे कहानी ऐसे अच्छे ढंग से लिखते थे कि दिल पर उसका पूरा-पूरा असर हो जाता था। कहानियों में वे अपने मुल्क के गरीबों और सताये हुए लोगों की जिन तकलीफों का बयान करते थे, वह बिना दिल पर असर किये रहता न था। जब मेरी उम्र बहुत ही कम थी, तब मैंने मुन्शी जी की किताबें पढ़ी थीं और मैं यही समझता था कि आजकल उर्दू में जो कुछ उपन्यास हैं वे सब सिर्फ प्रेमचंद जी के ही हैं।

इसीलिए जब मुझे यह मालूम हुआ कि मास्टर साहब ने मुझसे मुन्शी जी के यहां आने का पहले ज़िक्र नहीं किया, तब स्वाभावतः मेरे मन में दुःख हुआ। लेकिन फिर भी उन्होंने यह वादा किया कि अगली बार जब मुन्शी जी यहां आवेंगे, तब मैं उनके साथ तुम्हारी मुलाकात कराऊंगा। लेकिन आख़िर में पारसाल जाकर मेरी और उनकी मुलाकात हुई। लेकिन हां, उससे पहले मास्टर साहब मुझे मुन्शी जी के बारे में अक्सर बहुत-सी बातें बतलाया करते थे। उनकी बातें से मालूम होता था कि मुन्शी जी को देहाती जीवन के साथ बहुत प्रेम है। वे अक्सर देहातों

में चले जाते हैं वहां तो काफी अरसे तक ठहरते हैं। वे वहां सब लोगों से मिलते हैं, उनका हाल-चाल जानते हैं, उनकी अवस्थाओं का अध्ययन करते हैं और उनके कष्टों और विपत्तियों आदि के सम्बन्ध में बहुत ही सुन्दर-सुन्दर कहानियां लिखते हैं।

लेकिन इसमें कोई ताज्जुब की बात नहीं थी। जब तक मामूली आदमियों के बारे में पूरी-पूरी जानकारी न हासिल न कर ली जाय तब तक उनके बारे में इतनी ठीक और सच्ची बातें इतनी ख़ूबसूरती के साथ लिखी ही कैसे जा सकती हैं? इसमें कुछ भी शक नहीं कि कभी-कभी उनकी कथावस्तु कुछ शिथिल हो जाती थी—कहानी गढ़ने में उनकी कलम चूक जाया करती थी, वे आदर्श के फेर में पड़ जाते थे और नतीजे पर बहुत जोर देते थे। लेकिन फिर भी उनके पात्र बिल्कुल निराले ही दिखाई देते हैं और उनकी सादगी हमारा दिल अपनी तरफ खींच लेती है। उनकी 'कफन' नाम की कहानी बहुत बड़ी और ऊंचे दरजे की कहानियों में एक है और उर्दू भाषा में उस जोड़ की कहानियां बहुत ही कम हैं। उसमें जो चरित्र-चित्रण हुआ है, वह सबसे अच्छा है—उसमें उन्होंने कमाल कर दिखलाया है। और इस तरह की कहानी तब तक नहीं लिखी जा सकती, जब तक चरित्रों का बहुत अच्छी तरह अध्ययन न किया जाय। वह कहानी करीब-करीब सभी दृष्टियों से बिल्कुल ठीक और पूरी उतरी है। करीब एक साल पहले जब मैंने उसे पढ़ा था, तब मुझे मालूम हुआ था कि मानो उसमें करामात कर दिखलाई गई और मुझे उस प्रतिभा ने चकित कर दिया था जो पात्रों के चरित्र ऐसे अच्छे ढंग से अंकित कर सकती थी कि मालूम होता था कि वे सब पात्र जीते-जागते हमारे सामने आकर मौजूद हो गए हैं फटे-पुराने चीथड़े पहने हुए दो बहुत ही गरीब आदमी हैं जो संयोग से बहुत ही बुरी दशा में पहुंच गए हैं। खाने-पीने का कुछ भी ठिकाना नहीं है। गरीबी पूरी तरह से छाई हुई है। पास ही सौरी में एक औरत मर रही है। लेकिन उसकी तरफ उनका कोई ख़याल नहीं है। ऊलाव के पास बैठे हुए हैं और इसलिए एक दूसरे को कड़ी निगाह से देख रहे हैं कि कहीं दूसरा मुझसे एक आलू ज्यादा तो नहीं खा जाता है। और इसीलिए उनमें से कोई उठकर उस औरत को देखने के लिए अन्दर नहीं जा रहा है जो झोंपड़ी में मर रही है। यह सारा चित्र मानो सचमुच ही हमारी आंखों के सामने आ जाता है। फिर वही दोनों आफत के मारे हुए आदमी—जो दरअसल आदमी नहीं हैं बल्कि सिर्फ प्राणी जानदार हैं और जिन्हें इतना भी ज्ञान नहीं है कि हम आदमी हैं--जो बिल्कुल पद-दलित और दुर्दशा-ग्रस्त हैं, जो ऐसे प्राणी हैं कि आज तक कभी मनुष्यत्व के पद पर पहुंच ही नहीं सके हैं, लेकिन फिर भी जो उसी पृथ्वी की तरह बिल्कुल सीधे-सादे और निष्कपट हैं जिसने उन्हें जन्म दिया था और जिसके कन्द-मूल पर वे निर्वाह करते थे, उस औरत के कांटी-कफन के लिए मांग-मांगकर पैसे इकट्ठे करते हैं। वे जहां जाते हैं, वहां झिड़कियां सुनते हैं और गालियां खाते हैं; लेकिन फिर भी जैसे-तैसे कुछ रुपये जमा कर ही लाते हैं। फिर वे रुपये अपनी जेब में रखकर वे श्मशान की ओर नहीं जाते, बल्कि कलवरिया में पहुंचते हैं। वहां वे उस मरी हुई औरत का गुण-गान करते हैं, उसकी आत्मा की सद्‌गति के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते हैं, ख़ूब मौज से खाते और शराब पीते हैं और आखिर में उसी शराब के नशे की हालत में दोनों एक दूसरे के साथ गुत्थम-गुत्था होकर एक ढेर के रूप में ज़मीन पर गिर पड़ते हैं !

हमारे जीवन में जो अनेक दुःखपूर्ण बातें होती हैं और साथ ही जो अनेक मजेदार परन्तु कटु

बातें होती हैं, उन्हीं के चित्र वे दोनों हमारे सामने उपस्थित करते हैं। वे यह बतलाते हैं कि परले सिरे की गरीबी की वजह से हमारी आत्माएं मर गई हैं और हमारे जीवन निर्जीव हो गये हैं। वे परम दुर्दशा-ग्रस्त मानवता के नमूने हैं—उन लाखों, करोड़ों आदमियों के नमूने हैं जो हमारा हिन्दोस्तान हैं—जिनसे हमारा देश भरा हुआ है। और प्रेमचंद जी की कलम में वह ताकत थी जो इस तरह के आदमियों में भी जान डाल देते थी।

कई बरस बीत गये। प्रेमचंद जी की किताबों का तो मुझ पर पहले ही असर पड़ चुका था। पर जब मैंने मास्टर साहब से प्रेमचंद जी के बारे में बहुत-सी बातें सुनीं, मुझे उनकी ज़िन्दगी के कुछ हाल मालूम हुए और भी मालूम हुआ कि वे किस तरह काम करते हैं, तब मुझ पर खुद प्रेमचंद जी का भी उसी तरह असर पड़ा जिस तरह उनकी किताबों का पड़ा था। मैंने प्रेमचंद जी के बारे में जो कुछ सुना था उससे मुझे उनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में भी कुछ-कुछ धारणा हो गई। मैंने अपनी आंखों के सामने प्रेमचंद जी की तस्वीर खींचने लगा। मैं देखता था कि वे सफेद खादी के कपड़े पहने हुए हैं, उनकी बड़ी-बड़ी मूंछें हैं, हाथ में एक गोल कटोरा लिये हुए हैं (कुझे किसी तरह यह ख़याल बंध गया था कि मास्टर साहब ने उनके बारे में मुझसे इसी तरह का ज़िक्र किया था) और वे एक गांव के पेड़ के नीचे बैठे हैं। यह एक बहुत ही विलक्षण बात है कि हम जिस आदमी को बहुत ही अच्छा समझते थे और उसके गुणों की प्रशंसा करते हैं, उसके बारे में हम यह भी खूब समझ लिया करते हैं कि उसका कद बहुत बड़ा है। और इसीलिए मैंने भी यह समझ लिया था कि प्रेमचंद जी ख़ूब लम्बे-चौड़े और हट्टे-कट्टे आदमी होंगे और उनका बदन गठीला होगा। मैंने अपने मन में प्रेमचंद जी की जो तस्वीर बनाई थी, वह शायद अपनी स्मरण-शक्ति के एक कौतुक के कारण ही बनाई थी, बल्कि यों कहना चाहिए कि मैं उन कलाकार की मन ही मन जो प्रशंसा करता था उसी के कारण मेरे मन में उसका यह कल्पित चित्र बना था। लेकिन जब साल भर पहले मैं उनसे मिला था, तब मैंने देखा कि मैंने अपने दिल में जो तस्वीर बनाई थी उससे असल में वे बिल्कुल अलग तरह के आदमी थे।

उन दिनों में इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में पढ़ाया करता था। मेरा ख़याल है कि उस दिन सन् 1936 की 12 फरवरी थी जब कि मैं हिन्दुस्तानी एकेडेमी के सालाना जलसे में शरीक हुआ था। पुराने कवियों से सम्बन्ध रखने वाले बहुत लम्बे-चौड़े निबन्ध सुनते-सुनते हम लोग उकता गये थे और हममें से कुछ लोग अपनी टांगे सीधी करने के लिए और थोड़ी-सी ताजी हवा खाने के लिए उस पंडिताऊ वातावरण से निकलकर बाहर बरामदे में आ गये थे। मुझे याद आता है कि उस वक्त मेरे दोस्त मुन्शी रघुपति साहय 'फिराक' और मुन्शी दयानारायण निगम भी वहां मौजूद थे। उस वक्त मुन्शी दयानारायण निगम के साथ मेरी पहले पहल मुलाकात हुई थी और हम लोग 'अंगारे' नाम की अपनी किताब के बारे में बातें कर रहे थे। शाम हो चली थी और म्योर सेन्ट्रल कॉलेज क इमली के दरख़्तों में करीब-करीब आधा सूरज उतर आया था। उसकी पीली पड़ी हुई किरणें हम लोगों के पैरों पर नाच रही थीं और बढ़िया ठंढी हवा चल रही थी। उस वक्त अचानक बरामदे की मोड़ से एक ऐसे दुबले-पतले सज्जन आते दिखाई दिये जिनका कद कुछ ज़्यादा लम्बा नहीं था। लेकिन फिर भी वे जितने लम्बे थे, उसके मुकाबिले में अपने दुबलेपन के कारण कुछ ज़्यादा लम्बे मालूम होते थे। उनके चेहरे से प्रसन्नता झलकती थी और आंखें करुणा-पूर्ण थीं और उनमें एक ऐसी कोमलता दिखाई देती थी जो जीवन की

समस्याओं पर गम्भीर विचार करने और अनेक प्रकार के कष्ट सहने से उत्पन्न होती है। वे एक शेरवानी और चुस्त पाजामा पहिने हुए थे और उनकी गान्धी टोपी में-से दोनों तरफ और पीछे गरदन पर निकले हुए कुछ लम्बे बाल दिखाई देते थे। उनकी घनी और बड़ी-बड़ी मूंछों में काले बालों की बनिस्बत सफेद बाल ही ज़्यादा थे और उनका तौर-तरीका बहुत ही भले आदमियों का सा था। मेरे दोस्त रघुपति सहाय जी ने उनसे मेरा परिचय कराया। मुझे मालूम हुआ कि यही मुन्शी प्रेमचंद जी हैं। वे खूब मज़े में और खुल कर बातें करते थे और सब लोग खूब खुले दिल से खुश होकर उनकी बातें सुनते थे। उनके सीध-सादे तौर-तरीकों का मुझ पर बहुत अच्छा असर पड़ा था। वे बहुत मज़ाक-पसन्द आदमी थे और मौके पर फौरन ही एक से बढ़कर एक मज़ेदार बात कहते थे। हम लोग इसी तरह खड़े-खड़े बातें करते थे और सिगरेट पीते थे। ढलते हुए सूरज की पीली किरणें हम लोगों के पैरों पर खेल रही थीं। उस वक्त मुझे ख़्वाब में भी इस बात का ख़्याल नहीं होता था कि प्रेमचंद जी के जीवन का सूर्य भी अब बहुत जल्दी अस्त होना चाहता है। बाहर बहुत बढ़िया हवा चल रही थी और पड़ों में नाचती-गा रही थी।

दो दिन बाद वह चौदहवीं फरवरी आई जो इतिहास में लोगों को बहुत दिनों तक याद रहेगी। आगे चलकर जब कुछ बरसों के बाद हमारे साहित्य का इतिहास लिखा जायगा तब वह दिन एक विशेष महत्व का माना जायगा। उस दिन हम सब लोग अपने देश में प्रगतिशील लेखकों के आन्दोलन (Progressive Writers' Movement) का संघटन करने के लिए फिर सज्जाद ज़हीन साहब के मकान पर इकट्ठे हुए थे। वहां मुन्शी प्रेमचंद, मौलाना अब्दुल हक और मुं॰ दयानारायण निगम सरीखे ऐसे बड़े-बड़े लोग मौजूद थे जिन्होंने साहित्य की उन्नति के लिए बहुत बड़े-बड़े काम किए थे और हममें से नई पीढ़ी वाले कुछ ऐसे लोग भी थे जिनके कन्धों पर नये और अधिक दृढ़ साहित्यिक आन्दोलन चलाने का भार आ पड़ा था, और ज्यों ज्यों दिन बीतते जायंगे त्यों-त्यों जिनके कन्धों पर का यह भार बराबर बढ़ता जायगा। हम सब लोगों ने एक-मत होकर 'प्रोग्रेसिव राइटर्स ऐसोसिएशन' या 'प्रगतिशील लेखक संघ' स्थापित करना निश्चित किया। मुं॰ दयानारायण निगम को इस सम्बन्ध में कुछ निराशा और संदेह सा हो रहा था, लेकिन प्रेमचंद जी ने उस समय एक बहुत मार्के की बात यह कही कि प्रगतिशील लेखकों के आन्दोलन के लिए हमारा देश तैयार हो गया है और हम लोग बहुत ही उपयुक्त और शुभ अवसर पर इस ऐसोसिएशन का आरम्भ कर रहे हैं। एक साल के अन्दर ही हमारे इस आन्दोलन को जो ख़ासी कामयाबी हासिल हुई है, उसमे बिला शक यह बात बहुत अच्छी तरह साबित हो जाती है, कि मुं॰ प्रेमचंद जी ने जो कुछ कहा था वह बिल्कुल सच और ठीक था। और फिर प्रेमचंद जी बहुत ही अच्छे और समझदार आलोचक थे। अब वह इस दुनिया में नहीं रह गये हैं और इसलिए खुद अपने बारे में मैं यह कह सकता हूं कि मेरी कहानियों वाली आख़िरी किताब 'शोले' के बारे में उन्होंने जो राय दी थी, उसका मुझे विशेष अभिमान है।

मरने से कुछ ही दिन पहले प्रेमचंद जी में एक नया और बहुत बड़ा मानसिक परिवर्तन हो रहा था। उनकी सारी मानसिक क्रियाओं की प्रवृत्ति देश के परम दरिद्र निवासियों की ओर हो रही थी। वे ज्यादातर गरीबों की दुर्दशा का ही चित्र अपने उपन्यास आदि में दिखलाने लगे थे। उन्होंने एक नई नीति के अनुसार 'हंस' चलाना आरम्भ किया था। और वे उसके द्वारा अपने

देश के उन्नतिशील साहित्य की सेवा करना चाहते थे। उनकी मृत्यु के कारण हम लोगों की बहुत बड़ी हानि हुई है, और ऐसी हानि हुई है, जो जल्दी पूरी ही नहीं हो सकती। जिन दिनों वे बीमार थे, उन दिनों हम सभी लोगों को उनकी तन्दुरुस्ती की बहुत ज़्यादा फिक्र हो रही थी। उनके बचने की कोई विशेष आशा न हाने पर भी हम लोग बराबर यही आशा करते थे कि वे अच्छे हो जायंगे। लेकिन दैव हम लोगों के विपरीत था और इस समय हमें उनके उठ जाने के कारण गम मनाना पड़ता है। उनकी मृत्यु बहुत ही अ-समय में हुई और अगर वे और कुछ दिनों तक ज़िन्दा रहते, तो उनके नेतृत्व में उन्नतिशील लेखकों का आन्दोलन तो जोर पकड़ा ही, क्योंकि वे हम लोगों के सबसे पहले सभापति थे और इस महत्वपूर्ण पद के लिए हमें उनसे अच्छा आदमी नहीं मिल सकता था और हम समझते हैं कि अभी कुछ वर्षों तक हमें वैसा योग्य आदमी नहीं मिलेगा। पर साथ ही अगर वे और कुछ दिनों ज़िन्दा रहते तो हमें 'कफन' के ढंग की कुछ और कहानियां आदि भी मिलतीं जिससे हमारा साहित्य और भी अधिक सम्पन्न होता। कारण यह है कि अब वे पहले से भी कहीं अधिक उत्तम और उच्चकोटि का साहित्य प्रस्तुत करने के योग्य हो गए थे। अब उन्होंने अपने देश के गरीब किसानों और मज़दूरों का पक्ष लेना आरम्भ किया था और वे उसी प्रकार उन गरीबों के प्रतिनिधि और उनके कष्ट सुनने वाले बन जाते जिस प्रकार रूस में मैक्सिम गोर्की हैं। लेकिन फिर भी हम लोगों को इस बात का दृढ़ विश्वास है कि उनका उदाहरण सदा हम लोगों के सामने रहेगा और उनकी स्मृति हम लोगों को अपनी भिन्न-भिन्न भाषाओं में और भी अधीक उन्नतिशील साहित्य तैयार करने की प्रेरणा करेगी और अब हम लोग ऐसा साहित्य तैयार करने की कोशिश करेंगे जो देश में फैली हुई गरीबी और दुर्दशा से सब लोगों को परिचित करावेगा। यह साहित्य हिन्दुस्तान के लाखों, करोड़ों भूखे और नंगों की हालत पर गौर करेगा और दुर्दशा-ग्रस्त मानव जाति के उद्धार के लिए लड़ेगा।

प्रेमचंद जी : मनुष्य और लेखक के रूप में

लेखक—प्रोफेसर रघुपति सहाय, एम० ए०

बीस साल से भी पहले की बात है। जब मैंने प्रेमचंद जी को पहली बार देखा था, तब मैं म्योर सण्ट्रल कॉलेज, इलाहाबाद में बी ए का विद्यार्थी था। सन् 1916 ई० में गरमी के दिनों में एक दिन सन्ध्या को हमारी मुलाकात एक लम्बी-चौड़ी इमारत के बरामदे में हुई थी जिसमें अब इम्पीरियल बैंक की गोरखपुर वाली शाखा का दफ्तर है। मुझे उस समय दोहरी खुशी हुई थी। पहली खुशी इस बात की थी कि प्रेमचंद जी से पहली बार मुलाकात हुई थी, तिस पर यह सुनकर और भी ज्यादा खुशी हुई थी कि अब वे स्थायी रूप से मेरे मकान के पास ही रहेंगे। उस दिन जिस परिचय का आरम्भ हुआ था, उसने शीघ्र ही गहरी दोस्ती के रूप धारण कर लिया, जिसका क्रम केवल उनकी असामयिक और दुःखपूर्ण मृत्यु के उपरान्त ही टूटा।

मुझे खूब अच्छी तरह याद है कि पहले दिन ही उनसे मुलाकात होने पर मुझे ऐसा जान पड़ता था कि इतने दिनों तक उनसे परिचय न होने के कारण मेरी कोई बहुत बड़ी हानि हुई

है। इसका कारण यह था कि इससे पांच-छ: साल पहले ही, जब कि मेरी अवस्था केवल दस-बारह वर्ष की थी, मैं परोक्ष रूप से प्रेमचन्द जी के नाम के साथ प्रेम करने लग गया था। *इसलिए अब जब उनके साथ मुलाकात की नौबत आई, तब मुझे इस बात का अफसोस हुआ कि मैं इतने दिनों तक बिना उनसे मुलाकत किये क्योंकर रहा। जब तक मैंने पहले-पहल उनकी एक कहानी 'ज़माना' में पढ़ी थी, तब में स्कूल में ही पढ़ता था। लेकिन फिर भी उस समय मुझ पर उसका जो प्रभाव पड़ा था, वह अभी तक दूर नहीं हुआ था।* जीवन के दृश्यों और वर्णनात्मक गद्य की वह प्रभावशालिनी शक्ति, जिसके द्वारा जीवन की चिरपरिचित और सामान्य घटनाएं जीता-जागता रूप धारण करके चलते-फिरते रूप में दिखाई देती थीं, मुझे उसी समय दिखाई दी थी और मेरे लिए वह बिल्कुल एक नया मानसिक अनुभव था। यद्यपि उस समय तक मैं वयस्क नहीं हुआ था और मुझे कोई ख़ास समझ नहीं थी, लेकिन फिर भी मुझ पर उस सीधी-सादी कहानी का बहुत ही विलक्षण, कोमल और सूक्ष्म प्रभाव पड़ा था।

प्रेमचंद जी के यहां मेरा रोज आना-जाना शुरू हो गया। गरमी की छुट्टियों में नित्य मेरी सन्ध्या उन्हीं के साथ बीतने लगी। जो समय उनकी कृपा और संगति में बीतता था, वह बहुत ही शान्ति-दायक और आनन्दपूर्ण होता था और बहुत ही जल्दी बीत जाता था। आज जब मैं उन दिनों का ध्यान करता हूं तो कुछ विलक्षण ही अवस्था हो जाती है। उनके प्रेमपूर्ण मनुष्यत्व और उनके जीवन का सन्तोषजनक तथा शान्तिपूर्ण रूप और उनकी चरम सीमा की सत्यनिष्ठा की स्मृति अब तक मेरे मन में बनी हुई है। प्रेमचंद जी की प्रकृति ही ऐसी थी कि वह सादगी बहुत ज़्यादा पसन्द करते थे। उनके मिजाज़ में नाम को भी बनावट नहीं थी। जब मैं अपनी मानसिक दृष्टि से उनकी बातों का सिंहावलोकन करता हूं तो मुझे ऐसा मालूम होता है कि मैं बिल्कुल अनजान में ही बहुत जल्द उनके साथ बहुत ज्यादा हिल मिल गया था और मेरा विश्वास है कि जिस किसी का उनसे साधारण- सा भी परिचय होगा, वह भी अपने मन में यही अनुभव करता होगा।

आज मैं अपने एक ऐसे मित्र का सोग कर रहा हूं जिनके व्यक्तित्व से स्वयं मित्रता को भी प्रतिष्ठा प्राप्त होती थी। जैसा कि मैंने ऊपर लिखा है, उनसे पहली बार मिलने के बाद ही मुझे इस बात का अफसोस हुआ था कि मैं इससे पहले ही उनके साथ क्यों न मिल सका। आज मैं उनके पुराने दोस्तों में अपने आपको बिल्कुल अकेला पाता हूं। 'ज़माना' के सुप्रसिद्ध सम्पादक मुन्शी दयानारायण निगम को मुझसे भी ज़्यादा दिनों से प्रेमचंदजी को जानने का अभिमान है और उनकी हानि मेरी हानि से भी बढ़कर हुई है।

हम लोगों की बात-चीत प्राय: भिन्न-भिन्न विषयों पर हुआ करती थी और एक बार आरम्भ होने पर फिर समाप्त होना जानती ही न थी। प्रेमचंद जी के मस्तिष्क में बहुत बड़ी जिज्ञासा थी और वे सभी बातें जाने क लिए बहुत उत्सुक रहा करते थे। लेकिन प्राय: हम लोगों की बात-चीत जीवन और साहित्य के भिन्न-भिन्न प्रश्नों के सम्बन्ध में ही हुआ करती थी। प्रेमचंद जी में आत्मश्लाघा का भाव बिल्कुल नहीं था—वे स्वयं अपनी ओर और अपनी कृतियों की ओर देखना जानते ही नहीं थे। यहां तक कि जब उनकी रचनाओं की देश-व्यापी सर्वप्रियता और अवर्णनीय महत्व का उनके सामने ज़िक्र किया जाता था, तो वह घबरा जाते थे। उन्हें अपने

बारे में बात-चीत करने की आदत ही नहीं थी और न वह कभी बार-बार किसी से अपनी प्रशंसा सुनने के ही इच्छुक रहते थे, यद्यपि 'बहुत ऊंचा दिमाग रखने वालों की यह आखिरी कमज़ोरी' अभी तक सुलेखकों और गुणियों में भी अदृश्य नहीं हुई है। लेकिन बात-चीत की रौ में कभी-कभी कुछ अज्ञात अन्तरों के उपरान्त और बिल्कुल अनभ्यस्त रूप से वह अपने जीवन की बिखरी हुई घटनाओं के कुछ संकेत कर जाया करते थे। वह अपने सम्बन्ध में कभी कठिनता से कुछ संक्षिप्त वाक्य ही कहते थे, लेकिन उन थोड़े से शब्दों में ही ईश्वर जाने वह कितनी बातें कह जाते थे। मैंने उन सब घटनाओं का कुछ क्रम लगाया था और अब मैं उन्हीं घटनाओं को यहां लिखने का प्रयत्न करूंगा।

मुन्शी प्रेमचंद जी के पिता ने बनारस जिले के पांड़ेपुर मौजे में अपने बड़ों से उत्तराधिकार के रूप में थोड़ी-सी काश्तकारी पाई थी। वही उनकी पैत्रिक जन्मभूमि थी, जहां प्रेमचंद जी ने एक छोटा-सा सुन्दर मकान बना लिया है। काश्तकारी की आमदनी प्राय: नहीं के समान थी। इसलिए उनके पिता ने डाकख़ाने में नौकरी कर ली थी, जहां तरक्की करके कदाचित् वह किसी छोटे से डाकख़ाने के डाक मुन्शी हो गये थे। इस प्रकार उनके घर और ख़ानदान के संबंध की बातें मध्यम श्रेणी के लोगों की उसी तरह की बातें का नक्सा पेश करती हैं जिस तरह की बातों को अंग्रेजी के लेखक जार्ज गिस्सिंग ने (George Gissing) ने अपने पृष्ठों में अमर कर दिया है।

इस श्रेणी के दूसरे लड़कों की तरह प्रेमचंद जी भी एक हाईस्कूल में भर्ती हो गये थे और आरम्भिक कक्षाओं के उपरान्त उनकी शिक्षा गोरखपुर के एक स्कूल से आरम्भ हो गई, जहां उनके पिता नौकर थे। प्रेमचंद जी ने मुझे बतलाया था कि लड़कपन में उनकी दोस्ती अपने दर्जे के एक ऐसे लड़के से हो गई थी जो एक तम्बाकू बेचने वाले का बेटा था। नित्य वे अपने अल्प-व्यस्क मित्र के साथ स्कूल के बाद उनके मकान पर जाते थे और वहां तम्बकू के बड़े-बड़े काले पिंडों के पीछे वह और उनके मित्र बैठकर हुक्का पीते थे और 'तिलिस्म होशुरबा' पढ़ते थे। यह कभी न समाप्त होने वाली बहुत लम्बी कहानी है जो अपनी विशालता, विशदता और बहुविध कथानकों के विचार से योरोप के मध्य युग की आध्यात्मिक कहानियों का बहुत पीछे छोड़ देती है। उसकी लम्बाई का यह हाल है कि यदि वे सब लिखी जायं तो 'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका' के बराबर हो जायगी। ख़ैर, वहीं प्रेमचंद जी अपने अल्पवयस्क मित्रों के साथ बैठकर तिलिस्म होशुरबा के किस्से सुनते थे। इसी में जब सन्ध्या हो जाती थी, तब वह अपने घर चले जाते थे। यह क्रम प्राय: एक वर्ष तक चलता रहा। लेकिन इसी बीच में प्रेमचंद जी सदा के लिए कहानियों में डूब गये। वास्तव में वे कहानियां उन्होंने जिस तरह मन लगाकर और शौक सुनी थीं, उससे उनकी वर्णन-शक्ति में धारा-प्रवाहिकता और सरसता के गुण आकर सम्मिलित हो गये थे और उन मनोहर कहानियों की आत्मा उनमें प्रविष्ट हो गई थी। फिर कुछ दिनों के बाद यही शक्तियां और यही गुण प्रेमचंद जी की रचनाओं में जिस सुन्दरता के साथ फूले फले उनका यहां वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है।

प्रेमचंद जी के पिता का देहान्त उस समय हुआ था जब उनकी अवस्था कठिनता से चौदह वर्ष की रही होगी। उस समय वे बनारस के एक हाईस्कूल के आठवें या नवें दर्जे में पढ़ रहे थे। उनकी माता प्राय: आठ वर्ष पहले ही मर चुकी थीं। प्रेमचंद जी अपनी सौतेली माता और

सौतेले भाई के साथ इस संसार में अकेले रह गये और ये दोनों उनके बाद अब तक जीवित हैं। अब उन्हें जीवन की कठोरतम परीक्षा और हद से ज़्यादा तकलीफ देने वाली आजमाइश में से गुज़रना पड़ा। प्रेमचंद जी ने अपनी कहानी में बहुत ही प्रभावशाली और ज़हर बुझे हुए नश्तर की तरह के शब्दों में अपने जीवन के उन दिनों की ओर संकेत किया है जो उन्होंने अपने पिता और सौतेली माता के साथ बिताये थे और जिस समय उनकी अवस्था पांच या छ: वर्ष से अधिक की नहीं थी। उस कहानी का शीर्षक 'सौतेली मां' है। उसकी बारीकी और महत्व में नि:शब्द परन्तु कटु भावनाएं भी हैं। लेकिन फिर भी उसमें कहीं बे-मजा और ओछी भावनाओं का नाम भी नहीं है। लेकिन फिर भी उसे पढ़कर आप अपने आंसू नहीं रोक सकेंगे।

पिता जी के मरने के उपरान्त अपनी विद्यार्थी अवस्था में ही प्रेमचंद जी को कुछ काम की तलाश हुई। कभी-कभी ऐसे अलभ्य समय आया करता था जब कि वे मुझे अपने मन की भीतरी बातें बताने लगते थे। इसी प्रकार के एक अवसर पर उन्होंने बहुत ही करुणापूर्ण ढंग से, जिसमें एक सामान्य-सा कम्प भी सम्मिलित था, उन्होंने मुझे बतलाया था कि किस प्रकार वे अपनी पढ़ाई जारी रखने के लिए छ: रुपये महीने के लिए रोज़ तीन मील पैदल जाया करते थे। यह मेरी स्मृति में एक बहुत ही स्पष्ट परन्तु बहुत ही करुणापूर्ण घटना है। कम से कम एक बार उनके आकस्मिक परन्तु गम्भीर वर्णन में कठोरता और कोमलता का एक में मिश्रण हो गया था। परन्तु यह कितनी निरीह और स्वाभाविक घटना थी। प्रेमचंद जी की गिनती तन्दुरुस्त लड़कों में नहीं होती थी। इसलिए मेहनत करके और पेट काटकर उन्होंने हाईस्कूल का इम्तहान दूसरे दरजे में पास किया था।

अधिक दिन नहीं बीतने पाये थे कि वे स्कूलों के सब-डिप्टी इन्स्पेक्टर मुकर्रर हो गये। अब प्रेमचंद सहज में अपनी सौतेली माता और सौतेले भाई का भार भी उठा सकते थे। उनका विवाह भी हो चुका था, परन्तु वह बहुत ही अनुपयुक्त और दु:खद सिद्ध हुआ। वह अपनी स्त्री से अलग रहकर कई बरसों तक अकेले ही अपने दिन बिताते रहे, उसके मरने तक वह बराबर नियमित रूप से उसके पास खर्च के लिए रुपये भेजा करते थे। इसी बीच उन्होंने एक विधवा भद्र महिला से, जिनका नाम शिवरानीदेवी है, विवाह कर लिया। उनके जीवन की यह साहसपूर्ण और निष्ठ संगिनी उनके तीन लड़कों और तीन लड़कियों की मा बनी। किन्तु वह और उनके दो लड़के और एक लड़की ही इस समय तक सकुशल वर्तमान हैं। स्वर्गीय प्रेमचंद जी की कदर करने वाले और उनके साथ प्रेम करने वाले हजारों आदमियों की सहानुभूति इन लोगों के साथ है। पहली स्त्री के जीवन काल में ही जो एक विधवा स्त्री के साथ दूसरा किया गया था, वह अपने मन की अव्यस्थाओं की अच्छी तरह जांच करने के बाद और बिल्कुल चुपचाप किया गया था। यह विवाह किसी मानवेग का परिणाम नहीं था और न हम इसे प्रेमी और प्रेमिका वाला विवाह ही कह सकते हैं। बल्कि यह रिश्ता उनके लिए एक दिलेरी का कदम था और उसमें किसी प्रकार का आवेश या मनोवेग सम्मिलित नहीं था।

जिन दिनों प्रेमचंद जी स्कूलों के सब-डिप्टी इन्स्पेक्टर थे, उन्हीं दिनों वे कहानियां लिखने लग गये थे। उन्होंने पहले उर्दू में चार-पांच कहानियां लिखीं थीं जो प्राय: तीस वर्ष हुए, एक छोटी-सी पुस्तक के रूप में 'सोज़े वतन' के नाम से कानपुर के ज़माना प्रेस से प्रकाशित हुई थी। प्रेमचंद जी ने और उनके साथ दूसरे कलाकारों ने उर्दू और हिन्दी भाषा में कहानी लिखने

की कला को उसे ऊंचे दरजे पर पहुंचा दिया है, जहां आज हम उसे देख रहे हैं। इस समय साहित्य में उससे बहुत अच्छी-अच्छी रचनाएं हो चुकी हैं और इन अच्छी रचनाओं की चमक और प्रकाश उस पुस्तक के हलके और धीमें प्रकाश को छाया या अन्धकार में डाल देगी, लेकिन फिर भी गल्प-लेखन के इतिहास में वह एक बहुत सुन्दर चिह्न है। देश-प्रेम का शुभ भाव उन पृष्ठों में सांस ले रहा है। उन कहानियों में कोई बात अपत्ति-जनक नहीं है। वह बहुत निश्चिन्तता पूर्वक लड़कों और लड़कियों की पाठ्य पुस्तकों में सम्मिलित की जा सकती हैं। लेकिन फिर भी तीस बरस पहले की दुनिया ही कुछ और थी। सचेष्ट और सतर्क अधिकारियों ने उनसे कैफियत तलब की। मेरी और उनकी मुलाकात हुए अभी अधिक दिन नहीं बीते थे जब कि उन्होंने अपने बे-तकल्लुफ और साफ ढंग से मुझसे कहा था कि स्कूलों के इन्स्पेक्टर ने किस प्रकार उन्हें अपनी उस पुस्तक की पांच सौ प्रतियों में आग लगा देने के लिए विवश किया था।

लेकिन फिर भी उनकी रचनाओं का क्रम आरम्भ हो गया था। और यदि मैं उन अवस्थाओं का वर्णन करूं जिन अवस्थाओं में उनकी अधिकांश पुस्तकें लिखीं गई थीं तो यह लेख अपनी सीमा से बहुत बढ़ जायगा। कुछ ऐसे उपन्यास, जो न बहुत बड़े थे और न बहुत छोटे, उनकी कलम से निकले और इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद से प्रकाशित हुए। उन्हीं दिनों में उनकी संक्षिप्त कहानियों का क्रम भी आरम्भ हुआ और ये कहानियों उनकी मृत्यु के समय तक तीन सौ की असाधारण संख्या तक पहुच गई थीं।

प्रेमचंद जी की कहानियों के इस संग्रह के प्रकाशित होने से भारत के गल्प-लेखन के इतिहास में एक शान्त और मौन क्रान्ति हो गई, जिसकी पताका लेकर सबसे आगे चलने वाले एकमात्र प्रेमचंद जी ही थे और यह क्रान्ति केवल उनकी आवाज पर बराबर आगे बढ़ती चली जा रही थी। आजकल की शिक्षा -प्रणाली ने इतनी शान-शौकत और चमक-दमक होने पर भी हमें एक अशिक्षित जाति ही बना रखा है। कुछ लोग इस बात का मधुर स्वप्न बहुत दिनों से देखते चले आ रहे हैं कि भारतवर्ष किसी समय अंगरेजी शिक्षा प्राप्त लोगों का देश बन जायगा अथवा कम से कम उसका कोई छोटे से छोटा हिस्सा कभी अंगरेजी भाषा में कोई ऐसी चीज़ लिख सकेगा जिसकी कदर हो सकेगी अथवा अंगरेजी और दूसरी योरोपियन भाषाओं की कदरदानी और रसास्वादन कभी उसका राष्ट्रीय व्यसन बन सकेगा। परन्तु यह केवल स्वप्न ही स्वप्न है और यह विचार कभी कार्य में परिणत न हो सकेगा। इन्हीं सब बातों के झूठे धोखे और ख्याल ने हम लोगों को अपनी भाषाओं में भी कोई अच्छी रचना करने या अपने साहित्य का आदर करने के योग्य भी नहीं रखा। तात्पर्य यह कि उन्हीं सब परिस्थितियों में प्रेमचंद जी ने अपना कार्य आरम्भ किया था। वास्तव में वह उस समय दो दुनियाओं के बीच में थे, जिनमें एक तो मुरदा हो चुकी थी और दूसरी किसी तरह पैदा होने के लिए तैयार नहीं थी। बहुत दिनों तक प्रेमचंद जी को वह सौजन्य-पूर्ण व्यवहार और सहानुभूति भी प्राप्त न हुई जो हमारे अंगरेजी शिक्षा प्राप्त हिन्दुस्तानियों में से अग्रगण्य लोग आजकल कभी कभी देशी भाषाओं के साहित्य-सेवियों के प्रति दिखलाते हैं। वह सौजन्य और सहानूभूति के भी पात्र नहीं समझे गये। वह इस योग्य भी न समझे गये कि हमारे उच्च श्रेणी के प्रतिष्ठित लोग उन्हें अपने ड्राइंग रूम में मुलाकात करने के लिए बुलाते। सम्भव है कि उन्होंने कहीं से उनका नाम सुन लिया हो या, अधिक से अधिक, 'ज़माना' की लेख-सूची में उनके नाम पर उनकी दृष्टि पड़ गई हो। जो हो, अब इस

विषय का विस्तार करना व्यर्थ है।

प्रेमचंद जी बराबर लिखते रहे और साहित्य की परख रखने वालों के एक छोटे-से वर्ग में उनकी रचनाओं की प्रभावशालिनी शक्तियां और गुण स्वीकृत होने लगे। लेकिन इससे उन्हें कोई आर्थिक लाभ नहीं हुआ। हां, दस वर्षों में 'जमाना' में प्रकाशित होने वाली अपनी कहानियों की बदौलत उन्हें उर्दू गल्प-लेखकों में पूरे उस्ताद का दरजा हासिल हो गया।

जिस पहली मुलाकात के ज़िक्र से इस लेख का आरम्भ हुआ है वह उसी ज़माने में हुई थी। अब वह अपनी नौकरी के सिलसिले में गवर्नमेंट नार्मल स्कूल गोरखपुर के सेकेण्ड मास्टर की हैसियत से आये थे। इस बीच में इस देश के शिक्षित और विद्या-प्रेमी लोगों के वर्ग में भी और उसके अतिरिक्त बाहर भी अच्छी तरह उनकी प्रसिद्धि हो चुकी थी और उस प्रसिद्धि में नित्यप्रति वृद्धि ही होती जाती थी। अब उन्होंने हिन्दी में भी कहानियां लिखना शुरू कर दिया था। हिन्दी के गुणग्राहकों के विस्तृत क्षेत्र ने बहुत तपाक से उनका स्वागत किया। हिन्दी में वे गल्प-लेखन कला के पूर्ण पण्डित समझे गये। हिन्दी सामयिक-पत्रों और पुस्तक प्रकाशकों ने उनके लेखों और पुस्तकों का उपयुक्त और यथेष्ट पारिश्रमिक देना आरम्भ किया। उर्दू में उन्हें जो कुछ मिलता था, वह न मिलने के बराबर था। अब उनकी प्रसिद्धि भारतवर्ष के दूसरे भागों में भी हो गई थी। उनकी कहानियों के अनुवाद बंगला, मराठी, गुजराती और तमिल तथा दूसरी दक्षिण भारतीय भाषाओं में भी प्रकाशित होने लगे। मुझे यह भी मालूम हुआ कि जापान में भी कुछ हिन्दुस्तानी लेखकों ने उनकी कहानियों के अनुवाद जापानी भाषा में प्रकाशित कराये हैं। कुछ दिन हुए यह भी सुनने में आया था कि मि० सी० एफ० अंडरूज़ प्रेमचंद जी की कुछ कहानियों का अंग्रेजी अनुवाद दोहरा रहे हैं और कहानियों का वह अंग्रेजी अनुवाद इंग्लैंड में प्रकाशित होने को था। मुझे कुछ मित्रों ने यह भी बतलाया है कि उनकी कुछ रचनाओं के अनुवाद योरोप की दूसरी भाषाओं में भी हुए हैं। ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी के प्रोफेसर मि० ड्यूहार्स्ट (Mr Dewhurst) ने एक बार प्रेमचंद जी को लिखा था कि आपकी रचनाएं बहुत उच्चकोटि की होती हैं और भारतीय साहित्य की प्रथम श्रेणी के स्थान पाने योग्य हैं। अनुभवी विद्वान् और साहित्य के दिग्गज पंडित मौलाना शिबली ने एक बार अपनी यह सम्मति प्रकट की थी कि सात करोड़ मुसलमानों में एक भी आदमी प्रेमचंद की तरह सुन्दर, कोमल और संवारा हुआ गद्य नहीं लिखता। पंजाब में सभी तरह की औरतों में, चाहे वे किसी राजा के महल की हों, चाहे साहूकारों के यहां की हों, चाहे हाकिमों के घर की हों और चाहे व्यापारियों के घर की हों, प्रेमचंद जी की रचनाएं पढ़ने का एक ख़ास शौक पैदा हो गया है। इससे यह बात अवश्य सिद्ध होती है कि कम-से-कम हमारी स्त्रियों की (जो अभी तक वर्तमान शिक्षा-प्रणाली से अधिक लाभ नहीं उठा सकी है) मानसिक जिज्ञासा की धार अभी तक कुन्द नहीं हुई है। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं और एक यह निश्चित बात है कि जहां कहीं हिन्दी या उर्दू पढ़ी जा सकती है, वहां जब ख़िदमतगार खानसामां, मामूली पढ़ी-लिखी स्त्रियां, बच्चे, गावों के अध्यापक, जमींदार और काश्तकार प्रेमचंद जी की कोई कहानी या उपन्यास पा जाते हैं, तब बहुत ही ध्यान लगाकर उसे पढ़ते और सुनते हैं और उसमें लीन हो जाते हैं।

अब प्रेमचंद जी स्थायी रूप से उपन्यास-लेखन की ओर प्रवृत्त हो गये और करीब हर साल एक बहुमूल्य उपन्यास तैयार करके संसार के सामने रखने लगे। उनकी असामयिक मृत्यु

के समय तक लगभग उनके बीस उपन्यास प्रकाशित हो चुके थे। मैं उनकी रचनाओं के सम्बन्ध में ज़रा आगे चलकर दो एक बातें बताऊंगा। जब मैं पहली बार उनसे मिला था, तब वह एक मुदर्रिस की हैसियत से प्राइवेट तौर पर इन्टरमीडिएट का इम्तहान दूसरे दरजे में पास कर चुके थे और जब सन् 1919 में वह अपना उत्साहपूर्ण प्रेमाश्रम (जिसका अनुवाद उर्दू में 'गोशए आफियत' के नाम से प्रकाशित हुआ है) लिख रहे थे, तब वह स्कूल में पढ़ाते भी थे और बोर्डिंग हाऊस के सुपरिटेन्डेन्ट का भी काम करते थे। फिर उसी रवारवी में उन्होंने बिना कोई विशेष परिश्रम किये दूसरे दरजे में बी० ए० की डिग्री भी हासिल कर ली थी, यद्यपि उन्होंने अपने सारे जीवन में कभी एक विद्यार्थी के रूप में किसी कॉलेज में पैर भी नहीं रखा था।

थोड़े दिनों बाद प्रेमचंद जी ने सरकारी नौकरी से इस्तीफा दे दिया। यदि वह नौकरी करते रहते तो निश्चित है कि आज वह अपने महकमे में काफी तरक्की कर चुके होते और उनकी गिनती इस सूबे के शिक्षा विभाग के बड़े अफसरों में होती। लेकिन सन् 1919 ई० के असहयोग आन्दोलन के समय, जब उनकी अवस्था तीस वर्ष से कुछ अधिक हो चुकी थी, मेरे यू० पी० सिविल सर्विस की नौकरी छोड़ने के कुछ ही हफ्तों बाद, वह भी सरकारी नौकरी से अलग हो गये। उस समय उनके पास कुछ रुपये भी जमा हो गये थे, क्योंकि वह बहुत ही सादगी और किफायत से रहते थे। वे अपने आरम्भिक जीवन में अनेक प्रकार की कठिनाइया और विपत्तियां भोग चुके थे और जन्म भर बिना अनुभव किये ऐसा साधुओं का-सा जीवन व्यतीत करते रहे जिसमें न तो खुश्की ही थी और न कष्ट का अनुभव ही, न तो आत्म-पापकों वाली पवित्रता ही थी और न हृदयहीन त्यागियों का कट्टरपन ही। यहां भी उनकी निरीहता और बाल्यावस्था वाली सादगी में धोखा नहीं हो सकता था। और उनकी इसी विशेषता ने चुम्बक पत्थर वाले आकर्षण की तरह बहुत ही शान्त और विश्वसनीय रूप से मुझे उनके बहुत ही पास पहुंचा दिया था। और वास्तविक बात तो यह है कि उनके मिलने वालों में से कोई आदमी उनके इस आकर्षण से बच नहीं सकता। उनके व्यक्तित्व में मन्द गति से बहने वाली हवा की ताजगी कौमार और अछूतपन मौजूद था। वे सदा मनुष्यत्व के बहुत पास और आडम्बर से बहुत दूर रहते थे।

अभी उन्हें सोलह बरस और जिन्दा रहना था। बनारस में उन्होंने सरस्वती प्रेस स्थापित किया और अपने गांव में अपने पुश्तैनी मकान की जगह एक पक्का मकान बनवा लिया था। वहीं रहकर वे अपने जीवन के बाकी दिन बिताना चाहते थे। लेकिन यह बात न हो सकी। वे वहां थोड़े ही दिनों तक रह सके। लेकिन उनके थोड़े ही दिनों के निवास के समय वह स्थान सारे भारत में उनके गुण-ग्राहकों और शिष्यों के आने-जाने के कारण एक प्रकार का पवित्र तीर्थ बन गया था। यदि यह बात वह स्वयं सुनते तो चकित और प्रसन्न होकर परेशान हो जाते। भारतवर्ष में लेखन के व्यवसाय में कोई स्थायी आय होना ईमानदारी से अपनी जिन्दगी के लिए कुछ पैदा कर लेना असम्भव हो गया है। यहां के लोगों को किताबें पढ़ने का तो थोड़ा बहुत शौक जरूर है, लेकिन किताबें ख़रीदता कौन है?

असयोग आन्दोलन के दिनों में जो थोड़े से राष्ट्रीय विद्यालय स्थापित हो गये थे, उन्हीं में से काशी का एक विद्यापीठ भी है। प्रेमचंद जी को भी इस विद्यापीठ में कुछ दिनों तक प्रिन्सिपल के रूप में सेवा करनी पड़ी थी। चार-पांच वर्षों तक वह हिन्दी के प्रसिद्ध मासिक पत्र 'माधुरी' के प्रधान सम्पादक भी रहे। और एक साल से भी कुछ कम समय के लिए बम्बई की एक

हिन्दुस्तानी फिल्म बनाने वाली कम्पनी के लिए नाटक लिखते रहे जिससे उन्हें एक हज़ार रुपये के लगभग प्रति मास मिलता रहा। ये सब बातें बिना किसी विशेष क्रम के होती रहीं। जब कोई नौकरी नहीं होती थी, तब वे अपना प्रेस चलाते थे जिसमें उनके कई उपन्यास और कहानियों के संग्रह प्रकाशित हुए थे। लेकिन प्रेस में उन्हें बहुत अधिक घाटा उठाना पड़ा। एक हिन्दी साप्ताहिक पत्र के सिवा उन्होंने 'हंस' नाम का एक मासिक पत्र भी निकाला था जो अभी तक उसी दृढ़ निश्चय के साथ श्रीमती शिवरानी देवी के सम्पादकत्व में निकल रहा है। दो महीने की बहुत कड़ी और कष्टदायक बीमारी के बाद गत अक्टूबर मास में उनका देहान्त हो गया। मैंने दशहरे की छुट्टियों में अन्तिम बार उनके दर्शन करने का विचार किया था, लेकिन मृत्यु का समाचार छुट्टियाँ शुरू होने से पहले ही मिल गया।

देश के बहुत प्रतिष्ठित लोगों ने, जिनमें उनके साहित्यकार मित्र और शिष्य भी थे, इस बीमारी के दिनों में उनके घर जाकर उन्हें देखा था, जहां उनकी धर्मपत्नी बहुत ही प्रशंसनीय साहस और प्रेमपूर्वक उनकी सेवा-शुश्रुषा किया करती थीं। उन सब लोगों ने प्रेमचंद जी को उस बीमारी के ज़माने में भी वैसा ही सरल, निरीह और प्रसन्न-चित्त पाया था। उनके मरदाने चेहरे पर एक अच्छे कलाकार की सच्ची झलक स्पष्ट रूप से दिखाई देती थी। लेकिन उनकी तन्दुरुस्ती कुछ इस तरह उखड़ चुकी थी कि उनके बचने की कोई आशा बाकी नहीं रह गई थी। फिर भी वे ऊपर से देखने में अपने रोग की विकटता से अपरिचित रहना चाहते थे। उनके मस्तिष्क में उस समय भी यथेष्ट विचार-धारा प्रवाहित होती थी और वह लोगों से अपनी भावी रचनाओं की उपयोगी योजनाओं का ज़िक्र किया करते थे। उनकी बातचीत उसी प्रकार स्वाभाविक और आवेशपूर्ण होती थी और उसमें बराबर सूक्ष्मदर्शिता, तत्परता, चिन्तन-सूक्ष्मता की झलक दिखाई देती थी। बातों-बातों में वह ऐसे ठहाके लगाते थे जिन्हें सुनने वाले जल्दी भूल नहीं सकते। और उस बीमारी के दिनों में भी जब कोई हास्यास्पद बात उनके सामने आ जाती थी, तब उस पर वह उसी तरह मगर कमज़ोर ठहाके लगाया करते थे, लेकिन फिर भी अब वे ठहाके पहले से और कमज़ोर हो गये थे और ऐसा जान पड़ता था कि अब उनका शरीर मृत्यु के निस्तब्ध क्षेत्र की ओर जा रहा है। अब वह शरीर उन लड़कों के से ठहाकों के योग्य नहीं रह गया था, जो उनके मिलने वालों के लिए उनके व्यक्तित्व का एक अंग हो गये थे। वह काम करते हुए ही जीये और काम करते हुए ही मरे। और जब उनका अन्त आया, तब वह इतनी निस्तब्धता और कोमलता के साथ आया जो उनकी कई कहानियों के अन्तिम अंश में दिखाई देता है।

आज से प्राय: तीस वर्ष पूर्व जब पं॰ रतननाथ सरशार का देहान्त हुआ था, तब मुझे जहां तक स्मरण है, सर तेज बहादुर सप्रू ने अपने बहुमूल्य और प्रभावशाली शोक-सूचक लेख के आरम्भिक वाक्य में (जो हिन्दुस्तान रिव्यू में प्रकाशित हुआ था) साहित्य-सेवियों के उस शिरोमणि के सम्बन्ध में लिखा था कि सरशार की जादू का-सा काम करने वाली कलम अब सदा के लिए मौन गई है। वास्तव में यह बात बिल्कुल ठीक थी। फिसाना आज़ाद की विस्तृत कहानी में जो घटनाएं, कथोपकथन और परिहास आदि का क्रम लगभग चार हजार पृष्ठों पर फैला हुआ है, वह अवश्य ही बहुत अधिक प्रशंसनीय है। लेकिन उसमें बहुत-सी अस्वाभाविक तिलिस्मी बातें भी जरूर हैं। कहते हैं कि सरशार ने सरवेन्टीज (Cervantes) का चरित्र डान

क्विग्जोट (Don Quixote) के सांचे में ढाला है। लेकिन क्विग्जोट अपने हास्यस्पद अतिरेकों और ज़्यादतियों के रहते हुए भी महत्व और वीरता की अमर आत्मा का सूचक है। और सरशार की रचना यद्यपि यह सूचित करती है कि उसका लेखक लेखन-कला का पूर्ण पण्डित था, लेकिन फिर भी वह रचना हमारे सामने एक ऐसी बात रखती है जिसमें प्रत्यक्ष अस्तित्व के विचार से कोई दृढ़ और स्थायी वास्तविकता नहीं है, बल्कि स्वप्न जगत् की एक स्पष्ट फिल्मी चित्रकारी है। फिसाना आज़ाद में लखनऊ के अवनतिशील और जल्दी मिटने वाले शीया अमीरों और रईसों के जीवन के मनोविनोद की सामग्री का एक आकर्षक चित्र है। सरशार की वैभवशालिनी बुद्धिमत्ता ने सबसे बड़ा काम यह किया है कि उन्होंने अपनी कलम के बल से इस छाया-तुल्य अ-वास्तविक जगत् को अमर बना दिया है। प्रत्येक देश और प्रत्येक काल के रईसों के जीवन में एक प्रकार के अ-वास्तविक तिलिस्म का आकर्षण अवश्य होता है। सरशार ने इसी तकल्लुफ और बनावट के जीवन के ऐसे चित्र फिसाना आज़ाद के पृष्ठों में अंकित किये हैं, जो देखने वालों को मोहित कर लेते हैं और ये चित्र उन्होंने अपनी जादू भरी कलम से कुछ इस प्रकार अंकित किये हैं कि उसका प्रत्येक पृष्ठ स्वप्न जगत् के जादू के महल की खिड़की की तरह मालूम होता है जो स्वप्न की ही अवस्था में खुलती है और अपने शोभापूर्ण दृश्य दिखलाती है।

यदि हम प्रेमचंद जी के सम्बन्ध में भी यह कहें कि उनकी कलम जादू का-सा काम करती थी तो यह उनके सम्बन्ध में कोई बहुत बड़ी बात न होगी। उनके प्रत्येक पृष्ठ में सभ्यता के प्रवर्तकों के पहले कदमों की चाप सुनाई देती है। उनकी किताबों के द्वारा सामूहिक जीवन के समस्त अमर, स्थायी और दृढ़ अंगों में फिर से नवीन जीवन का संचार हो गया था। भारत वर्ष की प्राचीन ऐतिहासिक सभ्यता उसकी तूफान लाने वाली जाग्रति की पहली धीमी करवटें थीं जो उनकी कलम से कहानियों के रूप में प्रकट हुई थीं। इस तरह की कोई चीज बंकिमचन्द्र चटर्जी, रवीन्द्रनाथ टैगोर, शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय और दूसरे बंगाली लेखकों ने भी दुनिया के सामने पेश नहीं की। यद्यपि उक्त लेखकों के उपन्यासों और कहानियों में बहुत अधिक गम्भीरता और शक्ति है लेकिन फिर भी अधिकतर वे मानसिक भावों की ही सूचक हैं और प्राय: अपनी आवश्यकता से अधिक सतर्कता के कारण वे गद्य कथानकों का सच्चा आदर्श नहीं हो सकतीं, और इसीलिए मेरी समझ में प्रेमचंदजी की रचनाएं भारत के उपन्यास-लेखन और गल्प-लेखन में एक बहुत बड़ा परिवर्तन या क्रांति करने वाली हैं क्योंकि उनमें साहित्यिक विशेषताओं के साथ-ही-साथ सर्वव्यापकता, विस्तार, तथ्य, आवेश और दृढता सभी कुछ वर्तमान है। वह मानसिक भावों को उपस्थित करते समय बाल की खाल नहीं निकालते थे लेकिन गद्य में ज़िन्दगी की तड़प मौजूद है।

मैं फिर एक बार अपने विचारों को तीस बरस पीछे ले जा रहा हूँ, जब मैंने उनकी एक कहानी पढ़ी थी। उस समय मेरी अवस्था कठिनता से दस-बारह बरस की रही होगी। इस समय संसार में बालकों के लिए जो साहित्य वर्तमान है, उसका विचार करता हूं। ईसप की कहानियां (Aesop's Fables) उससे पहले का हितोपदेश, अलिफ लैला, ग्रिम और एंडरसान के परियों आदि के किस्से (Grimm & Anderspn's Fairy Tales), जी॰ ए॰ हेन्टी (G A Henty) की रचनाएं और दूसरी बहुत-सी पुस्तकें मेरी दृष्टि के सामने हैं। यद्यपि उनमें बहुत-सी रचनाएं बहुमूल्य और बहुमान्य

हैं, लेकिन यह सोचकर मैं बहुत ही चकित हो जाता हूं कि साहित्य की जो सूक्ष्म आत्मा और रंगीनी, वास्तविकता की झलक, सूक्ष्म अनुभूतियों की अभिव्यक्ति और वह बसी हुई तासीर जो प्रेमचंद जी में मिलती है, उक्त सब ग्रंथों में कहीं नाम को भी नहीं है। गद्य और पद्य के जो ग्रन्थ उच्चकोटि के शिक्षित और सभ्य लोगों के लिए लिखे जाते हैं, उनके सम्बन्ध में यही प्रत्यासा की जाती है कि उनमें साहित्य की कोमलता, सरसता वास्तविकता और अवास्तविकता का भेद अश्वय ही दर्शाया गया होगा। परन्तु बालकों के पढ़ने योग्य पुस्तकों में ये बातें कदाचित् ही कभी देखने में आती हैं। परन्तु प्रेमचंद जी की प्राय: पचास ऐसी कहानियां हैं जिन्हें बच्चे बहुत दिलचस्पी के साथ पढ़ सकते हैं और उनकी सरसता तथा कोमलता बच्चों को बिना प्रभावित किये नहीं रह सकती। वे कहानियां बच्चों को भी चिन्तन और मनन की ओर प्रवृत्त करती हैं और उनके अर्द्धविकसित मस्तिष्क में विलक्षण मानोभावों का संचार करतीं और बीती हुई घटनाओं का स्मरण दिलाती हैं। संसार के साहित्य में इस तरह की कोई और चीज़ नहीं है। उनकी कहानियों की अच्छी ख़ासी संख्या में एक प्रकार की अनुपम सरलता, प्रवाह और विचारों के सच्चे चित्र मिलते हैं। हज़ारों जगहों पर उनकी कलम की एक हलकी-सी गति इतनी अधिक प्रभावशालिनी होती है कि वह वास्तविक साहित्य और भारत की विश्व-व्यापपिनी आकर्षण शक्ति रखने वाली सभ्यता का स्थायी चित्र बन जाती है। इसी में उस मौन और गम्भीर प्रभाव का रहस्य छिपा हुआ है जो उनकी रचनाएं हर पढ़ने वाले और हर भारतवासी पर डालती हैं (चाहे वह किसी उम्र का हो और मानसिक विकास के किसी सतह पर क्यों न पहुंचा हो।) उनकी रचनाओं में भारतवर्ष की अमृत में बसी हुई आत्मा है जिससे भारतीय जीवन की वृद्धि और विकास हुआ है और जिसके कारण स्वयं उनकी रचनाएं फूलीं, फलीं, बढ़ीं और लहलहाई हैं।

उनकी सभी छोटी कहानियां समान रूप से सफल नहीं हुई हैं। उनमें से बहुत-सी कहानियां बहुत ही जल्दी और रवारवी में लिखी गई हैं। कई कहानियां ऐसी भी हैं जिसमें स्वयं लेखकों को भी सफलता नहीं हुई है। लेकिन फिर भी उनकी अधिकांश कृतियां बहुत ही उच्चकोटि की हैं। उन्होंने हिन्दुस्तानी भाषा को छोटी कहानियां लिखने की विशिष्ट कला से परिचित कराया है और उस अनुपम वर्णनात्मक लेख-शैली का उदाहरण उपस्थित किया है जो फ्रान्सीसी गद्य की ऊपरी तड़क-भड़क और आवश्यकता से अधिक जंचा-तुला-पन और जरमन गद्य की कृत्रिमता तथा उलझने वाली वर्णन-शैली से बिल्कुल रहित है। उनका गद्य कोमल, सरस, चलता हुआ और पुष्ट है। उनकी लेख-शैली भारतीय रहन-सहन के मान-दंड की दर्शक है। उनके संकेतों में भी सौन्दर्य और प्रभाव है जो उनकी लेख-शैली की जान है। उन्होंने हिन्दुस्तानी भाषा में पहली बार ऐसे दार्शनिक वचनों और सिद्धान्तों से सम्पन्न कर दिया है जिनका संग्रह स्वयं ही एक बहुत बड़े ग्रन्थ का रूप धारण कर सकता है।

उनका महत्व उनके उपन्यासों के कुछ टुकड़ों में प्रकट होता है। उपन्यास सफल कहा जा सकता हो, उसके लिए आवश्यक है कि उसमें कुछ औपन्यासिक पेंच हों, कुछ कला सम्बन्धी कठिनाइयां हों, और उनके भिन्न-भिन्न अंगों में एक केन्द्रीय एकता और सामंजस्य हो। परन्तु प्रेमचंद जी की पूर्णता और पारंगतता का यह केन्द्र या आदर्श नहीं था। इतना सब कुछ होने पर भी वह हिन्दी और उर्दू के सबसे बड़े उपन्यास-लेखक थे और उनकी गणना भारतवर्ष

की दूसरी भाषाओं के दो चार बहुत ऊंचे दरजे के उपन्यास-लेखकों में थी। उनके छोटे और बड़े सभी प्रकार के उपन्यासों के कुछ विशिष्ट अंश, जिनकी संख्या बहुत अधिक है, इस बात के सूचक हैं कि उपन्यास-लेखन कला में प्रेमचंद जी पूर्ण पंडित और पारंगत थे। और उन्हीं अंशों के कारण वह अपनी अच्छी-अच्छी कहानियों से भी कहीं अधिक ऊंचे हो जाते हैं। ये अंश देव वाणी के ढंग से लिखे हुए मालूम होते हैं और अमर महत्व के पताका-वाहक हैं। उनमें से प्रत्येक अंश किसी बहुत प्रतिष्ठित और पूर्ण कलाकार के अधूरे कृत्य मालूम होते हैं। यहीं प्रेमचंद जी आसमान के तारे तोड़ लाते हैं। रंगभूमि या चौगाने हस्ती के आरम्भिक पृष्ठों में बेतकल्लुफी; ज़िन्दा-दिली, सादगी, प्रवाह, ओज और संकेतों के महत्व में अपना जवाब नहीं रखते। इस उपन्यास में भी और उनके दूसरे उपन्यासों में भी थोड़ी-थोड़ी दूर पर ऐसे कई-कई पृष्ठ मिलते हैं जो केवल एक बहुत ही बड़े व्यक्ति की ही कलम से निकल सकते हैं। वह अपने अधिकांश उपन्यास बहुत ही विचार और चिन्तन के उपरान्त और बहुत ज़ोर में शुरू करते थे। लेकिन कुछ दूर जाने पर उनका वह प्रकाश कुछ देर के लिए मन्द पड़ जाता था और कुछ देर बाद फिर शुरू होता है।

प्रेमचंद जी के साथ मेरा जो व्यक्तिगत सम्बन्ध था, उसके विषय की एक बात विशेष रूप से उल्लेख करने के योग्य है, जिससे मैं केवल एक 'विलक्षण कठिनता' कह सकता हूं। अपने देश के उन सभी लोगों की तरह, जिन्हें भारतवर्ष के वर्तमान साहित्य से कुछ भी प्रेम है, मेरी व्यक्तिगत प्रवृत्ति भी स्वभावत: काव्य और उसकी रचना तक ही परिमित थी। और आरम्भ से ही मुझे आशा थी कि प्रेमचंद जी भी उर्दू काव्य के ऊंचे दरजे की चीज़ों के उसी प्रकार भक्त और अनुराग रखने वाले होंगे। यह बात तो नहीं है कि उच्चकोटि के काव्य का उन पर कोई आकर्षक प्रभाव नहीं होता था, लेकिन फिर भी वैसे काव्य सुनकर वे कभी आपे से बाहर नहीं हो जाते थे। मुझे इस बात से सदा एक प्रकार का आश्चर्य और उलझन हुआ करती थी। क्योंकि जब उनसे पहले-पहल भेंट हुई थी, तब दूसरे नवयुवकों की भांति मेरा भी यही विश्वास था कि साहित्य में सबसे बड़ी चीज़ कविता ही है। गद्य और विशेषत: उपन्यासों तथा कहानियों वाला गद्य मेरी समझ में निस्सार-सा पदार्थ था। मेरे लिए प्रेमचंद जी का कविता से स्थायी रूप से अप्रभावित रहना एक ऐसा रहस्य था जो मेरी समझ में ही नहीं आता था। मैं उन्हें साहित्य के काव्य सम्बन्धी सौन्दर्य की कोमलताओं का कुछ भी अनुरक्त और उपासक नहीं पाता था। परन्तु इस क्षेत्र में वे आरम्भ से ही मेरा प्रवेश देखकर मुझे आदर की दृष्टि से देखते थे जिससे मुझे एक प्रकार की हार्दिक प्रसन्नता होती थी। उन्हें नियमित रूप से कुछ अध्ययन करने का भी अभ्यास नहीं था। लेकिन यह ढंग केवल थोड़े से बड़े-बड़े लेखकों का ही रहा है। प्रेमचंद जी किसी विशेष सिद्धान्त के वशवर्त्ती होकर भी कभी पुस्तकें नहीं पढ़ते थे। उन्हें अधिकतर वही पुस्तकें और उपन्यास आदि अच्छे लगते थे जिनमें रस्म-रवाज, अनुभूतियां, कथानक, ऐतिहासिक घटनाएं और जीवन सम्बन्धी दूसरी बातें सादे और परिचित ढंग से लिखी हुई होती थीं। इसमें भी वे अपनी उसी जिज्ञासा और साहित्य के शौक का परिचय देते थे। चाहे पुरानी बातों, अप्रिय घटनाओं, बीती हुई बातों और पुरानी लड़ाइयों का वर्णन हो (जैसे आल्हा, रानी सारन्धा और रूठी रानी आदि) और चाहे नित्यप्रति बातों (यथा-हार्दिक दु:ख, कष्ट या हानि) का वर्णन हो, जो संसार में पहले भी हो चुके हैं और आगे भी होते रहेंगे, प्रेमचंद जी

को पसन्द नहीं थे। ये सब बातें प्रेमचंद जी के लिए बहुत ही विलक्षण और उन्हें चकित करने वाली होती थीं। लेकिन इस पर भी मैं मन ही मन में चकित होता था कि कविता उनकी आत्मा में क्यों गरमी नहीं करती? कविता से क्यों प्रभावान्वित नहीं होते। इस समस्या का एक निराकरण-सा उस समय मेरी समझ में आया, जब मैं उनकी मृत्यु के उपरान्त अपने एक मित्र और भारतवर्ष के एक मान्य सपूत के कम हो जाने पर विचार कर रहा था। उस समय मेरे ध्यान में यह बात आई कि जो लोग गद्य-लेखन कला के पूर्ण पंडित होते हैं, वे कदाचित् ही कभी काव्य के विशेष गुण-ग्राहक होते हैं। बेकन (Bacon), जानसन (Johnson), हेजलिट (Hazlit), कारलाइल (Carlyle) और रस्किन (Ruskin) को देखिये। ये लोग भी छन्दोबद्ध और रस से भरी हुई कविता के वश में नहीं थे। दुनिया के बड़े-बड़े उपन्यास-लेखक, नाटककार और वर्णनात्मक गद्य-काव्य लिखने वाले लेखक कभी भावुकतापूर्ण काव्य से प्रभावित नहीं होते थे। क्या वर्डस्वर्थ, जो एक बहुत भावुक बड़ा कवि था, शेली (Shelly) की कविता से और शैली वर्डस्वर्थ की कविता से नाक-भौंह नहीं सिकोड़ता था? भावुक कवि शायद ही कभी एक प्रकार की दुष्ट आत्म-श्लाघा से बच सकता है। और प्रेमचंद जी ऐसे आदमियों में नहीं थे जो केवल मनोविकारों के दास होते और अपने आपको सबसे बड़ा समझते हैं। प्राय: उनकी प्रत्येक रचना में एक बहुत सुन्दर आदर्श-वाद है जिसकी बदौलत वे अपनी कथावस्तु और पात्रों से निकल कर भारतीय इतिहास की पांच हज़ार बरस पुरानी सभ्यता तक जा पहुंचते हैं। ऊपर से देखने में उनकी कहानियों की जो सीमाएं होती हैं, वास्तव मं वे कहानियां उन सीमाओं से कहीं बड़ी होती हैं। उनमें एक ऐतिहासिक सभ्यता का वर्णन और रंग होता है। उनकी पुस्तकें हमें उन कालचक्रों से परिचित कराती हैं, जो इतिहास को आरम्भिक काल से शुरू हुए थे और जिनमें अब भी यौवन-काल का ताज़ापन मौजूद है। जब कभी हम उनकी कोई कहानी पढ़ते हैं, तब हमें यही जान पड़ता है कि यह केवल भारतवर्ष के सम्बन्ध में ही नहीं है, बल्कि स्वयं भारतवर्ष ही हैं। न तो उनमें काल्पनिक और अवास्तविक आदर्शों का ही वर्णन होता है और न भारतीय सभ्यता की बिना समझी-बूझी प्रशंसा ही होती है। इसी सभ्यता और संस्कृति के सम्बन्ध में वह कभी-कभी बहुत ही कटु बातें भी कह डालते हैं। अब उनकी रचनाएं एक नये क्षेत्र की ओर अग्रसर हो रही थीं, क्योंकि उनकी अन्तिम कहानियों में अधिक गहराई और तीखापन दिखाई देता है। उनकी कला नवीन शक्ति सम्पादित कर रही थी; पर इसी बीच में अचानक मृत्यु ने आकर उनका अन्त कर दिया। उनकी लेखनी से भारतीय साहित्य को बहुत बड़ा लाभ पहुंचा है। उनकी मृत्यु से देश की इतनी बड़ी हानि हुई है जिसकी कभी पूर्ति नहीं हो सकती। जब भविष्य में उनका कोई उत्तराधिकारी आवेगा तब उसके मस्तक पर उस व्यक्ति के सिर का बेदाग और ताज़ा चेहरा आकर चढ़ेगा जिसने कभी कोई हेठी बात नहीं कही।

बिदा ! मुन्शी प्रेमचंद, बिदा !

प्रेमचंद : भारतीय कृषकों का कंठ स्वर

लेखक–श्री प्रियरंजन सेन

यदि इस समय भारत के साहित्यिक इतिहास की जांच की जाय तो पता चलता है कि इा देश के सभी प्रान्तों में एक ही साहित्यिक उद्देश्य काम कर रहा है, सब जगह एक ही प्रकार की संवेदनाएं जाग्रत की जा रही हैं, सब जगह एक ही विषय का विवेचन हो रहा है और संक्षेप में हम कह सकते हैं कि सब जगह एक ही प्रकार की मानसिक शक्ति काम कर रही है। इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि एक प्रान्त की भाषा में दूसरे प्रान्तों की भाषाओं से कुछ विशेष और बड़े अन्तर हैं। नौकरशाही के क्षेत्रों में जिस प्रकार भारतीय विचारों की (जिनमें साहित्यिक विचार भी सम्मिलित हैं) उपेक्षा की जाती है, उससे कम उन विचारों की उपेक्षा विद्या सम्बन्धी जगत् में नहीं की जाती। हां, भाषाओं के पारस्परिक अन्तरों पर जोर दिया जाता है और आवश्यकता से कहीं अधिक ज़ोर दिया जाता है। भाषा-विद् विद्वान हमें यह बतलाते हैं कि भारतीय भाषाएं भिन्न-भिन्न वंशों में उत्पन्न हुई हैं, और जो भाषाएं एक ही वंश की हैं, वे भी भिन्न-भिन्न शाखाओं की हैं और इसीलिए एक पंजाबी जो कुछ सोचता है, वह भाषा की दृष्टि से एक आसामी के विचारों से बहुत भिन्न होता है। यह बात ठीक है। भिन्न-भिन्न भाषाओं में अभिव्यक्ति के प्रकार अलग-अलग हैं। और अलग-अलग प्रान्तों में भाषा-तत्व की दृष्टि से ऐसे सूक्ष्म भेद और विशेषताएं हैं जिनका अनुभव बहुत सूक्ष्मता पूर्वक विचार करने से ही होता है। और ये भेद केवल प्रान्तों की भाषाओं में ही नहीं हैं, बल्कि जिलों और यहां तक कि व्यक्तियों की भाषाओं में भी पाये जाते हैं। परन्तु ये अन्तर और प्रभेद केवल भारतवासी ही अच्छी तरह से समझ सकते हैं, विदेशियों को उनका उतना अधिक पता नहीं चल सकता। यह तथ्य जितना ही अधिक समझा जा सके, उतना ही वह भारतीय एकता के लिए हितकर है, क्योंकि भारतवासियों को इस बात का ज्ञान हो जाने का परिणाम यह होगा कि समस्त भारतवासियों में एकता का भाव उत्पन्न होगा और देश के भिन्न-भिन्न भागों में जो लोग बसते हैं, उनकी समझ में यह बात आ जायगी कि सारे भारत की संस्कृति बिल्कुल एक ही सी, बल्कि यों कहना चाहिए कि बिल्कुल एक ही है।

जब हम इस बात का विचार करने के लिए बैठते हैं कि प्रेमचन्द जी ने क्या-क्या किया और उनकी कृतियों से हमें क्या लाभ हुआ, तब स्वभावत: इसी प्रकार के विचार हमारे मन में उत्पन्न होते हैं। हम उनकी बातों का विचार केवल इस दृष्टि से करेंगे कि भारतीय साहित्य में उन्होंने कौन-सी वृद्धि की है। यदि कोई उपनाम ग्रहण कर लिया जाय तो सदा यही आशय नहीं होता कि उपनाम धारण करने वाले व्यक्ति का स्वरूप ही परिवर्तित हो गया। कभी-कभी तो इस प्रकार उपनाम धारण करना एक फैशन-सा होता है। और विशेषत: हिन्दी लेखकों में तो उपनाम धारण करने की एक प्रथा सी ही चल गई है। परन्तु कई वर्ष पहले जब धनपत राय जी ने अपना नया साहित्यिक नाम रखा, तब से मानो उनके नवीन अस्तित्व का ही आरम्भ हुआ। उन्होंने अपनी लेखनी को प्रेम की सेवा के लिए अर्पित कर दिया। वह प्रेम न तो मानवी ही था और न लोकोत्तर वाले अर्थ में ईश्वरीय ही था, बल्कि यह वह सच्चा प्रेम था जो मनुष्य की समस्त परिस्थितियों को ही बदल देता है और सदा मौन रहकर ही गुरुतर और परम उपयोगी

क्रान्तियां उत्पन्न कर देता है। अपने साहित्यिक जीवन के आरम्भ में ही उन्होंने उर्दू भाषा के एक हिन्दू लेखक के रूप में यथेष्ट प्रसिद्धि प्राप्त कर ली थी। उन दिनों उर्दू ही संस्कृति और विशिष्टता वाली भाषा समझी जाती थी। परन्तु जब उन्होंने समय की आवश्यकता का अनुभव किया, तब उन्होंने अपनी मातृ भाषा हिन्दी का अंगीकार किया और वे हिन्दी में ही छोटी-छोटी कहानियां और उपन्यास आदि लिखने लगे और शीघ्र ही हिन्दी साहित्य के जगत् में वे परम प्रवीण कलाकार मान लिये गये थे। उनकी छोटी-छोटी कहानियां स्कूलों में पाठ्य पुस्तकों के रूप में पढ़ाई जाने लगी हैं। विशेषत: उपन्यासों के क्षेत्र में और साधारणत: साहित्य क्षेत्र में वह 'सम्राट्' कहे जाने लगे थे। समाचार-पत्रों तथा दूसरे सामयिक पत्रों में उनकी पुस्तकों की अधिक-से-अधिक जितनी प्रशंसा हो सकती थी, उतनी हुई है। अन्य प्रान्तों के बहुत बड़े-बड़े साहित्य-सेवी भी उनके गुणों की ओर उदासीन नहीं थे—वे भी उनके गुणों की यथेष्ट प्रशंसा करते थे। आधुनिक बंगला साहित्य शरत्चन्द चट्टोपाध्याय एक बहुत ही विशिष्ट व्यक्ति हैं और बंगला साहित्य-सेवियों में उनका बहुत ऊंचा स्थान हैं वे यह तो अवश्य कहते थे कि छोटी कहानियों के सम्बन्ध में टैगौर के साथ प्रेमचंद की तुलना करना मानो टैगौर के साथ गुस्ताखी करना है, लेकिन फिर भी वह यह मानते थे कि बंगला में जो दूसरे बहुत से गल्प-लेखक हैं, उनसे प्रेमचंद जी कहीं अच्छे हैं। इस प्रकार जब तक प्रेमचंद जी जीवित रहे, तब तक वह बराबर कीर्ति सम्पादित करने में सफलता प्राप्त करते रहे। और यह कोई छोटी या मामूली बात नहीं है, क्योंकि यदि कवि का विशिष्ट गुण दोष प्रवणता है, तो हमारे यहां के विद्वानों और साहित्य सेवियों में इर्ष्या भी प्राय: उसी माला में विशिष्ट शत्रु के रूप में पाई जाती है। प्रेमचंद जी ने केवल अपनी उच्च-कोटि की लेखन-कला के कारण ही नहीं; बल्कि अपने प्रेम के कारण भी और उस प्रेम के कारण जो उनके हृदय में समस्त मानव जाति के प्रति था और जिसका परिचय हमें उनकी रचनाओं में जगह-जगह मिलता है, अपने सहयोगी लेखकों के हृदयों पर विजय प्राप्त की थी।

ज्यों-ज्यों समय बीतता गंया, त्यों-त्यों उनका साहित्यिक प्रेम भी प्रबल हो गया। और उनके साहित्य कौशल की वृद्धि होती गई और उन्होंने अपना वह साहित्यिक कौशल अपनी उस संस्कृति की अभिव्यक्ति और व्याख्या के लिए अर्पित कर दिया था जो उन्होंने अपने पूर्वजों से उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त की थी और पूर्ण मात्रा में प्राप्त की थी। अर्पण या समपर्ण कोई ऐसा मामूली शब्द नहीं है जिसका जब और जैसा जी में आवे, तब और वैसा उपयोग किया जा सके, और यदि हम प्रेमचंद जी का अन्तिम उपन्यास 'गोदान' देखें तो तुरन्त ही हमारी समझ में यह आ जायगा कि वह अर्पण या समर्पण का क्या मतलब समझते थे। उसमें हमें उन भारतीय कृषकों की हृदय विदारक कहानी मिलती है जिनके सर्वस्व का अनेक प्रकार से अपहरण हो चुका है, जिनका लालन-पालन मिथ्या विश्वासों और धार्मिक विश्वासों के सम्मिश्रण में हुआ है और जिन्हें सदा ऐसी दरिद्रता और ऋण का मुकाबला करना पड़ता है। जिससे बचने की प्राय: कोई आशा ही नहीं है। इस उपन्यास में ग्राम्य जीवन की सभी बातें ब्यारेवार आ गई हैं। देहातों में जो कुछ गन्दगी या बुराई है और जो कुछ सौन्दर्य या भलाई जो कुछ सुख हैं और जो कुछ दु:ख हैं, जो कुछ अद्‌भुत परिस्थितियां हैं और जो अनन्त सम्भावनाएं हैं उन सबका उसमें बहुत अच्छा दिग्दर्शन है। अब देहातों की परिस्थिति यह हो गई कि वहां न तो रक्त ही बचा है और

न मांस; केवल हड्डी और चमड़ा बाकी रह गया है और कुछ बातों में कुछ सामाजिक प्रथाएं बच रही हैं। इस छः सौ बारह पृष्ठों की पुस्तक में आदि से अन्त तक देहातों की इसी परमदीन अवस्था का चित्र अंकित है और उसकी चिरस्थायी जीर्णावस्था का चित्र क्षण भर के लिए भी आंखों से ओझल नहीं होता। एक ओर तो ब्राह्मण और महाजन मिलकर देहातों को खाते चले जाते हैं और दूसरी ओर सामाजिक प्रणाली और आर्थिक दुर्दशा उनके प्राण ले रही है स्वयं देहाती भी एक प्रकार के धूर्त होते हैं और इसका कारण यही है कि उन्हें बहुत ही विकट अवस्थाओं में परिस्थितियों में जीवन व्यतीत करना पड़ता है। लेकिन इस परिस्थिति की विकटताएं भी न तो उन्हें धर्म से ही विमुख कर सकी हैं और न वे दूसरों का ध्यान रखना ही भूल गये हैं। प्रेमचंद ने अपने वैभवपूर्ण ऐतिहासिक भूतकाल वाले संसार की फिर से दृष्टि करने का प्रयन्त नहीं किया है, बल्कि उनकी कहानी आजकल के दिनों से ही सम्बन्ध रखती है और उस समय की हैं जब कि असहयोग आन्दोलन वाली उत्तेजना शान्त हो गई थी। इस आन्दोलन की प्रतिक्रिया इस उपन्यास की भूमिका में इस प्रकार दबे पैरों संचार करती है कि ऊपर से देखने में जल्दी उसका पता ही नहीं चलता। देश के नवयुवकों में फिर से नया जीवन आ रहा है और जो शक्तियां उन्हें फिर से जीवित करके आगे बढ़ा रही हैं उनसे बिल्कुल अनजान होते हुए भी वे बराबर बाहरी विशालतर जगत की बढ़ रह हैं। इस उपन्यास के नायक का पुत्र गोबर्धन भी इसी प्रकार के नवयुवकों में से एक है। लेकिन यह न समझना चाहिए कि प्रेमचंद जी ने इस उपन्यास में नवयुवकों की मानसिक अवस्था या अंग्रेजी सांचे में ढले हुए पुरुषों और स्त्रियों के निषिद्ध और विनष्ट जीवन का चित्र अंकित करने का प्रयत्न किया है। गोबर्धन मानो चिल्ला कर कह रहा है कि हमारी परिस्थिति हद से ज्यादा बिगड़ चुकी है और इसका किसी प्रकार सुधार होना चाहिए, और उसकी यह पुकार अस्वाभाविक परिस्थितियों के विरुद्ध मानो एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया है। एक ऐसी परिस्थिति में से भाग निकलता है जिसमें उसका कष्ट दिन-पर-दिन बढ़ता ही जाता था। बेचारे गरीब भारतीय किसानों के चारों ओर जो वातावरण बना है, उसमें गोवर्धन तक दूसरी ओर अतिरिक्त मद है। जिन अंगों से देहातियों का दरिद्रतापूर्ण जीवन बना हुआ है, उसी क बहुत से अंशों में से वह भी एक सामान्य अंश है। कहानी का वास्तविक केन्द्र हरि में है। मारी घटनाएं उसी पर बीतती हैं। यहां तक कि अन्त में भीषण गन्दगी और ऐसी दरिद्रता में, जिसका कभी अन्त ही नहीं हो सकता, वह लू लगने से मर जाता है। परन्तु उसकी स्त्री और जीवन संगनी धनिया अन्त तक परम निष्ठापूर्वक उसकी सेवा करती रहती है। प्रेमचंद जी की इस अन्तिम कृति के सम्बन्ध में सबसे बढ़कर और मार्के की बात यह है कि उन्होंने कृषकों के जीवन और उनके चारों ओर के वातावरण के मूल तत्वों तक पहुंचने का प्रयत्न किया है और प्रयत्न में सफलता भी हुई है। उन्होंने बहुत अच्छी तरह बतलाया है कि कृषकों के जीवन और परिस्थितियों का भौतिक और आध्यात्मिक आधार क्या है। और इस काम में उन्होंने जिस भाषा का प्रयोग किया है, उससे पुस्तक से प्राप्त होने वाला आनन्द और भी बढ़ जाता है। पढ़ने वाले इस बात का अनुभव करते हैं कि यह प्रयत्न जान-बूझकर किया गया है, लेकिन फिर भी वह उससे घबराते या उकताते नहीं हैं। भारतवर्ष के उस सेवक का, जो प्रेम के मन्दिर का पुजारी है, कम-से-कम यह ग्रन्थ उसी राजनीतिक और आर्थिक आन्दोलन के अनुरूप चलता है, जिसमें यह कहा जाता है कि सब लोग शहरों का बसना छोड़कर फिर से देहातों में रहना

शुरू करें और चरखा काता करें।

एक ओर तो कायाकल्प और दूसरी ओर गोदान को देखने से हमें इस बात का पता चलता है कि अपने उपन्यासों की विशिष्ट रचना में कितना अधिक सफल परिवर्तन, बल्कि यों कहना चाहिए कि क्रान्ति हुई थी; और पूर्णता प्राप्त करने के प्रयत्न में लेखन-कौशल की दृष्टि से वह अपनी पुरानी कृतियों से कितना अधिक आगे बढ़ गये थे। कायाकल्प में मोटे हिसाब से बहुत-सी अलौकिक बातें दी गई हैं और विकास-वाद के प्रचारक डारविन के विकास के रूप में तिब्बत के एक महात्मा का वर्णन है। परन्तु गोदान में योग अथवा और किसी प्रकार के चमत्कार की सहायता लेकर कहीं वास्तविकता की सीमा का उल्लंघन नहीं किया गया है, बल्कि उसमें लाखों-करोड़ों मूक और दीन भारतवासियों की अवस्था की तह तक पहुंचने का प्रयत्न किया गया है। और अवनीति तथा पतन के गड्ढे में डूबे हुए देहातियों को एक ऐसी वस्तु दी गई है जिसकी उन्हें नितान्त आवश्यकता है; उन्हें अपना कण्ठ स्वर प्रदान किया गया है। और उनके साथ ऐसा सहानुभूतिपूर्ण तथा सम्मानपूर्ण व्यवहार किया गया है, जिसकी तुलना, कम-से-कम जहां तक मैं जानता हूं, इस समय के भारतीय साहित्य के किसी ग्रन्थ से की ही नहीं जा सकती।

प्रेमचंद जी ने एक और प्रकार से भी अपनी लेखनी के द्वारा अपने देश की सेवा की थी, इधर हाल में उन्होंने भारतवर्ष के समस्त साहित्यों का एक संघ या कुटुम्ब बनाने के लिए बहुत कठोर परिश्रम किया था। उन्होंने भारतीय साहित्य परिषद् और 'हंस' के द्वारा समस्त भारतीय साहित्यों को एक में मिलाने का प्रयत्न किया था। सर आशुतोष मुकर्जी ने अनेक अवसरों पर जो व्याख्यान दिए थे और 'जातीय साहित्य के नाम से श्रीयुक्त रामप्रसाद मुकर्जी द्वारा प्रकाशित हुए हैं, उनमें उन्होंने इस प्रकार की एक परिषद् स्थापित करने के सम्बन्ध में अपनी योजना के समबन्ध में कुछ विस्तृत बातें बतलाई थीं। इस सम्बन्ध में प्रेमचंद जी ने जो काम किया था, वह सभी लोग जानते हैं और इसलिए यहां उसका विशेष वर्णन करने की कोई आवश्यकता नहीं है। आशा की जाती है कि श्रीयुक्त काका कालेलकर के निरीक्षण और पथ-प्रदर्शन में भारतीय साहित्य परिषद् यथेष्ट सफलता प्राप्त करेगी। 'हंस' का प्रकाशन भी इसी उद्देश्य की सिद्धि का मानो एक दूसरा मार्ग था। सौभाग्यवश इसी 'हंस' के प्रकाशन में पत्र-व्यवहार के द्वारा मेरा प्रेमचंद जी के साथ परिचय हुआ था। उन्होंने अपने एक पत्र में मुझे जो कुछ लिखा था, उसका कुछ अंश मैं यहा इसलिए उद्धृत कर देना चाहता हूं जिसमें पाठकों को यह पता लग जाय कि इस सम्बन्ध में उनके विचार क्या थे। उन्होंने मुझे लिखा था—

'बंगला साहित्य केवल प्रान्तीय नहीं रह गया है। वह बहुत दिनों पहले ही प्रान्तीयता वाली अवस्था पार का चुका है। परन्तु फिर भी उसके आधुनिक विकास से हम लोग भलीभांति परिचित नहीं हैं। हिन्दी साहित्य ज्यों-ज्यों उन्नत होता जाता है, त्यों-त्यों उसे थोड़ा-बहुत अपने महत्व का परिचय होता है, और अब पहले की तरह बंगला पुस्तकों के उतने अधिक हिन्दी अनुवाद नहीं होते । बंकिम, रमेश, डी॰ एल॰ राय, शरत् और गुरुदेव समस्त भारत के हैं। और इनमें से कुछ तो सारे संसार में प्रसिद्ध हो चुके हैं। लेकिन हम लोगों में एक दूसरे के साथ जो दिलचस्पी है, वह कम नहीं होनी चाहिए। बड़े बड़े लेखक किसी एक ही प्रान्त या देश के नहीं होते। जब

हम लोग एक राष्ट्र के रूप में हैं तब हमें बंकिम का भी उतना ही अधिक अभिमान होना चाहिए जितना इकबाल या जोशी का।'

प्रेमचंद जी केवल साहित्यिक कलाकार ही नहीं थे। जैसा कि मैं पहले कह चुका हूं, उन्होंने अपने कौशल और मानव-जाति सम्बन्धी ज्ञान का उपयोग देश-सेवा के काम में किया था। और इस सम्बन्ध में केवल प्रचार की दृष्टि से वे कभी फालतू विचार नहीं प्रकट करते थे, बल्कि महात्मा गान्धी के आदर्श पर उन्होंने कृषकों के हृदय के गम्भीरता में निमगन होना सीखा था और इस प्रकार वे उन कृषकों के मुंह से ऐसी बातें कहलाते थे जो अधिक से अधिक पूर्ण होती थीं।

स्मृतियां

लेखक—श्री सुदर्शन

1909 या '10 की बात है। मैंने कानपुर के मशहूर उर्दू मासिक पत्र 'ज़माना' में प्रेमचंद जी की पहली[1] कहानी 'ममता' पढ़ी और पढ़कर उछल पड़ा। भाषा का इतना चमत्कार, भावों की ऐसी गहराई और कथानक का ऐसा स्वाभाविक विकास मैंने उससे पहले उर्दू में कभी न देखा था। अलिफ-लैला, बागोबहार और तलिस्मे-होशरुबा की अनदेखी और अनहोनी कहानियों से उकताया हुआ मन प्रेमचंद की यह मानव-भावों से रंगी हुई कहानी पढ़कर मुग्ध हो गया। कई दिन तक इस कहानी को पढ़ता रहा और चटकारे लेता रहा। यहां तक कि लगभग सारी कहानी जबानी याद हो गई, और दूसरे महीने के ' ज़माना' में दूसरी कहानी निकल आई। अब इस कहानी का पाठ शुरू हुआ। इस तरह प्रेमचंद की कहानियां पढ़ते हुए कई साल बीत गये। जी चाहता था ऐसे कलाकार से पत्रव्यवहार करूं। मगर अपनी उम्र और योग्यता देख कर डर जाता था। सोचता था, जाने जवाब दें या न दें, इतने बड़े आदमी हैं, उनके पास हज़ारों पत्र आते होंगे। कई बार ऐसा हुआ कि पत्र लिखा और फाड़ डाला। मन में चाव था मगर हिम्मत न थी उस ज़माने में मैंने कलम चलाना शुरू कर दिया था, और लोग मेरी कहानियां को पसन्द करने लगे थे। यहां तक कि 'ज़माना' के सम्पादक मुन्शी दयानारायण निगम ने भी एक आध बार कहानी की फरमाइश की। मगर इस पर भी प्रेमचंद जी को पत्र लिखते हुए डर लगता था।

आखिर 1925 में जब मुझे सिवान आर्य समाज के वार्षिक उत्सव पर बुलाया गया तो मैंने फैसला किया कि अबके प्रेमचंद जी से भी मिलता आऊंगा। चुनांचे उत्सव की समाप्ति पर बनारस पहुंचा और वहां प्रेमचंद जी के गांव की राह ली। उस समय मन में क्या-क्या विचार उठते थे, यह कहने की बातें नहीं, मगर वहां पहुंच कर सारा उत्साह बैठ गया—प्रेमचंद जी घर पर न थे। एक चिट लिखी और निराश होकर लौट आया। दूसरे दिन गंगा से नहा कर होटल आया तो देखता क्या हूं कि मेरे कमरे के दरवाज़े पर एक साहब बैठे किसी का इंतजार कर रहें हैं। मुझे देखते

---

1 इससे पहले प्रेमचंद जी धनपतराय और नवाबराय के नाम से लिखा करते थे। चुनांचे उनकी कहानियों का एक संग्रह 'सोज़ेवतन' नवाबराय के नाम से ही प्रकाशित हुआ था।

ही उठ बैठे और मुस्कराकर बोले—नमस्ते।

मैंने समझा उन्हें धोखा हुआ है, जवाब दिया—आप किससे मिलना चाहते हैं?

'महाशय सुदर्शन से। मैं प्रेमचंद हूं।'

मैं फौरन उनके पांव की तरफ झुका, मगर उन्होंने मुझे गले लगा लिया और बोले—मुझे अफसोस है कल आपको बेहद जहमत उठाना पड़ी। मगर भाईजान! आज मुझे भी सज़ा मिल गई। दो घंटे से बैठा हूं।

इस भाईजान के लफ्ज ने मेरा मन मोह लिया। दस-पन्द्रह मिनटों में हम दोनों बैतकल्लुफ हो गये। ऐसे, जैसे हम अजनबी न थे; बरसों के दोस्त थे। शाम तक बातें होती रहीं। मैंने कुरेद-कुरेद कर सवाल किए और उन्होंने खुल-खुलकर जवाब दिये। इस पहली मुलाकात में मुझ पर ज़ाहिर हो गया कि जो इनके मन में है वही मुंह पर है। वह कोई बात छिपा कर नहीं रखते। यह इनके स्वाभव में नहीं है।

मैंने पूछा—आपने नवाबराय नाम क्यों छोड़ दिया?

हंसकर बोले—नवाब वह होता है जिसके पास कोई मुल्क भी हो। हमारे पास मुल्क कहां?

'बे-मुल्क नवाब भी होते हैं।'

'यह कहानी का नाम हो जाए तो बुरा नहीं, मगर अपने लिए यह नाम घमंडपूर्ण है। चार पैसे पास नहीं और नाम नवाबराय। इस नवाबी से प्रेम भला जिसमें ठण्डक भी है, सन्तोष भी है।'

यह कहकर उन्होंने बड़े ज़ोर का कहकहा लगाया और बात उड़ा दी। उनका वह खुले दिल का कहकहा और घनी मूंछों में बाहर झांकती हुई मुस्कराहट आज भी याद आती है तो कलेजे पर छुरियां सी चल जाती हैं, कि वह दिन कहां चला गया?

सन् 1927।

मैंने लिखा—मेरी कहानिमों का एक संग्रह 'बहारिस्तान' छपने वाला है। मेरी इच्छा है कि उसमें आपकी भूमिका रहे। मगर डरता हूं कि कोई मसलेहत आपके कलम को न पकड़ ले।

प्रेमचंद जी ने जवाब दिया—आजाद-रौ आदमी हूं, मसलेहतों का गुलाम नहीं। आपकी कहानियों पर दीबाचा लिखने में मुझे क्या एतराज हो सकता है? हम भी एक दूसरे के काम न आयेंगे तो और कौन आयेगा?

इसके बाद उन्होंने मेरी किताब पर भूमिका लिखी और मेरी कहानियों की दिल खोल कर प्रशंसा की। इस घटना में उन साहित्यिकों के लिए एक शिक्षा है जो किसी दूसरे साहित्यसेवी की प्रशंसा में दो शब्द कहते हुए भी समझते हैं कि इसमें उनकी शान मैली हो जायगी। प्रेमचंद जी में यह बात न थी। वह जिसको अच्छा समझते थे उसकी प्रशंसा करते थे। इतना ही नहीं, वे अपने लेखकों का उत्साह बढ़ना भी अपना कर्तव्य समझते थे। चुनांचे कई लेखक जो आज हिन्दी के काफी मशहूर हैं सबसे पहले प्रेमचंद जी की उंगली पकड़ कर साहित्य-संसार में दाख़िल हुए थे।

सन् 1928 में जब में कानपुर में नौकर हो गया और कहानियां लिखने में कम समय देने लगा

तो उन्होंने लखनऊ से मुझे एक कड़ा पत्र लिखा। वह पत्र न था इबरत का ताज़याना था। शब्द ठीक ये न थे पर भाव कुछ इसी तरह का था–

'मैं तो समझता था आप फारग-उल-बाल होकर अदब की ज़्यादा ख़िदमत कर सकेंगे, मगर मेरा ख़याल गलत निकला। अब महीनों गुजर जाते हैं और आपका कोई किस्सा किसी अख़बार में नजर नहीं आता। चार नहीं दो सही, दो नहीं एक सही, लेकिन कुछ-न-कुछ तो हर महीने लिखते रहिए। इससे तो वह तगंदस्ती ही अच्छी थी जो कुछ-न-कुछ लिखवा लेती थी।'

मगर जब मैंने मिलकर अपनी हालत का बयान किया तो नरम पड़ गये। मैंने कहा–कहिये तो नौकरी छोड़ दूं। फौरन बोले–यह हिमाकत न कर बैठना वरना मुझे कोसोगे। हिन्दी प्रकाशकों में इतना दम कहां जो किसी लेखक को खाने -पीने की तरफ से बेनयाज़ कर दें। उनकी बड़ी ख़्वाहिश थी कि दो चार लेखक मिलकर प्रकाशन का काम साझे में करें। मगर मौत ने मुहलत न दी।

उनसे अन्तिम भेंट मार्च, 1934 में हुई।

उस वक्त मुझे वे कुछ दुबले से नजर आए। मगर लिखने का काम करते जाते थे। मैं जब मिलने के लिए गया, उस वक्त सांझ हो चुकी थी। वे जब भी लिख रहे थे। मैंने कहा–आप यह अपने ऊपर नहीं, हम लोगों पर जुल्म कर रहे हैं।

हंसकर बोले–शुक्र है, हम भी किसी के ज़ालिम तो हैं।

मैंने कहा–आप कहीं हवा पानी बदलने के लिए बाहर क्यों नहीं चले जाते?

'बाहर जाने के लिए रुपया चाहिए।'

'अच्छा, ज़रा मेहनत कम किया करें।'

'मज़दूर मेहनत न करेगा तो खायगा कहां से?'

मगर प्रेमचंद जी पैसे के लिए मेहनत करते थे यह कहना उनका अपमान करना है। उनके मन में मानव जाति के लिए जो संदेसा आता था वह उसे लोगों के सामने रखने के लिए लिखते थ। वरना रुपया कमाना चाहते तो इतना कमा सकते थे कि उन्हें किसी चीज़ की परवाह न रहती। लेकिन उन्होंने सदा सिद्धान्त और कला का ख़याल रखा है रुपया उनके लिए गौण वस्तु रहा है। तकलीफ और संकट में रहकर भी उन्होंने सेवा के महान् आदर्श को आंखें से ओझल नहीं होने दिया, यह उनके महापुरुष होने का द्योतक है।

मैंने कहा–आप इन अख़बारों को बन्द क्यों नहीं कर देते, अभी तक घाटे में जा रहे हैं।

प्रेमचंद जी ने जवाब दिया–आज आप कहते हैं अख़बार बन्द कर दो। कल कहेंगे किबातें लिखना छोड़ दो। मैं आपका कहा कहां तक मानूं।

मुझे अपनी जबान बन्द ज़ोती मालूम होने लगी मगर मैं हिम्मत न हारा, कहा–आख़िर यह तपस्या आप ही क्यों करें?

प्रेमचंद जी का मुस्काराता हुआ चेहरा और भी मुस्कराने लगा, बोले–आप जिसे तपस्या करते हैं मैं उसे भोग समझता हूं। तपस्या जब हो जब तकलीफ हो। मुझे तो इसमें बराबर मज़ा आता है और जिसमें आदमी को मज़ा मिले वह भोग है।

मेरी आखों के सामने से परदा हट गया। प्रेमचंद ऐसे बड़े, ऐसे ऊंचे, नि:स्वार्थ मेरी आंखों में कभी न थे। मेरा जी चाहा कि उनके पैरों पर गिर पड़ूं, मगर ..

प्रेमचंद जी ने फिर कहा—भाईजान ! सिर्फ रुपया कमाना ही आदमी का उद्देश्य नहीं है। मनुष्यत्व को ऊपर उठाना और मनुष्य के मन में ऊंचा विचार पैदा करना भी उसका कर्तव्य है। अगर यह नहीं है तो आदमी और पशु दोनों बराबर हैं। और जिसके हाथ में भगवान ने कलम और कलम में तासीर दी है उसका कर्तव्य तो और भी बढ़ जाता है।

आज ये शब्द याद आते हैं तो दिल पर हथौड़ा-सा लगता है कि हिन्दी साहित्य ने कितना ऊंचा दरजे का कलाकार खो दिया।

लेकिन शोक इस बात का है कि हिन्दी वालों ने अभी तक अपने इतने महान् कलाकार को पूरे तौर पर नहीं पहचाना। वरना असंभव था कि आप प्रेमचंद की किताबों की घर-घर पूजा होने लगती। प्रेमचंद साधारण कलाकार न थे, भाव और भाषा के बादशाह थे। मुरदा से मुरदा विषय को भी लेते थे तो उसमें जान डाल देते थे। उनकी रचना पढ़ने के लिए हमको अपने ऊपर ज़ोर नहीं देना पड़ता। हम उसमें बहते चले जाते हैं । हर कहानी पढ़कर हमको मालूम होता है कि हमने जीवन का कोई नूतन चित्र देखा है। हमें अपने दिल की आंखें खुलती मालूम होती हैं। हमें मालूम होता है, कि किसी ने हमारे मन के तारों पर उंगली रख दी है, किसी ने हमारा दिल पकड़ लिया है, किसी ने हमें नया रास्ता दिखा दिया है। जो चित्र और चरित्र हम रोज़ देखते हैं और जिनमें हमें कोई विशेष बात नहीं नज़र आती, प्रेमचंद जब उन पर से परदा उठा कर हमें भीतरी रहस्य दिखाते हैं तो वहां हमें ऐसी मोहिनी नज़र आती है कि मन नाचने लगता है। ग्राम-जीवन के जो जीते जागते और भावपूर्ण चित्र उन्होंने हमारे सामने रखे हैं उन्हें भारतवर्ष सदियों तक याद रखेगा और सिर धुनेगा।

अभी प्रेमचंद के मरने के दिन न थे। अभी वह बहुत कुछ कहना चाहते थे और हम बहुत कुछ सुनना चाहते थे। प्रेम, पवित्रता और प्रकाश की व्याख्या जो वे करना चाहते थे वह अभी तक पूरी न हुई थी। जीवन और जगत का जो संगीत उन्होंने शुरू किया था वह अभी अधूरा ही था कि मौत के निर्दयी हाथों ने उनका मुंह बन्द कर दिया।

बड़े शौक से सुन रहा था ज़माना।
तुम्हीं सो गये दास्तां कहते कहते।।

नवीन भाव-धारा के प्रवर्तक

लेखक—श्री दुर्गाप्रसाद पाण्डेय, शास्त्राचार्य

एक दिन साहित्यिक विचार-विनिमय के सिलसिले में मेरे एक विदेशी साहित्यिक मित्र ने पूछा—प्रेमचंद जी की हिन्दी-साहित्य को कौन-सी ऐसी देन है जिसने उसमें एक नयी धारा, नयी जागृति और नये जीवन को, जिसके अभाव में साहित्यिक प्रवाह शिथिल-सा हो

रहा था, प्रेरित किया है?

इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमें एक बार उस समय की साहित्यिक परिस्थिति की और संकेत करना आवश्यक-सा जान पड़ता है, जब कि पहले-पहल श्री प्रेमचंद ने हिन्दी-सहित्य की दुनिया में पदार्पण किया था। हिन्दी का साहित्य तब तक अपने पैरों पर खड़ा नहीं हो सका था। कहीं संस्कृत की मंडली के संस्कृत के लंबे-चौड़े समासबहुल वाक्यों का आश्रय लेकर चलता तो कहीं फारसी और अरबी के लोचदार शब्दों का सहारा लेता। कथा-साहित्य की भी कुछ ऐसी ही हालत थी। तिलस्माती कहानियों, भूत, प्रेत के गप्पों, प्रेम-वियोग के आख्यानों और उपदेश-धर्म की कथाओं से भरा पड़ा था। हमारे कहने का यह मतलब नहीं कि उस समय का कथा-साहित्य-कला से शून्य था। मानव-प्रकृति का मर्मज्ञ कलाकार राजकुमारों की प्रेम-गाथाओं और तिलस्माती कहानियों में भी जीवन की सच्चाइयों का वर्णन और सौन्दर्य की सृष्टि कर सकता है। उस समय की कहानियों में भी हमें इसके उदाहरण मिलते हैं, पर बहुत कम, दाल में नमक के बराबर। यदि सत्य पर पर्दा न डाला जाय तो निःसम्कोच होकर कहा जा सकता है जीवन की आलोचना, जो साहित्य की सर्वोत्तम परिभाषा है, उसके लिए साहित्य का दरवाजा बन्द सा ही था। हमारे कहानी लेखक बाह्य साय (Objective truth) को ही प्रधानता देते थे। 'हमारे साहित्यकार कल्पना की एक सीढ़ी खड़ी कर उसमें मनमाने तिलस्म बांधा करते थे। कही फिसानए अजायाब की की दास्तान थी, कहीं बोस्ताने खयाल की और कहीं चन्द्रकांता सन्तति की। इन आख्यानों का उद्देश्य केवल मनोरंजन था और हमार अद्भुत-रस-प्रेम की तृप्ति। साहित्य का जीवन से कोई लगाव है यह कल्पनातीत था। कहानो, कहानी है, जीवन, जीवन। दोनों परस्पर विरोधी वस्तुएं समझनी जाती थीं। कवियों पर भी व्यक्तिवाद का रंग चढ़ा हुआ था, प्रेम का आदर्श वासनाओं को तृप्त करना था और सौन्दर्य का आंखों को। इन्हीं शृंगारिक-भावों को प्रकट करने में कवि-मण्डली अपनी प्रतिभा और कल्पना के चमत्कार दिखाया करती थी। पद्य में कोई नई शब्द-योजना, नई उपमा उत्प्रेक्षा या कल्पना का होना दाद पाने के लिए काफी था, चाहे वह वस्तु-स्थिति से कितनी ही दूर क्यों न हो। आशियाना और कफस, बर्क और खिरमन की कल्पनाए विरह दशाओं के वर्णन में निराशा और वेदना की विविध अवस्थाएं इस खूबी से दिखलाई जाती थीं कि सुनने वाले दिल थाम लेते थे। आज भी इस ढंग की कविता कितनी लोक-प्रिय है, इसे सभी जानते हैं।'

किन्तु श्री प्रेमचंद उस धारा में नहीं बहे। उन्होंने बाह्य सत्य का बहिष्कार न करते हुए भी, आत्म-सत्य को ही अपनी कला का ध्येय बनाया। आज हिन्दी में इस तरह की साहित्य-सृष्टि की ओर जो झुकाव दीख पड़ता है उसका सारा श्रेय है श्रीयुत प्रेमचंद जी को। उन्होंने 'जिस साहित्य से हमारी सुरुचि न जागे, आध्यामित्क और मानसिक तृप्ति न मिले, हम में शक्ति और गति न पैदा हो, हमारा सौंदर्य-प्रेम नद जागृत हो, हम में सच्चा संकल्प और कठिनाइयों पर विजय पाने की सच्ची दृढ़ता न उत्पन्न करे, वह आज हमारे लिए बेकार है, वह साहित्य कहाने का अधिकारी नहीं'—को अपना ध्येय बना रखा था और उसी के अनुसार अपने साहित्य का निमार्ण किया। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने महलों के बनावटी सौंदर्य की उपेक्षा कर झोंपड़ियों में सौंदर्य को खोजा। उनकी रचनाओं के नायक-नायिकाएं सरल हैं, सीधे हैं,

सादे हैं; उनके चारों ओर एश्वर्य का जाल नहीं फैला है और न वे अपने रूप पर गर्व करने वाले या चोचलों पर सिर धुनने वाले ही हैं। उनमें आत्मिक सौंदर्य है और जीवन-संग्राम में साहस और वीरता के साथ कठिनाइयों का सामना करने की अद्‌भुत क्षमता। इतना होने पर भी कलाकार ने कहीं उन्हें इस मिट्टी की दुनिया से ऊपर उठने नहीं दिया है। उन्हें देखकर आपको यह सोचने का मौका नहीं है कि ये काल्पनिक दुनिया के जीव हैं, आदर्श को लेकर इनकी सृष्टि की गई है, हम से इनकी कोई तुलना नहीं। क्योंकि वे स्वयं कहते हैं–'कल्पना के गढ़े हुए आदमियों में हमारा विश्वास नहीं है। उनके कार्यों और विचारों से हम प्रभावित नहीं होते। हमें इसका निश्चय हो जाना चाहिए कि लेखक ने जो सृष्टि की है, वह प्रत्यक्ष अनुभवों के आधार पर की गई है, या अपने पात्रों की जबान से वह खुद बोल रहा है। इसलिए साहित्य को कुछ समालोचकों ने लेखक का जीवन-चरित्र कहा है। आज-कल का कलाकार कहानी लिखता है पर वास्तविकता का ध्यान रखते हुए; मूर्ति बनाता है, पर ऐसी कि उसमें सजीवता हो और भावव्यंजकता हो; वह मानव प्रवृत्ति का सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करता है, मनोविज्ञान का अध्ययन करता है और इसका यत्न करता है कि उसके पात्र हर हालत में और मौके पर इस तरह आचरण करें, जैसे रक्त मांस का बना मनुष्य करता है।'

उन्होंने अपनी रचनाओं के लिए पात्रों का चुनाव वहां से किया जो सदा से उपेक्षित हैं, विपत्ति के मारे हुए हैं, जीवन-संग्राम में खटकर मरना ही मानो जिनके जीवन की एकमात्र उपयोगिता है; जिनकी उपेक्षा आज तक के साहित्यकारों ने की है और यदि कहीं उन्हें स्थान दिया भी है तो केवल मजाक उड़ाने के लिए। पर श्री प्रेमचंद जी ने उन्हें ही अपनाया है और कूड़े पर से उठाकर देवता के आसन पर बिठा दिया है। मेरे विचार में इन साधारण कोटि के पात्रों का चित्रण करने के कारण ही उनकी रचनाओं में हृदय को छूने की शक्ति आ सकी है। क्योंकि जीवन का घात-प्रतिघात ही कहानी या उपन्यास का प्राण है, और यह घात-प्रतिघात जितना हमें इन उपेक्षित समुदायों में मिलता है उतना इन लक्ष्मी के लाड़लों के जीवन में नहीं। हां, वहां जहां कहीं कुछ घात-प्रतिघात है, वह है केवल नाज़नीनों के नयन-वाणों से विद्ध होकर छाती पर हाथ रखकर कराहना। इस कोटि के मानसिक विकारों के चित्रण से ही घासलेटी साहित्य की बाढ़-सी आ गई है। जहां देखिये वहीं असफल प्रेम, निराशा, रुदन और आत्महत्या। पर प्रेमचंद जी की कहानियों का प्रेम-पात्र कहीं असफल नहीं होता, निराश प्रेम का रोना नहीं रोता, वह वियोग में तड़प-तड़पकर आंखों में रात नहीं काट देता या, नदी में डूबकर, ज़हर खाकर या फांसी लगाकर जीवन का अन्त नहीं कर देता; बल्कि उस दशा में वह जीवन-संग्राम के लिए और भी सन्नद्ध तथा दृढ़ हो जाता है। इनकी प्रेम भावना मनुष्य को पवित्र और कर्मण्य बनाने वाली होती है।

प्रेमचंद जी की रचनाओं में दूसरी अपनी अलग जो एक विशेषता है। वह है ग्रामीण जीवन का सजीव चित्रण। इनकी रचनाएं हमारे सामने ग्राम्य जीवन की सभी समस्याओं को उपस्थित कर देती हैं और उन्हें आसानी से सुझाने के उपाय भी। ग्राम्य-सुधार के कार्य करने वाले यदि उन्हें ध्यान पूर्वक पढ़ें, मनन करें और उसके अनुसार कार्य करना आरम्भक करें तो उनके कार्य में बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। प्रेमचंद की रचनाओं से भविष्य का इतिहास लेखक वर्तमान ग्राम-जीवन पर लिखने की बहुत कुछ सामग्री पा सकता है। वह हमारे ग्रामीण जीवन

के उज्ज्वल चित्र हैं, जिनमें सत्य समवेदना से मिलकर हृदय पर सीधा प्रभाव करने वाला हो गया है। यद्यपि यह नहीं है कि उनमें केवल अच्छाइयां ही दिखलाई गई हैं, बुराइयों पर पर्दा डाल दिया गया है। ईर्षा, द्वेष, कलह आदि का भी वर्णन है, पर उनका अन्त प्रेम, एकता और सहानुभूति में हुआ है। उन्होंने कहा है–'हम साहित्यकार से यह आशा रखते हैं कि अपनी बहुज्ञता, अपने विचारों की विस्तृति से हमें जागृत करे। उसकी दृष्टि इतनी सूक्ष्म, इतनी गहरी और इतनी विस्तृत हो कि उसकी रचना में हमें आध्यात्मिक आनन्द और बल मिले। सुधार की जिस अवस्था में वह उससे अच्छी अवस्था में जाने की प्रेरणा हर आदमी में मौजूद रहती है। हम में जो कमजोरियां हैं वह किसी मर्ज की तरह हम से चिपटी हुई हैं। जैसे शारीरिक स्वास्थ्य एक प्राकृतिक बात है और रोग उसका उलटा, उसी तरह नैतिक और मानसिक स्वास्थ्य भी प्राकृतिक बात है, और हम मानसिक तथा नैतिक गिरावट से उसी तरह संतुष्ट नहीं रहते, जैसे कोई रोगी अपने रोग से संतुष्ट नहीं रहता। जैसे वह सदा किसी चिकित्सक की तलाश में रहता है उसी तरह हम भी इस फिक्र में रहते हैं कि किसी तरह अपनी कमजोरियों को परे फेंककर अधिक अच्छे मनुष्य बनें। इसलिए हम साधु फकीरों की खोज में रहते हैं, पूजा-पाठ करते हैं, बड़े बूढ़ों के पास बैठते हैं, विद्वानों के व्याख्यान सुनते हैं और साहित्य का अध्ययन करते हैं। हमारी सारी कमजोरियों की जिम्मेदारी हमारी कुरुचि और प्रेम भाव से वंचित होना है। जहां सच्चा सौन्दर्य-प्रेम है, जहां प्रेम की विस्तृति है वहां कमजोरियां कहां रह सकती हैं? प्रेम ही तो आध्यात्मिक भोजन है और सारी कमजोरियां इसी भोजन के न मिलने अथवा दूषित मिलने से पैदा होती हैं। कलाकार हम में सौन्दर्य की अनुभूति उत्पन्न करता है और प्रेम की उष्णता। उसका एक वाक्य, एक शब्द, एक संकेत इस तरह हमारे अन्दर जा बैठता है कि हमारा अन्त:करण प्रकाशित हो जाता है। पर जब तक कलाकार खुद सौन्दर्य-प्रेम से छककर मस्त न हो और उसकी आत्मा स्वयं इस ज्योति से प्रकाशित न हो वह हमें यह प्रकाश क्योंकर दे सकता है?'

प्रेमचंद जी की कृतियों के सर्वप्रिय होने का एक कारण उनकी भाषा की सरलता भी हैं। इसमें हिन्दी और उर्दू दोनों के ही शब्द मिले हुए हैं, पर इस बारीकी से कि कहीं कृत्रिमता नहीं आ सकी है, भाषा के प्रवाह में कहीं नियन्त्रण नहीं हुआ है। इन्होने ठीक उसी भाषा का प्रयोग किया है जो आमफहम भाषा है, जिसे सर्वसाधारण जनता व्यवहार करती है। किस अवसर पर किस तरह की भाषा का प्रयोग हृदय पर सीधा और गहरा प्रभाव कर सकता है, वैसी भाषा के प्रयोग करने में तो प्रेमचंद जी बेजोड़ हैं। छोटे, सीधे और साफ एक वाक्य में ही वह ऐसी बात कह जाते हैं जिसके लिए दूसरे पन्ने के पन्ने काले कर डालते हैं, फिर भी स्पष्ट नहीं कर पाते। इनकी संकेतात्मक शैली के भीतर जहां व्यंग्य और परिहास की बातें आ जाती हैं वहां भाषा तीर की तरह सीधी और चुभने वाली बन जाती है। जहां कहीं इन्होंने काव्यमयी शैली का अनुसरण किया है वहां इनकी भाषा हमारे गद्य-काव्य का गौरव की वस्तु बन गई है। सुन्दर सुन्दर मुहावरों तथा अनुभूतिमूलक अमर उक्तियों के बाहुल्य ने इनकी भाषा-शैली को जो वैभव जो सौन्दर्य और जो गौरव प्रदान कर रखा है, वह इनके द्वारा प्रस्तुत किये साहित्य का सबसे बड़ा संरक्षक है। स्वर्गीय पं० श्री किशोरीलाल जी गोस्वामी आदि विद्वानों ने भी भाषा की संस्कृत बहुलता को कम करने की कोशिश की है, पर जहां कहीं वे मुसलमान पात्रों के मुख से कुछ

कहलवाते हैं, वहां उनकी भाषा उर्दू-फारसी के शब्दों से लद जाती है और सर्वसाधारण उसे नहीं समझ सकते। पर हमने जैसा पहले कहा है, प्रेमचंद ही इस दोष से बिल्कुल मुक्त हैं। इनकी भाषा में वे शब्द जो स्वाभाविकता के बाधक हैं, केवल पाण्डित्य आस्फालन करने के लिए जबरदस्ती नहीं भर दिये गये हैं।

जैसा पहले कहा जा चुका है, चरित्र-चित्रण की कला में भी इनका अपना एक स्थान है। इनके चित्र सजीव भी हैं और स्वाभाविक भी। इनके पात्रों को हम जानते हैं, पहचानते हैं, उनके साथ हिल-मिलकर जी खोलकर बातें कर सकते हैं; क्योंकि वे हमारे बीच के हैं, हमारी अनुभूतियों के साथ उनका गहरा सम्बन्ध है। यही कारण है कि जब वे रोते हैं तो हम रोने क लिए बाध्य होते हैं और जब हंसते हैं वहां हमारी प्रसन्नता भी नाच उठती है। जो ऊंचे आदर्शों के उपासक हैं वे भी मनुष्य हैं और जो कुत्सिक भावनाओं एवं नीच मनोवृत्तियों द्वारा अपना स्वार्थ सिद्ध करने वाले हैं, वे भी मनुष्य ही हैं—ठीक वैसे ही मनुष्य जैसे हम और आप। हां, इनमें दो-एक ऐसे भी जरूर हैं जिन्हें हम दूसरी दुनिया के जीव कह सकते हैं; किन्तु उनकी अवतारणा रचना-कौशल की साधिका ही हैं बाधिका नहीं। सफल कलाकार जानता है कि कहां विच्छेद या अमानुषीय चरित्र की अवतारणा करने से रचना में प्रवाह एवं सौन्दर्य लाया जा सकता है।

श्री प्रेमचंद जी कलाकार की दृष्टि से जैसे अद्वितीय थे वैसे ही खरे मनुष्य भी थे। उनका सारा जीवन कठिनायों एवं बाधाओं के साथ युद्ध करते हुए ही बीत गया; पर घबड़ाकर या हताश होकर कभी भी उन्होंने अपने आदर्शों को पिछड़ने नहीं दिया। उनकी लम्बी और झुकी हुई मूंछों में छनकर फैलने वाली ऊंची हंसी में सारी बाधाएं बह जाती रहीं। उन्होंने स्वयं कहा है—' अगर हमारा अन्तर प्रेम की ज्योति से प्रकाशित हो और सेवा का आदर्श हमारे सामने हो, तो ऐसी कोई कठिनाई नहीं जिस पर हम विजय नहीं प्राप्त कर सकें। जिन्हें धन-वैभव प्यारा है, साहित्य-मन्दिर में उनके लिए स्थान नहीं है। यहां उन उपासकों की आवश्यकता है, जिन्होंने सेवा को ही अपने जीवन की सार्थकता मान लिया हो, जिनके दिल में दर्द की तड़प हो और मुहब्बत का जोश हो। अपनी इज्जत तो अपने हाथ है। आगर हम सच्चे दिल से समाज की सेवा करेंगे, तो वर्तमान प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि हमारे पांव चूमेंगीं। फिर मान प्रतिष्ठा की चिन्ता हमें क्यों सताये, और इनके न मिलने से हम निराश क्यों हों? सेवा में जो आध्यात्मिक आनन्द है वही हमारा पुरस्कार है। हमें समाज पर अपना बड़प्पन जताने, उस पर रोब जमाने की हविस क्यों हो? दूसरों से अधिक आराम के साथ रहने की इच्छा क्यों सताये? हम अमीरों की श्रेणी में अपनी गिनती क्यों करावें? हम तो समाज का भंडा लेकर चलने वाले सिपाही हैं और सादी जिन्दगी के साथ ऊंची निगाह हमारा लक्ष्य है जो आदमी सच्चा कलाकार है, वह स्वार्थमय जीवन का प्रेमी नहीं हो सकता, उसे अपनी मनस्तुष्टि के लिए दिखाव की आवश्यकता नहीं, उससे तो उसे घृणा होती है।'

प्रेमचंद जी के खो जाने से भारतीय साहित्य की जो क्षति हुई है उसकी पूर्ति निकट भविष्य में तो नहीं दीखती, किन्तु यदि हम उनके पद-चिह्न का अनुसरण करते हुए साहित्य सृजन में लग जायं तो उनके प्रति अपनी श्रद्धा का प्रकाश और साहित्य का कल्याण कर सकेंगे। प्रेमचंद जी ने साहित्य में जिस भाव-धारा, विचार-प्रौढ़ता और भाषा-सौन्दर्य की सृष्टि की है उसमें ज्यों-

ज्यों समय बीतता जायगा त्यों-त्यों अधिकाधिक कमीनयता आती जायगी। आज भी हिन्दी साहित्य उनका ऋणी है और भविष्य में भी रहेगा। प्रेमचंद जी को हमने केवल साहित्यकार के रूप में ही नहीं पाया था, वह हमारे पथ प्रदर्शक भी रहे। दो की स्वतन्त्रता की सबसे बड़ी बाधा हिन्दी-मुसलिम वैमनस्य मिटाने के लिए अपनी रचनाओं के द्वारा वह सदा प्रयत्न करते रहे। हिन्दी और उर्दू दो सहेली भाषाओं को मिलाने में उनकी रचनाएं सेतु की तरह हैं। प्रेमचंद के ऊपर जितना गर्व हिन्दुओं को है उससे कम मुसलमानों को नहीं।

प्रेम-स्मृति

लेखक—श्री बन्देअली फातमी

जो प्रेमाकाश का चन्द्र था, जो चांदी-सोने के टुकड़ों से निर्मित धन का पति नहीं, वरन् अपार्थिव अक्षय धन-पति था; 'रंगभूमि' के रंगीला वीर, 'प्रेमाश्रम' में भावुक प्रेमी, और 'सेवा-सदन' में अथक सेवी था; जो कवि न होते हुए भी कवि था; जो रहस्यवादी न होते हुए भी रहस्यात्मिकता से अर्वचित था; जो बूढ़ा होते हुए भी, बुड्ढापन का दुश्मन और तरुण न होते हुए भी तरुणाई का शैदा था; जो अपुष्ट किसान और जर्जर मजदूरों को 'गोदान' करने वाला था, ताकि वे उसका पौष्टिक दुग्ध-पान कर अपनी धमनियों में क्रांति का रक्त-प्रवाह करें; वह कौन था? वह था प्रकृति का पुजारी, प्रतिभा का उपासक, साम्राज्य-विरोधी होते हुए भी औपन्यासिक-सम्राट, देहाती प्रेमचंद।

सस्मरण

लेखक—श्री भंवरम सिंघी, साहित्यरत्न

कुछ अजीब-सी बात है कि जिन साहित्यिक व्यक्तियों के विषय में मेरी कल्पना उनके साहित्य और अखबारी टीपटाप पर से स्नेह और श्रद्धा की हो जाती है, उनको जब प्रत्यक्ष देखने का सौभाग्य (या?) मिलता है तो कई बार मुझे अपनी कल्पना की तथ्य-विरूपता पर कुछ ग्लानि-सी होती है। इसका कारण इतना ही है कि आज हमारे साहित्यिकों में जीवन और साहित्य का अलगाव-सा रहता है।

पूज्यवर स्वर्गीय प्रेमचंद जी की कहानियां और दो-चार उपन्यास छोटी उमर में ही पढ़े थे। मैं कला पारखी नहीं था और अब भी नहीं हूं; पर उनका नाम मुझे याद था। बाद में मुझे लिखने का शौक हुआ और मेरी रचनाएं 'जागरण' में प्रकाशित होने लगी थीं—और तत्पश्चात् 'हंस' में। इंटर पास कर मैं काशी विश्वविद्यालय में पढ़ने के लिए बनारस गया था काशी भी हिन्दी साहित्य के तीर्थधामों में से है। उपन्यास सम्राट प्रेमचंद, प्रसिद्ध नाटककार 'प्रसाद', कविवर 'हरिऔध' और विचक्षण समालोचाक शुक्ल जी की चौकड़ी से उस समय बनारस

जगमगा रहा था। कालगाते ने महान् औपन्यासिक को उठा लिया और आज बनारस में केवल त्रि-मूर्ति रह गई।

काशी में पूज्यवर स्व० प्रेमचंद जी से साक्षात्कार हुआ था, (मामूली तौर से, जैसा मैं कह चुका हूं, कई साहित्यिक महारथियों से मेरा साक्षात्कार अश्रद्धा का कारण हो चुका था) जिससे मुझे यह समझने में देरी न हुई कि हिन्दी के उस औपन्यासिक सम्राट का जीवन अपने साहित्यिक आदर्शों से बहुत ऊपर उठा हुआ था। जीवन की तल्लीन वेदना उनके साहित्य में साहस और साधन का उपक्रम प्रेरित करती थी। उनके जीवन में नवयुवक लेखकों के लिए कितनी ही सीखने की बातें थीं, जिनके संस्मरण, मैं चाहता हूं, कि उनके सम्पर्क में आने वाले सभी विद्वान् लिखें। पूज्या शिवरानीदेवी जी ने 'हंस' का 'प्रेमचंद अंक' निकालकर पाठकों को उस महान् साहित्यिक के संस्मरणों का संग्रह देने की जो कृपा की है, उसके लिए हिन्दी-संसार उनका चिर कृतज्ञ रहेगा।

इस अंक में बहुत से संस्मरण लिखे जायंगे पर मुझे तो केवल एक ही दिन के संस्मरण लिखने हैं। उन दिनों की बात है जब लखनऊ में प्रगतिशील लेखक-संघ का जलसा होने वाला था। और पूज्य स्व० प्रेमचंद जी उसके सभापति मानोनीत किये गये थे। यूनिवर्सिटी बन्द होने वाली थी, इसलिए मैं उनसे मिलने गया था और वही शायद उनसे अन्तिम भेंट थी। बिखरी हुई किताबों और अखबारों के ढेर के बीच डेस्क सामने रख कर गद्दी पर बैठे लखनऊ के जलसे के लिए भाषण तैयार कर रहे थे और साथ-साथ डाक्टर इकबाल की शायरी भी पढ़ते जाते थे। प्रेमचंद जी की सादगी और उदारता प्रसिद्ध थी ही। उस समय उनके रोम-रोम में इकबाल की कविता का जोश भर रहा था। इस समय उनके पास आये हुए को जलपान कराने की वही सामग्री थी। उन्होंने पूछा-उर्दू तो समझ लेते हो न ?

मैं, उर्दू? हां-नहीं, हूं! और इसलिए इकबाल की कविता को समझ लेना मेरे लिए कठिन था। मैंने अपनी लाचारी जाहिर कर दी। वह इकबाल की कविता से इतने प्रभावित हो चुके थे कि वह पहले कविता बोलते और फिर हिन्दी में उसका अर्थ समझाकर मुझे उसका रहस्य ग्रहण कराते। उसकी तुलना में वह हिन्दी कविता की जो समीक्षा करते जाते थे, उसे तो मैं कभी नहीं भूलूंगा। इकबाल के निम्न शेर पढ़कर तो वह फूले न समाये थे-

रमजे हयात जोई जुजदर तपिश नयाबी,
दरकुल जुम आरमीदन नंगस्त आबे जूरा।

कुछ इस प्रकार उन्होंने अर्थ बताया था कि जीवन की चरम-साधना जीवन-संघर्ष से बाहर कहीं अन्यत्र नहीं मिलती सबको मालूम है कि समुद्र में जाकर सरीता यदि आराम करना चाहे तो वह नदी के लिए लज्जा की बात है। इस सिलसिले में उन्होंने हमारे आधुनिक जीवन पर जो विचार प्रकट किये थे, वे इस प्रकार मेरी डारी में लिखे हैं-'इस युग में हमें वे आंखें बन्द कर देनी चाहिए जिन्हें जीवन में नश्वरता के सिवा और कुछ नहीं दिखाई देता; केवल वे आंखें चाहिए जिनमें वेदनामय जीवन-संघर्ष को सराहने की शक्ति हो। हिन्दी कविता में तो आज संघर्ष से अलग 'हे सखी, हे सजनि, के स्त्रैण भाव फैल रहे हैं। परमात्मा जानें कि कविता को इन लोगों ने क्या समझ रखा है।'

लखनऊ के जलसे में मैं उपस्थित नहीं था, पर पत्रों में देखा था कि उन्होंने अपने भाषण

में इसी पर जो दिया था। उस समय उन्होंने कहा था–'साहित्य बेचैनी पैदा करे, सुलाये नहीं, क्योंकि ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।'

इन लघु संस्मरणों से, आशा है, पाठकों को पूज्यवर स्व॰ प्रेमचंद जी के साहित्य का जीवन-मर्म उद्घोषित करने में सहायता मिलेगी।

प्रणाम

लेखक–श्री शान्तिप्रय द्विवेदी

'भव भूतल को भेद, गगन में?
उठने वाले शाल ! प्रणाम।
'छाया देकर पथिकों का श्रम–
हरने वाले तुम्हें प्रणाम।।'

पार्थिव दु:ख द्वन्द्वों को पराजित कर, एक अत्यन्त साधारण परिस्थिति से ऊपर उठकर, जीवन के उज्ज्वल आकाश में अपने मस्तक को उन्नत करने वाले अमर कलाकार प्रेमचंद चिर प्रणम्य हैं।

वे गरीबी की गोद में पले हुए माता हिन्दी के धूल भरे हीरे थे। उनका स्थान सम्राटों के ताज में नहीं था, किसी के वैभव को प्रकाशित करने के लिए वह नहीं उत्पन्न हुए थे। वह तो कठोर परिस्थितियों के खरल में कुट-पिसकर पीड़ित मनुष्यता के उपचार बन गये, इससे बढ़ कर उनका सौभाग्य और क्या हो सकता था?

वह उस फूल की तरह थे जो, जिस पृथ्वी से जीवन का रस ग्रहण करता है, अन्तत: उसी पृथ्वी को यथासंभव सरस और सुगन्धित कर जाता है।

वह कोटि-कोटि दरिद्रनारायणों के कलाकार थे उनकी लेखनी किसानों के हल की भाँति पृथ्वी को उर्व्वर बनाने वाली थी, उनकी लेखनी मजदूरों के फावड़े की तरह धरातल की विषमतओं को तोड़-फोड़कर मानव-समाज को समतल बनाने वाली थी, उनकी लेखनी अकुण्ठित थी। उनकी लेखनी में एक धार थी। तलवार की तीक्ष्ण धार नहीं, बल्कि पयस्विनी वसुन्धरा के प्रेमल दूध की कोलम धार।

वह हमारे साहित्य के गोर्की दादा थे। गोर्की की भाँति ही उन्होंने छुटपन से ही कठिनतम दु:खों की कड़वी घूंट पी थी। उनका दु:ख ही उनके लिए अमृत बन गया था। उसी अमृत से अनुप्राणित होकर गोर्की ने अपने साहित्य-द्वारा लेनिन-युग को अग्रसर किया था, प्रेमचंद ने गान्धी-युग को। संसार में दो प्रकार के मनुष्य होते हैं–एक वे जो दु:ख सहते-सहते पाषाण की भाँति कठोर, निर्म्मम एवं हृदय-हीन हो जाते हैं, दूसरे वे जो सजल-कोलम होकर भी विपत्तियों की चट्टानों को अतिक्रम कर सरिता की भाँति सन्तप्त पृथ्वी को शीतल कर जाते हैं। गोर्की और प्रेमचंद मानव-जाति के ऐसे ही सहृदय कलाकार थे। दोनों कथा-साहित्य द्वारा अपने युग को अग्रसर किया और वह युग मनुष्यता की पुकार का युग है। उनकी लेखनी की स्याही में

अत्याचारियों की कालिमा और बिलखते हुए प्राणियों के आंसू हैं। गोर्की और प्रेमचंद दोनों अपनी आवाज को बुलन्द रखने के लिए साहित्य में अपने कितने ही युवक प्रतिनिधियों को छोड़ गये हैं उन सबमें गोर्की और प्रेमचंद जीवित हैं और तब तक जीवत रहेंगे तब तक मनुष्यता दानवता को पराजित करती रहेगी।

प्रेमचंद साहित्यिक शिव थे। उन्होंने भवसागर के विष को पीकर अपेन ललाट पर प्रेम का चांद और अपने मस्तक पर देशभक्ति की गंगा को धारण किया था। मुसलमानों का चांद और हिन्दुओं की गंगा उनके-जैसे एकतावादी कलाकार को ही सोहती थी। सच तो यह है कि वह पूर्ण मनुष्य थे। किसी युग में जो कुछ देवत्व था, वही आज के दुर्द्धर्ष युग में मनुष्यत्व बन गया है। ज्यों-ज्यों यह दुर्द्धर्षता बढ़ती जायगी त्यों-त्यों एक दिन मनुष्यत्व ही ईश्वरत्व बन जायगा। उसी दिन मनुष्य अपनी मिथ्या प्रवचंनाओं को छोड़कर एकमात्र मनुष्यत्व पर ही अपने जीवन को केन्द्रित करेगा।

प्रेमचंद की मनुष्यता स्पृहणीय वस्तु है। मनुष्यता की दृष्टि से कितने ही सम्पन्न व्यक्ति उनकी तुलना में अभागे और निर्धन जान पड़ते हैं।

मेरे मन पर मनुष्य की विद्वत्ता का, मनुष्य की शक्तिशीलता का, मनुष्य की धनढ्यता का कोई असर नहीं पड़ता, इसके लिए मैं बिल्कुल जड़ हूं—जैसे कि ये विशेषताएं मेरे लिए जड़ हैं। जिस प्रकार हृदय-हीन धनवान् हो सकता है, उसी प्रकार हृदय-हीन विद्वान भी हो सकता है। मनुष्य की मनुष्यता तो सोलहो आना सहृदयता की वस्तु है। उसमें दम्भ नहीं, आत्मविस्मृति रहती है। द्वारिकाधीश की महिमा इसलिए नहीं है कि वे द्वारिकाधीश हैं, बल्कि इसलिए कि वे सुदामा को गले लगा सकते हैं, विदुर का साग खा सकते हैं, राजसूय-यज्ञ में पद-प्रक्षालनकर स्वयंसेवक बन सकते हैं और पशुबल के विरोध में मानव-बल को सम्बल दे सकते हैं। यह ईश्वरत्व नहीं, मनुष्यत्व है। इसे ईश्वरत्व कहकर दूर से हाथ जोड़ना, मनुष्य की चारित्रिक बाहनेबाजी है, ईवश्र को भोला समझकर उसे निर्लज्जता-पूर्वक ठगना है। यह तो मनुष्य के सम्मुख दानव का छल-कौशल है। यही छाल-कौशल आज संसार में भद्रता के नाम पर चल रहा है, इसीलिए विश्व का जीवन इतना मंहगा हो गया है। इस छल-प्रपंचपूर्ण संसार में प्रेमचंद सीधे-सादे मुसाफिर के रूप मं आये थे। वह किसी को ठग नहीं सकते थे, इसीलिए स्वयं बहुत बार ठगा गये। किन्तु प्रेमचंद जी की मनुष्यता को कौन ठग सकता था? उन्हें पार्थिव हानि भले ही हुई हो, किन्तु उनकी मनुष्यता कभी क्षति-पूर्ण नहीं हुई। अपनी अक्षुण्ण मनुष्यता के कारण ही वह इस नश्वर संसार की स्वर्गीय आत्मा बन गये हैं। आज हम कलाकार प्रेमचंद का सम्मान इसलिए करते हैं कि उसमें मनुष्य प्रेमचंद का निवास है प्रेमचंद का जो मनुष्य उन्हें कलाकार बना सका है, वह उनके कलाकार से भी अधिक श्रेष्ठ है। उनका कलाकार तो उनके मनुष्य की एक छायामात्र है।

अब आडम्बर-रहित और अपनी महिमा से अनजान महापुरुष के चरणों में मेरा शत-शत प्रणाम!

प्रेमचंद जी की सर्वोत्तम कहानियां

लेखक—श्री आनन्दराव जोशी

यों तो स्व॰ प्रेमचंद जी के शुभ नाम से तथा उनके कथा-साहित्य से मैं बहुत वर्षों से परिचित था किन्तु उनसे पत्रव्यवहार करने का सुअवसर मुझे सन् 1928 ई॰ में मिला। उस वर्ष मैंने पत्र लिखकर उनकी सर्वोत्तम हिन्दी कहानियों का मराठी में अनुवाद करने की आज्ञा मांगी और उन्होंने सहर्ष दी। उस समय से उनकी मृत्यु तक हमारा परस्पर पत्रव्यवहार बराबर जारी रहा। उनकी मृत्यु के कुछ दिन पूर्व—ता॰ 13 सितम्बर, 1936 ई॰ को—उन्होंने मुझे पत्र लिखकर मुझसे मराठी की तीन सर्वोत्तम हास्यरस की कहानियों के नाम मांगे थे, और उन कहानियों का हिन्दी में अनुवाद करने का काम भी मुझ पर सौंपने वाले थे।

इस प्रकार सन् 1928 ई॰ में अनुवाद करने की आज्ञा प्राप्त होने पर मैंने स्व॰ प्रेमचंद जी से उनकी प्रसिद्ध एवं लोक-प्रिय कहानियों के कुछ नाम भेजने के लिए तथा (अनुवाद के लिए) कहानियों के चुनाव के सम्बन्ध में सलाह देने की प्रार्थना की थी। इस विषय में आगे उनसे बहुत-कुछ पत्रव्यवहार होता रहा। यथासयय मैंने अनुवाद का कार्य पूरा किया। सन् 1929 ई॰ के जून में इन अनुवादित कहानियों की पुस्तक 'प्रेमचंदाच्या गोष्टी' (भाग—1) के नाम से पूना के सुप्रसिद्ध चित्रशाला प्रेस से प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में प्रेमचंद जी की निम्न 14 कहानियों का संग्रह किया गया है—

(1) राजा हरदौल, (2) रानी सारन्धा, (3) मन्दिर और मसजिद, (4) एक्ट्रेस, (5) अग्नि-समाधि, (6) विनोद, (7) आत्माराम, (8) सुजान भगत, (9) बूढ़ी काकी, (10) दुर्गा का मन्दिर, (11) शतरंज के खिलाड़ी, (12) पंच परमेश्वर, (13) बड़े घर की बेटी और (14) विध्वंस।

प्रेमचंद जी ने अपने पत्रों में जिन कहानियों के नाम लिख भेजे थे उनमें से कुछ कहानियां मुझे यथासमय न मिल सकने के कारण मैं उनका उपयोग न कर सका।

स्व॰ प्रेमचंद जी के पत्रों से कुछ महत्वपूर्ण उदाहरण यहां दे रहा हूं। इन उदाहरणों से प्रेमचंद जी को अपनी कौन-सी कहानियां विशेष प्रिय थीं और वह अपनी कौन-सी कहानियां सर्वोत्तम मानते थे, इसकी पाठकों को कुछ कल्पना अवश्य हो जायगी।

पत्र संख्या 1

Madhuri office,
N. K Book Depot,
Lucknow.
11-1-1928.

..... you may take up some 12 selected stories form all of my stories. I would advice you to take

(1) आत्माराम, (2) बूढ़ी काकी, (3) पंच परमेश्वर, (4) सुजान भगत, (5) शतरंज के खिलाड़ी, (6) मन्दिर और मसजिद, (7) रानी सारंधा, (8) विक्रमादित्य की कटार,

(9) कामना तरु, (10) डिग्री के रुपये, (11) बड़े घर की बेटी (12) दुर्गा का मन्दिर।

You will find these storise dispersed in all collections, namely प्रेमप्रसून, प्रेमपच्चीसी, प्रेमपूर्णिमा, सप्तसरोज, नवनिधि and the life of *Madhuri*. I am sure this collection will be welcome to the Marathi reading puglic.

पत्र सख्या 2

'माधुरी' कार्यालय,
नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ
16-2-1928

...yes. you may translate the stories. I hope you will get a sufficient number of them in *Madhuri*. You may select some 12 of them and try..... ..If you can get hold of may collections in any library, select पंच परमेश्वर, हरदौल, दुर्गा का मन्दिर, मन्दिर और मस्जिद, कामना तरु, सुजान भगत, सती लैला (Sarsawati), बड़े घर की बेटी etc.

Please let me know whether you have selected and commenced work.

पत्र संख्या 3

Madhuri office,
N. k. Press Book Depot, Lucknow.
4-4-1928

...you may translate *Agni samadhi. Mantra* of other stories appearing in contemporary periodicals. You have asked me to name 12 of may best stories Here is a bit–

(1) राजा हरदौल, (2) रानी सारंधा, (3) सौत, (4) पंच परमेश्वर, (5) आत्माराम, (6) मन्दिर और मसजिद, (7) दुर्गा का मन्दिर, (8) ईश्वरीय न्याय, (9) नामक का दरोगा, (10) सती, (11) कामना तरु, (12) लांछन, (13) मन्त्र।

In my opinion these are the 12 best of my stories. But of course the selection is not final. It is a off-hand.

पत्र संख्या 4

'माधुरी' कार्यालय,
नवलकिशोर प्रेस,
लखनऊ।
23-6-1928

...... I am glad you are proceeding with my stories You will be glad to see 'Aetress' translated in the *'Modern Review'* of this monht. Some of the stories have been translated in Japanese language.

पत्र संख्या 5

Aminuddoula Park.
Lucknow.
2-5-1930.

......yes, you may now take up the 2nd. part. Do you receive *Madhuri* every month? I think 'घर जमाई', 'घासवाली', 'खुचड़' ect. are decent stories. Which collections of mine are with you? I have recently brougth out 'पांच फूल', 5 of my stories. Another collection of *Premkunj*. *Hans* had may 'जुलूस' which was very much liked here. 'मां' appeared in *Madhuri* and was much liked. Is there any library containing all my works? It so, the work of selection would be facilitated. First you may take these *Madhuri* ones.

पत्र संख्या 6

Aminuddoula Park,
Lucknow.
12-5-1930.

'घास वाली' was appreciated gnerally. You include it. One or two other stories too have been much liked these days. But the collections I have mentioned and which will raach you, contain enougth menterial for you. *Hans* is being appreciated but the number of subsceibers is not rising as expected. We are not disheartened, however.

आशा है, उपर्युक्त उद्धरण पाठकों को—विशेषकर स्व॰ प्रेमचंद जी के कथा-साहित्य के प्रेमियों को—मनोरंजक, उद्बोधक एवं कुतूहलवर्द्धक प्रतीत होंगे।

श्री प्रेमचंद जी का कला के प्रति दृष्टिकोण

लेखक—श्री देवीशंकर वाजपेयी

श्रद्धेय प्रेमचंद जी से मेरा व्यक्तिगत परिचय न था—यद्यपि स्वयं कष्ट सहकर की हुई उनकी समाज-सेवाओं से सभी परिचित हैं। भारत के लेखकों ने उन्हें गोर्की तथा हार्डी माना है; मैं इसे साहित्य का अपमान समझता हूं। हां यदि मुझे गोर्की पर कुछ लिखना होता तो मैं उन्हें प्रेमचंद बनाता। मेरे लिए उपमान प्रेमचंद हैं, उपमेय गोर्की या हार्डी, अत: में तो व्यक्तिगत रूप से कुछ श्रद्धांजलि अर्पित कर सकता हूं, और न यही चाहता हूं कि तुलनात्मक दृष्टि से उनका मूल्य आंकूं। साहित्य-प्रेमियों की उन पर 'ममता' थी। हमें तो अपनी ही वस्तु स्वभावत: सर्वश्रेष्ठ लगती है, वहां तुलना का स्थान कहां? पर कला के प्रति उस कलाकार के क्या सिद्धांत थे यही दिखाना

यहां अभीप्सित है।

किसी भी कला का अध्ययन हम उसके विषय, बाह्यरूप, तथा उसके निर्माता के दृष्टिकोण की ओर दृष्टि रखते हुए कर सकते हैं। वैसे तो कला जीवन की अवहेलना करके भी अपना अस्तित्व किसी-न-किसी प्रकार बनाए रख सकती है, पर यदि उसके द्वारा कलाकार को अमर होना है तो उसका विषय जीवन तथा समाज से दूर नहीं जा सकता। श्री प्रेमचंद जी का महत्व हम यहीं से देखने लगते हैं। जब कि आदर्शोन्मुखी चित्तवृत्ति से प्रभावित होकर उन्होंने इस बात का सदैव ध्यान रखा कि उनकी कला समाज के लिए सदैव 'शिवं' के रूप में रहे।

कला के कतिपय समालोचक तथा कलाकार शीघ्र ही बोल उठेंगे कि, पर शिवता को व्यक्त करने का उचित माध्यम कला नहीं। कलाकार शिक्षक नहीं हो सकता। उसे अधिकार है कोई भी विषय चुनने का, दूषित अथवा कल्याणप्रद, यथार्थ अथवा आदर्श। कला को आनन्दोत्पादक होना चाहिए, बस। हां, पर दूषित वातावरण में प्रसन्न होना रुग्ण अन्त:करण का परिचायक है। वैसी कला अधिक-से-अधिक कर्मेन्दियों में क्षणिक कम्पन उत्पन्न कर सकती है पर हमें उसे आनन्द नहीं कह सकते। इतिहास इसका साक्षी है। महान् कुत्सित-जीवन व्यतीत करने वाले मनुष्य में भी जीवन-सन्ध्या की ओर सद्भावों का उदय होता हुआ पाया गया है। एक में नहीं सहस्रों में। तात्पर्य यह कि मानव-जीवन की अमर थाती कलुषित भाव नहीं, वरन् सद्भाव है। जीवन की यथार्थता इसी आदर्शता में है। अत: श्री प्रेमचंद जी का आदर्शवाद को अपना ध्येय बनाना जीवन के मूल तक पहुंचकर जीवन की वास्तविकता को पाना था।

हमारी वास्तविक मनोवृत्ति का वह अध्ययन कर सके थे; हमारा अमर आदर्श ही उनकी कला का यथार्थवाद था और इसीलिए हमारे लिए वह आज अमर हैं। इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि हमारी दृष्टि में अथवा कलाकार की दृष्टि में कलुष तथा बुराइयों का जीवन में कोई स्थान नहीं। श्री प्रेमचंद जी ने प्रत्येक को स्थान दिया। यह सब कलाकार कर सकते हैं; पर उन्होंने वह किया जो बहुत कम कलाकार कर सकते हैं, अर्थात् उन्होंने सबको स्थान दिया पर सबका स्थान उचित था। यदि उन्होंने कुरुचिपूर्ण बातों का समावेश कला में किया तो उनमें इतनी प्रतिभा थी कि वह हमें उनकी ओर लालसा भरी दृष्टि से नहीं वरन् घृणा की दृष्टि से देखने के लिए बाध्य करते हुए जीवन को परिष्कृत बना सके; यदि उन्होंने अन्याय को स्थान दिया तो उसका पक्ष कभी नहीं लिया; क्रूरता की विजय कराकर उन्होंने हमें हताश नहीं किया। उनकी 'सुमन' कुलीन स्त्री को वेश्या नहीं बना सकती, वेश्या अवश्य उनकी दशा पढ़कर पवित्र जीवन व्यतीत करने की आकांक्षा करेंगी।

संसार का कल्याण या तो हम आदर्शों की सृष्टि करके कर सकते हैं या बुराइयों की ओर संकेत करके। प्रेमचंद जी की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी पर वे हमें सबसे प्रिय इसलिए हैं कि हमारी बुराइयों की ओर संकेत करके हमारा उपहास करना उनका उद्देश्य न था। चाहे उन्होंने बुराई का चित्रण किया अथवा अच्छाई का, उनकी समाज के प्रति उपकार की भावना की ओर कोई भी सन्देह भरी दृष्टि से नहीं देख सकता। इसीलिए तो उनकी कला आनन्ददायक भी है और कल्याणकारी भी। किसी समालाचेक ने एक लेखक के विषय में कहा है—'मुझे इस बात पर

आक्षेप नहीं है कि उसने कुत्सित चरित्रों का चित्र खींचा, मुझे आक्षेप इस पर है कि उसने उन्हें घृणा की दृष्टि से नहीं देखा।' श्री प्रेमचंद जी पर ऐसा कोई दोष नहीं लगाया जा सकता।

बाह्यरूप के अन्तर्गत शैली इत्यादि का प्रश्न आता है। श्री प्रेमचंद की शैली का विस्तृत विवेचन करना यहां ध्येय नहीं अत: संक्षेप में उनके विषय में वही कहा जा सकता है कि जो किसी लेखक ने श्रेष्ठ गद्य-लेखक की विशेषताओं को बताते हुए लिखा है–

'लेखक का अभीष्ट हृदयंगत भावों का प्रकटीकरण होता है। अपने इस ध्यये -प्राप्ति की आकांक्षा के कारण उसमें प्रसाद गुण का बाहुल्य रहता है जिससे उसके भाव अस्पष्ट न रह जायं इसका यह तात्पर्य नहीं है कि रचना में अलंकार अथवा भावावेश को स्थान न मिलना चाहिए। जब लेखक अधिक प्रभावित होता है तो उसकी भाषा में कवित्व की एक छटा तथा शक्ति आ जाती है, जब उसका निरीक्षण विस्तृत तथा सूक्ष्म होता है तब उसकी भाषा में चमक तथा स्पष्टता आ जाती है, जब उकसी कल्पना-शक्ति जागृत हाती है तब बहुत ही स्वाभाविक रीति से अलंकृत भाषा उसके मुंह से निकल पड़ती है।' श्री प्रेमचंद की मिश्रित भाषा ऐसे ही अभिप्रायों की पूर्ति करती है। उक्त दृष्टिकोण मानो उन्हीं का दृष्टिकोण था।

व्यक्तित्व तथा व्यक्तिगत बातों में महान् अन्तर है। कला में, जो केवल अपने ही लिए न हो, हम व्यक्तित्व की सत्ता मानते हैं, व्यक्तिगत जीवन की सत्ता नहीं। हममें से प्रत्येक को जीवन में कुछ सुखद तथा कुछ दु:खद अनुभव होते हैं। भावों तथा विचारों के विना मनुष्य एक चलती-फिरती प्रस्तिर-मूर्ति के समान है, पर हमारी इस व्यक्तिगत जीवनचर्या को कला में सीधा स्थान मिलना चाहिए। वास्तविकता यह है कि व्यक्तिगत आशा या निराशा जन्य भाव हमारे व्यक्तित्व पर निरन्तर प्रभाव डालते रहते हैं, –यहां तक कि हम अपना एक विशेष व्यक्तित्व का रूप धारण कर लेते हैं। श्रद्धेय प्रेमचंद की अपनी कठिनाइयों से हम अपरिचित नहीं हैं, उन्हें जीवन में एक नहीं अनेकों दु:ख उठाने पड़े थे, पर–और यहीं पर हमें सजल नेत्र होना पड़ता है–उन्होंने कला को अपनी दु:ख कहानी कहने का आधार कभी नहीं बनाया। उन्होंने लिखा सबसे अधिक पर उनकी रचनाओं से हम सीधे-सीधे उनके व्यक्तिगत जीवन की घटनाएं बहुत कम जान पाते हैं। दूसरी ओर उनके अपने अनुभवों ने उन्हें संसार के दु:खों की ओर सहानुभूति प्रगट करने के लिए कहा। उसमें उन्होंने अपने को 'खो' दिया–सोना अग्नि से निकला और भी दीप्त होकर। उनकी कला द्वारा हम लोगों ने उनका व्यक्तित्व ही देखा, उनका व्यक्तिगत जीवन नहीं।

कला की इससे बड़ी सफलता और कोई नहीं हो सकती। वर्तमान गद्य तथा पद्य के बहुत से भाग जीवित रहने के विषय में जब हम निराशासूचक भाव प्रकट करते हैं तो उसका यही कारण है कि प्राय: लेखक अपना ही रोना रोने में लगे दिखाई पड़ते हैं। श्री प्रेमचंद जी की रचनाओं के अमर होने के विषय में दो सम्मतियां हो ही नहीं सकतीं। रचनाएं उन्होंने कीं पर वास्वत में हैं वे समाज की, मानो समाज ने ही अपने हृदय तथा मस्तिष्क की साकार मूर्ति बनाकर उसे 'प्रेमचंद' नाम दे दिया हो।

प्रेमचंद जी को जैसा हमने देखा

लेखक—श्री बैजनाथ केडिया

बहुत दिनों की बात है, उस समय की जब आज के स्वर्गीय प्रेमचंद जी उर्दू की दुनिया में अपनी लेखनी के चमत्कार दिखाकर पर्याप्त प्रसिद्ध प्राप्त कर चुके थे पर हिन्दी संसार में जो सम्मान उन्हें मिलने वाला था वह अभी भविष्य के गहरे अंधकार में ही छिपा हुआ था।

यह बात ठीक है कि हिन्दी मासिक पत्रों में आपकी कहानियां प्रकाशित होने लगी थीं और हिन्दी पाठक भी इस प्रतिभाशाली लेखक की ओर टकटकी लगाये निहारने लगे थे। पर तब तक श्री प्रेमचंद जी अद्वितीय कहानी लेखक ही माने जाते थे और सो भी समाचार-पत्र संसार में ही।

ऐसे ही समय में भाई महावीरप्रसाद जी पोद्दार के द्वारा हिन्दी पुस्तक एजेंसी का जन्म हुआ और सबसे पहले वे श्री प्रेमचंद जी की सात अनोखी कहानियों का एक संग्रह 'सप्त सरोज' के नाम से लेकर हिन्दी जनता के सामने आये।

हो सकता है, उनकी किसी रचना का अन्य किसी स्थान से भी इसके पूर्व प्रकाशन हुआ हो पर एंजेंसी के द्वारा निकली हुई इस पुस्तक को लोगों ने खूब पसन्द किया और श्री प्रेमचंद जी की लेखनी का उन्होंने पूरा महत्व समझा। इसके बाद उनका कहानी लिखना बराबर जारी रहा। जैसे-जैसे हिन्दी संसार को उनका परिचय होता गया वैसे वैसे उनकी कहानियों की मांग बढ़ती चली गई।

कुछ दिन बाद भारत का वह वर-पुत्र अपना पहला उपन्यास 'सेवासदन' लेकर हिन्दी माता के मन्दिर के द्वार पर उपस्थित हुआ। माता ने उसकी इस अनुपम भेंट को सादर ग्रहण करके उन्हें इस पहली रचना पर ही उपन्यास-सम्राट की उपाधि से विभूषित करके गुण-ग्राहकता का परिचय दिया। सौभाग्यवश एजेंसी को ही मातृ-मन्दिर के दूत की तरह इस भेंट को उन तक पहुंचाने का अवसर प्राप्त हुआ था।

'सेवासदन' के प्रकाशित होते ही हिन्दी संसार में एक हलचल-सी मच गई। बड़े-बड़े विद्वानों के द्वारा इसकी आलोचना प्रति-आलोचना हुई। कोई उनके पक्ष में था और कोई विपक्ष में, परन्तु अन्त में गहरी कसौटियों पर कसे जाकर भी वह खरा उतरा। माता के आदेशानुसार हिन्दी संसार ने इस एक रचना के आधार पर ही उन्हें उपन्यास-सम्राट् मान लिया। फिर तो उनकी दूसरी रचना 'प्रेमाश्रम' के प्रकाशित होते ही मौलिक रचनाओं में उनका स्थान अन्य भाषाओं के अच्छे-से-अच्छे विद्वानों के समकक्ष रखा जाने लगा।

इतना मान मिला, पर जिसको मान मिला उसको इसकी कुछ भी आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। श्री प्रेमचंद जी को देखकर, उनके सम्पर्क में आकर, कोई भी इस बात का सहज में विश्वास नहीं कर सकता था कि यह सीधे-सादे आदमी इतनी ऊंची रचना कर सकते हैं।

इसके बाद की बात है। एक बार काशी जाने का मौका मिला। शायद उस समय तक एजेंसी की शाखा वहां स्थापित नहीं हुई थी। श्री प्रेमचंद जी एक भाड़े का मकान लेकर उस समय काशी में ही रहते थे। मैं उन्हीं के पास ठहरा था। पहले दिन जब मैं वहां गया, मैंने देखा, जिस

व्यक्ति की इतनी ख्याति हो रही है, वह कमरे से बाहर बरामदे में एक चटाई पर बैठे कुछ लिख रहे हैं।

उस समय की उनकी वह सादगी मुझे बहुत ही भाई। जिस मनुष्य में इतनी अधिक सरलता और सीधापन हो यदि उसकी लेखनी से ऐसी ऊंची रचना निकल पड़े तो उसमें आश्चर्य की क्या बात हो सकती है?

मैं भी उनके पास ही वहां उसी चटाई पर बैठ गया। बातों-ही-बातों में नई रचना के विषय में बात चल गई। मैंने पूछा—आजकल क्या लिख रहे हैं? उन्होंने अपने उसी सीधे स्वभाव में उत्तर दिया—यह तीसरा उपन्यास चल रहा है, इसके लिए श्री दुलारेलाल जी को बात दे चुका हूं। मेरी तो ऐसी इच्छा नहीं थी कि एजेंसी के सिवा किसी दूसरी जगह दूं, पर बातों ही बातों में मैंने जबान दे दी।

मैं सच कहता हूं उनकी इस तरह की विवशता देखकर मेरा और कुछ कहने का भी साहस नहीं हुआ। उनकी रचना थी, वह चाहे जिसे देते, तो भी जिस भाषा और शब्दों का उस समय उन्होंने उपयोग किया उसे सुनकर मुझे दु:ख के बदले सुख ही अधिक हुआ।

इसके बाद उनकी एक से एक बढ़कर रचनाएं निकलीं। लोगों ने समझा, था, इस अनमोल खान में रत्नों की कमी नहीं है पर भगवान् को इस अद्भुत खान की समय से बहुत पहले ही आवश्यकता आ पड़ी। उन्होंने हिन्दी संसार की यह अमूल्य वस्तु छीन ली।

उनके स्वर्गवास के कुछ दिन पहले ही फिर उनसे मिलने का अवसर मिला। वे अपने पुराने निवास-स्थान को छोड़कर रामकटोरा के पास एक दूसरे स्थान पर चले गये थे। दोपहर का समय था। कई साल बाद मिलने का मौका मिला। पर आज जो उनकी शारीरिक अवस्था देखी, देखकर मन बहुत दु:खी हुआ।

जिन प्रेमचंद जी के नाम से हिरण खोड़े होते हैं, वह अपनी आयु के अन्तिम दिन इस तरह निराशा में बिता रहे हैं यह बात हिन्दी संसार के लिए शोभा नहीं देती। पर वह मनीषी आत्मा तो उस समय भी अपनी उसी पुरानी मुद्रा में वर्तमान थी।

प्रेमचंद जी चले गये। और भी दो दिन आगे पीछे सबको जाना है। पर हिन्दी भाषियों को जो कुछ वह दे गये हैं वह अमूल्य वस्तु है, और जब तक यह संसार में मौजूद रहेगी प्रेमचंद जी यहीं हमारे बीच में ही विराजमान दिखाई देंगे।

प्रेमचंद जी

लेखक—श्री सद्गुरुशरण अवस्थी, एम० ए०

स्मृति से विस्मृति कम उपयोगी नहीं। विश्व की सब चीजों की तरह स्मृति के भी दो पक्ष हैं। एक पक्ष की उग्रता कभी-कभी दूसरे पक्ष की मृदुता से कहीं वेग वाली होती है। ऐसी दशा में विस्मृति का स्पर्श साम्य स्थापित कर सकता है। यदि भुलावा हमारी सहायता न करें तो प्रेमचंद ऐसे महान् व्यक्ति का विछोह हृदय विदीर्ण कद दे।

प्रेमचंद ऊंचे कलाकार ही न थे, ऊंचे मनुष्य थे। उनके निकट बैठने में अपूर्व स्वच्छ वायु आत्मा तक पहुंचती थी। उनकी सादगी में सरल चढ़ाव था। उनके मन और हृदय की सब कोठरियां खुली रहती थीं। उनमें झांकने की आवश्यकता न पड़ती थी; वह स्वयं सबको झांकती थी। बातें करते-करते उनके नेत्र खिंच जाते थे। वे किसी अमूर्त अस्पष्ट चिन्तना को आकार देने लगते थे। अथवा हृदय के भाव-विभोरता की सहसा उड़ान को ऊपर देखने लगते थे। परन्तु कभी बात करने वाले के साथ अशिष्ट नहीं होते थे। उपेक्षा का तनिक भी आभास न मिलता था। उनकी उस मुद्रा को देखकर कभी-कभी संदेह होने लगता था कि कोई पहुंचा हुआ संत बैठा है।

मैंने जब पहिले-पहल उन्हें देखा तो वे कानपुर मारवाड़ी विद्यालय के प्रधानाध्यापक थे। उनकी उस समय की वेशभूषा में और अंतिम समय की वेशभूषा में थोड़ा अंतर था। मैं बी॰ ए॰ का विद्यार्थी था और 'प्रताप' में स्वर्गीय गणेशशंकर जी का सहकारी सम्पादक। गणेश जी ने ही मेरा परिचय उनसे कराया था। गणेश जी में और प्रेमचंद जी में कई अंशों में साम्य था। दोनों एक ढांचे का एक ही लम्बान-चौड़ान का दुबला शरीर था। दोनों विभूतियों के नेत्रों में ज्योति थी। दोनों के शिरों के केश बिखरे हुए सूखे दिखाई देते थे। प्रेमचंद जी गोरे और गणेश जी सांवले थे। एक बात में और बड़ा साम्य था। मार्ग में दोनों व्यक्ति बड़े जोर से चलने के अभ्यासी थे। गणेश जी के साथ तो चलने का बहुत बार अवकाश मिला, एक बार तो मुझे प्रेमचंद जी के साथ भी चलने का अवसर मिला है। बनारस के सेन्ट्रल जेल में मैं अपने छोटे भाई से मिलने जाया करता था। प्रेमचंद जी का कांग्रेसी कैदियों से बड़ा स्नेह था। जितनी बार मैं काशी गया उनके आग्रह के अनुसार उनसे मिला। एक बार घर से अपने कार्यालय वह मेरे साथ पैदल गये। मुझे उनके साथ चलने में बड़ी कठिनाई हुई।

मेरा और प्रेमचंदजी का अधिक परिचय हम लोगों के मित्र बाबू रघुपतिसहाय के यहां हुआ। वैसे हम एक-दूसरे को पत्र द्वारा काफी जानते थे। एक-दूसरे के साहित्यिक जीवन से परिचित थे। परन्तु इस बार एक साथ तीन दिन तक रहने का अवकाश मिला। हम दोनों संयुक्त-प्रांतीय हिन्दुस्तानी एकेडमी के सदस्य थे और उसी उत्सव में सम्मिलित होने के लिए प्रयाग गये हुए थे। उनके साथ के ये दिन मेरे याद के पृष्ठों में उनके बड़प्पन का अमिट इतिहास लिख गये हैं। प्रेमचंद के जीवन के सब स्वरूपों को ध्यानपूर्वक देखने का अवकाश मुझे मिला। रघुपतिसहाय के एक-एक चुटकुले पर प्रेमचंद जी के कहकहे के बादन फूट पड़ते थे, और वह एक बार नहीं हंसते थे, एक ही बात पर बार-बार हंसते थे। उनके कहकहे के घोष में सारी क्लांति डूब जाती थी।

हम लोगों ने केवल विनोद ही नहीं किया। कला और साहित्य पर काफी विचार-विनिमय हुआ। मुझे उस दिन ज्ञात हुआ कि प्रेमचंद कला-निमार्णक ही नहीं, कला-समीक्षक भी अच्छे हैं। समीक्षा के प्रत्येक स्वरूप के लिए उन्होंने सिद्धांत स्थिर कर रखे थे। सम्भव है, उन्होंने पश्चिम के विद्वानों की कला और समीक्षा की नई पुस्तक को न देखा हो, परन्तु जो कुछ भी वे कहते थे उसमें निजीपन और मौलिकता थी।

सबसे विशेष बात जो प्रेमचंद जी में देखने में आई वह उनकी आत्म-नकार की वृत्ति थी। कभी कहीं भूल से भी उनके मुंह से एक वाक्य नहीं निकला जिसमें थोड़ी भी आत्म-प्रदर्शन

की बात हो। आत्म-विज्ञापन और आत्मश्लाघा तो बहुत दूर की वस्तुएं हैं। उनके पास बैठकर बड़प्पन-जनित दूरत्व का आभास होता था। वह हम सबसे घुल-मिले और हम सबके समान ही दिखाई देते थे, और फिर भी बहुत ऊंचे थे।

मानव-जीवन में उनकी गहरी पैठ थी। एक सहारे से वह बहुत समझ लेते थे। एक बात को वह खूब सुन लेते थे। उनकी सजगता का प्रवाह उबल कर विश्व के कोने-कोने में छलक चुका था। उनकी राग-वृत्ति न जाने कितने स्वरूपों और कितनी घटनाओं में आबद्ध थी। उन्होंने जो कुछ भी देखा, अच्छी तरह देखा। उन्होंने जो कुछ भी सुना, भलीभांति सुना। उनकी ज्ञान-इन्द्रियों की परख में जो कुछ भी आया उसके सार तक वह पहुंच गये और जैसे का तैसा खोल कर रख दिया। उनकी प्रतिबिम्बन-शक्ति वैसे ही निर्मल थी जैसी उनकी प्रक्षिपण-शक्ति।

हमें यहां उनकी कला की समीक्षा करना इष्ट नहीं। वह फुरसत की बात है। हमें तो उनका रूप अब भी दीख जाता है। उनका अट्टाहस कानों में गूंज जाता है। उन्होंने सारे झटकों को सुख के मुस्कान में झेला है। सम्भव है कि कहानी और उपन्यास लेखकों में हमें प्रेमचंद और भी आगे मिल जायं, उनसे भी अच्छे कलाकार मिलें। परन्तु हमें प्रेमचंद नहीं मिल सकते। कला किसी व्यक्ति में जन्म ले सकती है पर कला व्यक्ति को जन्म नहीं दे सकती।

प्रेमचंद की कहानी-कला

लेखक—श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त

कहानी का जन्म पूर्व में हुआ। आजकल भी सिन्दबाद और अलादीन अथवा हितापदेश की कहानियों से हमारा मनोरंजन होता है परन्तु आधुनिक साहित्यिक-गल्प कई शताब्दियों तक पश्चिम की यात्रा कर अब पूर्व का लौटी है मट्सबेरी के कथनानुसार कहानी के चार अंग होते हैं। कथानक (Plot), चरित्र-चित्रण (character) वार्ता (dialougue), और वर्णन अथवा वातावरण (description)। पश्चिम के, विशेषकर इगलैंड के, कहानीकारों का कथानक फूहड़ होता है। चरित्र-चित्रण ही उनका सफल होता है। टैगोर तथा शरत्चन्द्र के उपन्यासों में जो रस मिलता है, वह कभी पश्चिम के बड़े कलाकारों में भी नहां।

यह स्वाभाविक-सी बात मालूम होती है कि पूर्व में फिर उत्कृष्ट कहानी लेखकों का जन्म हो, क्योंकि इस कला में हमारे पूर्वज सदा से निपुण रहे हैं। केलव कहानी का रूप कुछ बदल गया है।

प्रेमचंद ने 'मानसरोवर' के 'प्राक्कथन' में लिखा है—'सबसे उत्तम कहानी वह होती है, जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो। 'प्रेम-द्वादशो' की भूमिका में आपने लिखा है—'वर्तमान आख्यायिका का मुख्य उद्देश्य साहित्यिक रसास्वादन कराना है, और जो कहानी इस उद्देश्य से जितनी दूर जा गिरती है, उतनी ही दूषित समझी जाती है।' प्रेमचंद का विशेष महत्व यह है कि अपने उपन्यास और कहानियों में उन्होंने भारत की आत्मा को सुरक्षित रखा है।

उनकी रचनाओं का स्मरण करते ही भारत के ग्राम, यहां का कृषक वर्ग, उच्च-कुल की ललनाएं, आम और करौंदे के पेड़, यहां के पशु-पक्षी स्मृति-पट पर घूम जाते हैं। आपकी रचनाएं पढ़ कर देश के मनुष्य और पुराने आदर्श हमारी दृष्टि में ऊपर उठ जाते हैं।

प्रेमचंद और सुदर्शन दोनों ही पहले उर्दू में लिखते थे। 'सप्त-सरोज' और 'सेवासदन' का उपहार देकर प्रेमचंद ने हिन्दी साहित्य में प्रवेश किया। इन रचनाओं में जो रस, अनुभूति और प्रतिभा है, उसके आगे प्रेमचंद कभी न बढ़ सके।

उपन्यास और गल्प-भिन्न कला हैं। यह आवश्यक नहीं है कि सफल उपन्सासकार अच्छा गल्प-लेखक भी हो। उपन्यास में जीवन का दिग्दर्शन होता है। गल्प में केवल झांकी मात्र होती है। मानव-चरित्र के किसी एक पहलू पर प्रकाश डालने को, किसी, घटना या वातावरण की सृष्टि के लिए कहानी लिखी जाती है। जीवन के सभी अंगों पर या मानव-चरित्र की सभी जटिलताओं पर कहानी प्रकाश नहीं डाल सकती। प्रेमचंद लिखते हैं–'कहानी में बहुत विस्तृत विश्लेषण की गुन्जायश नही होती। यहां हमारे उद्देश्य संपूर्ण मनुष्य को चित्रित करना नहीं, वरन् उसके चरित्र एक अंग दिखाना है।'

प्रेमचंद सफल उपन्यासकार और गल्प-लेखक थे। इस लेखक में हम उनकी कहानी-कला पर कुछ विचार करेंगे।

2

'सप्त-सरोज' प्रेमचंद का पहला कहानी-संग्रह है। इसके विषय में शरच्चन्द्र ने यह सम्मति दी थी–'गल्पें सचमुच बहुत उत्तम और भावूपर्ण हैं। रवीन्द्र बाबू के साथ इनकी तुलना करना अन्याय और अनुचित साहस है। पर और कोई भी बंगला लेखक इतनी अच्छी गल्पें लिख सकता या नहीं, इसमें सन्देह है।'

रवि बाबू की भाषा में जो माधुरी और रस है, उनकी रचना में जो अनुभूति और पीड़ा है, उसकी समता प्रेमचंद नहीं कर पाते। रवि बाबू विश्वसाहित्य के महारथी हैं। यदि उनकी तुलना में प्रेमचंद बराबर नहीं उतरते, तो हिन्दी के लिए कोई अपमान की बात नहीं।

परन्तु प्रेमचंद की रचना में अनेक गुण हैं, जो और कहीं नहीं मिलते। ग्रामीण कृपकों का हृदय कौन इतनी अच्छी तरह जानता है? गांधी के अतिरिक्त और किसने इतनी तपस्या से ग्राम्य-जग को पहचाना है? 'पंच-परमेश्वर' के अतिरिक्त हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति के ऐक्य का ऐसा चित्रण और कहां मिलेगा?

ग्राम्य-जग का चित्र खींवते हुए आप कहते हैं–'वहां आम के वृक्षों के नीचे किसानों की गाढ़ी कमाई के सुनहरे ढेर लगे हुए थे। चारों ओर भूसे की आंधी-सी उडी रही थी। बैल अनाज दांते थे, और जब चाहते भूसे में मुंह डालकर अनाज का एक गाल खा लेते थे। गांव के बढ़ई और चमार, धोबी और कुम्हार अपना वार्षिक कर उगाहने के लिए जमा थे। एक ओर नट ढोल बजा बजाकर अपने कर्तब दिखा रहा था। कवीश्वर महारा की अतुल काव्य-शक्ति आज उमड़ रही थी।'

–'उपदेश', 'सप्त सरोज।'

इस संग्रह में दो कहानियां तो बड़ी ही उच्चकोटि की हैं : 'बड़े घर की बेटी' और पंच

परमेश्वर'। किसी भी साहित्य को ऐसी रचनाओं पर गर्व हो सकता है।

'बड़े घर की बेटी' छोटे से गांव में आई, जहां न वह रेशमी स्लीपर पहन सकती थी, जहां नाम के लिए कोई सवारी भी न थी। न जमीन पर फर्श, न दीवारों पर चित्र। फिर भी उसने यहां की गृहस्थी सम्हाल ली। एक बार खाना बनाते समय देवर से कहा-सुनी हो गई और उसने खड़ाऊं खींच मारा। वह बहुत रोई। उसके पति भी झल्लाये। घर से अलग होने की नौबत आ गई। अब उसका देवर भी पछता रहा था और आंसू बहा रहा था। आनन्दी पिघली। उसने बीच-बचाव कर शान्ति करवा दी।

मानव स्वाभव का बड़ा मार्मिक और सुन्दर चित्र है। प्रेमचंद की रचनाओं को पढ़कर मनुष्य पर हमारी श्रद्धा बढ़ जाती है। वास्तविकता और आदर्शवाद का सुन्दर सम्मिश्रण रहता है। हम यह कभी नहीं सोचते कि यह चरित्र कल्पना-जग के हैं। उनके वर्णन में वास्तविकता होती है; कहानी का बाह्य रूप जीते-जागते संसार-सा; आत्मा आदर्शपूर्ण।

जो कथा-शैली प्रेमचंद ने यहां अपनाई उसको अन्त तक निभाया। 'बड़े घर की बेटी' एक हद तक कठोर होती चली जाती है, फिर अत्यन्त नम्र हो जाती है। जैसे लोहे की पत्ती जितने जोर से खींची जायगी, उतनी ही वह उचटेगी। या धनुष की प्रत्यञ्चा जितनी ही खींची जायगी उतनी ही दूर वह बाण को फेंकेगी। उनकी इस शैली को गणित की रेखाओं से समझ सकते हैं। एक हद तक कथा का चढ़ाव होता है, फिर वह पीछे हट जाती है।

इसी प्रकार 'पंच-परमेश्वर' भी एक हद तक गिरते हैं, फिर संभल जाते हैं। अभी पिछले पांच-छ: वर्षों में लिखी हुई कहानियों के संग्रह 'मान-सरोवर' में भी इसी शैली की अनेक गल्पें मिलती हैं।

प्रेमचंद में सच्चे साहित्यकार की सब अनुभूतियां थीं। मनुष्य-स्वभाव पर उन्हें श्रद्धा थी। कसौटी पर चढ़ कर मनुष्य सच्चा ही उतरता है। उदहरणार्थ, कुछ बाद की लिखी कहानी, 'इश्वरी न्याय।'

उनकी भाषा-ग्रामीण-जीवन-सी ही सीधी-सादी है। उनकी उपमाएं दैनिक जीवन से ली गई हैं। 'जिस तरह सूखी लकड़ी जल्दी से जल उठती है, उसी तरह क्षुधा से बावला मनुष्य जरा-जरा सी बात पर तिनक उठता है।' (बड़े घर की बेटी) 'अब इस घर से गोदावरी का स्नेहउस पुरानी रस्सी की तरह था जो बार-बार गांठ देने पर भी कहीं-न-कहीं से टूट ही जाती है।' (सौत)

भाषा मुहाविरेदार काफी है। 'पहले घर में दिया जलाते हैं, फिर मस्जिद में।' कहीं-कहीं पर बड़ा कोमल व्यंग है : 'इञ्जिनियरों का ठेकेदारों से कुछ वैसा ही सम्बन्ध है जैसा मधुमक्खियों का फूलों से। यह मधुरस कमीशन कहलाता है। कमीशन और रिश्वत में बड़ा अन्तर है। रिश्वत लोक और परलोक दोनों का ही सर्वनाश कर देती है। उसमें भय है, चोरी है, बदनामी है। मगर कमीशन एक मनोहर वाटिका है, जहां न मनुष्य का डर है, न परमात्मा का भय ।' (सज्जनता का दण्ड)

'सप्त-सरोज' में प्रेमचंद की कहानी कला का जो रूप बना वह अन्त तक बना रहा। इधर कुछ उनमें परिवर्तन होने लगा था, किन्तु अनेक वर्षों तक उनकी कथा के पात्र ऐसे ही वातावरण में ऐसे ही स्वरूप में भ्रमण करते रहे।

3

'नव-निधि' में बहुत करके ऐतिहासिक कहानियां हैं। कहानियां सभी मनोरंजक हैं। किन्तु प्रेमचंद की गल्प-कला इन कहानियों मे उतनी उच्चकोटि की नहीं। कथानक के उतार-चढ़ावे में और चरित्र-चित्रण में लेखक की कल्पना को उतनी स्वतंत्रता नहीं। प्रेमचंद की कहानी-कला का एक विशेष गुण कथानक-गुंफन है। कसीदे के समान घटना का जाल उसकी कल्पना बनाती है किन्तु यहां कल्पना बंध-सी गई है।

ऐतिहासिक कहानी की नस्ल ख़च्चर के समान है। न वह इतिहास ही, न सफल कहानी ही। Leslie Stephen ने उसे hybrid (मिश्रित रक्त की) बताया है। ऐतिहासिक कहानी तब सफल होती है, जब ऐतिहासिक वातावरण में कल्पना के चरित्र विचारें। ऐतिहासिक चरित्रों को लेकर कहानीकार अपनी सब स्वतन्त्रता खो देता है। 'नव-निधि' में धोखा नाम की कहानी सुन्दर है। शायद इसके पात्र और इसका कथानक कल्पित हैं।

'नव-निधि' की पिछली तीन गल्पें 'अमावस्या की रात्रि', 'ममता' और 'पछतावा' प्रतिभापूर्ण हैं इनमें प्रेमचंद की स्वाभाविक कहानी-कला का चमत्कार है। जो शैली उन्होंने 'सप्त-सरोज' में अपनाई थी उसी को सफलतापूर्वक निबाहा है। इनमें मनुष्य के हृदय की, उसके भावों की अच्छी सूझ है।

ऐतिहासिक कहानियां अधिकतर मुगल साम्राज्य के मध्याह्न-काल की हैं। पहली दो कहानियां 'राजा हरदौल' और 'रानी सारन्धा' बुन्देलों की वीरता और आन से ओत-प्रोत हैं। इन कहानियों को पढ़कर मन में राजपूताने की वीर-कथाएं हरी हो जाती हैं।

'प्रेम-पूर्णिमा' में प्रेमचंद की कहानी-कला में कुछ विकास न हुआ। अधिकतर कहानी सुगठित हैं और 'सप्त-सरोज' के पथ पर चली हैं। 'ईश्वरी न्याय', 'शंखनाद', 'दुर्गा का मन्दिर', 'बेटी का धन' आदि कहानी 'पंच-परमेश्वर' और 'बड़े घर की बेटी' जैसी उत्कृष्ट कहानियों से टक्कर लेती हैं। 'शंखनाद' और 'दुर्गा का मन्दिर' तो प्रेमचंद जी ने अपने 'प्रेम-द्वादशी' नामक बारह सर्वोत्तम कहानियों के संग्रह में भी रखा है।

सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर 'सप्त-सरोज' और 'प्रेम-पूर्णिमा' के बीच उनकी कला का कुछ ह्रास ही हुआ। अधिकतर कहानियां पुरानी लिखी हुई जान पड़ीं। अथवा यह हो सकता है कि उनकी कला एक परिपाटी का शिकार होकर उन्नति नहीं कर सकी। जीवित कला सदा प्रगतिशील होती है।

प्रेमचंद का विशेष गुण उनका मनोविज्ञान है। हृदय के सूक्ष्म से सूक्ष्म भाव समझने में वे निपुण हैं। 'ईश्वरीय न्याय', 'दुर्गा का मन्दिर', 'बेटी का धन' आदि गल्पें इसी सूझ के कारण सफल हैं।

जहां ग्राम्य-जग की ओर प्रेमचंद ने मुख मोड़ा है, वहां उन्होंने आशातीत सफलता पाई है। 'शंखनाद' नाम की कहानी में ग्राम्य-जीवन का विशद वर्णन है। पात्रों के नाम तक में ग्रामीणता भरी है। उनके नामों से हमें काफी सन्तोष मिलता है—भानु चौधरी के लड़के वितान, शान और गुमान चौधरी, मिठाई बेचने वाला गुरदीन; गुमान चौधरी का लड़का धान। गुमान के व्यसन—मुहर्रम में ढोल बजाना, मछली फंसाना, दंगल में भाग लेना। इस ग्राम्य-जीवन के चितेरे में अवश्य ही दैवी शक्ति है।

किन्तु बार-बार हमारे मन में उठा है कि प्रेमचंद मध्य-वर्ग के मनुष्यों को नहीं पहचानते, विशेषकर नगर के मध्य-वर्ग को। न इनसे प्रेमचंद को कुछ सहानुभूति ही है। जिस प्रकार ग्राम में इतनी पीड़ा होते हुए भी ग्रामीण के हृदय में उदरता है, उसी तरह अनेक नागरिक भी हृदय की काव्य-तरंगें छिपाये पड़े हैं। रवि बाबू इन्हें खूब पहचानते हैं।

प्रेमचंद की विशेष अ-कृपा उन व्यक्तिओं पर है जो पश्चिम की संस्कृति के दास हो चुके हैं। उन्हें नीति और धर्म का ज्ञान नहीं। 'धर्म-संकट' नाम की कहानी में कामनी को अच्छी-भली अ-सती बना दिया है। जब देश में ऐसी जाग्रति हो रही है और अपनी प्राचीन संस्कृति के प्रति हमारा अनुराग बढ़ रहा है, तब ऐसा दृष्टिकोण स्वाभाविक भी है।

परन्तु कलाकार पर एक विशेष उत्तरदायित्व होता है। कला, धर्म और नीति से भी परे है। 'प्रेम-पूर्णिमा' की कुछ कहानियों से हमें ऐसा भासित हुआ कि यदा-कदा उनकी कला धर्म आदि के आडम्बर से दब गई है। 'सेवा-मार्ग', 'शिकारी राजकुमार' और 'ज्वालामुखी' कुछ इसी प्रकार की कहानियां हैं।

कहानी के इतिहास में नैतिक कथा का स्थान बहुत नीचा है। 'हितोपदेश' और 'ईसॉप' की कथाएं बच्चे ही अधिक चाव से पढ़ते हैं। इसी प्रकार टॉल्स्टॉय ने अपनी कला को हानि पहुंचाई थी।

कभी-कभी तो ईसॉप की कथाओं के नैतिक विचार की भांति प्रेमचंद भी अपनी कहानियों का अन्त भाग मोटे अक्षरों में छापते हैं **'यही ईश्वरी न्याय है'**; **'यह सच्चाई का उपहार है'**, **'यही महातीर्थ है'** आदि।

हिन्दी के सौभग्य से प्रेमचंद की कला का यह रूप अस्थिर था। काल की गति के साथ वह भी गया। धर्म और नीति समय के अनुसार रूप बदल लेते हैं। कला का रूप इन सबसे परे विश्व-व्यापी है।

'प्रेम-पचीसी' नाम के संग्रह में प्रेमचंद की कला में कुछ नए अणु दिखे। इन कहानियों के लिखने के समय सत्याग्रह का बवंडर चल रहा होगा प्रेमचंद के व्यक्तित्व का एक मनोहर अंश उनकी गान्धी-भक्ति है। अपनी कला से जो कुछ देश की सेवा वह कर सके उन्होंने की। 'सुहाग की साड़ी', 'दुस्साहस' आदि राजनीतिक रंग लिए कहानियां हैं। 'आदर्श-विरोध' और 'पशु से मनुष्य' भी इसी गहन समस्या पर विचार हैं। गान्धी आन्दोलन का सुन्दर रूप कला में कनु देसाई ने दिखाया। प्रेमचंद की कला को भी हम इस देश-व्यापी संग्राम की प्रतिध्वनि से अलग नहीं कर सकते।

'मूढ़' और 'नाग-पूजा' में ऐसा लगता है कि शायद प्रेमचंद जादू आदि पर विश्वास करते हों। जीवन में इतने रहस्य भरे पड़े हैं कि मनुष्य की ज्ञान-बुद्धि चकरा जाती है।

प्रेमचंद पशु-जीवन से भली-भांति परिचित हैं। 'स्वत्व-रक्षा' एक घोड़े के चरित्र का दर्शन है। 'पूर्व-संस्कार' में जवाहर नाम के बैल का अच्छा वर्णन है। उनकी कहानियों में ऐसे अनेक उदाहरण मिलेंगे।

'दफ्तरी', 'बौड़म', 'विध्वंस' आदि सूक्ष्म चरित्र-चित्र हैं। इस कला में प्रेमचंद खूब दक्ष हैं। यदि ऐसे चित्र एकत्रित किए जायं तो शायद ही जीवन का कोई अंग इनसे अछूता पाया जाय। 'प्रेम-पचीसी' की सर्वोत्तम कहानियों में 'बूढ़ी काकी' अवश्य गिनी जायगी। यह कहानी बड़ी

सच्ची और मर्मभेदी है। 'लोकमत का सम्मान' उनकी अच्छी कहानियों से टक्कर ले सकती है।

किन्तु प्रेमचंद को शायद 'आत्माराम' अधिक भाती थी। इसे उन्होंने 'प्रेम-द्वादशी' में भी स्थान दिया है। कहानी मनोरंजक है। किन्तु इसकी विशेषता घटना-प्राधान्य है।

इस संग्रह में प्रेमचंद का अपनी कला का पूर्ण अधिकार है। कहानियों में एक प्रकार की सरलता-सी है। किन्तु आशा को लेकर हम 'सप्त-सरोज' छोड़कर उठे थे, वह अभी पूर्ण नहीं हुई। कलाकार किसी एक लकीर का ही फकीर नहीं होता।

'प्रेम-प्रतिमा' नाम के संग्रह में प्रेमचंद ने उस आशा को पूरा किया।

4

'प्रेम-प्रतिमा' की कहानियां हिन्दी के उस जागृति-काल की हैं जब 'माधुरी' के प्रकाशन ने हिन्दी में नव-जीवन-संचार किया था। इन कहानियों में प्रौढ़ता, रस, विनोद सभी हैं।

'मुक्ति-धन', 'डिग्री के रुपये', 'दीक्षा', 'शतरंज के खिलाड़ी' आदि कहानियां उनकी कला के सर्वोच्च शिखर पर हैं। इन कहानियों को पढ़कर ऐसा लगता है कि यह प्रेमचंद के जीवन का मधु-मास था। इन कहानियों में विचित्र स्फूर्ति और हृदय की उमंग है।

'बूढ़ी काकी' में विनोद की झलक है; हृदय की व्यथा भी है। इस संग्रह में अनेक कहानियां ऐसी हैं, जिनमें निरा विनोद-भाव है।

'मनुष्य का परम धर्म', 'गुरु-मन्त्र', 'सत्याग्रह' आदि इसी प्रकार की कहानियां हैं इनमें हिन्दुओं के पूज्य पण्डों का अच्छा खाका खींचा है।

इस संग्रह में प्रेमचंद की भाषा भी खूब निखर गई है। मदिरा का वर्णन देखिये, 'सफेद बिल्लौर के गिलास में बर्फ और सोडावाटर से अंलकृत अरुण-मुखी कामिनी शोभायमान थी।' (दीक्षा) और देखिये–'ऊषा की लालिमा में ज्योत्सना की मनोहर छटा में, खिले हुए गुलाब के ऊपर सूर्य की किरणों से चमकते हुए तुषार-बिन्दु में भी वह सुषमा और शोभा न थी, श्वेत-हिम-मुकुटधारी पर्वतों में भी वह प्राण-प्रद शीतलता न थी, जो बिन्नी अर्थात् बिंध्येश्वरी के विशाल नेत्रों में थी।' (भूत) का प्रवाह काव्यमय हो गया है।

इस संग्रह की अनेक कहानियां मुस्लिम संस्कृति में रंगी हैं–'क्षमा', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'वज्रपात', 'लैला'। प्रेमचंद की शैली इस विषय के सर्वथा अनुकूल है। कुछ उर्दू साहित्य के बन्धन से, कुछ गान्धी के हिन्दू-मुसलिम ऐक्य के पाठ से प्रेमचंद मुसलिम संस्कृति की बड़े आदर की दृष्टि से देखते हैं।

'शतरंज के खिलाड़ी' बड़े ऊंचे दर्जे की कहानी है। इसमें लखनऊ के नवाबी राज्य का सन्ध्या काल-दिखाया है। लेखनी में वही ओज और मार्मिकता है जो हम हसन निज़ामी की पुस्तक 'मुगलों के अन्तिम दिन' में देखते हैं–"वाजिदअली शाह का समय था। लखनऊ विलासिता के रंग में डूबा हुआ था। छोटे-बड़े, अमीर-गरीब सभी विलासिता में डूबे हुए थे। कोई नृत्य और गान की मजलिस सजाता था तो कोई अफीम की पीनक ही मजे लेता था। जीवन के प्रत्येक विभाग में आमोद-प्रमोद का प्राधान्य था। शासन-विभाग में, साहित्य-क्षेत्र में,

सामाजिक व्यवस्था में, कला-कौशल में, उद्योग-धन्धों में, आहार-व्यवहार में, सर्वत्र विलासिता व्याप्त हो रही थी। राजकर्मचारी विषय-वासना में, कविगण प्रेम और विरह के वर्णन में, कारीगर कला-बत्तू और चिकन बनाने में, व्यवसायी सुरमे, इत्र, मिसरी और उपटन का रोजगार करने में लिप्त थे। सभी की आंखों में विलासिता का मद छाया था। संसार में क्या हो रहा है, इसकी किसी को खबर न थी। बटेर लड़ रहे हैं। तीतरों की लड़ाई के लिए पाली बदी जा रही है। कहीं चौसर बिछी हुई है; पौ-बारह का शोर मचा हुआ है। कहीं शतरंज का घोर संग्राम छिड़ा हुआ है। राजा से लेकर रंक तक इसी धुन में मस्त थे। यहां तक कि फकीरों को पैसे मिलते तो वे रोटियां न लेकर अफीम खाते या मदक पीते। शतरंज, ताश गंजीफा खेलने से बुद्धि तीव्र होती है। विचार-शक्ति का विकास होता है, पेचीदा मसलों को सुलझाने की आदत पड़ती है। ये दलीलें जोरों के साथ पेश की जाती थीं।''

'बाबा जी का भोग', 'मनुष्य का परम धर्म' और 'गुरु मन्त्र' प्रेमचंद की शैली में भारी परिर्वतन की द्योतक हैं। भावों के उतार-चढ़ाव, घटना-चक्र-व्यूह मनोवैज्ञानिक गुत्थियां आदि कुछ नहीं। यह जीवन की केवल झांकी मात्र है कहानी-कला का इनसे निकट सम्बन्ध है इन्हें अंग्रेजी में Slices from life कहते हैं। जैनेन्द्र जी ने इसी कला को अपनाया है कभी-कभी तो यह कहानी निबन्ध-मात्र होती हैं। इनका न कुछ आदि है, न अन्त है। केवल वास्तविक जीवन का एक टुकड़ा काट कर आपके सामने रख दिया गया है।

कला के सिद्धान्त को छोड़कर जो रस 'बड़े घर की बेटी' अथवा टैगोर की 'समाप्ति' जैसी कहानियां में है वह जीवन के इन अपूर्ण अवयवों में नहीं।

'मानसरोवर' में इस नवीन शैली की कहानियों यथेष्ट संख्या में हैं, मुफ्त का यश', 'बड़े भाई साहब', 'गृह-नीति', 'ठाकुर का कुआं', 'झांकी', 'आखिरी हीला', 'गिला' इत्यादि। इन कहानियों का अन्त बड़ा स्वाभाविक है। जीवन में मृत्यु, आत्म-हत्या आदि ही नाटक का-सा अन्त नहीं होते। पहली कहानियों में प्रेमचंद ऐसा अन्त बहुधा पसन्द करते थे।

'मानसरोवर' के प्राक्कथन में प्रेमचंद ने कहा है, कि गल्प-लेखकों में विषय और दृष्टिकोण और शैली का अलग-अलग विकास होने लगा है। कहानी जीवन के बहुत निकट आ गई है। उसकी जमीन अब उतनी लम्बी-चौड़ी नहीं है। उसमें कई रसों, कई चरित्रों और कई घटनाओं के लिए अब स्थान नहीं रहा। वह अब केवल एक प्रसंग का, आत्मा की एक झलक का, सजीव स्पर्शी चित्रण है। '

इस शैली की कहानियों में 'गिला' बड़ी सुन्दर है। यह चरित्र-झांकी है। भाषा प्रवाहमय है।

यह स्पष्ट है कि 'मानसरोवर' की रचना के काल में प्रेमचंद अपनी कला के एकछत्र अधिपति थे। 'गो-दान' से यह भावना और भी दृढ़ हो जाती है। 'अलग्योझा', 'ईदगाह' आदि कहानी उनकी रचना के शिखर पर हैं। यह लगभग उसी कोटि की हैं जिसमें शरत् बाबू की कहानी 'बिन्दो का लड़का'। वही स्वाभाविकता, वही सरलता, कथा में वही धाराप्रवाह।

हिन्दी के दुर्भाग्य से जब प्रेमचंद की कला इतनी परिपक्व, उनकी-शैली इतनी पौढ़ और उनकी भाषा इतनी रसमय हो गयी थी, उनका निधन हो गया।

5

कलाकार अपने स्वतन्त्र जग की सृष्टि करता है। वह एक क्षण के लिए प्रेमचंद की सृजित संसार को देखिए।

'यहां कृषक-वृन्द ऋण और कष्ट से मुक्त, सुखी और स्वतन्त्र हैं पूस की रात में वह आग के सामने तापते हुए पूर्वजन्म की कथा कहते हैं और सुख के गाने गाते हैं। जमींदारों का और सरकारी कर्मचारियों का मान-मर्दन हो चुका है। वह किसी अतीतकाल की कथा के समान मिथ्या और दूर हैं। यह राम-राज्य का पुनरागमन है।

'मध्य वर्ग उदार, दयापूर्ण और सुसंस्कृत है। इनके जीवन पर भारत की प्राचीन संस्कृति की छाप है। यहां भारत की आत्मा भारतीय कलेवर में दिखेगी। पश्चिम के नैतिक रंग का यहां नाम-निशान भी नहीं।

'यदि इस संसार में कोई रईस है, तो वह बिड़ला-बन्धुओं की भांति दानी और दयालु हैं।

'इस जग में कोई झगड़ा, कलह और अशान्ति नहीं। यहां हिन्दू और मुस्लिम एक दूसरे की संस्कृति को स्नेह और आदर की दृष्टि से देखते हैं।

यहां आपको सब प्रकार के जीव मिलेंगे। दफ्तरी, धोबी, बौड़म, ओझे, किसान, कहार चमार, किन्तु सब नीयत के साफ और हृदय के उदार।

मुस्लिम संस्कृति के यहां आपको बड़े उच्च आदर्श दीखेंगे। किसी प्रकार दाऊद ने अपने पुत्र की हत्या करने वाले को क्षमा कर दिया, तैमूर का पाषण-हृदय कैसे हमीदा के विचारों से पिघला, लैला के संगीत से किस प्रकार फारस का राजकुमार विमूढ़ होकर फकीर हो गया।

क्या यह जग केवल कल्पना-मात्र है? साम्यवाद के भक्त इस जग में विश्वास नहीं करते। यह गान्धीवाद है। केवल एक आदर्श है। किन्तु कलाकार तो मीठे स्वप्न ही देखा करता है।

श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ने प्रेमचंद को मूक-जनता का प्रतिनिधि कहा है। रवि बाबू और शरद् बाबू से तुलना करने में यदि प्रेमचंद कुछ हल्के उतरते हैं तो यह प्रेमचंद अथवा हिन्दी की कोई मानहानि नहीं। प्रेमचंद का क्षेत्र ग्रामीण जग और किसानों का हृदय है। यहां वे अद्वितीय हैं। किन्तु भावों की जिस गहराई में रवि बाबू अथवा शरद् बाबू पैठते हैं, वह अभी प्रेमचंद की सीमा से बाहर थी।

मनुष्य में प्रेमचंद का अटल विश्वास है अपने संसार में अनेक उदार-चित्त मनुष्यों को उन्होंने बसाया है। अवसर पड़ने पर यह सब बहुत ऊंचे उठ जाते हैं। 'बड़े घर की बेटी', 'पंच-परमेश्वर, अवसर पर कोई नीचा नहीं रहता।

इस प्रकार के चित्रण के लिए स्वयं अपने पास विशाल हृदय होना चाहिए। यही प्रेमचंद की सबसे बड़ी विभूति है।

प्रेमचंद का रचना-रहस्य

लेखक–श्री जगन्नाथप्रसाद शर्मा एम० ए०

प्रत्येक साहित्य में समय-समय पर ऐसे लेखक और कवि हो गए हैं जिन्होंने अपनी रचनाओं में तत्कालीन सामाजिक प्रवृत्तिओं, राष्ट्रीय भावनाओं एवं सदाचार का व्यापक चित्रण किया है। समाज के विभिन्न अवयवों की कालविशेष में कैसी परिस्थिति थी, राजनीतिक क्षेत्र में किस प्रकार अनेक मानसिक विचारों के घात-प्रतिघात चल रहे थे और शासक-शासित का कैसा सम्बन्ध था, और उस समय के व्यष्टि तथा समष्टि के धार्मिक आचरण में किन बाह्य आभ्यन्तरिक प्रवृत्तियों का कैसा प्रभाव पड़ा रहा था–इनका विस्तृत परिचय उनकी कृतियों से प्राप्त होता है।

स्वर्गीय मुन्शी प्रेमचंद जी भी इसी प्रकार के विशिष्ट लेखकों की कोटि में थे। उन्होंने अपने रचना-विस्तार में एकरस होकर सामाजिक, राष्ट्रीय एवं धार्मिक परिस्थितियों का मार्मिक चित्रण किया है। वे वर्तमान काल के सच्चे और सर्वोत्तम प्रतिनिधि थे। कालान्तर में यदि इस समय का इतिहास लुप्त हो जाय और उनकी रचनाएं बची रह सकें तो इन्हीं के आधार पर विचारशील निर्णायक देश की सामाजिक जाग्रति का व्यापक और स्पष्ट आभास प्राप्त कर सकता है। प्रेमचंद जी ने अपने उपन्यासों और कहानियों के कथा-प्रवाह के समयानुसार स्थान-स्थान पर भारतीय समाज के मानसिक चिंतन तथा व्यावहारिक क्रिया-कलाप का यथार्थ चित्रण किया है। इन चित्रों के प्रमाण का योग लेकर भी उनके व्यापक अनुभव और परिपक्व बुद्धि-बल ज्ञान प्राप्त कर सकता है। सामाजिक प्रवृत्तियों के प्रवाह परिवर्तन के मूल में किस समय कैसी भावना काम करती है और उसका परिणाम तत्कालीन व्यवस्था पर कैसा पड़ता है, उसका ज्ञान प्रेमचंद जी को पूरा-पूरा था।

आज भारतवर्ष में शासक-शासिक की स्वच्छन्द प्रवृत्ति अविश्वासपूर्ण एवं कलुषित दिखाई पड़ती है। राजा और प्रजा के बीच व्यापक आन्दोलन हो रहे हैं और राष्ट्रीय जाग्रति दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती जा रही है। जमींदारों और धनिकों में अपने अन्यायपूर्ण पक्ष के प्रति आशंका उत्पन्न होने लगी है। वे समझते हैं कि अर्थ-शोषण की पक्षपात-पूर्ण नीति भविष्य में भयंकर उपद्रव और विरोध खड़ा करेगी। कृषकों और दुर्बल धन-हीनों के संगठन का महत्व वे समझने लगे हैं। इधर असहाय-पक्ष भी यह समझने लगा है कि हमने बहुत सहन किया है अब विरोध और संगठन की परमावश्यकता है। दूसरी ओर मिल मालिकों और मजदूरों का संघर्ष नित्य वृद्धि पाता जा रहा है। परस्पर अविश्वास की मात्रा निरन्तर बढ़ रही है। इस प्रकार धनिक, श्रमिक, राजा-प्रजा एवं भूपति, कृषक–सभी वर्गों में असन्तोष, अविश्वास और स्वार्थ बढ़ने के कारण राष्ट्र में व्यापक आन्दोलन हो रहे हैं, धन-जन की क्षति बढ़ रही है और सर्वत्र अशान्ति दिखाई पड़ती है। राजनीतिक-क्षेत्र की भयावह परिस्थिति का ज्ञान प्रेमचंद जी को पूर्ण रूप से था। 'रंगभूमि', 'कर्मभूमि', 'गो-दान' प्रभृति उपन्यासों में उन्होंने इसके सुन्दर, प्रभावशाली और सर्वथा यथार्थ चित्र खींचे हैं। अन्याय और अत्याचार के विरोध की भावना धीरे-धीरे जनसाधारण में बढ़ रही है। अब शासित पक्ष किस प्रकार भय और शक्ति प्रदर्शन से निर्भय होता जा रहा है और शासक वर्ग भी शासित के संगठन को देखकर भीतर-भीतर सशंक रहता है,

इसका चित्रण भी उन्होंने अनेक प्रकार से किया है। इसी प्रकार प्रेमचंद जी में समयानुसार पुलिस की दुर्बलताओं और उसके निरर्थक कठोर व्यवहार, घूसखोरी, उत्पीड़न-प्रवृत्ति, फौजी सिपाहियों की दुर्बुद्धिपूर्ण उद्दण्डता आदि अनेक विषयों के अनुभवपूर्ण विवरण स्थान-स्थान पर मिलते हैं।

कौटुम्बिक और सामाजिक परिस्थितियों तथा विचार प्रवृत्तियों का निदर्शन भी प्रेमचंद जी ने प्रकृत रूप में किया है। 'सेवा-सदन', 'गबन', 'गो-दान' इत्यादि उपन्यासों और अनेक कहानियों में उन्होंने वर्तमान हिन्दू-समाज के यथार्थ, अनुभूतिपूर्ण और निर्मल चित्र खींचे हैं। नाना विषम परिस्थितियों से आपूर्ण हमारा कौटुम्बिक जीवन कितना कष्टमय है, किस प्रकार मान-मर्यादा के परिपालन में हम अपने धन-धान्य तथा जीवन तक निछावर कर देते हैं, दान-दहेज और वर्तमान वैवाहिक कुरीतियों के कारण हमारे जीवन में कितनी विषमताएं उपस्थित हो जाती हैं, विधवाओं की हिन्दू-समाज में कितनी दुर्दशा तथा अवमानना है, हमारे घरों में नवीनता और प्राचीनता का कैसा निरंतर द्वंद्व चला करता है, अपनी सामाजिक रूढ़ियों के खण्डन-मण्डन में हम कैसे व्यस्त हैं, समाज में आत्म-प्रवंचना का विस्तार कितनी शीघ्रता से बढ़ रहा है—इत्यादि विषयों का विवरण सभी स्थानों पर मिलता है। सामाजिक संस्थाओं का नेतृत्व और नियंत्रण कुरुचिपूर्ण उत्साहहीन, समाज भीरू, स्वार्थी और प्रवंचकों के द्वारा होता है। कहीं-कहीं सौ में एक, चरित्रवान् व्यक्ति भी मिल जाते हैं। प्राय: म्युनिसिपैलिटी और अनाथालयों ऐसी सामाजिक संस्थाओं में अव्यवस्था दिखाई पड़ती है। प्रेमचंद जी ने हमारे समाज के वाग्वीरों पर अच्छे पर सच्चे आक्षेप किये हैं। उन्होंने स्थान-स्थान पर समाज के दुर्बल पक्ष की तीव्र आलोचना भी की है, उसकी समस्याओं की विषमता का चित्रण भी किया है तथा सुधार का अनुमान भी लगाया है।

प्रेमचंद जी की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है—भारतीय संस्कृति का प्रतिपादन। इसके साथ ही वे मर्यादा और आदर्शवाद की स्थापना में भी दत्तचित्त थे, क्योंकि उनका अटल विश्वास था कि किसी समाज और राष्ट्र की उन्नति तभी हो सकती है जब वह अपनी संस्कृति, सदाचार एवं आदर्श को अपनाने की सदैव चेष्टा करता रहे। इस विषय में—'स्वधर्मे निधनं श्रेय: परधर्मो भयावह:' ही उसका मूल मंत्र था। इसी का विस्तारपूर्वक चित्रण उन्होंने अपनी कहानियों तथा अपने उपन्यासों में किया है। वर्तमान भारतवर्ष में पूर्वी और पश्चिमी संस्कृतियों का संघर्ष चल रहा है इस संघर्ष में हम बार-बार बाह्य प्रलोभनों की तड़क-भड़क से आपूर्ण पश्चिमी-सभ्यता की ओर लालायित होकर बढ़ते हैं, परन्तु उसकी अनुपयुक्तता और खोखलापन देखकर संकुचित हो जाते हैं। उसके असत् आडम्बर हमें खींचते हैं और हम अपनापन त्याग कर उनके आकर्षण में पड़ जाते हैं। इसका प्रधान कारण यह है कि हम अपने को हेय समझते हैं और अपनीसंस्कृति,अपने आचार-विचार, अपनी रीति-नीति, अपने खान-पान, रहन-सहन, धर्म-आदर्श इत्यादि पर विचार करने के पूर्व ही उसे समय के प्रतिकूल और अमंगलकारी मान लेत हैं।

प्रेमचंद का यह विश्वास था कि हमारी अवनति का प्रधान हेतु यही है कि हम अपनेपन का सम्मान करना नहीं जानते, अपनी विभूतियों और महानता की उपेक्षा करते हैं, और दूसरों के कांच के टुकड़े को देखकर अपने हीरे फेंक बैठते हैं। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है—'यूरोप और भारतवर्ष की आत्मा में बहुत अन्तर है। यूरोप की दृष्टि सुंदर पर पड़ती है; भारत

की सत्य पर। सम्पन्न यूरोप मनोरंजन के लिए गल्प लिखे; लेकिन भारतवर्ष कभी इस आदर्श को स्वीकार नहीं कर सकता। नीति और धर्म हमारे जीवन के प्राण हैं। पराधीन हैं; लेकिन हमारी सभ्यता पाश्चत्य सभ्यता से कहीं ऊंची है। यथार्थ पर निगाह रखने वाला यूरोप, हम आदर्शवादियों से जीवन-संग्राम में बाजी भले ही क्यों न ले जाय, हम अपने परंपरागत संस्कारों का आधार नहीं त्याग सकते। साहित्य में भी हमें अपनी आत्मा की रक्षा करनी ही होगी। हमने उपन्यास और गल्प का कलेवर यूरोप से लिया है लेकिन हमें इसका प्रयत्न करना होगा कि उस कलेवर में भारतीय आत्मा सुरक्षित रहे।' 'इतना मैं कह सकता हूं कि मैंने नवीन कलेवर में भारतीय-आत्मा को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया है।' यही प्रेमचंद जी की रचनाओं का मूलमंत्र है और इसी विचार के आधार पर उनकी कहानियों और उपन्यासों का आकार-प्रकार खड़ा है। किसी-किसी कहानी में तो उन्होंने केवल यही व्यंजित किया है कि अपनी संस्कृति ही कल्याणकारिणी हो सकती है, जैसे–'शान्ति', 'दो सखियां' और 'सोहाग का शव'। इसी सिद्धान्त के प्रतिपादन के निमित्त उन्होंने अनेक उपन्यासों और कहानियों के निभिन्न चरित्रों का चित्रण किया है। यही उनकी सम्पूर्ण रचना का रहस्य है।

सन्तोष जीवन का सबसे बड़ा धन

लेखक–श्री केशरीकिशोर शरण, एम० ए०

1931, नवम्बर की 21वीं तारीख। शाम का वक्त साढ़े छ: बजे पश्चिम से आने वाली एक्सप्रेस पटना जंक्शन पर अभी लगी हुई थी। प्रेमचंद जी आज पटना आने वाले थे और उन्हीं के स्वागत के लिए हम लोग स्टोशन पहुंचे हुए थे, परन्तु हममें से किसी ने उन्हें देखा न था, इसलिए बड़ी चिन्ता थी, उन्हें कैसे पहचाना जायगा। 'हिन्दी भाषा और साहित्य' का प्रथम संस्करण हाल में ही निकला था। उनमें प्रेमचंदजी की एक तस्वीर थी। चौड़ा, गोल मुंह, उभरा हुआ ललाट; बड़ी-बड़ी धनुषाकार घनी मूंछें। पोशक भी सोफियाना थी। फ्लैनेल का पैंट, मफलर और कोट। इसी तस्वीर को लेकर हम लोग स्टेशन पर आये थे। प्रेमचंद जी जैसे महान् कलाकार की रूप-रेखा हमारे मन में इससे कहीं अधिक भड़कदार और रोबीली थी।

रेलगाड़ी आई और सेकेंड क्लास, इंटर, फर्स्ट क्लास के सभी डब्बे हम लोगों ने देख लिए पर हमारे अनुमान का कोई आदमी नजर नहीं आया। तब थर्ड क्लास की बारी आई। गाड़ी का डब्बा-डब्बा हम लोगों ने छान डाला; पर मुसाफिरों में कोई हिन्दी का औपन्यासिक सम्राट् न निकला। रेलवे-मेल-सर्विस के आफिस के पास अचानक उसी शक्ल और पोशाक का एक मुसाफिर दीख पड़ा। हम लोग दौड़कर उसके पास जा पहुंचे। 'क्यों जनाब आप लखनऊ से आ रहे हैं?'

'नहीं तो?'

हमारे बेतुके प्रश्न पर वह कुछ झुंझला से पड़े और हम लोग अपनी झेंप मिटाने के लिए मुसाफिरों की जमात में फुर्ती से मिल गए।

और वह सज्जन प्लैटफॉर्म पार कर रेवले लाइन की बगल-बगल सीधे जाने लगे। थोड़ा-सा सफरी सामान था जो एक कुली के सिर पर था।

गाड़ी चली गई तो हम लोगों ने सोचा, उनसे यह तो पूछा ही न गया कि आप प्रेमचंद हैं? मुमकिन है, प्रेमचंद जी लखनऊ से न होकर बनारस से आ रहे हों।

हम लोग फिर दौड़ पड़े और गुमटी के पास जाकर उन्हें रोका—क्यों जनाब, आप बनारस से आ रहे हैं?

अबके वह हंस पड़े। उन्होंने पूछा—आखिर बात क्या है?

'प्रेमचंद इसी गाड़ी से आने वाले थे और उनका चेहरा आपसे मिलता-जुलता-सा है। क्षमा कीजिएगा।'

'मैं प्रेमचंद नहीं हूं।'

और वह चल पड़े।

दो घंटे बाद पंजाब की मेल आई। इस बार भी हम लोगों ने बड़ी तत्परता के साथ खोज की। तीन-चार साहब उतरे, दो एक हिन्दुस्तानी भी—मतलब, हिन्दुस्तानी लिबास वाले, पर उनमें से कोई हमारी कल्पना का, हमारी किताब की तस्वीर का प्रेमचंद न निकला।

सभी मित्र हताश और निरुत्साह घर लौट चले। मेरी आंखों तले अंधेरा छा गया। पटना हिन्दी-साहित्य-परिषद् का मंत्री मैं था, मेरे ही निमंत्रण पर प्रेमचंद जी आने वाले थे। शहर में इसकी बड़ी धूम थी। विज्ञापन भी खूब किया गया था। अब अगर वह नहीं आये तो जनता को मैं कैसे मुंह दिखलाऊंगा। एक तो पटना जैसी मनहूस जगह पर साहित्यिकों की अकृपा बराबर रहती है, कभी कोई साहित्यिक यहां नहीं आता, फिर प्रेमचंद जैसे व्यक्ति का आना तो बिल्कुल असंभव था। उन्हें पटना के निवासियों ने कई बार बुलाया था, पर वह बराबर अस्वीकार कर देते थे, फिर भी, मेरी मेहनत पर लोगों को भरोसा था, और इसीलिए लोगों को विश्वास था कि प्रेमचंद अवश्य आयेंगे। आज यह विश्वास भी जाता रहा। मैं इसी उधेड़-बुन में रात भर बेचैन रहा। तबियत रह-रहकर झुंझला उठती थी। प्रेमचंद जैसे सहृदय, गरीबों के सहायक, निरीहों के हमदर्द कलाकार मेरी बेबसी और बदनामी की कल्पना नहीं कर सके। अफसोस !

रविवार की शाम को बैठक थी और सबेरे 6 बजे के करीब एक एक्सप्रेस आती थी। बस यही आखिरी आसरा था। स्टेशन पर ठीक वक्त पर पहुंचा। श्री कृष्णगोपाल अवस्थी भी आ गये थे।

ट्रेन आई, लगी और चली गई। सैकड़ों आदमी उतरे और चढ़े पर प्रेमचंद नहीं आये, नहीं आये। हम दोनों मुसाफिरखाने की तरफ बढ़े। देखा, सीढ़ी के पास के अधवयस सज्जन जिनके बाल कुछ सुफैद हो चले थे और सफर की थकावट से जी कुछ खिन्न-से हो रहे थे, गुम-सुम खड़े हैं और कुली उनका ट्रंक सर पर और बिस्तरा हाथ में लिए पूछ रहा है—बाबू, कहां चलें?

इस मुसाफिर को कल रात ही को पंजाब मेल से उतरते देखा था, नजदीक जाकर पुछा—क्यों जनाब, आप लखनऊ से आ रहे हैं?

'हां भाई, लखनऊ से ही आ रहा हूं।'

'आप प्रेमचंद जी हैं?'

'हां, प्रेमचंद हूं।'

स्वर उनका कुछ कठोर हो पड़ा था। मैंने प्रणाम कहते हुए उनके हाथ से मैले खद्दर के रूमाल में बंधे पीतल के लोटे को ले लिया और अत्यन्त ग्लानि के साथ कहा—मैं केशरीकिशोर हूं।

उनके चेहरे पर किंचित क्रोध, किंचित संतोष और प्रसन्नता की रेखा एक साथ ही झलक पड़ी कोई शब्द उनके मुंह से न निकला। तब तक फिटन आ लगी। और हम तीनों उस पर चढ़ बैठे। कुली को पैसे देकर मेरे मित्र ने बिदा कर दिया और फिटन चल पड़ी।

मेरा मन गर्व से, खुशी से, संकोच और ग्लानि से ऐसा भर गया था कि मैं यह भी न पूछ सका—रास्ते में कोई तकलीफ तो न हुई?

तब तक वह भी कुछ स्थिर और संतुष्ट-से दीख पड़े।

हिम्मत बढ़ी। पूछा—रास्ते में कोई तकलीफ तो नहीं हुई?

'तकलीफ? मैं तो रातभर इसी पशोपेश में पड़ा रहा कि रहूं या लौट जाऊं। रात पंजाब मेल से उतरा। आप लोगों के दर्शन नहीं हुए तो मुसाफिरखाने में जाकर पड़ रहा। तबियत बहुत झुंझला रही थी। जब यहां कोई पूछने वाला नहीं तो किसलिए ठहरूं? ढ़ाई बजे रात की गाड़ी म लौट चलने की इच्छा हुई। रिटर्न टिकट था ही। प्लैटफार्म पर गया, गाड़ी आ लगी। पर चढ़ नहीं सका। सोचा, तुम्हें दु:ख होगा '

उनके इस स्नेह को पाकर मैं निहाल हो गया। मेरे मुंह से अचानक निकल पड़ा—'आप पंजाब मेल से उतरे लेकिन मैं पहचान नहीं सका।'

'वही तो मैं कहता हूं'—उनकी आवाज कुछ तीव्र हो पड़ी—'जब तुम लोग मुझे नहीं पहचानते थे और न मैं तुम्हें, तो प्रेमचंद कहकर पुकारते। इमसे मेरी इज्जत थोड़े कम हो जाती।'

मैं क्या जवाब देता। चुप ही रहा।

प्रेमचंद जी मेरे आमंत्रित थे। मैं उन्हें अपने यहां ठहराना चाहता था और पटना के कई बड़े-बड़े लोगों का आग्रह था, मैं उन्हें उनके यहां ठहराऊं। इच्छा तो मेरी नहीं थी फिर भी उनके मन की थाह लेने की गरज से मैंने पूछा—आप डा हरिचन्द शास्त्री के यहां ठहरेंगे या मेरी सेवा स्वीकार करेंगे? (डाक्टर साहब पटना कॉलेज हिन्दी-साहित्य-परिषद् के सभापति थे।)

'मुझे डाक्टर के साथ क्या करना है?' उन्होंने तुरंत जवाब दिया—'मैं तुम्हारे बुलाने से आया हूं और तुम्हारे ही यहां ठहरूंगा।'

मुझे मुंहमांगी मुराद मिल गई।

घर पहुंचे। थोड़ी देर आराम करने के बाद वह मेरी पढ़ने की पुस्तकें देखने लगे। मैं तो जानता ही था। कुछ तो सचमुच मेरी पढ़ने वाली किताबें थीं और कुछ उन पर रोब गालिब करने के लिए दूसरों से मांगकर सजा रखी थीं।

देश-विदेश के कुछ चुने हुए उपन्यास थे और आलोचना की पुस्तकें थीं। उन्हें देख कर बहुत प्रसन्न हुए। बोले—खूब पढ़ा करो। तुम्हारी आलोचनाओं को बड़े ध्यान से पढ़ता हूं

"लेकिन आप तो आलोचनाओं को पसंद नहीं करते। आप तो कहते हैं–'असफल लेखक समालोचक बन बैठा।" (वह वाक्य उनके 'सेवासदन' का था। उसी पर मेरा संकेत था।)

वह हंस पड़े।

'इसीलिए न कहता हूं, खूब पढ़ा करो। हिन्दी वालों में यही मर्ज है कि वह अध्ययन बिल्कुल नहीं करते।'

और जब शेल्फ में से एक किताब निकाल कर पढ़ने लगे–Forester की Aspects of the Novel। और मैं सभा का प्रबंध करने के लिए कॉलेज चला गया। डेढ़ घंटे बाद लौटकर आया तो देखा ढ़ाई सौ पृष्ठ की पुस्त समाप्त कर वह मुझसे उस पर 'डिस्कशन' (विवाद) के लिए तैयार बैठे हैं।

मैं बगलें झांकने लगा। एक तो मेरा अध्ययन उतना गहरा नहीं, दस-बीस किताबें पढ़ ही लेने से मैं कोई विद्वान तो नहीं हो गया, पर फिर उपन्यास-कला पर बहस करूं उनसे जिनकी रचनाओं के आधार पर ही उपन्यास-कला की इमारत खड़ी होती है।

मैंने पिंड छुड़ाना चाहा। कहा–चलिए ड्रॉइगरूम में बैठा जाय। यहां कुछ सर्दी-सी लग रही है।

वे ड्राइंग रूम में चले आए पर रेशम के गद्देदार कुर्सियों को देखकर अनायास बोल पड़े–यह सब सिर्फ हाय-हाय है।

मैंने पूछा–क्यों?

'रहे तब भी हिफाजत की चिंता, नष्ट हो जाय तब भी चिंता। मनुष्य को इस चिंता से बचना चाहिए। जिन्दगी में अपना ही दु:ख कौन कम है कि नई बला मोल लें। '

इसी समय मेरे भाई साहब आ गये। आप पटना विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र और राजनीति के प्रोफेसर हैं। विलायत के पढ़े हुए। उनसे राजनीति पर बहस छिड़ गई। मुझे खुशी हुई, उपन्यास कला की विवेचना से तो नजात मिली। चुपके से खिसक गया। प्रेमचंद जी कोरे उपन्यास लेखक न थे। वह पॉलिटिक्स भी अच्छी जानते थे। इस विषय में उनकी पहुंच देखकर मेरे भाई ने मुझसे कहा–Premchand seems to be an all-round scholar.

दोहपर को पटना म्यूजियम देखने के लिए हम लोग चल पड़े। मौर्य-काल और गुप्त-काल के शिलालेख, मूर्तियां, बर्तन, सिक्के वगैरह सब दिखलाए। वह बच्चों की तरह उन चीजों को देखते जा रहे थे। कौतुहल उन्हें कुछ होता था, पर कोई खास दिलचस्पी उन्होंने नहीं दिखलाई। हां, जब स्वास्थ्य विभाग की ओर गए और बिहार के गावों की मिट्टी का बनाया हुआ स्केच देखा तो रम गए। कोल-भीलों की पारिवारिक मूर्तियों को भी बड़े गौर से देखने लगे और बोले–हमें इन समस्याओं की ओर ध्यान देना चाहिए। इन जंगली लोगों को सभ्य बनाना चाहिए। हजार वर्ष पहले की मिट्टी में गड़ी हुई चीजों से हमें क्या लाभ? हमें तो वर्तमान की रक्षा का प्रश्न हल करना चाहिए।

जब हम वहां से वापस होने लगे तो वह बोले–आज तुम्हारे कॉलेज के कुछ लड़के आए थे, सन्देश के लिए। मैंने बतलाया–सन्तोष ही जीवन का सबसे बड़ा धन है।

'क्यों, नहीं?' उन्होंने मेरी अविश्वास जैसी मुद्रा को देखकर पूछा–कभी इस पर तुमने गौर किया है? बात छोटी-सी मालूम होती है लेकिन बड़े होकर जानोगे, यह कितना बड़ा सत्य है।

मैं कैसे नाहीं करता, पर मुंह से निकल ही गया–सन्तोष से तो जीवन की क्रिया-शक्ति ही नष्ट हो जायगी। मेरी समझ में तो यह अभाव है, आकांक्षा और असन्तोष की आग है जिससे क्रान्ति होती है, आन्दोलन होते हैं। सन्तोष से जीवन निश्चेष्ट हो जायगा। और निश्चेष्ट जीवन और मृत्यु में क्या अन्तर है?

वह गम्भीर हो गए। कुछ देर तक मेरी बात पर गौर करते रहे और बोले–सामूहिक रूप से असन्तोष अच्छा है, पर मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन में असन्तोष का फल अच्छा नहीं होता। आन्दोलन के नेताओं को ही देखो–वह निस्पृह रूप से काम करते हैं। वह जानते हैं, उनके छोटे जीवन में उनका आन्दोलन सफल नहीं हो सकता, फिर भी उन्हें सन्तोष है, वह अपना काम तो कर रहे हैं। जननी जन्मभूमि की रक्षा में अपनी जान तो दे रहे हैं। यही सन्तोष उनका सबसे बड़ा बल है।

प्रेमचंद जी का शुभागमन एक अपूर्व घटना थी। पटने के लिए वह दिन सोने के अक्षरों में लिखा जाने लायक था। जनता की अपार भीड़, उत्सुकता, श्रद्धा और भक्ति देखकर प्रेमचंद जी भी विह्वल हो गऐ थे। उन्होंने कहा–बिहारियों का हृदय सचमुम महान् है। उनकी जैसी दरियादिली मुझे कहीं न मिली। यू॰ पी॰ में भी मीटिंग होती हैं। बड़े-बड़े विद्वान् आते हैं। पर उपस्थिति सौ-दो सौ से अधिक नहीं होती। हां, तमाशे, की बात मैं नहीं कहता।

प्रेमचंद पटने से प्रसन्न बिदा हुए, और मुझे सर्वदा के लिए आत्मीयता के पाश में बांध गए। तब से गत छः वर्ष का हमारा सम्बन्ध संस्मरण की चीज नहीं, मेरे जीवन का इतिहास है। हर साल पूजा की छुट्टियों में मैं बनारस जाया करता था। और उनसे बराबर मिलता। एक बार उन्होंने अगस्त में लिखा था–'पूजा की छुट्टियां तो अभी बहुत दूर हैं, लेकिन अभी मैं तुम्हारी बाट जो रहा हूं।'

कहानी लेखक प्रेमचंद से भी बढ़कर प्रिय मनुष्य प्रेमचंद थे। उनके जैसा निस्पृह, उदार सद्भावना और संवेदना से पूर्ण मनुष्य मुझे नहीं मिला। बड़े लोगों ने एक जबर्दस्त ऐब होता है। दूर से उनका व्यक्तित्व बड़ा आकर्षक और प्रभावोत्पादक प्रतीत होता है। परन्तु उनके समीप आने ही उनका भीतरी राज खुलने लगता है और उनके 'अहम्' को देखकर श्रद्धा के बदले घृणा उत्पन्न हो जाती है। प्रेमचंद जी का बाहर-भीरत एक समान था। उनसे घनिष्टता बढ़ने पर, उनके हृदय की गहराई के खुलने पर, प्रशंसा, श्रद्धा और भक्ति से मस्तक अनायास झुक जाता था। बाह्य से भी सरल, सच्चाई से भरी हुई, आडम्बर-शून्य उनकी आत्मा थी।

प्रेमचंद के निधन से सारा राष्ट्र संतप्त है। उनके बिना हिन्दी अकिंचन सामर्थ्य-विहीन और श्रीहीन है। पर उससे भी अधिक अकिंचन, निरीह और निरुपाय मैं अपने को पा रहा हूं। उन्हीं की वरद-छाया में मुझे-फूलने-फलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। अब वह नहीं रहे तो मैं कहीं का न रहा। लेकिन अपनी बदनसीबी पर बैठकर आंसू बहाऊं?

अभाव, उपेक्षा और असहिष्णुता का ठुकराया हुआ वह प्राणी मरते दम तक सन्तोष का

संदेश सुनाता गया।

आओ, उसके शोकाकुल स्वजनों के साथ अपने प्राणों का क्रंदन मिलाकर अपनी आंखों के उमड़ते हुए, अश्रुप्रवाह को रोकर रुंधी हुई आवाज से उसी के स्वर में कहें–

'संतोष जीवन का सबसे बड़ा धन है।'

मानव-हृदय के कवि

लेखक–श्री वीरेश्वरसिंह एम० ए०, एल० एल० बी०

उस अनोखे चांद के सामने आज राहु-सा यह 'स्वर्गीय लगाते हुए लेखनी विलप उठती है। विश्वास जड़ हो गया है, सारी भावनाएं, सारे विचार आहत और स्तम्भित हैं। यह सब क्या है? यह सब जो हमारे चारों ओर फैला हुआ है, यह जो बोल रहा है, और यह जो इस मिट्टी के ऊपर अंधकार और असहायता-सा छाया हुआ है? मेरे भाई, मैं तुमसे पूछता हूं कि जिसके संसार-व्यथित मस्तिष्क को उसने यों सहलाया और हंसाया, जिसके हारते हुए हृदय को उसने साहस और शक्ति दी; मेरी बहिन, तुम्हीं बताओ कि जिसकी मूक-व्यथाओं को उसने जबान दी, जिसकी रोती आंखों को अपने प्रेम-भरे फटे दामन से पोंछ कर, पद-दलित गौरव को उसने फिर से उठाने का प्रयत्न किया, मेरे किसान तुम्हीं कह दो कि जिसकी तरस की उसने तस्वीर खींच दी, पसीने की बूंदों को मोतियों-सा पिरोया, और जिन्दगी के खून से सींचे हुए उन खेतों के दानों को दुनिया की अन्धी आंखों के सामने सोने-सा तौलकर बता दिया–तुम्हीं बताओ कि अब हम क्यों मानें, और किसे और क्या न मानें?–इस दगाबाज जीवन को, उस बेहरम मौत को या उसको जिसके बाणों ने रावण को मारा पर हमारे दु:ख को न मार सका? इन गरीब आंखों के सहारे खोखले आसमान से टंगे हुए मानव-जीवन की अकथ दैन्यता की कहानी कौन कह सकता है? केवल एक वस्तु इस जीवन में सत्य है–आंसू, केवल एक वस्तु इस सृष्टि में अमर है–मृत्यु, केवल एक वस्तु झूठी है–दुनिया!–बाकी सब एक तूफान है, परेशानी है, ख्वाब है।

फिर भी क्या हमें रोना चाहिए–उसके लिए जो अग्नि-सा तपा, सोने-सा निखरा, और उठा कर उठ गया? शक्तिवान् हिन्दी के उज्ज्वल, बढ़ते हुए, और अमर प्रवाह में वह केवल गति बनकर मिल गया। उसके गर्वीले रव को सुनो और समझो। नहीं, वह मरा नहीं है–इन आंखों से नहीं, उसे उन आंखों से देखो जिससे वह देखने की नीधि थी। वह जीवित है, क्योंकि हमारी हिन्दी जीवित है।

मैं नहीं रोता–इन कच्चे मोतियों से उस कोहिनूर की क्या स्मृति-पूजा हो सकती है? मैं जानता हूं कि इन आंसुओं से यदि भरेगा तो केवल उसी का खजाना जो हमें लूटता है–सिंचेगा तो केवल उसी निर्दयी का बाग जो हमें उजाड़ देता है ।

करीब एक साल से मुझसे और प्रेमचंद जी से कोई पत्र-व्यवहार न हुआ था। यानी इसकी कोई आवश्यकता ही न पड़ी थी। लेकिन दूसरी सितम्बर को सुबह की डाक से एक लिफाफा मिला

उत्सुकता के साथ खोलकर पढ़ा–

प्रिय वीरेश्वर,

भाई, मैं तो बुरा पड़ गया। इधर दो महीने से ज्यादा हो गये चारपई पर पड़ा हुआ हू। इस समय तो दो-तीन मर्जों से मुबतिला हूं। लीवर अलग खराब है, पेचिश हो रही है। तथा पेट में भी कुछ पानी आ गया है

आज 'भारत' में तुम्हारा लेख पढ़वाकर सुना। बड़ी तकलीफ में था, लेकिन फिर भी कुछ आराम ही मिला। बड़ा अच्छा लेख है।

'हंस' अब मैं जमानत देकर निकाल रहा हूं। सितम्बर का अंक प्रेस में है। अब यदि तुम अपनी कोई छोटी-सी भी चीज भेज दोगे तो बड़ा अच्छा होगा। इस अंक में मैटर की बड़ी कमी पड़ रही है। यदि जल्दी ही भेजोगे तभी उसका कुछ फायदा होगा। वैसे तो कभी भी तुम्हारी चीज के लिए स्थान है। जैनेन्द्र को मैंने साथ ले लिया है, तथा वे ही कुछ करेंगे, क्योंकि मैं तो अभी कुछ करने-धरने लायक हू नहीं।

शुभाकांक्षी,
प्रेमचन्द।

–फिर तारीख १४ सितम्बर का एक और छोटा-सा खत मिला–

प्रिय वीरेश्वर,

तुम्हारी कहानी 'काजल' और पत्र कुछ समय पहले मिले थे।

मैं तो अब बेहद कमजोर हो गया हूं। उठ-बैठ भी नहीं सकता। लेकिन मर्ज घट रहा है। डाक्टर का कहना है कि 15 दिन में मर्ज बिल्कुल घट जायगा। फिर भी अच्छा होने में बड़ा समय लगगा।

आशीर्वाद।

शुभाकांक्षी,
प्रेमचन्द।

यह 'आशीर्वाद' कैसा? इससे पहले के पत्र में ऐसी समाप्ति न थी, और न मुझे याद पड़ता है कि मेरे और किसी पत्र में उन्होंने ऐसा अचानक, एकाकी, ढुलक पड़ हुए एक अश्रु-सा 'आशीर्वाद' लिखा हो। उनके स्नेहपूर्ण पत्र स्वयं ही उनका हृदय व्यक्त कर देते थे लेकिन यह 'आशीर्वाद'! आज सोचता हूं तो मालूम पड़ता है कि उस अगम अगोचर के हाथ पकड़कर उनसे यह 'आशीर्वाद'! लिखवा दिया था। यह उनका अन्तिम पत्र था।

यह 16 सितम्बर, सन् '36 का पत्र था। मैंने उत्तर दिया कि ईश्वर करे आप शीघ्र स्वास्थ्य-लाभ करें लेकिन ईश्वर कहां? ईश्वर तो इसी कातर मन का भूत है! मौत सामने खड़ी हो तो फिर कौन बैठा रह सकता है? मैं प्रतीक्षा ही कर रहा था कि अब खबर आती होगी खबर आई भी तो अखबार के काले पृष्ठ पर।

श्री प्रेमचंद जी का जीवन सेवा तथा प्रेम का महान् स्तोत्र था। अपनी रजत-अस्थियों से उन्होंने हिन्दी के सूने प्रदेश में भव्य-आख्यायिका-मन्दिर का निर्माण किया, और उसमें त्याग तथा राष्ट्र-प्रेम का दीपक जलाया। इस गुदड़ी के लाल ने अपने खून से हिन्दी-मां के पवित्र मस्तक पर

विजय-तिलक दिया।

शायद मैं गलती कर रहा हूं, लेकिन मेरे विचार में तो महात्मा गान्धी के चर्ख की—कृषक-भारत के उस निस्तारक चक्र की यदि कोई सच्ची संगीन थी तो वह श्री प्रेमचंद जी की लेखनी थी। लक्ष्मी-पुत्र भारतेन्दु जी के बाद ऐतिहासिक उदय गरीबों के भाई श्री प्रेमचंद का हुआ भारतेन्दु जी ने हमें गौरवशाली अतीत की याद दिलाई, भव्य हिमालय के मुकुट और मन्दाकिनी की हीरक-लहरों के दर्शन कराये, और प्रेमचन्द जी ने जीवित और त्रस्त वर्तमान की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया। एक सजीले मेघ की तरह झूमता, गरजता और बरसता हुआ आया और अपने को लुटा दिया कि हमारा खाली भण्डार भरे। उसमें भी तड़प थी सावन की; विरह और पुकार थी पपीहे की, स्मृति थी अतीत बसंत की। वह तो हरसिंगार-सा फूला, मंहका और फिर अन्तर्धान हो गया। हां, बेजोड़ था वह इन्द्रधनुष अपने रंगीले-पन अपनी अलौकिक भंगिमा और सूचक महत्व के लिए। फिर भी प्रेमचंद जी का अपना प्यारा-पन भी कम अनोखा न था। वह एक कसक-सी उठे, ग्राम्य-भारत के हृदय में सहानुभूति-से फैले और एक विवश किन्तु अविजित आंसू से ढुलक रहे। मेरे ऐसे मूर्ख लिखते हैं। दिमागी एय्याशी के लिए, विक्षिप्त मनोविज्ञान की छीछालेदर करते हैं और समझते हैं कि यही कमाल है, भूखी और रोती हुई आंखों के सामने आंखें बन्द करके विदेशी तारों-से भरे आकाश में विचरण करते हैं और गर्व से अनुभव करते हैं कि हम साहित्य और राष्ट्र-सेवा के पुष्पक पर भारत का झंडा लिये फिर रहे हैं। पर प्रेमचंद जी ने अपनी लेखनी को कभी रंगीला-रंगरेजिन न होने दिया। वह निश्चित-लक्ष्य और पवित्र-व्रत के मनुष्य थे। उनके उपन्यास हमारे गांवो के जीवित और हृदय-बेधक चित्र हैं, उनकी कहानियां भारतीय-कुटुम्ब और मानव-हृदय की बोलती हुई मैना। भारत के शुष्क धूल की उन्होंने प्यास और तरस दिखलाई, और कहा कि खयालों के ताजमहल में रहने वालो, हिन्दुस्तान की सच्ची चीज—इस देश की असालियत यही है। इसको गौर करो, इसे अपनाओ, इसकी कहानी कहो। इस भिखारी देश के निस्सहाय, सन्तप्त बहते हुए पसीने में झलकते हुए खून को देखो। मेहंदी लगा कर शहीद बनाना सच्चे साहित्यिकों का काम नहीं है। प्रेमचंद जी एक सैनिक-साहित्यिक थे। समाज की कुरीतियों से और दुनिया की जहालत से उन्होंने आजन्म धर्म-युद्ध किया। जन-मत के जुल्म की ताकत समझते हुए भी उन्हें मालूम था कि मानव-हृदय के सत्य आदर्श की दृढ़ता क्या चीज है।

उनकी साहित्यिक-सेवा में एक आदर्श था।, इससे कौन इनकार कर सकता है? 'हंस' उनके उसी लोभ-रहित साहित्यादर्श का देव-दूत है। एक बार मंने उनसे कहा—'आप 'हंस' के लिए विज्ञापन Procure करने के लिए कोई Compaign क्यों नहीं करते, आप तो जानते ही हैं, पत्रों के पांव यही विज्ञापन हैं। इसमें तो मुझे कोई हर्ज नहीं दिखाई देता। क्या अंग्रेजी, क्या हिन्दी—सभी अखबार और मैगजीन यह कहते हैं ।' उन्होंने जो उत्तर दिया उससे मेरा संसारिक हृदय केवल खीझा, सन्तुष्ट न हुआ। लेकिन मुझे कुछ अप्रतिभ होकर चुप होना ही पड़ा। वह बोले—'भई 'हंस' साहित्यिक-पत्र है। मैं विज्ञापनों की कीमत जानता हूं, लेकिन आदर्श तो लाभ के भरोसे नहीं जीते। हमारा एक ध्येय है और हम उसी ध्येय पर चल रहे हैं। एक खास तरह के (यानी साहित्य-सम्बन्धी) विज्ञापनों के सिवा हम और तरह के विज्ञापन नहीं छाप सकते। हां, जो पत्र बाजारू व्यापार के इरादे से निकले हैं उनकी बात दूसरी है। यह

तो अपनें-अपने उद्देश्य की बात है।'

प्रेमचंद जी अखंड और अडिग चट्टान पर स्थित, इस अनिश्चित और विक्षिप्त साहित्य सागर में (Light-house) प्रकाश-स्तम्भ की तरह थे। वे हमारी शान थे, हमारे मार्ग-निर्देशक तथा मित्र थे।

सदियों बाद उन्होंने फिर वही बांसुरी बजाई जिससे जागकर हमने अपने ग्राम, गो और गोपालकों की ओर नजर उठाई, अपनी मां और बहिनो की तरफ इज्जत और सहानुभूति से देखा, और अपने हृदय से गलबंहियां डालकर बातें करना सीखा।

उन्होंने अपनी मनमोहक कहानियों से हमारे मन को जीत हमें संसार में विजयी बनाया

यह समीक्षा का समय नहीं है—और न मेरी यह इच्छा ही है। हम तो अपनी दोनों सजल आंखों से ढूंढ़ते हैं कि वह कहां हैं? और अपने भाग्य से पूछते हैं कि उसके बाद अब और कौन आवेगा?

इसका उत्तर कुछ नहीं है। इसका उत्तर केवल धैर्य है और निश्चल परिश्रम है।

परिश्रम और प्रतीक्षा के सिवा हमारा वश ही क्या है?

प्रेमचंद जी मानव हृदय के महान् कवि थे, वर्तमान के देवदूत थे और ग्राम्य-भारत के चित्रकार, सेवक और मित्र थे। जब तक हमारे हृदय में धड़कन है, जब तक हमारे खेत और खलिहान हैं, जब तक हमारे गांव और हमारे किसान हैं, और जब तक हमारी हिन्दी है—तब तक उनकी कीर्ति और स्मृति अमर और अक्षय रहेगी।

कृषक-बन्धु प्रेमचंद

लेखक—श्री 'करुण'

पहले मैं श्री प्रेमचंद जी को केवल महान् कलाकार तथा कहानी साहित्य का व्यास समझता था। उनका प्रशंसक था। बाद को मुझे उनसे परिचित होने तथा उनका स्नेह पाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। परिचित होने पर प्रशंसा, श्रद्धा एवं भक्ति में परिणत हो गई। उनका देश-प्रेम, उनकी लगन, परिश्रम, त्याग और सरलता देख मैं उन्हें महापुरुष तथा देश की विभूति समझने लगा।

वह अभागे देश में पैदा हुए थे। अभाग्यवश ही हम उनका मूल्य नहीं पहचानते थे। यदि प्रेमचंद पश्चिम में पैदा हुए होते तो ! मुझे जैसे सदा दु:ख रहा कि वह इस अभागे देश में क्यों पैदा हुए, जहां उनका यथोचित आदर सत्कार न हो सका, यद्यपि वह आदर-सत्कार के भूखे न थे। वह तो अपना मिशन पूरा करने आये थे। निर्लिप्त भाव से पूरा कर चले गये, शहीद हो गये।

हां, शहीद हो गये। जो मनुष्य देश, साहित्य और परिवार की चिन्ताओं का पहाड़ सर पर लिए हुए सूखी 'रोटी-दाल और तोला भर घी' पर जीवन बसर करेगा, वह कब तक चलेगा। यदि वह चाहते तो सारे 'झगड़े' छोड़ सुगमतापूर्वक?? यथेष्ट पैदा करते और आराम की जिन्दगी बसर करते, मगर वह त्याग-वीर थे। गरीबी उन्हें प्रिय थी। जब कि देश भूख से हाहाकार कर

रहा हो, आराम की जिन्दगी बसर करने के लिए उनकी आत्मा गवाही नहीं देती थी। गरीबी का सारा जीवन व्यतीत करते हुए वह दस-दस घंटे परिश्रम करते थे। चार घंटे की दिमागी मिहनत मनुष्य को उतना ही थका डालती है जितना दस घंटे की शारीरिक मिहनत। वह तो दस-दस घंटे काम करते थे।

मगर शहीदों का खून रंग लाता है। उनका देहान्त हमारा ज्ञानोदय हुआ। आज हमारी आंखों पर से पर्दा उठ गया है और हमने उन्हें पहचान लिया है, वह क्या थे।

प्रेमचंद उन महान् आत्माओं में थे जिनका जन्म स्वदेश के कल्याण के लिए होता है, जिनके रग-रग में स्वदेश-प्रेम की लहर दौड़ा करती है, जिनके हृदय की प्रत्येक धड़कन में देश-कल्याण की चिन्ता व्याप्त रहती है।

प्रेमचंद देहात—भारत के देहात में जन्मे थे। देहात ही में पले थे। देहात की गरीबी का उनको निजी अनुभव था। और कैसी गरीबी, इसका हाल उनकी जीवनी पढ़ने से मालूम होगा। दो रुपये महीने पर भी उन्हें कभी बसर करना पड़ा था। क्या आश्चर्य की देश की दुर्दशा, देश के प्राण किसानों की भयंकर दशा देखकर उनकी आत्मा द्रवीभूत हो उठी।

वह कर्मण्य थे। देशोद्धार के लिए—पीड़ित किसानों का दु:ख दूर करने के लिए—क्रमश: कर्मरत हो गये। भगवान् हर एक को एक विशेष शक्ति देता है जिसका उपयोग मनुष्य अपने विचारों को कार्यरूप देने में करता है। भगवान् ने प्रेमचंद को लेखनी-शक्ति दी थी। उसे माध्यम बना अपनी संकल्प-पूर्ति में लग गये।

अपनी जादू भरी लेखनी द्वारा वह जनता को देश की—देहातों की—दरिद्रता से परिचित कराते थे, बताते थे कि किसान जो देश के लिए अन्न उत्पन्न करते हैं, स्वयं मुट्ठी भर अन्न के लिए तरसते हैं, भूखें मरते हैं। विधाता के इस क्रूर व्यंग का वह सत्य एवं सजीव चित्र खींचते थे।

उनका कृषक-साहित्य पढ़ समवेदना से हमारा हृदय विकल हो जाता है। हम करुणार्द्र और सहानुभूतिपूर्ण हो जाते हैं और हृदय में किसानोद्धार के लिए प्रेरणा जाग उठती है। वह हमारे दिल को छू देते हैं।

—और यहीं कृषक-बन्धु प्रेमचंद का मिशन पूरा होता है। वह सफल होते हैं।

आज भले ही हृदय की उस उठती हुई प्रेरणा को हमें कुचल देना पड़े, अपनी प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण हम कार्यरत न हो सकें, परन्तु हम प्रेरणा तो पाते हैं।

अधिकारियों से मेरा निवेदन है कि वह प्रेमचंद के कृषक साहित्य का संकलन कर एक सस्ता एडीशन निकालें जिससे सर्वसाधारण उसे खरीद और पढ़ सकें।

देश के लिए उसकी इति-श्री उनके इस कार्य से ही नहीं हाती। उसका पूरा वर्णन करने से तो लेख पुस्तक का रूप ले लेगा। परन्तु उनके निम्नलिखित कार्य का उल्लेख किये बिना लेख समाप्त भी नहीं किया जाता।

देश तभी स्वतंत्र होगा जब हममें राष्ट्रभावना जागृत होगी, जब हम एक होंगे। उस भावना को जगाने के लिए देशवासियों में प्रेम-भाव से ऐक्य उत्पन्न करने के लिए राष्ट्र की एक भाषा आवश्यक ही नहीं, नितान्त आवश्यक है। राष्ट्रभाषा के बिना राष्ट्र-भावना जागृत नहीं हो सकती

है। हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है जिसमें कुछ छोटे-मोटे परिर्वतन कर देने से वह राष्ट्रभाषा हो सकती है।–यह उनके विचार थे। अपने इस विचार की पूर्ति के लिए उन्होंने क्या किया उसका अन्दाजा श्रीयुत राजेन्द्रप्रसाद जी के एक भाषण के, जो उन्होंने प्रेमचंद दिवस के अवसर पर दिया था।, निम्नलिखित अंश से मालूम हो जायगा–

'हमारी समझ में उनका (प्रेमचंद का) सर्वोत्तम स्मारक यही होगा कि जो कार्य वह अधूरा छोड़ गये हैं, उसे हम पूरा करें। मेरी समझ में स्मारक की एक शक्ल यह भी हो सकती है कि हम लोग इस हिन्दी-उर्दू के मसले को हल करने की कोशिश करें। हमें दोनों जबानों को मिलाने का प्रयत्न करना चाहिए। इस वक्त लिपि का सवाल उठाना ठीक न होगा। इस समय इतना ही काफी है कि हम दोनों (हिन्दी-उर्दू) को मिलाकर एक भाषा का निर्माण करें और हिन्दुस्तान भर में उसका प्रचार करें। जिस तरह हिन्दू और मुसलमान दोनों ही कबीर को अपना समझते थे, उसी तरह उनका कर्तव्य है कि वे प्रेमचंद जी को भी समझें और एक मुस्तरका जबान बनाने की कोशिश करें। प्रेमचंद जी के जीवन का यही मिशन था, जिसे वह अधूरा छोड़ गये। उसे पूरा करना हम लोगों का फर्ज है।'

क्या हम अपने इस फर्ज को अदा न करेंगे?

हिन्दी-साहित्य के अभिमान प्रेमचंद

लेखक–श्री अनुसूयाप्रसाद पाठक

'जो महान् होते हैं, उनकी आत्मा और हृदय भी महान् होता है। उनका प्रेम सबके प्रति ' वसुधैव कुटुम्बकम्' सा होता है।'

मैंने ऊपर की पंक्तियों को कई बार सुना और पढ़ा भी था। लेकिन यह कहां, किसके पास है यह अनुसंधान करके बाहर करना और पहिचानना मेरी शक्ति के बाहर की बात थी। इस खुशामदपसन्द दुनिया–हिन्दी में और फिर राजनैतिक जमाने में, जहां का सारा काम, बात, व्यवहार, दाव-पेचों से भरा रहता है शुद्ध प्रेम, भ्रातृभाव, वात्सल्य, और अपने से ऊंचे उठाने का भाव बहुत कम व्यक्तियों में होता है। किसी के हृदय की थाह लगाना मेरे लिए सम्भव नहीं था।

प्रेमचंद जी को मैं जानता था उनकी पुस्तकों से। नाम सुना था, अच्छे और सुन्दर लेखक हैं। 'सेवासदन' सब पुस्तकों से प्रथम पढ़ा था। पर बस, पुस्तक पढ़ गया था, लेकिन प्रेमचंद जी हिन्दी के, हिन्दी के, कौन हैं यह जाना नहीं था। और न उस समय यह सूझ थी, न लियाकत।

सन् 1932 ई० की बात है। जेलें तीर्थ बनी थीं। क्या बूढ़े, क्या युवक-युवती, क्या बालक सभी जेलों में थे। बिहार के पटना कैम्प जेल में स्वराजी कैदियों की संख्या पैंतीस सौ थी–एक छोटा नगर-सा था। आवश्यकता की सभी चीजें मिलती थीं, चाहे चोरी से हो, या सच्चाई से। मैं भी वहीं जेल में था। उसमें करीब सात सौ उत्कली भी थे। एक दिन मैंने एक कैदी के हाथ में 'पेमाश्राम' नाम की एक मोटी पुस्तक देखी। नाम सुना था, मन खिंच गया। जरा गौर से देखा, पुस्तक के कोने में प्रेमचंद लिखा था। मैं इस नाम से परिचित था। कुछ कहानियां और 'सेवासदन'

आगे भी देख चुका था। अस्तु, दोस्ती गांठने में देर न लगी। पुस्तक मुझे मिली, पढ़ गया। साथ के मित्रों को भी पढ़ने के लिए उत्साहित किया। वे उड़िये थे। प्रेमचद का नाम मात्र सुना था। ग्रन्थों से भेंट नहीं थी। पुस्तक उन्हें बहुत ही पसन्द आई। जो पढ़ते, तारीफ करते थे, पुस्तक के पात्रों पर प्रकाश डालते थे। एक दिन उन्होंने मुझे पढ़कर सुनाया–'मानव चरित्र न बिल्कुल श्यामल होता है, न बिल्कुल श्वेत। उसमें दोनों ही रंगों का विचित्र सम्मिश्रण होता है; किन्तु स्थिति अनुकूल हुई तो वह ऋषि तुल्य हो जाता है, प्रतिकूल हुई तो नराधम। वह अपनी परिस्थितियों का खिलौना मात्र है।'

हृदय का क्या ही सुन्दर फोटो प्रेमचंद जी ने खींचा है ! पुस्तक के पढ़ने के बाद प्रेमचंद जी की पुस्तकों की खोज में रहने लगा। भावना शुद्ध थी। उत्कट आकांक्षा थी। 'रंगभूमि' भी पढ़ने को मिली। ऊपर जिन मित्र का मैंने उल्लेख किया है उनका नाम गोरचन्द रावत है। उत्कल साहित्य के लेखक हैं। लेखों पर पुरस्कार पाया है। उन्होंने 'रंगभूमि' पढ़ने के बाद कहा था–प्रेमचंद जी टाल्स्टॉय, गोर्की और तुर्गनेव से कम नहीं।'

अब यहां से मैंने प्रेमचंद जी को ज्यादा चाहना और उनके गन्थों पर सोचना शुरू किया। मैं ही क्यों, उत्कल के कई आदमियों ने प्रेमचंदजी की रचना पढ़ने के लिए हिन्दी सीखी है और जब कहीं कोई यह कहता कि 'हिन्दी में क्या है?' तब पढ़ने वाले कहते–यहां के प्रेमचंद जी की पुस्तकें पढ़ो !

'प्रेमाश्रम' और 'रंगभूमि' दो-दो बार पढ़ीं। उस जेल में वही साथी थीं। पात्रों के चरित्र वहां बलदाता थे। कर्म में साहस और स्फूर्तिदायक थे। उस समय प्रेमचंद जी दूर नहीं, बल्कि पास उपदेशदाता के रूप में वर्तमान-से मालूम होते थे।

अब मुझे मालूम हुआ, महानता कैसे और कहां किसके पास है। हिन्दी के अभिमान की तारीफ सुनकर छाती फूली न समातली थी।

'रंगभूमि' में छपे एक चित्र में ही मैंने उनका दर्शन किया था। उनकी पुस्तकों में वही उनका एक चित्र छपा था। प्रेमचंद जी का नाम दिनोंदिन आकर्षित करने लगा। प्रेमचंद नाम सुनते ही अथवा कहीं कागज के पृष्ठों में 'प्रेम' शब्द मिलता तो मन पहिले 'हंस' वाले प्रेमचंद के पास जा पहुंचता।

मैं उपन्यासों का भक्त नहीं। यदि किसी से किसी पुस्तक की तारीफ सुनी तो पढ़ी लेकिन पूरी नहीं। पढ़ते विरक्ति-सी लगती है; लेकिन प्रेमचंद जी के उपन्यासों में 'प्रेमाश्रम', 'सेवा-सदन', 'रंगभूमि', 'गबन' और 'कायाकल्प' मैंने पढ़ा है। ये पुस्तकें अभी तक मेरे सामने हैं और 'गोदान' पर नजर है। कहानियां तो मैंने कई पढ़ी हैं। फिर भी तृप्ति नहीं हुई। बंगाल के बंकिम बाबू और शरद् बाबू की पूरी और आधी पुस्तकें मैंने पढ़ी हैं। मेरी समझ में नहीं आया कि प्रेमचंद जी इन दोनों से किस चीज में कम हैं–जैसा कि कुछ-कुछ का खयाल है। इस सम्बन्ध में मुझे तो 'प्रेमाश्रम' के भूमिका-लेखक हिन्दी के सुपरिचित श्री रामदास गौड़ की सम्मति शिरोधार्य है। उन्होंने लिखा है कि 'प्रसिद्ध उपन्यासकार शरद् बाबू ने अपनी मातृभाषा की गौरव रक्षा का पूरा विचार रखते हुए दबती जुबान से कहानियां लिखने में, स्वभाव-चित्रण करने में रवीन्द्र ठाकुर से हमारे प्रेमचंद की तुलना कर डाली है।' आगे चलकर लिखा है . 'बंकिम बाबू के उपन्यास जिन्होंने बंगला में पढ़े हैं, इस बात में मुक्तकण्ड से हमारा समर्थन करेंगे कि

'प्रेमाश्रम' में अनेक स्थलों में मानसिक विचारों की तस्वीर खींचने में प्रेमचंद जी बंकिम बाबू कहीं बढ़ गये हैं साथ ही जहां बंकिम बाबू की शैली बंगली में शब्दबाहुल्य से भरी है वहां प्रेमचंद जी ने अपने 'अर्थ अमित अरु आखर थोरे' लिखने का मार्ग बहुत ही प्रशस्त कर डाला है।' हम गौड़ महाशय के शब्दों की पुनरावृति करते हैं कि 'भावी इतिहास-लेखक जब भारतीय उपन्यासों की चर्चा करेगा उसे किसानों के जीवन की सच्ची फोटो खींचने का श्रेय प्रेमचंद जी को देना पड़ेगा। प्रेमचंद जी यद्यपि असहयोगी थे तथापि उन्होंने विपक्ष के भावों को दरसाने में पक्षपात से काम नहीं लिया है। प्रेमचंद जी मनोविकार के सच्चे इतिहासकार हैं !'(अब थे।)

किसी कवि ने सच कहा है–

काल करै सो आज कर, आज करै सो अब।
पल में परलय होयगो, बहुरि करैगो कब।।

प्रेमचंद जो का दर्शन मैंने नहीं किया था, दो वर्ष से मैं सोच रहा था, एक बार प्रेमचंद जी को उत्कल बुलाया जाय, फिर मन में आता, इस प्रान्तीय हिन्दी प्रचार सम्मेलन के लिए कैसे बुलावें? एक तो स्वीकार न करेंगे, यदि स्वीकार कर भी लिया तो दिखलायेंगे क्या? इस विचार में एक साल बीत गया। अब दूसरा साल शुरू हुआ। 'हंस' का रुख बदल गया। सब भाषाओं के लेख 'हंस' में आने लगे। मैंने भी उत्कल साहित्य के बारे में लिखा। प्रेमचंद जी ने उसे स्थान दिया। दूसरा लेख मैंने 'वाङ्मयी मीरा' भेजा। उस पर प्रेमचंद जी ने लिखा–'तुम्हारा मीरा वाला लेख मिला। इसी अंक में प्रकाशित हो रहा है। एक लेख तुम उत्कल का साहित्य और उसकी वर्तमान प्रगति के बारे में लिखो या किसी उत्कल साहित्यिक से लिखा कर भेज दो तो मैं बहुत धन्यवाद दूंगा।' आज्ञा का पालन जैसे-तैसे किया। लेकिन मेरे हृदय को उक्त पत्र की पंक्तियों ने पिघला दिया। न मालूम उनका कितना उदार और गम्भीर हृदय है, हर एक भाषा के साहित्य के जानने की कितनी उत्कट इच्छा है। इस महत् आकांक्षा की सीमा नहीं है। जहां भारत के दूसरे प्रान्त हिन्दी से मुंह बनाते हैं वहां हिन्दी के प्राण उनका उदारभाव से स्वागत करते हैं।

आपने मेरे पत्र के उत्तर में उत्कल के युवक लेखक श्री कालिन्दीचरण पाणिग्राही के बारे में लिखने को कहा। श्री कालिन्दीचरण पाणिग्राही जी के विचारों से मैं भी मुग्ध हूं। मैंने समझा, एक महान् कलाकार वही है जो एक कलाकार की इज्जत करे।

अब इस पत्र-व्यवहार से मन का भय दूर होने लगा। पक्का विचार था कि वह एक बार उत्कल लाये जायं। उत्कल के ऐतिहासिक स्थानों में भी घुमायें जायं, और अपने हिन्दी प्रचार का लाभ भी उनसे उठाया जाय। पर सा न हुआ। हिन्दी संसार को शून्य कर प्रेमचंद जी चले गये।

मेरी पक्की धारणा थी–और मैंने कईयों से कहा भी था कि हमारे हिन्दी साहित्य के उज्ज्वल रत्न जैसे ज्ञान के धनी हैं, सरस्वती का वास है उसी तरह लक्ष्मी का वास भी होगा। यह धारण गलत निकली। पंडित बनारसीदास जी, सम्पादक 'विशाल भारत' ने प्रेमचंद जी के बारे में जो लेख नवम्बर में लिखा था, उसे पढ़कर मन को बड़ी व्यथा हुई। यों तो प्रेमचंद जी समुद्र के

समान गम्भीर और कर्म पर अचल हैं। सम्पादक 'विशाल भारत' ने उनके जो पत्र प्रकाशित किये हैं, वह यों हैं... जो व्यक्ति धन-सम्पदा में विभोर और मगन हो, उसके महान् पुरुष होने की मैं कल्पना नहीं कर सकता। जैसे ही मैं किसी आदमी को धनी पाता हूं, वैसे यही मुझ पर उसकी कला और बुद्धिमत्ता की बातों का प्रभाव काफूर हो जाता है। मुझे जान पड़ता है कि इस शख्स ने मौजूदा सामाजिक व्यवस्था को—उस सामाजिक व्यवस्था को, जो अमीरों द्वारा गरीबों के दोहने पर अवलम्बित है—स्वीकार कर लिया है। इस प्रकार किसी भी बड़े आदमी का नाम, जो लक्ष्मी का कृपापात्र भी हो, मुझे आकर्षित नहीं करता। बहुत मुमकिन है कि मेरे मन के इन भावों का कारण जीवन में मेरी निजि असफलता ही हो। बैंक में अपने नाम में मोटी रकम जमा देखकर शायद में भी वैसा ही होता, जैसे दूसरे हैं—मैं भी प्रलोभन का सामना न कर सकता; लेकिन मुझे प्रसन्नता है कि स्वभाव और किस्मत ने मेरी मदद की है और मेरा भाग्य दरिद्रों के साथ सम्बद्ध है। इससे मुझे आध्यात्मिक सान्त्वना मिलती है।' ये हैं एक महान पुरुष के महान् विचार। वह अपनी गरीबी की हालत में कितने खुश हैं। कितने धीर हैं। यह विचार सभी के लिए शान्तिदायक है।

प्रेमचंद जी हिन्दी साहित्य में क्रांतिकारी लेखक हैं। सब जगह उनकी अपनी निजी चिन्ता है, अपना व्यक्तित्व है। भारती-साहित्य में एकमात्र लेखक थे जो गरीबों के बारे में सोचते थे। हम वर्तमान दुनिया के परिवर्तनशील वातावरण में जिधर देखते हैं, वहीं प्रेमचंद जी को पाते हैं—

1 प्रेमचंद जी को साम्यवाद की निगाहों से देखने से वह साम्यवादी दिखलाई देते थे।

2 ग्राम-सेवक के रूप में वह पक्का संगठन करते थे।

3 समाज सुधार में सबसे प्रथम सुधारक थे।

4 नारी स्वाधीनता के बारे में वह पथिक थे, रहनुमा थे।

5 प्राणीमात्र के चरित्र-चित्रण में वह वैज्ञानिक शिल्पी थे।

6 साहित्य में अनुपम साहित्यिक थे, रसालंकार के विवेचक थे।

7 उपन्यासकारों में वह वैज्ञानिक औपन्यासिक थे।

8 प्रेम की बारीकी, शुद्धता के वह पारखी थे।

9 त्याग में उज्ज्वल संन्यासी थे।

10 हिन्दू-मुसलमान को मिलाने में वह एक सस्सी-से थे।

11 वह ज्ञान में सागर, कर्म में युवक और प्रेम में अति कोमल थे।

हरिजनों का मन्दिर-प्रवेश अभी कल की बात है। किन्तु प्रेमचंद जी ने मन्दिर-प्रवेश के बारे में कैसा सत्याग्रह, कैसा साहस दिखाया है जिसका नेता गान्धीजी नहीं—'कर्मभूमि' की एक महिला सुखदा थी प्रेमचंद जी ने यहां महिला जाग्रति का कैसा अनुपम चित्र खींचा है! देखें—'...धर्मवीर ही ईश्वर को पाते हैं। भागने वालों की कभी विजय नहीं होती।

'भागने वालों के पांव संभल गये। एक महिला को गोलियों के सामने खड़े देखकर कायरता भी लज्जित हो गई। एक बुढ़िया ने आकर कहा—बेटी ऐसा न हो, गोली लग जाय। सुखदा ने निश्चल भाव से कहा—जहां इतने आदमी मर गए, वहां मेरे मर जाने से कोई हानि

न होगी। भाइयो, बहनो ! भागो मत। तुम्हारे प्राणों का बलिदान पाकर ही ठाकुर जी तुमसे प्रसन्न होंगे।' यह सत्याग्रह और फिर महिला नेतृत्व में प्रेमचंद जी ने बड़ी ही खूबी के साथ सम्पन्न कराया है। पंक्तियों से पता चलता है कि नारी स्वाधीनता के वह कितने पक्षपाती थे।

प्रेमचंद जी के बारे में लिखते समय मेरी एक लोभी आदमी जैसी अवस्था है। जैसे एक लोभी कहीं कीमती वस्तुओं को पाकर इसे भी ले जाना चाहता है और उसे भी, लेकिन सफलता नहीं मिलती, ठीक वही हालत मेरी है। प्रेमचंद जी के अमूल्य कथानक को सामने पेश करना चाहता हूं, पर किसे छोड़ूं और किसे लूं, निश्चय नहीं कर पाता।

प्रेमचंद जी की पुस्तकों के पात्र, एक से एक त्यागी और कर्मनिष्ट होते हैं। उनके पात्र कोई भी अध:पतन के कुएं में नहीं गये। जो गये वे भी कुएं की जगत पर से लौटते नजर आते हैं। बने से बने ही रहे, पर जो खराब थे वे भी सुधर गये। प्रेमचंद जी के उपन्यास जीवन-संघटन के लिए मार्ग-प्रदर्शक हैं। उनके पात्रों में प्रेम देखिये और कर्म देखिये। लेकिन कर्म से प्रेम तुच्छ रहा है। 'रंगभूमि' के पात्र विनय और ईसाई की लड़की सोफिया के बारे में सभी परिचित हैं। दोनों परस्पर प्रेमिक हैं। पर कर्तव्य दोनों का प्रधान है। उनके सम्बन्ध में कुछ पंक्तियां यहां उद्घृत की जाती हैं।

'विनय ने विचलित होकर कहा—सोफी, अम्माजी के पास एक बार मुझे जाने दो मैं वादा करता हूं कि जब तक वह फिर स्पष्ट रूप से न कहेंगी

'सोफिया ने विनय की गरदन में बाहें डाल कर कहा—नहीं नहीं, मुझे तुम्हारे ऊपर भरोसा नहीं, तुम अकेले अपनी रक्षा न ही कर सकते। तुम में साहस है, आत्माभिमान है, शील है, सब कुछ है, पर धैर्य नहीं है। पहले मैं अपने लिए तुम्हें आवश्यक समझती थी, अब तुम्हारे लिए अपने को आवश्यक समझती हूं। विनय, जमीन की तरफ क्यों ताकते हो? मेरी ओर देखो। मैंने तुम्हें जो कटु वाक्य कहे, उन पर लज्जित हूं। ईश्वर साक्षी है, सच्चे दिल से पश्चात्ताप करती हूं । उन बातों को भूल जाओ। प्रेम जितना ही आदर्शवादी होता है, उतना ही क्षमाशील भी। बोलो, वादा करो, अगर तुम मुझसे गला छुडाकर चले जाओगे, तो फिर तुम्हें सोफी फिर न मिलेगी।

'विनय ने प्रेम-पुलकित होकर कहा—तुम्हारी इच्छा है, तो न जाऊंगा।'

पाठक वृन्द जरा आगे की इन पंक्तियों को देखें। क्या कमाल किया है ! मानों प्रेमचंद जी स्वयं इस घटना को देख रहे हों। ऐसी बारीकी से अंकित किया है—

'अंधेरी रात में गाड़ी शैल और शिविर को चीरती चली जाती थी। बाहर दौड़ती हुई पर्वत-मालाओं के सिवा और कुछ न दिखाई देता था। विनय तारों की दौड़ देख रहे थे, सोफिया देख रही थी, कि आस-पास कोई गांव है या नहीं।

'इतने में स्टेशन नजर आया। सोफी ने गाड़ी का द्वार खोल दिया, और दोनों चुपके से उतर पड़े, जैसे चिड़ियों का जोड़ा घोंसले से दाने की खोज में उड़ जाय। उन्हें इसकी चिन्ता नहीं कि आगे व्याध भी है, हिंसक पक्षी भी हैं, किसान की गुलेल भी है। इस समय दोनों अपने विचारों में मस्त हैं दाने से लहराते हुए खेतों की बहार देख रहे हैं। पर यहां तक पहुंचना भी उनके भाग्य में है, यह कोई नहीं जानता।'

प्रेमचंद जी उपरोक्त पंक्तियां लिखते समय कितने गम्भीर विषय की तह में थे, चिन्तनीय है, भावनाधीन है। अब आप जरा आगे बढ़ें। प्रेमचंद जी की प्राकृतिक-सौन्दर्य उपासना देखें। गान्धी जी के 1935 का ग्रामवास और प्रेमचंद जी के प्रिय पात्र विनय और सोफी का 1981 का ग्राम-वास देखें–

'सोफिया और विनय रात-भर स्टेशन पर पड़े रहे। सवेरे समीप के गांव में गये, जो भीलों की एक छोटी-सी बस्ती थी। सोफिया को यह स्थान बहुत पसन्द आया। बस्ती के सिर पर पहाड़ का साया था, पैरों के नीचे एक पहाड़ी नाला मीठा राग गाता हुआ बहता था। भीलों के छोटे-छोटे झोंपड़े, जिन पर बेलें फैली हुई थीं, अप्सराओं के खिलौनों की भांति सुन्दर लगते थे। जब तक कुछ निश्चय न हो जाय कि क्या करना है, कहां जाना है, कहां रहना है, तब तक उन्होंने गांव में निवास करने का इरादा किया। एक झोंपड़े की जगह आसानी से मिल गई। भीलों का आतिथ्य प्रसिद्ध है और ये दोनों प्राणी भूख-प्यास, गरमी-सरदी सहने के अभ्यस्त थे। जो मोटा-झोटा मयस्सर हुआ खा लिया। चाय और मक्खन, मुरब्बे और मेवों का चस्का न था। सरल और सात्विक जीवन उनका आदर्श था।

सारी पुस्तक में नाना प्रकार के उतार-चढ़ाव नजर आयेंगे। प्रेमचंद जी हिन्दी संसार के एकमात्र लेखक हैं जिन्होंने गरीबों के विषय में कलम चलाई है।

'रंगभूमि' में अनेक प्रकार के पात्र हैं। पूंजीपति हैं, मध्यम श्रेणी के शिक्षित हैं, देश-सेवक भी हैं, मजूर किसान भी हैं। लेकिन एक अन्धा चमार जो सूरदास के नाम से प्रसिद्ध है, जिसका भीख मांगना पेशा था वह सारी सफलता का नायक है। इससे हमारे उपन्यास सम्राट् के अन्तर की मनोवृत्ति का पता लगता है। लेकिन जिस देश के लिए, जिस भाषा-भाषी और उनकी भावी संन्तान के लिए प्रेमचंद जी इतना छोड़ गये हैं, उसके लिए वे क्या करते हैं?

प्रेमचंद जी बड़े खुशदिल थे। पाठकवृन्द 'रंगभूमि' के शुरू में सूरदास को देखते हैं। वह एक सड़क के किनारे बैठा है। शाम का समय है। पथिक भी आ-आकर अपने-अपने भोजनादि का प्रबन्ध करते हैं। उन्हीं में से एक पथिक ने हंसकर पूछा–सूरे, शादी करोगे? सूरदास कहते हैं–अपने पेट का इंतजाम नहीं है, दूसरे की कौन पूछे? इस वार्तालाप में प्रेमचंद यों कहते हैं–

'गनेस–लाख रुपये की महेरिया न पा जाओगे? रात को तुम्हारे पैर दबा देगी, सिर में तेल डालेगी तो एक बार फिर जवान हो जाओगे। ये हड्डियां न दिखाई देंगी।

सूरदास–तो राटियों का सहारा भी जाता रहेगा। ये हड्डियां देखकर ही तो लोगों को दया आती है। मोटे आदमियों को भीख कौन देगा? उल्टे ताने मिलेंगे?'

कैसा मधुर मजाक है !

प्रेमचंद जी हिन्दी संसार के मनबहलावे के लिए अनेक पुस्तकें छोड़ गये हैं। दस वर्ष और रहते तो और भी अनेक बातें, सामग्री हमें दे जाते। लेकिन पं० बनारसीदास जी चतुर्वेदी के शब्दों में हमें कहना पड़ता है कि 'जिस महात्मा ने हमारे लिए इतना किया, उस कलाकार की इज्जत हम कुछ भी न कर सके।'

प्रेमचंद जी प्रेम के धनी थे। हृदय के धनी थे। वे जब तक जिये दूसरों के लिए। 'हंस'

के सम्पादन में न जाने कितने नवयुवकों के लेखक बना गये। अपने जीवन भर अध्यापक का काम किया। हिन्दी वालों का दुर्भाग्य है कि वे अपने प्रेमी, अपने श्रेष्ठ कलाकार की पूजा करना नहीं सीखे। प्रेमचंद जी दूसरी भाषा के लेखक होते तो उनका उचित सम्मान होता, हिन्दी वाले उनके अनुवाद से अपने को गौरवान्वित समझ पूजा में सम्मिलित होते। दूर का ढोल सुहावना हुआ करता है।

श्री प्रेमचंद जी

लेखिका–श्रीमती उषादेवी मित्रा

यह स्मृति की श्रद्धा अपर्ण है उनके लिए जिनकी स्मृति, जिनका आदर, स्नेहस्पर्श से धनी से लेकर निर्धन की पर्ण-कुटीर तक ओतप्रोत है। यह है स्मृति अंक। स्मृति अंक और भी न जाने कितने ही निकलते हैं, निकले होंगे, निकला करेंगे, परन्तु बड़ी बात तो इसमें यह है कि घर-घर है इस अंक के लिए श्रद्धा और स्नेह का आर्घ्य और है अपने घर के व्यक्ति की एक अमिट स्मृति।

इस स्मृति अंक हो हम मधुर और उज्ज्वल कर भविष्य के लिए रख जाना चाहते हैं और अपने इस परिचय को भी उनके साथ रखना चाहेंगे कि प्रेमचंद जी से केवल उनकी कृति के द्वारा ही परिचित नहीं हैं, वरन् उन्हें आंखों देखा है, निकट बैठने का भी सौभाग्य प्राप्त हुआ है। यह जानकर उस दिन भविष्य भी शायद हमें नमस्कार करे। कौन जाने।

दान कई प्रकार के होते हैं। थोड़े दान या सीमित दान की तालिका हम अनायास ही दे सकते हैं, किन्तु अपने को लुटाकर दान कर देने की तालिका दे सकना एक प्रकार से असम्भव है। हिन्दी जगत् को यदि श्री प्रेमचंद जी का दान असीम नहीं है, तो वह दान कसौटी पर भी ता नहीं चढ सकता।

मैं बंगाली स्त्री हूं, इसलिए नहीं, वरन् इसलिए कि हिन्दी साहित्य से मैं भलीभांति परिचित नहीं हूं, श्री प्रेमचंद जी के सब कार्य, जीवन और उनकी सब पुस्तकों से अच्छी तरह परिचय का सुअवसर अभी तक आया नहीं, फिर भी जो कुछ पढ़ने का, जानने का अवसर मिला है–उसी जानकारी से खेद के साथ कहना पड़ता है–केवल हिन्दी जगत् को नहीं, वरन् संसार को एक अमूल्य रत्न खोना पड़ा है।

श्री प्रेमचंदजी की कला किसी भी देश के अमर कलाकार की कला से समानता कर सकती है, इतना तो निर्विवाद ही है। और उस कलाकार का, उस अस्तंगत प्रतिभा का जन्म हुआ था भारत ही के एक धनी नहीं, किन्तु गृहस्थ के घर में, यह बात भी वास्तविक है। उस अखण्ड प्रतिभा, हृदयपूर्ण अनुराग और शिक्षा का उपहार लेकर प्रेमचंद जी ने संकुचित हिन्दी भाषा के चरणों में उड़ेल दिया। इस तरह एक अपरिचित, अपरिसर पद में अपने नवीन जीवन की सारी आशा, उद्यम, क्षमता को लगा देना कैसा साहस और विश्वास का काम है इस बात को विचार कर हमें विस्मित होना पड़ता है। केवल इतना ही नहीं वरन् हम देखते हैं कि सब

आकांक्षा, आशा, प्रेम, सौन्दर्य, महत्व, भक्ति स्वदेशानुराग शिक्षित—परिणत ज्ञान की चिन्ता आदि अर्जित रत्नों को वह किस अकुण्ठित भाव से हिन्दी भाषा के हाथ में उठा देते थे।

लेखक का निर्मल चरित्र हम उन्हीं की कला में परिस्फुट पाते हैं—शान्त किन्तु गम्भीर, स्थिर किन्तु सदय, उदार किन्तु विश्वासी और स्नेही के रूप में। सबसे बड़ी बात है—श्री प्रेमचंद जी का व्यक्तित्व। शिशु-वृद्ध, धनी-निर्धन, नर-नारी के निकट वह जल-से स्वच्छ थे और वैसे ही सुलभ। हिन्दी-धर्म-विश्वासी प्रेमचंद जी की निरहंकारिता, एकनिष्ठ साधना केवल देखने ही की नहीं वरन् सीखने की, अपनाने की वस्तु थी। प्रत्येक स्थिति में हम उन्हें अपने-आपमें पूर्ण सन्तुष्ट पाते थे। मनुष्य अपने को पूर्ण और सन्तुष्ट तभी पाता है जब वह विश्व को अपने आपसे पृथक नहीं देख सकता। कदाचित् इसीलिए हम प्रेमचंद जी को सुख-दु:ख में, हर एक स्थिति में तुष्ट, समाहित-से पाते थे।

जब हम उन्हें लेखक के विचार से देखते हैं तो कथाकार के विजयमुकुट—'साहित्य सम्राट्' पर हमारी दृष्टि पड़ जाती है, और तब उस मुकुट में अंकित समाज सुधार की वाणी—सन्देश को हम अनायास ही पढ़ लेते हैं और दीन-दुखियों के लिए अन्तर्भेदी व्यथा, सहानुभूति ही केवल नहीं वरन् उनके अभाव को दूर करने की अमोघ चेष्टा, द्वन्द्व के विरामहीन भेरी-निनाद को सुनकर रोमाञ्चित, चकित हो जाते हैं। उन्हीं सरल किन्तु भावपूर्ण, मार्मिक लेखों के बल पर ही भारत का एक शिशु भी श्री प्रेमचंद जी को जानता है, पहचानता है। वह दान केवल राजप्रासाद के स्वर्ण द्वार ही के भीतर आबद्ध है, वरन् कृषक के खेतों में, मिल के मजदूरों में तथा अन्याय,अत्याचार के विरुद्ध और जनसेवा, स्वराज्य के प्रांगण में वह दान फैला पड़ा है।

प्रेमचंद जी को लिखने की ईश्वरदत्त क्षमता थी। उनकी लेखनी को ऐसी अद्‌भुत शक्ति मिली थी कि कहीं अटकने की जरूरत ही नहीं पड़ी।

वह आदर्शवादी तो अवश्य ही थे, किन्तु साथ ही साथ हमें उनके लेखों से सन्देश और गम्भीर भावुकता, सहृदयता मिलती है और बड़ी चीज मिलती है अत्याचार, जोर-जबर्दस्ती, निर्दयता के विरुद्ध एक जबर्दस्त युद्ध घोषणा।

एक प्रकार के लेख वे होते हैं, जिन्हें हम पढ़ने के बाद भूल जाते हैं और दूसरे वह होते हैं—जिनका प्रभाव हमारे मन पर पड़ जाता है, जिसके चित्र हमारे हृदय में अंकित हो जाते हैं, लेखक की भावना और विचारधारा पाठक के मन में व्याप-सी जाती है। प्रेमचंदजी की रचना इसी दूसरे प्रकार की है। उनके चरित्र सृजन में जैसी सरल-सहृदयता और जीवन की हरियाली है वैसे ही मन पर अंक जाने की क्षमता भी है। उनकी चरित्र-सृष्टि को हम पाते हैं अपने परम आत्मीय के रूप में। लगता है—अरे यह तो हमारे ही घर की बात है। लेखक की सफलता और असधारणता तो वहीं पर प्रमाणित हो जाती है जहां एक महापापी चरित्र के लिए भी पाठक की सहानुभूति अपने-आप खिंच आवे, एक वेश्या की आत्मा के लिए भी वह शुभकामना करे।

एक रचना वह होती है जिसमें हम मृत्यु की विभीषिका ही देखते हैं, एक वह भी होती है जिसमें हम जीवित रहने का महामन्त्र पा जाते हैं और उसे जपने की रीति भी, जो हमें प्रेमचंद जी की रचना में अनायास मिलती है।

इनकी श्रेणी उन्हीं अमर कलाकारों में है, जो अपने ही अनजान में एक पाठशाला की

सृष्टि कर देते हैं और उनके छात्र अनेक हो जाते हैं।

किसी भी देश की सभ्यता, संस्कृति का हमें बहुत-कुछ पता चल जाता है। उसी देश के साहित्य से। इस दृष्टि से हिन्दी-साहित्य भी आज कह सकता है—वह देश,असभ्य नहीं है, जहां ऐसे रत्नों का जन्म हुआ करता है और उन सुसंस्कृत साहित्यों में हिन्दी आज अनायास ही अपना स्थान बना लेती है।

वह भी कह सकता है मध्ययुग के इंगलिश साहित्य में यदि शेक्सपियर, मिल्टन, कीट्स शॉ, वड्स्वर्थ, शेली, टेनिसन, बायरन, ब्राउनी, स्काट, जॉन्सन आदि रत्नों का जन्म हुआ है, और बंगला में यदि साहित्य-गुरु बंकिमचन्द्र, विश्वकवि रवीन्द्रनाथ, साहित्य-सम्राट् शरद्चन्द्र, कविश्रेष्ठ हेमचन्द, अमर नाट्यकार द्विजेन्दलाल, मधुसूदन, अमर कवि महेन्द्रनाथ आदि का जन्म हुआ है, एवं फ्रेञ्च साहित्य में यदि आनातोले फ्रांस, विक्टर ह्यूगो, रोमॉरोलां आदि रत्नों का जन्म हुआ है तो हिन्दी साहित्य भी कह सकता है कि वह भी अनुर्वर नहीं है, वन्ध्या नहीं है, उसन भी तुलसीदास, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रेमचंद मैथिलीशरण गुप्त आदि जैसे रत्नों को गोद म धारण किया है, वह भी कह सकता है, वह असभ्य नहीं, सभ्य और सुसंस्कृत है।

आज हमारे विलाप, रोदन के बाहर प्रेमचंद जी चले गये हैं, सो ठीक है और हमारी भक्ति, आदर-उपहार लेने क लिए वह सौम्य मूर्ति यहां उपस्थित नहीं है, यह भी ठीक है, किन्तु फिर भी उनके दान के अणु-परमाणु में लिपटी प्रेमचंद-स्मृति विनाशहीन है। हमारे सामने है आज वही ध्रुव सत्य के रूप में, साहित्य प्रांगण में प्रेमचंद जी का एक उज्ज्वल आदर्श की प्रतिष्ठा कर गये हैं। ईश्वर से प्रार्थना है कि उस आदर्श की ज्योति कभी म्लान होने न पावे।

क्षमा-याचना

बा० वि० पराड़कर

जेस-तैसे स्मृति-अंक प्रकाशित हो गया। मैं बीमार अस्पताल में पड़ा था जब जैनेन्द्र कुमार जी ने आकर कहा कि–'हंम' का प्रेमचंद स्मृति-अंक आपको निकालना होगा। समय नहीं था। शक्ति भी नहीं थी पर अनुरोध टाल न सका। स्वीकार कर लिया। पर जो शंका थी वही हुआ। छ: महीने से विघ्न-परम्परा घेरे है। अभी तक छुट्टी नहीं पाई है। इसी अवकाश में जैसे बन आया अक तो निकाल दिया, पर सबसे अधिक खेद की बात यह है कि प्रेमचंद जी की उज्ज्वल कीर्ति की तुलना में यह अंक किसी काम का नहीं हुआ। विशेषकर इसके निकलने में जो इतना अधिक विलम्ब हुआ उसके लिए केवल सम्पादक ही दायी है और इसके लिए 'हंस' के पाठकों से नम्रतापूर्वक क्षमा चाहता है। आशा यही है कि सम्पादक के दोषों का विचार न कर स्वर्गीय श्री प्रेमचंद के नाते इसे हिन्दी-प्रेमी अपनायेंगे।

प्रेमचंद की कृति

लेखक—श्री बा० वि० पराड़कर

हिन्दी साहित्य में प्रेमचंद जी का स्थान निर्द्धारित करना भावी पीड़ियों का काम है। आज हम *उनके इतने निकट हैं कि उन्हें अच्छी तरह देख नहीं सकते। उनके व्यक्तित्व की छाप हमारे* हृदय पर ऐसी लगी है कि केवल साहित्य की दृष्टि से उन्हें देखना सम्भव नहीं हो रहा है। वह व्यक्तित्व सहसा हमारे सामने से गायब हो गया है और हम उसकी स्मृति से प्रभावित हो रहे हैं। यह अवस्था साहित्यिक पर्यालोचन के लिए अनुकूल नहीं। प्रेमचंद के व्यक्तित्व से सर्वथा अपरिचित साहित्यिक ही हिन्दी वाङ्मय में उनका स्थान निर्द्धारित कर सकेंगे। आज हमारी प्रवृत्ति आलोचन की नहीं बल्कि गुणग्रहण की है। उनके स्वर्गारोहण के बाद आज हम उनके गुण ही गुण देख रहे हैं और पश्चात्ताप करते हैं कि उनके जीवन-काल में हम उनका महत्व न समझ सके और कदर न कर सके। यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है पर साहित्यिक गुण-दोष-विवेचन में बाधक है। यही कारण है कि हिन्दी में प्रेमचंद का स्थान निर्द्धारित करने में प्रेमचंद के समकालीन साहित्यिक समर्थ नहीं हो सकते। एक कारण और भी है। जो प्रवाह में बहता जाता है उसकी गति का निरीक्षक नहीं हो सकता। यह तो तटस्थ ही कर सकता है। यद्यपि साहित्य में प्रेमचंद का स्थान निर्द्धारित नहीं कर सकते पर रग-रग में अनुभव करते हैं कि उनके प्रवाह में हम बहे चले जा रहे हैं कहा जा सकता है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने साहित्यिक हिन्दी का नामकरण किया और प्रेमचंद ने उसको मूर्त किया—रूप प्रदान किया। इन दो महानुभावों की प्रतिभा से हिन्दी को नाम और रूप प्राप्त हो गया है। हरिश्चन्द्र के प्रयत्न से हिन्दी वह हिन्दी हुई जिसे आज हम सतझते हैं और आदर करते हैं। पर हरिश्चन्द्र उसे वह रूप न दे सके जिसे हिन्दी की समकालीन भाषाओं के अभिमानी भी देख सकते। यह काम प्रेमचंद ने किया। वह स्थायी है अथवा अस्थायी, दिन प्रतिदिन अधिकतर स्पष्ट होने वाला है अथवा किसी अन्य लेखनी से अन्य रूप को जन्म देकर स्वयं अस्पष्ट हो जाने वाला है, इसका निर्णय भविष्य ही करेगा।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी का नामकरण किया, उत्तर भारत के हिन्दू में उसके प्रति अभिमान उत्पन्न किया, पर उनके बाद उनका पदानुसरण करने वालों को भाषा का आदर्श अन्यत्र ढूंढना पड़ता था। हरिश्चन्द्र के समकालीन और परवर्ती लेखक ब्रज-साहित्य और रामचरित-मानस से प्रभावित थे, कुछ संस्कृत पर साहित्य का भी अच्छा प्रभाव पड़ा था। स्वर्गीय गुरुवर्य पंडित गोविन्दनारायण मिश्र की रचनाओं में बाणभट्ट की शैली प्रतिबिम्बित हो रही है। वही ओज, वही ध्वनि, वही रचनाकौशल। कादंबरी के ढंग से आप हिन्दी में भी एक प्रबन्ध की रचना कर रहे थे, कुछ अंश लिखा भी जा चुका था पर उपन्यास पूरा न हो सका। पूरा इसलिए न हो सका कि गोविन्दनारायण जी जीवन के अन्य झगड़ों में व्यस्त रहा करते थे और उनके साहित्य का जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं था। राजा लक्ष्मणसिंह, पंडित बालकृष्ण भट्ट, पंडित अम्बिकादत्त व्यास आदि, हरिश्चन्द्र के बाद के, पर हमारे लिए अब प्राचीन, सब साहित्यिकों के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है उनका जीवन कुछ और साहित्य कुछ और था। प्राचीन

पद्धतियों का अनुसरण और प्राचीन समयों का रक्षण, यही उनके लिए साहित्य था उस साहित्य का समाज से या जीवन से कोई सम्बन्ध न था। अत: हिन्दी के साधारण लेखकों को जीवन-साहित्य का आदर्श पड़ोमी बंगला साहित्य में ढूंढ़ना पड़ता था, जो दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति करता जा रहा था। जीवन के प्रश्नों का, सामाजिक समस्याओं का, राजनीतिक कठिनाइयों का हल उस समय के लेखक बंगला साहित्य में ढूंढ़ा करते थे। विशेषकर हिन्दी के समचार-पत्र तो अधिकतर बंगला समाचार-पत्रों की ही नकल हुआ करते थे—अधिकांश में केवल अनुवाद। परिणाम यह हुआ कि हरिश्चन्द्र के बाद की हिन्दी बंगला हिन्दी हो गई। उसे पुनश्च हिन्दी बनाने का श्रेय प्रेमचंद को ही है।

प्रेमचंद की हिन्दी हिन्द की अपनी चीज है। उस पर उर्दू की छाया जरूर पड़ी है। पर उर्दू भी तो हिन्दी की ही भाषा है, किसी अन्य देश से यहा नहीं आई है। उर्दू लेखकों में अच्छा स्थान प्राप्त कर लेने के बाद प्रेमचंद का हिन्दी को अपने विचार प्रकट करने का माध्यम बनाना उस सत्साहस का काम था जिसका उनके जीवन में पद-पद पर परिचय मिलता है। उनकी प्रारम्भिक कृतियों में हिन्दी भाषा अप्रौढ़ और शिथिल अवश्य थी पर शीघ्र ही उसमें वह तेजस्विता और सरलता, वह भावव्यंजकता और माधुरी आ गई जो हिन्दी साहित्य में एक नई बात थी। इसका कारण यह है कि प्रेमचंद प्रकृति के पुत्र थे, उनकी प्रतिभा नैसर्गिक थी, साहित्य का आदर्श उन्हें निर्माण करना था, न कि अन्य आदर्श को सम्मुख रखकर उसका अनुकरण करना था। प्रेमचंद के पात्र अपने थे, भाषा अपनी थी, कल्पना अपनी थी। विचार और सहानुभूति संसार के उन्नतिशील साहित्य के अध्ययन का फल था। यही कारण है कि उन्होंने जो कुछ लिखा, मौलिक लिखा और उसकी प्रेरणा उन्हें समाज से हुई—विशेषकर ग्रामीण समाज से। इस सम्बन्ध में हम प्रेमचंद की तुलना इंगलैण्ड के चार्ल्स डिकिन्स से कर सकते हैं। डिकिन्स और प्रेमचंद दोनों ही जनता के आदमी थे। समाज के निम्नस्तर की भीषणता में रह चुके थे, उससे परिचित हो चुके थे, उसके साथ उनकी सहानुभूति थी, उसी से उन्होंने अपने पात्र लिए और उसी के सुधारने का यत्न किया। दोनों ही संकुचित अर्थ में 'अशिक्षित' थे अर्थात् प्राचीन साहित्य की ओर उनके नियमों की शिक्षा उन्हें नहीं मिली थी। दोनों की प्रतिभा स्वाभाविक थी, दोनों ही जनता के आदमी थे। माध्यम और उच्चवर्ग के पात्र का चित्रण न डिकिन्स कर सके और न प्रेमचंद ही कर सके। यत्न दोनों ने ही किये हैं पर विफल। गरीब पात्र दोनों के सजीव हैं, वे आपसे बोलते हैं, आपके साथ हंसते और आपके साथ रोते हैं। ओलिवर ट्विस्ट से विदा लेते समय जो एक मधुर वेदना होती है, होरी से विदा लेते वक्त हमें उसी का अनुभव हुआ। डिकिन्स और प्रेमचंद का साम्य यहीं समाप्त हो जाता है। इसके बाद दोनों के मार्ग दो भिन्न दिशाओं को जाते हैं। एक आशावादी है, दूसरा दु:ख में है, दु:ख देखता है और उसे दूर करने का उपाय ढूंढता है, कहीं कुछ बता भी जाता है, कहीं केवल समस्या उपस्थित करके अपनी कहानी के धागे आप ही तोड़कर मानो अपनी जान छुड़ा लेता है।

यह प्रेमचंद का दोष नहीं बल्कि गुण है। समय का प्रतिबिम्ब उनके हृदय पर स्पष्ट हो रहा है। मूक जनता की आह सुनते हैं और सुना जाते हैं। पर इसी दवा नहीं बताते—शायद नहीं जानते। कौन जानता है? सब अपनी-अपनी कह रहे हैं पर भविष्य के परदे के उस पार क्या

है, यह बताने वाला ऋषि कौन है? एक महात्मा गान्धी दिखाई देते हैं और स्वाभावत: प्रेमचंद उनकी ओर आकृष्ट हो गये। गरीबों के प्रति सहानुभूति और भारतीय संस्कृति का अभिमान, ये दो विशेषताएं प्रेमचंद में बहुत अधिक मात्रा में मिलती हैं, और यह भी समय का प्रभाव है। प्रेमचंद समय से प्रभावित हुए हैं। साहित्यकार की यह विशेषता है। समय को प्रभावित करने वाला ऋषि, अवतार या पैगम्बर कहलाता है। प्रेमचंद के लिए इसका दावा उनका अन्धभक्त भी नही कर सकता। प्रेमचंद साहित्यिक थे और ऊंचे दर्जे के साहित्यिक थे। जीवन से उन्होंने मसाला लिया और वह मूर्तियां तैयार करके हमारे सामने रख दीं जो जीवन के अंगों की प्रतीक हैं। उन मूर्तियों से हम समाज को देखते हैं, उसकी आकांक्षाओं की कल्पना करते हैं; उसके दोषों पर हंसते हैं, उसकी त्रुटियों की ओर भी लाचार खिंच जाते हैं। यही प्रेमचंद की कला है। वह हमें अपनी बुराइयों को दिखाती है। पर चिढ़ाती नहीं। हंसाकर, खिलाकर और रुलाकर भी आत्म-सुधार की आवश्यकता बताती है। गरीबों के मित्र प्रेमचद ने धनी निकम्मों की निन्दा की है और ऐसे शब्दों में और इस ढंग से की है कि उसे पढ़कर धनी भी क्रुद्ध नहीं हो सकता लज्जित होता है। इसका एक कारण है। प्रेमचंद के पात्र व्यक्ति नहीं होते, वे वर्गों के प्रतीक होते हैं। कोई व्यक्ति हो तो उससे प्रेम भी किया जा सकता है, ईर्षा भी की जा सकती है, घृणा भी और क्रोध भी। पर वर्ग के प्रतीक के सामने ये भावनाएं कुंठित हो जाती हैं। हम उसे पड़ोसी में देखते हैं, अपने चारों ओर देखते हैं, पर अपने आपमें नहीं देखते। अत: वह हमारा आदर पाता है, हमें अचम्भे में डालता है, रुलाता है, हंसाता है। बुरा होने पर भी हम उसे छोड़ना नहीं चाहते। इसका कारण यही है कि प्रेमचंद के पात्र व्यक्ति नहीं, वर्ग हैं। वर्ग के दोष गुण उनमें पाये जाते हैं, अतएव हमारा व्यक्तित्व उनसे अपने आपको अलग समझता है। उन पात्रों से हमारी सहानुभूति होती है, समवेदना होती है पर एकत्व का प्रतीति नहीं होती। उनके दोष हम समाज में देखते हैं पर स्वयम् उनसे उसी प्रकार अलिप्त रह जाते हैं जैसे समाज का होकर भी एक सुधारक अपने आपको उससे अलग समझकर उसका टीकाकार—आलोचक बन जाता है। अनेक आलोचकों का यह अभियोग है कि प्रेमचंद के पात्रों का व्यक्तित्व अच्छी तरह परिस्फुट नहीं होता, वह अधखिला फूल-सा रह जाता है इसका उत्तर यही है कि उनके पात्र व्यक्ति होते ही नहीं, वर्ग के प्रतीक होते हैं। वर्ग के दोषागुण उनमें भली भांति दिखाई देते हैं और किसी भी प्रसंग पर वे वर्ग-मनोवृत्ति से ही काम करते हैं। उनमं विशेष व्यक्तित्व को ढूंढना व्यर्थ है। प्रेमचंद की इस विशेषता का कारण यह है कि वह पहले सुधारक और बाद में कलाकार हैं। प्रेमचंद ने कला के लिए पात्र-सृजन नहीं किया है; कला की खूंटी पर अपने सुधारक विचारों को टांग दिया है। उनके अन्तिम उपन्यास 'गोदान' में इसका अच्छा परिचय मिलता है। 'गोदान' प्रेमचंद का अन्तिम गोदान है—उनके अपने व्यक्तित्व का, अभिलाषाओं और विचारों का आदर्श है।

'गोदान' का होरी गरीब स्थिति के किसान का प्रतीक है। उसका व्यक्तित्व उस वर्ग व्यक्तित्व है। परिश्रमी है, कुटम्बवत्सल है और धर्मभीरु भी है। लाठी लेकर बाघ का सामना कर सकता है पर लाल पगड़ी देखते ही उसका सारा पुरुषत्व हवा हो जाता है। पराधीनता में अच्छे-अच्छे पुरुषों की जो स्थिति होती है वही होरी की भी है। वह धर्मभीरु है सामाजिक दृष्टि

से, पर नर नारायाण बनाने वाला धर्म उसमें नहीं। अपने सगे भाई के हिस्से के दो-चार रुपये दबा जाने के लिए वह तीसरे को अधिक लाभ दे सकता है पर उसी भाई के घर की तलाशी पुलिस ले यह बात उसे असह्य हो जाती है, क्योंकि इसमें कुल का अपमान है। इस अपमान से, इस कलंक से कुल को बचाने के लिए वह स्वयम् महाजन से कर्ज ले सकता है। वही भाई जब उसकी गाय की हत्या करके भाग जाता है तो वह अपनी खेती की उपेक्षा करके उसकी खेती कर देता है जिसमे लोग यह न कहें कि अनाथा भावज की सहायता उसने नहीं की एक ओर भाई और भावज के लिए इतना त्याग और दूसरी ओर उसी भाई को दो-चार रुपये के लिए ठगने की तैयारी ! आजकल के समाज का कैसा यथार्थ चित्र है ! यह चित्र ही होरी है। होरी वर्ग है, व्यक्ति नहीं। आज भारतीय समाज में झूठ बोलना, फरेब करना, ठगना बुरा नहीं समझा जाता। होरी भी नहीं समझता। भाई-भाई में भयंकर झगड़ा हो, कोई चिन्ता नहीं। भाई का खून भी भाई कर सकता है। उसकी सम्पत्ति भी हजम कर सकता है पर जब तक वह बालक है तब तक उसका पालन करना ही होगा, नहीं तो समाज निन्दा करेगा। सामाजिक व्यवहार धूम-धाम से होना ही चाहिए। इसी में कुल की मर्यादा है। व्यक्तिगत आचरण कैसा ही घृणित क्यों न हो, बुरा या पाप नहीं समझा जाता। पैतृक परिवार की कल्पना अब भी काम कर रही है. व्यक्तिगत सद्गुणों का लोप हो गया है। सामाजिक सदाचार विकृत रूप में जीवित है, व्यक्तिगत सदाचार का बिल्कुल लोप हो गया है। होरी में इसका चित्र खींचा गया है। शायद प्रेमचंद का यह उद्देश्य न हो पर वह तो वर्ग को ही देखते थे और समझते थे। होरी ऐसा ही एक पात्र है। उसमें और भी विशेषताएं हैं पर वे भी उसका व्यक्तित्व परिस्फुट नहीं करतीं। होरी व्यक्ति हमारे सामने उपस्थित नहीं होता, वह वर्ग उपस्थित होता है जिसके होरी, हीरा और भोला प्रतीक हैं। होरी का लड़का गोबर, शुरू-शुरू में एक व्यक्ति-सा मालूम होता है सही पर अन्त में वह भी वर्ग में लुप्त हो जाता है। पाठक उसमें गरीब और अजान, शोषित और अभिमानी वर्ग को देखते हैं और उसके लिए समवेदना का अनुभव भी करते हैं।

जिस विकृत धर्म का ऊपर उल्लेख किया गया है उसका एक जगह 'गोदान' में प्रेमचंद ने स्पष्ट शब्दों में परिचय दिया है। मातादीन ब्राह्मण-पुत्र है। उसकी आशनाई एक चमारिन से हो गई है। यह बात सारा गांव जानता है, पर मातादीन के पास पैसा है, वह सवेरे स्नान-संध्या और पूजा करता है। चमारिन को अपने घर में नहीं, अन्यत्र रखता है। उसके हाथ का खाता भी नहीं। अत: वह समाज का एक प्रतिष्ठित व्यक्ति है। उसका कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता। क्यों? सुनिये प्रेमचंद जी के ही शब्दों मे-'हमारा धर्म है हमारा भोजन। भोजन पवित्र रहे, फिर हमारे धर्म पर कोई आंच नहीं आ सकती। रोटियां ढाल बनकर अधर्म से हमारी रक्षा करती हैं।' स्थिति का कैसा सच्चा वर्णन है? पर इसमें एक त्रुटि है। रोटियों की इस ढाल की आवश्यकता भी ग्रामों में ही होती है। शहरों में इसकी भी जरूरत नहीं। सब अपराध माफ हैं बशर्ते कि आप ब्याह-शादी में समाज की रीतियों का पालन करते रहें और सुधारकों को गालियां दें। चमारिन से आशनाई कीजिये या घर की ही किसी विधवा का सर्वनाश करके उसे घर से निकाल दीजिए, आप धर्मात्मा ही समझे जायंगे। ऐसे धर्म के मूल में कुठाराघात करके सदाचारमूलक धर्म की पुन: स्थापना करना प्रेमचंद-साहित्य का लक्ष्य है। अपना यह अभिप्राय

वह कहीं स्पष्ट शब्दों में पर सर्वत्र व्यंजना से वा ध्वनि से व्यक्त करते पाये जाते हैं। प्रेमचंद सुधारक अवश्य हैं पर उसके साथ-साथ भारतीय संस्कृति के पूर्ण भक्त भी हैं। उनके सुधार का अर्थ पश्चिमका अन्ध अनुकरण नहीं है। 'गोदान' उनकी अन्तिम कृति है। वह उपन्यास लिखते समय आप पाश्चात्य साम्यवाद का भी अध्ययन कर चुके हैं जिसकी झलक इस ग्रंथ में सर्वत्र दिखाई देती है। फिर भी आप उसका अनुकरण नहीं कर रहे हैं। कहीं अपने पात्रों के मुंह से उस पर टीका भी कराते हैं। यही बात स्त्री शिक्षा और पारिवारिक–वैवाहिक जीवन के सम्बन्ध में भी है। सर्वत्र उनका आदर्श भारतीय संस्कृति है, पश्चिम का अनुकरण नहीं। स्त्रियों के पुरुषों के समान अधिकार पाने के दावे का उत्तर प्रेमचंद के दर्शनाचार्य मि० मेहता के मुंह से दिलाया है। स्त्रियों के साथ पुरुषों ने अन्याय किया है, इस बात को स्वीकार करके मि० मेहता कहते हैं कि–'अन्याय को मिटाइये पर अपने को मिटाकर नहीं।' और भी–'संसार में सबसे बड़े अधिकार सेवा और त्याग से मिलते हैं। और वह आपको (स्त्रियों को) मिले हैं।+++मुझे खेद है, हमारी बहनें पश्चिम आदर्श ले रही हैं, जहां नारी ने अपना पद खो दिया है और स्वामिनी से गिरकर विलास की वस्तु बन गई है। पश्चिम की स्त्री स्वच्छन्द होना चाहती है इसलिए कि वह अधिक-से-अधिक विलास कर सके। हमारी माताओं का आदर्श कभी विलास नहीं रहा। उन्होंने केवल सेवा के आदर्श से सदैव गृहस्थी का संचालन किया है। पश्चिम में जो चीजें हैं वह लीजिये। संस्कृत में संघर्ष आदान-प्रदान होता आया है। लेकिन अंधी नकल तो मानसिक दुर्बलता का लक्षण है। पश्चिम की स्त्री आज गृह-स्वामिनी नहीं रहना चाहती। भोग की विदग्ध लालसा ने उसे उच्छशृंखल बना दिया है। वह अपनी लज्जा और गरिमा को, जो उसकी सबसे बड़ी विभूति थी, चंचलता और अमोद-प्रमोद होम कर रही है। जब मैं वहां की सुशिक्षित बालिकाओं को अपने रूप का या, भरी हुई गोल बाहों का, या अपनी नग्नता का प्रदर्शन करते देखता हूं, तो उन पर दया आती है। उनकी लालसाओं ने उन्हें इतना पराभूत कर दिया है कि वे अपनी लज्जा की भी रक्षा नहीं कर सकतीं। नारी की इससे अधिक और क्या अधोगति हो सकती है?'

'गोदान' में प्रेमचंद के विचार परिपक्व हुए दिखाई देते हैं। सामाजिक जीवन के प्रत्येक अंग पर इस ग्रन्थ में उन्होंने अपने दृष्टिकोण से प्रकाश डाला है। वह कोण प्रेम का नहीं, सेवा और त्याग का है। महात्मा गान्धी का प्रभाव स्पष्ट दिखाई दे रहा है। साम्यवाद का औचित्य स्वीकार करते हुए भी प्रेमचंद सर्वत्र सेवा और त्याग पर जोर देते दिखाई दे रहे हैं। इसे आप भारतीय संस्कृति समझते हैं। चित्त की उच्च-नीच वृत्तियों को बे-नकेल छोड़ देना और उन्हें समाज में स्वच्छन्द विचरण करने देना आप नारीत्व और नरत्व के पूर्णविकास में बाधक समझ रहे हैं। 'युवतियां अब विवाह को पेशा नहीं बनाना चाहतीं। वह केवल प्रेम के आधार पर विवाह करेंगी।' इस पूर्वपक्ष का खण्डन आप मि० मेहता से इस प्रकार कराते हैं–'जिसे तुम प्रेम कहती हो वह धोखा है, उद्दीप्त लालसा का विकृत रूप, उसी तरह जैसे संन्यास केवल भीख मांगने का संस्कृत रूप है। वह प्रेम अगर वैवाहिक जीवन में कम है तो मुक्त विलास में बिल्कुल नहीं है। सच्चा आनन्द, सच्ची शान्ति केवल सेवा-व्रत में है। वही अधिकार का स्रोत है, वही शक्ति का उद्गम है। सेवा ही वह सीमेण्ट है जो दम्पती को जीवनपर्यंत स्नेह और सहचर्य में जोड़े रख सकता

है, जिस पर बड़े-बड़े आघातों का भी कोई असर नहीं होता। जहां सेवा का अभाव है वहीं विवाह-विच्छेद है, परित्याग है, अविश्वास है। आपके (स्त्रियों के) ऊपर पुरुष-जीवन की नौका का कर्णधार होने के कारण जिम्मेदारी ज्यादा है। आप चाहें तो नौका को आंधी और तूफान में भी पार लगा सकती हैं, और आपने असावधानी की तो नौका डूब जायगी, और उसके साथ आप भी डूब जायंग।' यही मेहता एक जगह और कहते हैं–'मैं प्रकृति का पुजारी हूं और मनुष्य को प्राकृतिक रूप में देखना चाहता हूं, जो प्रसन्न होकर हंसता है, दुखी होकर रोता है और क्रोध में आकर मार डालता है। जो दु:ख और सुख दोनों का दमन करते हैं, जो रोने को कमजोरी और हंसने को हलकापन समझते हैं, उनसे मेरा कोई मेल नहीं। जीवनी मेरे लिए आनन्दमय क्रीड़ा है, सरल, स्वच्छन्द, जहां कुत्सा, ईर्ष्या और जलन के लिए स्थान नहीं। मैं भूत की चिन्ता नहीं करता, भविष्य की परवाह नहीं करता। वर्तमान ही मेरे लिए सब कुछ है। भविष्य की चिन्ता हमें कायर बना देती है, भूत का भार हमारी कमर तोड़ देता है।+++हम व्यर्थ का भार अपने ऊपर लादकर रूढियों और विश्वासों और इतिहासों के मलबे के नीचे दबे पड़े हैं।+++जो शक्ति, जो स्फूर्ति मानव-धर्म को पूरा करने में लगनी चाहिए थी, सहयोग में, भाईचारे में, वह पुरानी अदावत का बदला लेने और बाप दादों का ऋण चुकाने की भेंट हो जाती है। और जो यह ईश्वर और मोक्ष का चक्कर है इस पर तो मुझे हंसी आती है। यह मोक्ष और उपसाना अहंकार की पराकाष्ठा है, जो हमारी मानवता को नष्ट किये डालती है। जहां जीवन है, क्रीड़ा है, चहक है, प्रेम हैं, वहीं ईश्वर है और जीवन को सुखी बनाना ही उपासना है, और मोक्ष है। ज्ञानी कहता है, होंठों पर मुस्कराहट न आये, आंखों में आंसू न आये। मैं कहता हूं, अगर तुम हंस नहीं सकते और रो नहीं सकते तो तुम मनुष्य नहीं, पत्थर हो। वह ज्ञान जो मानवता को पीस डाले, ज्ञान नहीं है, कोल्हू है।'

यह जीवन की फिलासफी है जिसे प्रेमचंद ने पाठकों के सामने रखा है। प्राच्य त्याग और पाश्चात्य भोग, प्राच्य संयम और पाश्चात्य अनियम, ईश्वर पर अन्ध-विश्वास और मानवत्व में ईश्वरत्व को प्राप्त करने की लालसा, त्यागमय पारिवारिक जीवन और बापदादों के ऋण को अस्वीकार करने की कामना, इन विचारों का संमिश्रण 'गोदान' में जगह-जगह दिखाई देता है। प्राच्य-पाश्चात्य संघर्ष से जीवन का एक शास्त्र 'गोदान' में क्रमश: विकसित हो रहा है। पर, दुर्भाग्यवश, पूर्ण विकास नहीं होने पाता और प्रेमचंद जी हमें मझधार में छोड़ कर सहसा अन्तर्धान हो जाते हैं। इस समय हिन्दी साहित्य की नौका कर्णधारहीन प्रवाह में बहती चली जा रही है। भगवान् जाने उसे फिर दूसरा कर्णधार कब मिलेगा। फिर भी हमारा साहित्य प्रेमचंद का सदैव कृतज्ञ रहेगा। हरिश्चन्द्र के बाद वह अन्धकार में टटोल रहा था, अपने पड़ोसियों से अपच खाद्य लेकर उदर-पूर्ति कर रहा था। रसना विकृत हो रही थी। प्रेमचंद ने उसे अपना घर दिखाया–जीवन से उसका सम्बन्ध कर दिया। हमारी भाषा को स्वाभाविकता प्राप्त करा दी। वह अपने बच्चों के मुंह से निकलने लगी। हिन्दी हिन्द की हुई। यह प्रेमचंद की हिन्दी को देन है। उसका भावी विकास भावी लेखकों पर निर्भर है, पर इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि प्रेमचंद ने हिन्दी साहित्य को जनता का साहित्य बना दिया। उसके निर्मल जीवन में जनवर्ग के प्रतिबिम्ब दिखाई देने लगे हैं। प्रेमचंद के पात्र जनवर्ग के प्रतिबिम्ब हैं, प्रेमचंद के विचार

वर्गों को उठाने और मिलाने के भगीरथ प्रयत्न के द्योतक हैं। स्वयं प्रेमचंद जनता के प्रतीक हैं। उनका स्थूल देह अदृश्य हो गया है पर उनका वह उज्ज्वल प्रतीक तब तक रहेगा जब तक हिन्दी रहेगी और उसके बोलने वाले रहेंगे।

हंस-वाणी

संपादकीय निवेदन

स्मृति-अंक तो निकल गया और जैसा निकला पाठकों के सम्मुख है। अब आवश्यकता इस बात की है कि प्रेमचंदजी का, उनकी कीर्ति के अनुरूप, जीवन-चरित्र यथासम्भव शीघ्र प्रकाशित किया जाय। प्रेमचंदजी के भक्तों को यह जानकर निश्चय ही प्रसन्नता होगी कि यह प्रेम-परिश्रम श्रीयुत पंडित बनारसीदासजी चतुर्वेदी करने वाले हैं। इस कार्य के लिए आपसे बढ़कर उपयुक्त पुरुष मिलना कठिन है। पर जीवन-चरित्र की सफलता केवल लेखक की विद्वत्ता पर निर्भर नहीं है। ऐसा हो तो बनारसीदास जी का कार्यभार ग्रहण करना ही अलम् था। आश्वयकता हिन्दी के उन सब लेखकों और प्रेमचंदजी के मित्रों के सहयोग की है। जिनके पास प्रेमचंदजी का कोई पत्र हो उनसे प्रार्थना है कि उसे रजिस्टरी करके 'हंस' कार्यालय में श्रीमती शिवरानीदेवी अथवा श्री श्रीपतरायजी के नाम भेज देने की कृपा करें। यदि वे पत्रों को कुछ समय के लिए भी अपने से जुदा न कर सकते हों तो उनकी प्रतिलिपि ही, मय तारीख और स्थान के नाम के, भेज दें। पत्रों के सम्बन्ध में यह विचार करने की आवश्यकता नहीं है कि वे महत्व के हैं अथवा नहीं। इसका विचार सम्पादक ही कर सकता है। जीवनी के धागे मिलाने में पत्र लिखने के स्थान और मिती से भी बड़ी मदद मिलती है, यह कहने की आवश्यकता नहीं।

खेद की बात है कि स्मृति अंक की तरह प्रेमचंद स्मारक का प्रश्न भी बहुत पीछे पड़ गया है और इसका प्रधान कारण यह है कि इस सम्बन्ध में जो योजना बनाई गई है वह बहुत बड़ी है और उसके लिए जिन महानुभावों के सहयोग की आवश्यकता है उन्हें एक जगह एकत्र करके कार्यारम्भ कर देने का अवसर अभी तक नहीं मिल पाया है। देर से ही क्यों न हो पर स्मारक बनना चाहिए और वह प्रेमचंद जी के योग्य बनना चाहिए। साहित्य को सजीव, निर्मल और उन्नतिशील बनाना जिस जीवन का आदर्श था उसका उपयुक्त स्मारक वही हो सकता है जो उसे अमर बना दे—जो कार्य प्रेमचंदजी ने प्रारम्भ कर दिया वह उनके नाम पर और उस नाम के पुण्य-प्रभाव से सदैव चलता रहे। यदि स्मारक ऐसा न हुआ तो जो कुछ होगा हमारी—हिन्दी भाषी जनता की भक्ति का द्योतक भले ही हो जाय प्रेमचंद जी के उपयुक्त न होगा।

प्रेमचंदजी का स्थूल शरीर आज हमारे सामने नहीं है पर उनकी आत्मा हम सबमें है और हिन्दी साहित्य को वह सदैव प्रभावित करती रहेगी। सम्भव है, और हम इसके लिए परमात्मा से प्रार्थना भी करते हैं, कि हिन्दी साहित्य को प्रेमचंदजी से भी अधिक प्रतिभाशाली लेखक

शीघ्र मिल जाय, क्योंकि उसके लिए उपयुक्त भूमि प्रेमचंदजी ने तैयार कर दी है। जो भूमि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने तैयार कर दी उस पर प्रेमचंद जी विहार कर गये, मैथिलीशरण जी आज भी कर रहे हैं–अभी और बहुत-बहुत दिन तक करें, यही हम सबकी कामना है–,अब जो प्रेमचंदजी भूमिका तैयार कर गये हैं वह अनुर्बरा कभी न रहेगी। यह आशा ही उस साहित्य गुरु के चरणों में हमारी श्रद्धांजलि है।

●●●

जन्म : 31 जुलाई, 1880 प्रेमचंद मृत्यु : 8 अक्टूबर, 1936

कलम का मसीहा

(औपन्यासिक जीवनी)

बरसात के दिन हैं, सावन का महीना। आकाश में सुनहरी घटाएं छायी हुई हैं। रह-रहकर रिमझिम वर्षा होने लगती है। अभी तीसरा पहर है, पर ऐसा मालूम हो रहा है, शाम हो गयी। आमों के बाग में झूला पड़ा हुआ है। लड़कियां भी झूल रही हैं और उनकी माताएं भी। दो-चार झूल रही हैं, दो-चार झुला रही हैं। कोई कजली गाने लगती है, कोई बारहमासा। इस ऋतु में महिलाओं की बाल-स्मृतियां भी जाग उठती हैं। ये फुहारें मानो चिन्ताओं को हृदय से धो डालती हैं। मानो मुरझाये हुए मन को भी हरा कर देती हैं। सबके दिल उमगों से भरे हुए हैं। धानी साड़ियों ने प्रकृति की हरियाली से नाता जोड़ा है।

इसी समय एक बिसाती आकर झूले के पास खड़ा हो गया। उसे देखते ही झूला बन्द हो गया। छोटी बड़ी सबों ने आकर उसे घेर लिया। बिसाती ने अपना सन्दूक खोला और चमकती-दमकती चीजें निकालकर दिखाने लगा। कच्चे मोतियों के गहने थे, कच्चे लेस और गोटे, रंगीन मोजे, खूबसूरत गुड़िया और गुड़ियों के गहने, बच्चों के लट्टू और झुनझुने। किसी ने कोई चीज ली, किसी ने कोई चीज। एक खूब गोरी, मंझोला कद, भरा हुआ छरहरा शरीर, उठी हुई सुडौल नाक, लम्बे-लम्बे बाल, मीठी आवाज और बड़ी-बड़ी आखों वाली बालिका ने वह चीज पसन्द की, जो उन चमकती हुई चीजों में सबसे सुन्दर थी। वह फिरोजी रंग का एक चन्द्रहार था। मां से बोली—अम्मा, मैं यह हार लूंगी।

मां ने बिसाती से पूछा—बाबा, यह हार कितने का है?

बिसाती ने हार को रुमाल से पोंछते हुए कहा—खरीद तो बीस आने की है, मालकिन जो चाहे दे दें।

माता ने कहा—यह तो बड़ा महंगा है। चार दिन में इसकी चमक-दमक जाती रहेगी।

बिसाती ने मार्मिक भाव से सिर हिलाकर कहा—बहूजी, चार दिन में तो बिटिया को असली चंद्रहार मिल जायेगा।

माता के हृदय पर इन सहृदयता से भरे हुए शब्दों ने चोट की। हार ले लिया गया।

बालिका के आनन्द की सीमा न थी। शायद हीरों के हार से भी उसे इतना आनन्द न होता। उसे पहनकर वह सारे गांव में नाचती फिरी। उसके पास जो बाल-सम्पत्ति थी, उसमें सबसे मूल्यवान, सबसे प्रिय यही बिल्लौर का हार था। लड़की का नाम था आनंदी।

•

मां बेटी को देखती तो हुलास से भर उठती। फिर सोचती, मेरी इतनी रूपवती कन्या के योग्य वर कहां मिलेगा? लड़की सयानी होती जाती है और बाप को अभी तक होश नहीं।

अभी भी उनके लिए पांच वर्ष की तुतलाती दुलारी बनी हुई है। बाप-बेटी कैसे-कैसे तो बचपना करते हैं। दिल जल उठता है—कहती हूं लड़का देखो तो—'अरे अभी कौन जल्दी है ! जरा-सी तो बच्ची है ! कुछ दिन खेल-खाने दो और है भी कितने दिन की' कहकर कैसे अनसुनी कर देते हैं।

पर आज आने दो। ऐसे नहीं चलेगा। सयानी होती बेटी मां की छाती की सिल होती है—बाप क्या जाने। अरे कैसा तो जमाना आ गया है।

और शाम को जैसे ही कारिन्दा साहब की पुकार—'ओ आनंदी ! आनंदी !!' सुनाई पड़ी कि आनंदी की मां आंगन से निकल कर चौखट पर आ पहुंची। त्यौरियों में बल, मुख पर मुस्कान के स्थान पर गम्भीरता ! कारिन्दा साहब बेटी को पुकारना भूल कर पत्नी को देखने लगे—क्यों आज खैरियत तो है ! चन्द्रमुख पर आज बदली कैसे छाई है। आनंदी कहां गई !

कारिन्दा साहब जितने शरीर के हृष्ट-पुष्ट थे उतने ही रसिक मिजाज भी। किताबों के बेहद शौकीन-शायद कुछ लिखते-बिखते भी थे ! साहित्यिक रुचि के आदमी थे। बोल-चाल में साहित्यिकता का पुट होता। उनका गांव करौनी भी काशी विश्वविद्यालय के पास है। शायद वहां की हवा का असर हो। पर आनंदी की मां को ये बातें चोचलों जैसी लगतीं। झुंझला कर बोली—बुढ़ापे में ये लंतरानियां मत बघारा करो। कुछ घर-गृहस्थी का भी ख्याल है। बेटी सयानी हुई घर-वर की तलाश में भी निकलो।

बेटी का जिक्र आते ही कारिन्दा साहब ने फिर गुहार लगाई—ओ आनंदी ! बेटी कहा गई। अरी कहां छुपी बैठी है। दिक न कर। निकल आ ! देख तेरे लिए क्या लाया हूं।

इस गुहार के बहाने आनंदी की मां से मानो पीछा छुड़ा रहे हों। पर आनंदी की मा तो आज पूरी तैयारी से डटी थी।

—बात घुमाओ मत ! आनंदी आ जाएगी। ज्यादा लाड़-प्यार से लड़की का भेजा खराब मत करो। और मेरी बात....

—अरे तो उसे भट्टी में झोंकने को तो तुम ही बहुत हो। इतनी प्यारी-सी बेटी....!

—मेरी बात फिर काटी ! आज इस चौखट पर ही फैसला होगा कि बेटी के लिए वर देखने कब जाओगे। कारिन्दा साहब ने हथियार डाल दिए। नेकी और शराफत उनकी नस-नस में समाई थी। कारिन्दों जैसी निर्मम निष्ठुरता उन्हें छू भी न गई थी। उनके स्वभाव से ये काम मेल ही नहीं खाता था। बोले—अच्छा, तुम जीतीं मैं हारा ! मैं कल ही इस शुभ काम में लगता हूं। अब तो घर में आने दो।

आनंदी की मां का चेहरा खिल उठा मानो पत्ति के आश्वासन से ही उसकी चिंता दूर हो गई हो।

•

कारिन्दा साहब आज वक्त से पहले ही घर आ पहुंचे थे। आनंदी की मां ने जैसे ही हाथ-पैर धोने को पानी लाकर रखा बोले—भई आज तो गंगाजी नहा गया। तुम्हारी इच्छा पूरी हुई।

—क्या वर मिला ? देखने में कैसा है ? नाक-नक्शा कैसा है ? आनंदी की मां एक

सांस में ही बोल गई। यदि कारिन्दा साहब न टोकते तो शायद न जाने कैसे-कैसे प्रश्न कर डालती।

—बस-बस, सांस ले लो। सब बताता हूं। हाथ-मुंह धो लूं। कुछ खिला-पिला दो तो बात बने !

आनंदी की मां को जैसे अपनी भूल का अहसास हुआ। लजा कर बोली—

—बेटी की चिन्ता के मारे तुम्हारा जलपान भी याद न रहा। अभी लाई। कारिन्दा साहब जलपान करके चारपाई पर लेटकर हुक्का का दम लगाने लगे तो पंखा झलने के बहाने आनंदी की मां किनारे आ लगी।

—हां, कुछ कह रहे थे !

—नहीं तो ! कारिन्दा साहब ने मजे लेने को कहा।

—अच्छा चिढ़ाओ मत। बताओ न ! आनंदी की मां की जिज्ञासा अपनी चरम सीमा पर थी।

—लड़का डाक मुंशी है। चार भाइयों में तीसरे नम्बर का। नाम है अजायब लाल। देखने में सीधा सादा । निहायत शरीफ....

—तुम्हें कैसे पता ! पत्नी ने बात काटी।

—अरे जिसे दस आदमी शरीफ कहें वही ठीक ! तुम समझो डाक-मुंशी का काम साफ-सुथरा है। गांव के लोगों के लिए हाकिम, चिट्ठी पत्री, मनिआर्डर का मालिक ! वैसे तो डाक-मुंशी ने डाक बांटी और छुट्टी पाई। पर यह लडका इतना भला है कि पूरे गांव जवार की चिट्ठियां लिखता रहता है। बदले में कोई कुछ दे तो बड़ा संकोच करता है। आस-पास के सभी तारीफ करते हैं।

—है तो अपनी आनंदी के जोड़ का ही न !

—अरे बिल्कुल। खूब ठीक-ठाक है। देखने में सुदर्शन ! और....

—और दूसरे भाई क्या करते हैं ? खानदान कैसा है ? आनंदी की मां की जिज्ञासा शान्त होने में नहीं आ रही थी।

—भाई टोको मत ! सिलसिलेवार सब बताता हूं। बनारस से लगभग चार मील दूर, बनारस से आजमगढ जाने वाली सड़क पर, छोटा-सा गांव है लमही, मौजा मढ़वां। दस-बीस घर कुर्मियों के। दस-बारह घर कायस्थों के, एकाध कुम्हार, कौली, मुसलमान ! कायस्थों में ज्यादातर पढ़े-लिखे हैं—कुछ वकील हैं, पेशकार, अहलमद, स्टाम्प फरोश, पटवारी और डाक-मुंशी या डाकिये हैं।

—अब फिर इधर-उधर की हांकने लगे। आनंदी की मां ने टोका।

—हां लड़के के पूर्वज कोई लाला टीकाराम थे जो शायद ऐरे गांव के थे। इन्हीं लाला टीकाराम के दो बेटे थे—बड़े मनियार सिंह और छोटे महराज सिंह।

मनियार सिंह निस्सन्तान मरे। महराज के दो बेटे हुए (बेटियां न मालूम कितनी हुई) रामलाल और मैकू लाल। मैकू लाल के छह बेटों में से चौथे गुरसहाय लाल पटवारी होकर लमही आए। साथ में अपने भतीजे हर नरायन लाल को भी ले आए। इन्हीं दोनों के घराने ही लमही के सारे घराने हैं।

इन्हीं पटवारी गुर सहाय लाल के चार बेटे हैं—कौलेश्वर, महाबीर, अजायब और

उदित नरायन। इनमें कौलेश्वर मर गए। बाकी दो अजायब लाल और उदित नरायन डाक के सीगे में हैं। महाबीर खेती करते हैं।

—अरे तुमने तो वर की सारी वंशावली ही बांच दी। कहीं पिछले जन्म में भाट तो नहीं थे। आनंदी की मां के चेहरे पर सन्तुष्टि की मुस्कान थी।

—अच्छा जी तो हमें ही खींचने लगीं। बस या और कुछ सुनोगी।

—कुछ और है तो सुनाओ—मेरी बेटी बस सुख से रहे। इतना ध्यान रखना।

—तो भागवान और भी कुछ सुन लो ताकि कल को ये न कहो कि बेटी को कुएं में डाल आए। मुंशी गुरसहाय मस्त मौला जीव थे। खूब चालबाज पटवारीगीरी के फन के उस्ताद। और उस्तादी से साठ बीघे जमीन आराजी कर ली और अपने दूसरे चहेते बेटे महाबीर के नाम कर दी थी। तुम जानो कायस्थ के घर जब खाने-पीने से ज्यादा पैसा हो जाए बस पीने की सूझती है सो गुरसहाय जी खूब पीते और घर में मारपीट करते। लमही के कुछ लोग बता रहे थे कि पीते और अपनी पत्नी को मारते-पीटते। अजायब तो वैसे सौम्य स्वभाव के हैं। उदित छोटे हैं परन्तु महाबीर अपने नाम के अनुरूप ही लहीम-शहीम, हट्टे-कट्टे जवान हैं—तगड़े इतने हैं कि अकेले ही बैल को नाथ देते हैं—बस ये महावीर ही बाप को गर्दनिया कर मां की रक्षा करते। लगता है उनकी लाठी और शरीर से डरकर ही मुंशी जी ने सारी जमीन इनके नाम लिख दी थी और छह बीघे उसके बेटे बलदेव के नाम....।

—तो फिर अजायब लाल का क्या है। तो समझो कि बस नौकरी का ही भरोसा ठहरा! नौकरी भी ऐसी कि ऊपरी आमदनी कुछ नहीं। आनदी की मां के स्वर में खिन्नता उतर आई।

—पहले सुनो तो बीच में बात काट देती हो। तो मुंशी जी पीते-पाते, पत्नी को मारते-पीटते खुद महाबीर के हाथों पिटते—अपनी मौत मरे तो महावीर की बन आई। गुरसहाय के मरते ही उनके भतीजे हरनरायन लाल ने महाबीर को पट्टी पढ़ाई कि यदि तुम अपनी साठ बीघे आराजी जमीन से इस्तीफा दे दो तो तुम चाचा गुरसहाय की जगह पटवारी बन जाओगे। हरनरायन लाल को इनसे अपनी जलन निकालने का मौका मिल गया। महावीर उसकी चाल में फंस गए—मोटी अक्ल के सीधे-सादे पहलवान ने आव देखा न ताव बस जमीन से इस्तीफा दे दिया। पर पटवारीगीरी न मिलनी थी न मिली। अब बाकी तीनों भाइयों के बीच छह बीघे जो महावीर के बेटे बलदेव के नाम गुरसहाय लिख गए थे, बाकी बची है। पर भाइयों में खूब मोह-ममता है। महावीर खेती में कमा रहे हैं और वे दोनों डाक के सीगे में। खर्चा कुछ ज्यादा नहीं है। अभी तक तीनों बे पेव हैं। मैं तो महाबीर को जबान दे आया हूं। अब तुम बताओ। मैंने सारा कुछ तुम्हें बता डाला।

—तो ठीक है, इसी साइत में शादी कर दो।

•

मुंशी अजायब लाल और आनंदी की शादी बड़ी धूम-धाम से हुई। महावीर ने खूब जी खोलकर पैसा खर्च किया।

बरात का नाटक उस वक्त पास होता है, जब राह चलते आदमी उसे पसन्द कर लेते

हैं। नाटक की परीक्षा चार-पांच घंटे तक होती रहती है, बरात की परीक्षा के लिए केवल इतने ही मिनटों का समय होता है। सारी सजावट, सारी दौड़-धूप और तैयारी का निबटारा पांच मिनटों में हो जाता है। अगर सबके मुंह से 'वाह-वाह' निकल गया, तो तमाशा पास, नहीं फेल ! रुपया, मेहनत, फिक्र, सब अकारथ। बरात का तमाशा पास हो गया। गांव में अव्वल दर्जे में आया। कोई बाजों की धों-धों पों-पों सुनकर मस्त हो रहा था, कोई मोटर को आंखें फाड़-फाड़कर देख रहा था। कुछ लोग फुलवारियों के तख्त देखकर लोट-लोट जाते थे। आतिशबाजी ही मनोरंजन का केन्द्र थी। हवाइयां जब सन्न से ऊपर जातीं और आकाश में लाल, हरे, नीले, पीले कुमकुमे-से बिखर जाते; जब चखिंयां छूटतीं ओर उनमें नाचते हुए मोर निकल आते, तो लोग मंत्रमुग्ध-से हो जाते थे। वाह, क्या कारीगरी है !

आनंदी के लिए इन चीजों में लेशमात्र भी आकर्षण न था। हां, वह वर को एक आंख देखना चाहती थी, वह भी सबसे छिपाकर, पर उस भीड़-भाड़ में ऐसा अवसर कहां। द्वारचार के समय उसकी सखियां उसे छत पर खींच ले गयीं और उसने अजायब लाल को देखा। उसका सारा विराग सारी उदासीनता, सारी मनोव्यथा मानो छू-मन्तर हो गयी थी। मुंह पर हर्ष की लालिमा छा गयी।

द्वारचार के बाद बरात जनवासे चली गयी। भोजन की तैयारियां होने लगीं। किसी ने पूरियां खायीं, किसी ने उपलों पर खिचड़ी पकायी। देहात के तमाशा देखनेवालों के मनोरंजन के लिए नाच-गाना होने लगा।

दस बजे सहसा फिर बाजे बजने लगे। मालूम हुआ कि चढाव आ रहा है। बरात में हर एक रस्म डंके की चोट अदा होती है। दूल्हा कलेवा करने आ रहा है, बाजे बजने लगे। समधी मिलने आ रहा है, बाजे बजने लगे। चढ़ाव ज्योंही पहुंचा, घर में हलचल मच गयी। स्त्री-पुरुष, बूढ़े-जवान, सब चढ़ाव देखने के लिए उत्सुक हो उठे। ज्यों-ही किश्तियां मंडप में पहुंचीं, लोग सब काम छोड़कर देखने दौड़। आपस में धक्कम-धक्का होने लगा। आनंदी प्यास से बेहाल हो रही थी, कंठ सूखा जाता था, चढाव आते ही प्यास भाग गयी। कारिंदा साहब मारे भूख-प्यास के निर्जीव-से पड़े थे, यह समाचार सुनते ही सचेत होकर दौड़े। आनंदी की मां एक-एक चीज को निकाल-निकालकर देखने और दिखाने लगी। वहां सभी इस कला के विशेषज्ञ थे। मर्दो ने गहने बनवाये थे, औरतों ने पहने थे, सभी आलोचना करने लगे। यह शेरदहां तो देखो, क्या हाथ की सफाई है ! जी चाहता है कारीगर के हाथ चूम लें। यह भी बारह तोले से कम न होगा। वाह ! कभी देखा भी है, सोलह तोले से कम निकल जाये, तो मुंह न दिखाऊं। हां, माल उतना चोखा नहीं है। यह कंगन तो देखो, बिलकुल पक्की जड़ाई है, कितना बारीक काम है कि आंख नहीं ठहरती। कैसा दमक रहा है। सच्चे नगीने हैं। झूठे नगीनों में यह आब कहां। चीज तो यह गुलूबंद है, कितने खूबसूरत फूल हैं ! और उनके बीच के हीरे कैसे चमक रहे हैं ! इसी तरह एक-एक चीज की आलोचना होती रही। सहसा किसी ने कहा—चन्द्रहार नहीं है क्या !

पर आनंदी को प्रियतम के रूप में चन्द्रहार मिल गया था।

●

आनंदी जैसी सर्वगुण सम्पन्न पत्नी पाकर अजायब लाल फूले न समाए। मुंशी अजायब लाल अपनी सामर्थ्य भर दूसरों की मदद करते। उनसे किसी का कुछ भी भला हो पाता तो पीछे न रहते। अपनी नेक नीयती के चलते ही वे सबके प्यारे थे। और शायद इसीलिए उन्हें पत्नी भी अपने ही अनुरूप मिली थी। आस-पड़ोस के सभी उनके व्यवहार से खुश रहते। न किसी से झगड़ा न किसी के लेने में न देने में। स्त्रियां पर-निन्दा रसिक होती हैं पर आनंदी पर-निन्दा से दूर भागतीं। पति के समान ही शील-सुभाव की घरेलू औरत थीं—हर किसी की मदद के लिए एकदम तैयार। घर के काम-काज में निपुण। खाना तो ऐसा लजीज कि महाबीर लाल शाम को ही कह देते—खाना मंझली बहू ही बनाएगी। सीने-पिरोने में गांव-घर में उनका जोड़ नहीं।

लेकिन सारे सुख तो सभी को एक साथ नसीब नहीं होते। जब सब कुछ ठीक-ठाक चल रहा था तभी उदित नरायन लाल, जो अजायब लाल के बूते ही डाक मुंशी बने थे, ने डाकखाने का एक हजार रुपया गबन कर लिय। पकड़े गए और सात साल की सजा हुई। घरवालों ने जैसे-तैसे करके एक हजार की रकम सरकारी खजाने में जमा कराई पर सजा माफ न हुई।

महाबीर लाल ने देखा कि उदित नरायन के आवारा बेटे जगत नरायन और उनकी दो लड़कियों के साथ उनकी पत्नी का बोझा उन्हें उठाना पड़ सकता है सो एकदम अपनी लाठी के जोर पर अलग हो गए।

मुंशी अजायब लाल सीधे-सादे छल-कपट से दूर भले आदमी थे। इस जिम्मेदारी से मुंह न मोड़ सके। भाई के बाल-बच्चों की परवरिश मुंशी अजायब लाल ता-जिन्दगी करते रहे।

अभी इस संकट से वे जूझ ही रहे थे कि अलग होते ही महाबीर की पत्नी ने मनोयोग पूर्वक तथा योजनाबद्ध तरीके से कौलेश्वर की विधवा को बदनाम करना शुरू कर दिया। कौलेश्वर की विधवा अपने एकमात्र पुत्र मोतीलाल को लेकर चुनार चली गई। भतीजे मोतीलाल भी अपने पिता की तरह तीस वर्ष की उम्र में विधवा पत्नी और एक बच्चे को छोड़कर मरे। इस भतीज वहू का बोझ भी ये उठाने लगे।

मुंशी अजायब लाल और आनंदी दोनों इस गृह कलह से दुखी रहते। इधर आनंदी को दो लड़कियां हुई और दोनों ही मर गई। 'मैके में आनंदी को भूत लगता है इसलिए इसकी संतान जिंदा नहीं रहती' लमही के हर घर में ये बात फैल गई और इस बात में भरोसा करके आनंदी ने रिवाज तोड़कर अपनी तीसरी सन्तान जो एक लड़की थी, को लमही में ही जन्म दिया। इसका नाम सुग्गी रखा गया। संयोग से यह जिंदा रही तो आनंदी को भरोसा हो गया कि यदि आने वाली सन्तानों को लमही ही में जन्म दे तो वे दीर्घ जीवी होंगी। और आनंदी का यह विश्वास रंग लाया और सुग्गी के जन्म के छह सात बरस बाद मुंशी गुरसहाय लाल के बनवाए लमही के उसी कच्चे पुश्तैनी मकान में सावन बदी 10 संवत् 1937, शनिवार तदनुसार 31 जुलाई 1880 को एक गोरे चिट्टे बालक ने जन्म लिया। मुंशी अजायब लाल की खुशी में पूरा गांव शामिल था।

पिता ने मौज में आकर नाम रखा धनपत राय और महाबीर लाल ताऊ ने अपनी पहलवानी और नवाबी दिखाई। कहा—नहीं, लड़के का नाम है नवाब—नवाब राय।

और इसी नवाब राय को आगे चलकर पूरे विश्व ने प्रेमचंद के नाम से जाना।

यहां एक और संयोग—जो लड़का जवान होकर समाज की कुरीतियों, अंध-विश्वासों से आजीवन लड़ता रहा, उन्हें तोड़ता रहा उसी के जन्म पर लोगों ने कहा—लड़का तीन लड़कियों की पीठ पर हुआ है, तेंतर है, मां-बाप में से किसी एक के लिए भारी है।

परन्तु मां आनंदी इनके जन्म के आठ वर्ष बाद और पिता सोलह वर्ष की आयु में दिवगंत हुए और लोगों के अंधविश्वास को झटका दिया।

●

तेंतर ही सही—मां के लिए तो नवाब दुनिया का सबसे अनमोल रतन था। बेटे को लेकर हर वक्त परेशान रहतीं। कभी डिठौना लगातीं—कहीं नजर न लग जाए। रोज रात को नियम से 'नजर झाड़ा' करती। नवाब था भी नजर लगने योग्य। इतना चंचल और शैतान कि बस खुदा की पनाह। ऐसी-ऐसी शरारतें करता कि मां बस खीजकर रह जाती। कभी मुस्कातीं, कभी धमकातीं पर झूठमूठ ही। और शायद नवाब ने उसे भांप लिया था कि चाहे कुछ भी कैसी भी शरारत करो—मां मारेगी नहीं—बस झूठमूठ की धमकी। शायद आनंदी के बचपन का खिलन्दड़ापन इस बच्चे में सजीव हो आया था। रोज कोई न कोई नई शरारत, कोई न कोई शिकायत लिए दरवाजे पर हाजिर।

किसको क्या जवाब दें। उनके मुंह पर नवाब को बुरा-भला कहतीं पर नवाब के घर लौटते ही निहाल हो जातीं—न उन्हें गांव वालों की शिकायत का ध्यान रहता न नवाब की शैतानी। बस यशोदा बनी कृष्ण-लीला का रस लेतीं।

ताऊ महाबीर की मड़ैया इमली के बहुत पुराने पेड़ के नीचे बनी थी। सामने साफ-सुथरी खेलने के लिए जगह। खूब कबड्डी की पाली जमती। ताऊ महाबीर लाल नए-नए दांवपेंच सिखाते। गुलेल से निशाना लगवाते। ढेले मारकर जामुन और आम कैसे तोड़े जा सकते हैं ताऊ ने प्यार-प्यार में ही उसे इन कलाओं में पारंगत कर दिया था। इन विद्याओं के कारण ही वह अनायास ही अपनी मंडली का सरताज बन बैठा। गन्ने के दिनों में ऊख उखाड़ कर पूरी टोली खेतों के निर्जन माहौल में रातों रात ऊख खाती। ऊख उखाड़ने से ज्यादा आसान मटर उखाड़ना था—चार साथी चारों दिशाओं में निगहबानी को तैनात और शेष मंडली मनोयोग से मटर या आलू उखाड़ती। जरा-सा खटका होते ही जैसे नीलगायों का झुंड एकदम निर्विघ्न दिशा में दौड़ पडता है इसी तरह यह मंडली किसी भी दिशा से खतरे का संकेत पाते ही भाग खड़ी होती। खेत वाला या बाग का रखवाला पहुंचता मुंशी अजायब लाल के ही घर। क्योंकि सरगना तो उनका ही लड़का था। नवाब की शरारत शिवरानी देवी के शब्दों में—

पैदा होने के दो-तीन साल बाद आपको जिला बांदा जाना पड़ा। आपकी पढ़ाई पांचवें वर्ष में शुरू हुई। पहले मौलवी साहब से उर्दू पढ़ते थे। उन मौलवी साहब के दरवाजे पर सब लड़कों के साथ पढ़ने जाते थे। आप पढ़ने में बहुत तेज थे। लड़कपन में आप बहुत दुर्बल थे। आपकी विनोदप्रियता का परिचय लड़कपन ही से मिलता है। एक बार की बात है—कई लड़के मिलकर नाई-नाई का खेल खेल रहे थे। आपने एक लड़के

की हजामत बनाते हुए बांस की कमानी से उसका कान ही काट लिया। उस लड़के की मां झल्लाई हुई उनकी मां से उलाहना देने आई। आपने जैसे ही आवाज सुनी, खिड़की के पास दबक गये। मां ने दबकते हुए उन्हें देख लिया था, पकड़कर चार झापड़ दिये।

मां—'उस लड़के के कान तूने क्यों काटे ?'

'मैंने उसके कान नहीं काटे, बल्कि बाल बनाये हैं।'

'उसके कान से तो खून बह रहा है और तू कह रहा है कि मैंने बाल बनाये हैं।'

'सभी तो इस तरह खेल रहे थे।'

'अब ऐसा न खेलना।'

'अब कभी न खेलूंगा।'

•

प्रेमचंद के बचपन की एक और झलक 'कलम का सिपाही' में मिलती है—इसी तरह बचपन के सुहाने दिन बीत रहे थे, कभी लमही में तो कभी पिता के साथ कहीं और। उस कहीं और मे ही एक जगह कजाकी नाम का एक डाक-हरकारा उसकी जिन्दगी में आया और हमेशा के लिए अपनी याद और अपना दाग छोड़ गया—

मेरी बाल-स्मृतियों में कजाकी एक न मिटने वाला व्यक्ति है। आज चालीस साल गुजर गये (कहानी सन् 1926 में लमही में बैठकर लिखी जा रही है जब कि मुदर्रिसी के तेईस तूफानी सालों की बेतहाशा भागमभाग के बाद लेखक उस जिन्दगी को अलविदा कहकर फिर अपने बचपन के परिवेश में लौट आया है, कुछ सुस्ता रहा है और पुरानी स्मृतियां धीमी-धीमी बयार की तरह आकर उसको सहला रही हैं) लेकिन कजाकी की मूर्ति अभी तक आंखों के सामने नाच रही है। मैं उन दिनों अपने पिता के साथ आजमगढ़ की एक तहसील में था। कजाकी जात का पासी था, बडा ही हंसमुख, बड़ा ही जिन्दादिल। वह रोज शाम को डाक का थैला लेकर आता, रात भर रहता और सबेरे डाक लेकर चला जाता। शाम को फिर उधर से डाक लेकर आ जाता। ज्योंही चार बजते, व्याकुल होकर, सड़क पर आकर खड़ा हो जाता और थोड़ी देर में कजाकी कंधे पर बल्लम रखे, उसकी झुनझुनी बजाता, दूर से दौड़ता हुआ आता दिखलायी देता। वह सांवले रग का, गठीला, लंबा जवान था। शरीर ऐसा सांचे में ढला हुआ कि चतुर मूर्तिकार भी उसमें कोई दोष न निकाल सकता। उसकी छोटी-छोटी मूछें उसके सुडौल चेहरे पर बहुत ही अच्छी मालूम होतीं। मुझे देखकर वह और तेज दौड़ने लगता, उसकी झुनझुनी और जोर से बजने लगती और मेरे हृदय में और जोर से खुशी की धड़कन होने लगती। हर्षातिरेक में मैं भी दौड़ पड़ता और एक क्षण में कजाकी का कन्धा मेरा सिंहासन बन जाता।.... संसार मेरी आंखों में तुच्छ हो जाता और जब कजाकी मुझे कंधे पर लिये हुए दौड़ने लगता, तब तो ऐसा मालूम होता मानो मैं हवा के घोड़े पर उड़ा जा रहा हूं।

थैला रखते ही वह हम लोगों को लेकर किसी मैदान में निकल जाता, कभी हमारे साथ खेलता, कभी बिरहे गाकर सुनाता और कभी कहानियां सुनाता। उसे चोरी और डाके, मारपीट, भूत-प्रेत की सैकड़ों कहानियां याद थीं।....उसकी कहानियों के चोर और डाकू

सच्चे योद्धा होते थे जो अमीरों को लूटकर दीन-दुखी प्राणियों का पालन करते थे....

उस वक्त नवाब करीब छः साल के थे। आठवें साल में उनकी पढ़ाई शुरू हो गयी थी, ठीक वही पढ़ाई जिसका कायस्थ घरानों में चलन था, उर्दू-फारसी। लमही से मील सवा मील की दूरी पर एक गांव है लालपुर। वहीं एक मौलवी साहब रहते थे जो पेशे से तो दर्जी थे मगर मदरसा भी लगाते थे।

मुंशी जी ने अपनी एक कहानी 'चोरी' में उस जमाने को खूब डूब-डूबकर याद किया है—हाय बचपन, तेरी याद नहीं भूलती ! वह कच्चा, टूटा घर, वह पुआल का बिछौना, वह नंगे बदन, नंगे पांव खेतों में घूमना, आम के पेड़ों पर चढ़ना—सारी बातें आंखों के सामने फिर रही हैं। चमरौधे जूते पहनकर उस वक्त जितनी खुशी होती थी, अब फ्लेक्स के बूटों में भी नहीं होती, गरम पनुए रस में जो मजा था वह अब गुलाब के शर्बत में भी नहीं, चबेने और कच्चे बेरों में जो रस था वह अब अंगूर और खीरमोहन में भी नहीं मिलता।

मैं अपने चचेरे भाई हलधर[1] के साथ दूसरे गांव में एक मौलवी साहब के यहां पढ़ने जाया करता था। मेरी उम्र आठ साल थी, हलधर (वह अब स्वर्ग में निवास कर रहे हैं) मुझसे दो साल जेठे थे। हम दोनों प्रातःकाल बासी रोटियां खा, दोपहर के लिए मटर और जौ का चबेना लेकर चल देते थे। फिर तो सारा दिन अपना था। मौलवी साहब के यहां कोई हाजिरी का रजिस्टर तो था नहीं और न गैरहाजिरी का जुर्माना ही देना पड़ता था। फिर डर किस बात का। कभी तो थाने के सामने खड़े सिपाहियों की कवायद देखते, कभी किसी भालू या बन्दर नचानेवाले मदारी के पीछे-पीछे घूमने में दिन काट देते, कभी रेलवे स्टेशन की ओर निकल जाते ओर गाड़ियों की बहार देखते। गाड़ियों के समय का जितना ज्ञान हमको था उतना शायद टाइम टेबिल को भी न था। रास्ते में शहर के एक महाजन ने एक बाग लगवाना शुरू किया था, वहा एक कुआ खुद रहा था। वह भी हमारे लिए दिलचस्प तमाशा था। बूढ़ा माली हमें अपनी झोंपड़ी में बड़े प्रेम से बैठाता था। हम उससे झगड़-झगड़कर उसका काम करते। कही बाल्टी लिये पोदो को सींच रहे हैं, कहीं खुरपी से क्यारियां गोड़ रहे हैं, कहीं कैंची से बेलों की पत्तियां छांट रहे हैं। उन कामो मे कितना आनन्द था। माली बाल-प्रकृति का पण्डित था, हमसे काम लेता पर इस तरह मानो हमारे ऊपर कोई एहसान कर रहा है। जितना काम वह दिन भर में करता, हम घण्टे भर में निबटा देते।

पढ़ाई का तरीका वही पुराना रहा होगा जो कि बाद के तमाम नये प्रयोगों के बावजूद शायद सबसे अच्छा था यानी रटन्त। गणित के मास्टर साहब पहाड़ा रटाते थे और दर्जे भर के लड़के झूम-झूमकर समवेत गायन की तरह पहाड़े रटते थे—सात के सात, सात दुनी चोदह, सात तियां इक्कीस....संस्कृत के पण्डित जी गच्छति गच्छतः गच्छन्ति, रामः रामौ रामाः रटाते थे और मौलवी साहब आमदनामा लेकर माज़ी और मजहूल, हाल और मुस्तकबिल, अम्र और निही के तमाम सीगों में सैकड़ों मजदूरों और मुजारों की गोयन्द करवाते थे—आमद आमदन्द आमदी आमदेद आमदम आमदेम। गोयद गोयन्द गोयी गोयेद

---

1 असल नाम बलभद्र। महाबीर लाल के छोटे लड़के, बलदेव लाल के छोटे भाई। जवानी में ही मर गये। मसूढ़े में सुपारी फंस गयी। वही नासूर बन गयी।

गोयम गोयेम! (क्या अजब कि यह चीज मौलवी साहब के दहियलों और चण्डूलों की जबान पर लड़कों से पहले चढ़ जाती थी !) जब आमदनामा पक्का हो जाता तब सादी के गुलिस्तां-बोस्तां और करीमा-मामुकीमा की बारी आती। फारसी पढ़ाने का यह कायदा आज सैकड़ों साल से दुनिया में चल रहा है। नवाब ने भी इसी कायदे से फारसी पढ़ी और चुहलबाजियां तो जो होनी थीं, होती रहीं, ताहम ऐसा लगता है कि मौलवी साहब ने नवाब की फारसी की जड़ काफी मजबूत कर दी। उर्दू के बारे में कहा जाता है कि उर्दू पढ़ायी नहीं जाती, घलुए में आती है; पढ़ायी तो फारसी जाती है। जो भी बात हो, इसमें शक नहीं कि इन मौलवी साहब ने उनकी फारसी की बुनियाद खूब पक्की कर दी थी, कि उस पर यह महल खड़ा हो सका। प्राइवेट तौर पर जब इण्टर और बी. ए. करने की नौबत आयी, उस वक्त नवाब राय को यह तय करने में एक मिनट नहीं लगा कि एक विषय जरूर फारसी होना चाहिए।

इस तरह थोड़ा-बहुत पढ़ते और सारे दिन मटरगश्ती करते, खेलते-कूदते, मजे में दिन बीत रहे थे।

और इन्हीं दिनों की बात है कि उन्होंने और हलधर (बलभद्र) ने मिलकर घर से एक रुपया उड़ाया था। अब जरा उसकी दास्तान उन्हीं से सुनिए:

....मुंह-हाथ धोकर हम दोनों घर आये और डरते डरते अन्दर कदम रखा। अगर कहीं इस वक्त तलाशी की नौबत आयी तो फिर भगवान ही मालिक है। लेकिन सब लोग अपना-अपना काम कर रहे थे। कोई हमसे न बोला। हमने नाश्ता भी न किया, चबेना भी न लिया, किताब बगल में दबायी और मदरसे का रास्ता लिया।

बरसात के दिन थे। आकाश पर बादल छाये हुए थे। हम दोनों खुश-खुश मकतब चले जा रहे थे....हजारों मंसूबे बांधते थे, हजारों हवाई किले बनाते थे। यह अवसर बड़े भाग्य से मिला था। इसलिए रुपये को इस तरह खर्च करना चाहते थे कि ज्यादा दिनों तक चल सके। उन दिनों पांच आने सेर बहुत अच्छी मिठाई मिलती थी और शायद आध सेर मिठाई में हम दोनों अफर जाते लेकिन यह खयाल हुआ कि मिठाई खायंगे तो रुपया आज ही गायब हो जाएगा। कोई सस्ती चीज खानी चाहिए जिसमें मजा भी आये, पेट भी भरे और पैसे भी कम खर्च हों। आखिर अमरूदों पर हमारी नजर गयी। हम दोनों राजी हो गये। दो पैसे के अमरूद लिये। सस्ता समय था, बड़े-बड़े बारह अमरूद मिले, हम दोनों के कुर्तों के दामन भर गये। जब हलधर ने खटकिन के हाथ में रुपया रखा तो उसने सन्देह से ट   र पूछा—रुपया कहां पाया लाला ? चुरा तो नहीं लाये ?

जवाब हमारे पास तैयार था। ज्यादा नहीं तो दो-तीन किताबें पढ़ ही चुके थे। विद्या का कुछ-कुछ असर हो चला था। मैंने झट से कहा—मौलवी साहब की फीस देनी है। घर में पैसे न थे तो चाचा जी ने रुपया दे दिया।

मदरसे पहुंचे।

हम अभी सबक पढ़ ही रहे थे कि मालूम हुआ, आज तालाब का मेला है, दोपहर से छुट्टी हो जाएगी। मौलवी साहब मेले में बुलबुल उड़ाने जायंगे। यह खबर सुनते ही हमारी खुशी का ठिकाना न रहा। बारह आने तो बैंक में जमा ही कर चुके थे, साढ़े तीन आने में मेला देखने की ठहरी। खूब बहार रहेगी। मजे से रेवड़ियां खायंगे, गोलगप्पे उड़ायेंगे, झूले

पर चढ़ेंगे, और शाम को घर पहुंचेंगे। लेकिन मौलवी साहब ने एक कड़ी शर्त यह लगा दी थी कि सब लड़के छुट्टी के पहले अपना-अपना सबक सुना दें। जो सबक न सुना सकेगा, उसे छुट्टी न मिलेगी। नतीजा यह हुआ कि मुझे तो छुट्टी मिल गयी पर हलधर कैद कर लिये गये। और कई लड़कों ने भी सबक सुना दिये थे, वे सभी मेला देखने चल पड़े। मैं भी उनके साथ हो लिया। पैसे मेरे ही पास थे इसलिए मैंने हलधर को साथ लेने का इन्तजार न किया। तय हो गया था कि वह छुट्टी पाते ही मेले में आ जायं और दोनों साथ-साथ मेला देखें। मैंने वचन दिया था कि जब तक वह न आयेंगे एक पैसा भी खर्च न करूंगा लेकिन क्या मालूम था कि दुर्भाग्य कुछ और ही लीला रच रहा है। मुझे मेला पहुंचे एक घण्टे से ज्यादा गुजर गया, पर हलधर का कहीं पता नहीं। क्या अभी तक मौलवी साहब ने छुट्टी नहीं दी, या रास्ता भूल गये ? आंखें फाड-फाड़कर सड़क की ओर देखता था। अकेले मेला देखने में जी भी नहीं लगता था। यह संशय भी हो रहा था कि कहीं चोरी खुल तो नहीं गयी और चाचाजी हलधर को पकड़कर घर में तो नहीं ले गये। आखिर जब शाम हो गई तो मैंने कुछ रेवड़ियां खायीं और हलधर के हिस्से के पैसे जेब में रखकर धीरे-धीरे घर चला। रास्ते में ख्याल आया, मकतब होता चलूं। शायद हलधर अभी वहीं हों, मगर वहां सन्नाटा था। हां, एक लड़का खेलता हुआ मिला। उसने मुझे देखते ही जोर से कहकहा मारा और बोला—बचा, घर जाओ तो, कैसी मार पड़ती है ! तुम्हारे चाचा आये थे। हलधर को मारते मारते ले गये है। अजी, ऐसा तानकर घूंसा मारा कि मियां हलधर मुंह के बल गिर पड़े। यहां से घसीटते ले गये हैं। तुमने मौलवी साहब की तनख्वाह दे दी थी, वह भी ले ली। अभी कोई बहाना सोच लो, नहीं तो बेभाव की पड़ेगी।

मेरी सिट्टी-पिट्टी भूल गयी, बदन का लहू सूख गया। वही हुआ जिसका मुझे शक हो रहा था। पैर मन-मन भर के हो गये। घर की ओर एक-एक कदम चलना मुश्किल हो गया। देवी-देवताओं के जितने नाम याद थे, सभी की मानता मानी—किसी को लड्डू, किसी को पेड़े, किसी को बताशे। गांव के पास पहुंचा तो गाव के डीह का सुमिरन किया क्योंकि अपने हलके में डीह ही की इच्छा सर्व प्रधान होती है।

यह सब कुछ किया लेकिन ज्यों-ज्यों घर निकट आता दिल की धड़कन बढ़ती जाती थी। घटाएं उमड़ी आती थी। मालूम होता था आसमान फटकर गिरा ही चाहता है। देखता था—लोग अपने-अपने काम को छोड़-छोड़ भागे जा रहे हैं, गोरू भी पूंछ उठाये घर की ओर उछलते-कूदते चले जाते हैं। चिड़ियां अपने घोंसले की ओर उड़ी चली आती थीं, लेकिन मैं उसी मन्द गति से चला जाता था, मानो पैरों में शक्ति नही। जी चाहता था, जोर का बुखार चढ़ आये, या कहीं चोट लग जाय, लेकिन कहने से धोबी गधे पर नहीं चढ़ता। बुलाने से मौत नहीं आती, बीमारी का तो कहना ही क्या। कुछ न हुआ और धीरे-धीरे चलने पर भी घर सामने आ ही गया। अब क्या हो ? हमारे द्वार पर इमली का एक घना वृक्ष था, मैं उसी की आड़ में छिप गया कि ज़रा और अंधेरा हो जाये तो चुपके से घुस जाऊं और अम्मां के कमरे में चारपाई के नीचे जा बैठूं। जब सब लोग सो जायंगे तो अम्मां से सारी कथा कह सुनाऊंगा। अम्मां कभी नहीं मारतीं। ज़रा उनके सामने झूठ-मूठ रोऊंगा तो वह और भी पिघल जायंगी। रात कट जाने पर फिर कौन पूछता है। सुबह तक सब का गुस्सा ठण्डा हो जायगा। अगर ये मंसूबे पूरे हो जाते तो इसमें सन्देह नहीं कि मैं बेदाग बच जाता। लेकिन

वहां तो विधाता को कुछ और ही मंजूर था। मुझे एक लड़के ने देख लिया और मेरे नाम की रट लगाते हुए सीधे मेरे घर में भागा। अब मेरे लिए कोई आशा न रही। लाचार घर में दाख़िल हुआ तो सहसा मुंह से एक चीख़ निकल गयी, जैसे मार खाया हुआ कुत्ता किसी को अपनी ओर आता देखकर भय से चिल्लाने लगता है। बरोठे में पिता जी बैठे थे। पिता जी का स्वास्थ्य इन दिनों कुछ खराब हो गया था। छुट्टी लेकर घर आये हुए थे। यह तो नहीं कह सकता कि उन्हें शिकायत क्या थी, पर वह मूंग की दाल खाते थे और सन्ध्या समय शीशे के गिलास में एक बोतल में से कुछ उंडेल उंडेलकर पीते थे। शायद यह किसी तजुर्बेकार हकीम की बतायी हुई दवा थी। दवाएं सब बसानेवाली और कड़वी होती हैं। यह दवा भी बुरी ही थी, पर पिता जी न जाने क्यों इस दवा को खूब मज़ा ले-लेकर पीते थे। हम जो दवा पीते हैं तो आंखें बन्द करके एक ही घूंट में गटक जाते हैं, पर शायद इस दवा का असर धीरे-धीरे पीने में ही होता हो। पिता जी के पास गांव के दो-तीन और कभी-कभी चार-पांच और रोगी भी जमा हो जाते, और घण्टों दवा पीते रहते थे। रोगियों की मण्डली जमा थी,मुझे देखते ही पिताली ने लाल-लाल आंखें करके पूछा—कहां थे अब तक ?

मैंने दबी ज़बान से कहा—कहीं तो नहीं।

'अब चोरी की आदत सीख रहा है ? बोल, तूने रुपया चुराया कि नहीं ?'

मेरी ज़बान बन्द हो गयी। सामने नंगी तलवार नाच रही थी। शब्द भी निकालते हुए डरता था।

पिता जी ने ज़ोर से डांटकर पूछा—बोलता क्यों नहीं ? तूने रुपया चुराया कि नहीं ?

मैंने जान पर खेलकर कहा—मैंने कहां....

मुंह से पूरी बात भी न निकल पायी थी कि पिता जी विकराल रूप धारण किये, दांत पीसते, झपटकर उठे और हाथ उठाये मेरी ओर चले। मैं ज़ोर से चिल्लाकर रोने लगा—ऐसा चिल्लाया कि पिता जी भी सहम गये। उनका हाथ उठा ही रह गया। शायद समझे कि जब अभी से इसका यह हाल है तब तमाचा पड़ जाने पर कहीं इसकी जान ही न निकल जाय। मैंने जो देखा कि मेरी हिकमत काम कर गयी, तो और भी गला फाड़-फाड़कर रोने लगा। इतने में मण्डली के दो-तीन आदमियों ने पिता जी को पकड़ लिया और मेरी ओर इशारा किया कि भाग जा ! बच्चे बहुधा ऐसे मौक़े पर और भी मचल जाते हैं, और व्यर्थ मार खा जाते हैं। मैंने बुद्धिमानी से काम लिया।

लेकिन अन्दर का दृश्य इससे कहीं भयंकर था। मेरा तो खून सर्द हो गया। हलधर के दोनों हाथ एक खम्भे से बंधे थे, सारी देह धूल-धूसरित हो रही थी, और वह अभी तक सिसक रहे थे। शायद वह आंगन भर में लोटे थे। ऐसा मालूम हुआ कि सारा आंगन उनके आंसुओं से भीग गया है। चची हलधर को डांट रही थीं, और अम्मां बैठी मसाला पीस रही थीं। सबसे पहले मुझ पर चची की निगाह पड़ी। बोलीं—लो, वह भी आ गया। क्यों रे, रुपया तूने चुराया था कि इसने ?

मैंने निःशंक होकर कहा—हलधर ने।

अम्मां बोलीं—अगर उसी ने चुराया था, तो तूने घर आकर किसी से कहा क्यों नहीं?

अब झूठ बोले बग़ैर बचना मुश्किल था। मैं तो समझता हूं कि जब आदमी को जान का ख़तरा हो, तो झूठ बोलना क्षम्य है। हलधर मार खाने के आदी थे, दो-चार घूंसे और

पड़ने से उनका कुछ न बिगड़ सकता था। मैंने मार कभी न खायी थी। मेरा तो दो ही चार घूंसों में काम तमाम हो जाता। फिर हलधर ने भी तो अपने को बचाने के लिए मुझे फंसाने की चेष्टा की थी। नहीं तो चची मुझसे यह क्यों पूछतीं—रुपया तूने चुराया या हलधर ने? किसी भी सिद्धान्त से मेरा झूठ बोलना इस समय स्तुत्य नहीं, तो क्षम्य ज़रूर था। मैंने छूटते ही कहा—हलधर कहते थे किसी से बताया, तो मार ही डालूंगा।

अम्मां—देखा, वही बात निकली न ! मैं तो कहती ही थी कि बच्चा की ऐसी आदत नहीं, पैसा तो वह हाथ से छूता ही नहीं लेकिन सब लोग मुझी को उल्लू बनाने लगे।

हलधर—मैंने तुमसे कब कहा था कि बतलाओगे, तो मारूंगा ?

मैं—वहीं तालाब के किनारे तो !

थोड़ी-सी पढाई थी, ढेरों उछलकूद। चिबिल्लेपन की इन्तहा नहीं। कभी बन्दर-भालू का नाच है तो कभी आपस में ही घुड़दौड़ हो रही है। रामू, रघुनाथ, पिरथी, पदारथी, बांगुर, गोबर्द्धन और और भी न जाने कितने, पूरी फ़ौज थी। तीन महीने मुतवातिर आमों की ढेलेबाज़ी चलती। इतने कच्चे आम खाये जाते कि फ़सल भर चोपी लग-लगकर मुंह फदका रहता। आम में जाली पड जाती तो फिर पना भी शुरू हो जाता। किसी के यहां से नमक आता, किसी के यहां से ज़ीरा, किसी के यहां से हींग, किसी के यहां से नयी हंडिया के लिए पैसा। फिर कोई हंडिया लाने चला जाता, बाकी लोग बांस की पत्ती बटोरने में लग जाते। पास ही बसवारी थी। फिर आग सुलगायी जाती, आम भूने जाते। पना बनाने का पूरा एक शास्त्र था और इस शास्त्र के दो ही एक आचार्य थे। उनमें नवाब नहीं थे। पर हां, हिस्सा लेने में सबसे आगे रहते थे। यह तो गर्मी का नक्शा था। जाडे के दिनों में ढेरों ऊख तोड़ लाये। उसी में यह भी बाज़ी लगी हुई है कि ऊख की चेप कौन सबसे बडी निकाल सकता है। कभी कोल्हाडे में चले गये जहां गुड बन रहा होता, वहां पनुए रस के (जो खोई को फिर से पानी में भिगोकर तैयार किया जाता है, तबीयत तर की या कच्चा गुड़ लेकर दांत से उसके लडने का मजा देखा। गुड से मुंशीजी को बेहद प्रेम है। गुड़ मिठाइयों का बादशाह है। सारी ज़िन्दगी गुड़ का यह प्रेम इसी तरह बना रहा। खाने के साथ थोड़ा-सा गुड जरूरी था।

गुड़ की चोरी का एक निहायत दिलचस्प किस्सा, अपने बचपन का, मुंशीजी ने 'होली की छुट्टी' में सुनाया है—

'अम्मा तीन महीने के लिए अपने मैके या मेरी ननिहाल गयी थी और मैंने तीन महीने में एक मन गुड का सफ़ाया कर दिया था। यही गुड़ के दिन थे। नाना बीमार थे, अम्मां को बुला भेजा था। मेरा इम्तिहान पास था, इसलिए मैं उनके साथ न जा सका ...जाते वक्त उन्होंने एक मन गुड़ लेकर एक मटके में रखा और उसके मुंह पर एक सकोरा रखकर मिट्टी से बन्द कर दिया। मुझे सख्त ताकीद कर दी कि मटका न खोलना। मेरे लिए थोड़ा-सा गुड़ एक हांड़ी में रख दिया था। वह हांड़ी मैंने एक हफ्ते में सफ़ाचट कर दी। सुबह को दूध के साथ गुड़, दोपहर को रोटियों के साथ गुड़, तीसरे पहर दानों के साथ गुड़, रात को फिर दूध के साथ गुड़। यहां तक जायज़ खर्च था, जिस पर अम्मां को भी कोई एतराज़ न हो सकता। मगर स्कूल से बार-बार पानी पीने के बहाने घर में आता और दो-एक पिण्डियां निकालकर खा लेता। उसकी बजट में कहां गुंजाइश थी। और मुझे गुड़ का कुछ ऐसा चस्का

पड़ गया कि हर वक्त वही नशा सवार रहता। मेरा घर में आना गुड़ के सिर शामत आना था। एक हफ्ते में हांड़ी ने जवाब दे दिया। मगर मटका खोलने की सख़्त मनाही थी और अम्मां के घर आने में अभी पौने तीन महीने बाकी थे। एक दिन तो मैंने बड़ी मुश्किल से जैसे-तैसे सब्र किया लेकिन दूसरे दिन एक आह के साथ सब्र जाता रहा और मटके की एक मीठी चितवन के साथ होश रुख़सत हो गया।'

फिर तो इस दो अंगुल की जीभ ने क्या-क्या नाच नचाया है–

'अपने को कोसता, धिक्कारता–गुड़ तो खा रहे हो मगर बरसात में सारा शरीर सड़ जायगा, गंधक का मलहम लगाये घूमोगे, कोई तुम्हारे पास बैठना भी न पसन्द करेगा। कसमें खाता, विद्या की, मां की, स्वर्गीय पिता की, गऊ की, ईश्वर की....'

कुछ भी काम न आया, तो 'बड़े भक्तिभाव से ईश्वर से प्रार्थना की–भगवान्, यह मेरा चंचल लोभी मन मुझे परीशान कर रहा है, मुझे शक्ति दो कि उसको वश में रख सकूं। मुझे अष्टघात की लगाम दो जो उसके मुंह में डाल दूं !'

मगर सब बेसूद। कोठरी में ताला लगाकर एक बार उसकी चाभी दीवार की संधि में डाल दी जाती है और दूसरी बार कुए में फेंक दी जाती है, मगर तब भी रिहाई नहीं मिलती और वह मन भर का मटका पेट में समा जाता है !

इस तरह की दिलचस्पियों की नवाब को कुछ कमी न थी। कभी दो-चार लोग जाकर पोखरी से मछली मार लाये और भूनकर खा गये। और कभी इमली के नीचे चटाचट गोली की चोटें होतीं, चिंये से ताक-जूस, चित-पट होता जो कि तकदीर के चित-पट से रत्ती भर घटकर नहीं था क्योंकि उसमें भी बाज़ाब्ता ख़ज़ाने जीते और हारे जाते, कोई दरिद्र हो जाता, कोई मालामाल हो जाता–मतलब यह कि दिलचस्पी के सामानों की कुछ कमी न थी, और हां, रात को दादी से कहानी सुनी जाती और झगड़ा होता कि कहानी कहते समय दादी का मुंह भैया (बलभद्र) की तरफ क्यों हो जाता है।

पर शायद नियति को नवाब की मौज-मस्ती रास न आ रही थी। मां और बाप दोनो ही संग्रहणी के मरीज थे। मां ने बिस्तर पकड़ लिया था। छोटा-सा नवाब सारी शरारतें भूल कर मां के पास बैठा पंखा झलता रहता और मां उस नन्हें का मुंह निहारती। नवाब के चचेरे भाई बलदेव लाल ही दवा-दारू के लिए भागदौड़ करते। बड़ी बहन सुग्गी का ब्याह भी उसी वर्ष में लहौली गांव में हो गया था। यह गांव मिर्जापुर के पास ही है।

सो जिस दिन आनंदी (नवाब की मां) ने आंखें मूंदीं उसी दम उसके लिए संसार सूना हो गया था। पिता पर घर की जिम्मेदारियां पहले ही सामर्थ्य से बाहर थीं। ऊपर से यह वज्रपात। वैसे भी सरकारी नौकरी के आए दिनों के तबादले ने भी मुंशी अजायब लाल को चिड़चिड़ा कर दिया था। उनकी समझ में नहीं आ रहा था नवाब को कैसे पालें ? कैसे पढ़ाएं-लिखाएं ? बाप तो मां नहीं बन सकता। मां की छाया ही बच्चे को जीने का संबल देती रहती है। अनजाने ही मां की ममता का स्रोत बालक को ताजा दम बनाए रखता। और जब यह छाया ही हट जाए तो बाल-मन कहीं-कहीं की छाया ढूंढ़ता है। नवाब ने जब अपने बाप में मां की ममता पानी चाही तो वहां सिवाय खीज और गुस्से के कुछ भी बाकी न था–

"बाबू जी बड़े गुस्सेवर थे। उन्हें काम बहुत करना पड़ता था, इसी से बात-बात पर झुंझला पड़ते थे। मैं तो उनके सामने कभी आता ही न था, वह भी मुझे कभी प्यार न करते

थे, बाकी सारे दिन दफ्तर में लिखा करते थे। उन्होंने बार-बार एक सहकारी के लिए अफसरों से विनय की थी, पर उसका कुछ असर न हुआ था। यहां तक कि तातील के दिन भी बाबूजी दफ्तर ही में रहते....बाबूजी मुझे प्यार तो कभी न करते थे, पर पैसे खूब देते थे। शायद अपने काम में व्यस्त रहने के कारण, मुझसे पिण्ड छुड़ाने के लिए इसी नुस्खे को सबसे आसान समझते थे।"

नवाब की दुनिया में अब केवल ऊपर आसमान था नीचे ऊबड़-खाबड़ जमीन ! चारों तरफ के सूनेपन ने नवाब को फिर से शरारती बना डाला। आवारागर्दी के जितने भी दुर्गुण थे—नवाब में घर करते चले गए। अभी मां को गुजरे दो साल भी न गुजरे थे कि पिता ने दूसरी शादी कर ली। बच्चे ने हुमक कर इस स्त्री को देखा जिसे उसके पिता उसकी नई मां बता रहे थे।

नवाब ने सोचा मां का प्यार मिलेगा पर यहां भी निराशा ही हाथ लगी। नवाब की प्यार की भूख और बढ गई और इस भूख ने उसे नितान्त एकान्त प्रिय बना डाला। बाप की तरफ मन जाता तो देखता पिता के पास उसके लिए समय नहीं है। इस समय गोरखपुर में अपनी विमाता और पिता के साथ रहना पड़ रहा था। न कोई संगी न साथी। मां की कमी नवाब के अन्तर्मन में गहरे बैठ गयी तभी तो 'कर्मभूमि' का अमरकान्त नवाब के मन की बात कह उठता है—

'जिन्दगी की वह उम्र जब इंसान को मुहब्बत की सबसे ज़्यादा जरूरत होती है, बचपन है। उस वक्त पौदे को तरी मिल जाय तो ज़िन्दगी भर के लिए उसकी जड़ें मजबूत हो जाती हैं। उस वक्त खुराक न पाकर उसकी जिन्दगी खुश्क हो जाती है। मेरी मां का उसी ज़माने में देहान्त हुआ और तब से मेरी रूह को खुराक नहीं मिली। वही भूख मेरी जिन्दगी है।'

शायद अपनी कुछ उसी मनोदशा को उन्होंने 'कर्मभूमि' में यों व्यक्त किया है—

'अमरकान्त ने मित्रों के कहने-सुनने से दूसरा विवाह कर लिया था। उस सात साल के बालक ने नयी मां का बड़े प्रेम से स्वागत किया, लेकिन उसे जल्द मालूम हो गया कि उसकी नयी मां उसकी ज़िद और शरारतों को उस क्षमादृष्टि से नहीं देखती जैसे उसकी मां देखती थी। वह अपनी मां का अकेला लाड़ला था। बडा ज़िद्दी, बड़ा नटखट। जो बात मुंह से निकल जाती, उसे पूरा करके ही छोड़ता। नयी माताजी बात-बात पर डांटती थीं। यहां तक कि उसे माता से द्वेष हो गया। जिस बात को वह मना करतीं, उसे अदबदाकर करता। पिता से भी ढीठ हो गया। पिता और पुत्र का स्नेह का बन्धन न रहा।'

यह मनःस्थिति ठीक वह थी जिसमें नवाब के बिलकुल बहक जाने का पूरा सामान था, लेकिन प्रकृति जैसे अपने और तमाम जंगली फूल-पौदों को नष्ट होने से बचाती है जिनकी सेवा-टहल के लिए कोई माली नहीं होता, उसी तरह इस आवारा छोकरे को भी बचा रही थी। उसको बचाने के लिए उसने ढंग भी ऐसा ही अख्तियार किया जो उसकी प्रतिभा के अनुकूल था।

बस एक हल्का-सा मोड़ दे दिया। आवारागर्दी अब भी चल रही थी—मगर मोटी-मोटी किताबों के पन्ने में, जिनका रस छन-छनकर उसके भीतर के किस्सागो को खुराक पहुंचा रहा था। जो भूख उसके भीतर न जाने कब से, शायद जन्म से ही पल रही थी, जिसे दादी की

कहानियों ने और उकसा दिया था, अब नवाब खुद उसके लिए खुराक जुटा रहा था—और इस तरह फिर वह आवारागर्दी आवारागर्दी न रह गयी, गुल्ली-डण्डे और मटरगश्ती की जगह तिलस्म और ऐयारी की मोटी-मोटी किताबों ने ले ली, ऐसी कि 'पूरी एन्साइक्लोपीडिया समझ लीजिए। एक आदमी तो अपने साठ वर्ष के जीवन में उनकी नकल भी करना चाहे तो नहीं कर सकता, रचना तो दूर की बात है।' यह मौलाना फैज़ी के 'तिलस्म होशरुबा' की तारीफ है जिसके पचीसों हज़ार पन्ने तेरह साल के नवाब ने दो-तीन बरस के दौरान में पढ़े और और भी न जाने कितना कुछ चाट डाला जैसे रेनाल्ड की 'मिस्ट्रीज़ आफ द कोर्ट आफ लण्डन' की पचीसों किताबों के उर्दू तर्जुमे, मौलाना सज्जाद हुसैन की हास्य-कृतियां, 'उमरावजान अदा' के लेखक मिर्ज़ा रुसवा और रतननाथ सरशार के ढेरों किस्से। उपन्यास ख़त्म हो गये तो पुराणों की बारी आयी। नवलकिशोर प्रेस ने बहुत से पुराणों के उर्दू अनुवाद छापे थे, उन पर टूट पड़े।

कोई पूछे कि इतनी सब किताबें इस लड़के को मिलती कहां थीं ?

'रेती पर एक बुकसेलर बुद्धिलाल नाम का रहता था। मैं उसकी दुकान पर जा बैठता था और उसके स्टाक के उपन्यास ले-लेकर पढ़ता था। मगर दुकान पर सारे दिन तो बैठ न सकता था, इसलिए मैं उसकी दुकान से अंग्रेज़ी पुस्तकों की कुंजियां और नोट्स लेकर अपने स्कूल के लड़कों के हाथ बेचा करता था और उसके मुआवज़े में दुकान से उपन्यास घर लाकर पढ़ता था। दो-तीन वर्षों में मैंने सैकड़ों ही उपन्यास पढ़ डाले होंगे।'

गरज़ कि बाद में, बहुत बाद में, कुछ दोस्तों ने उन्हें किताबी कीड़ा का जो लकब दिया था उसका यह पूर्वाभास था। इससे हलका एक पूर्वाभास तो अब से तीन बरस पहले मिला, जब पिता की शादी के मौके पर नवाब ने लोगों की दिलबस्तगी के लिए या बैतबाजी की प्रतियोगिता में, जो कि कायस्थों की शादी में न तब कोई अनहोनी चीज़ थी न अब है, इतनी ग़ज़लें सुनायी थीं कि घराती-बराती सब दंग रहे गये। उस वक्त नवाब मिशन स्कूल में आठवीं जमात में पढ़ते थे जो तीसरा दर्जा कहलाता था। लेकिन गोरखपुर वह शायद उसके भी दो बरस पहले पहुंच गये थे और उनकी अंग्रेज़ी पढ़ाई रावत पाठशाला में शुरू हुई। उन दिनों उनकी नयी मां के भाई विजयबहादुर भी वहीं रहते थे। उनसे नवाब की बहुत बनती थी, उम्र भी लगभग एक ही थी। अक्सर दोनों बालेमियां के मैदान में निकल जाते और पतंगों के पेंच देखते। नयी मां का पहला बच्चा गुलाबराय तब डेढ़-दो साल का था और मुमकिन है कि उसकी आमद ने घर से नवाब का लगाव और कम कर दिया हो। यहीं लगभग दो बरस बाद उनके दूसरे बच्चे महताब का जन्म हुआ।

जहां तक नवाब की बात है, उसको घर से यों ही बहुत कम मतलब था और अब तो उसके पास होश उड़ा देने वाले तिलस्मों की अलग अपनी एक दुनिया थी, और हातिमताई और चहार दरवेश जैसे संगी-साथी थे जिनके संग-संग वह कभी भेस बदलकर अंधेरे तहख़ानों में घुसता था और अक्सर जंगलों व रेगिस्तानों में भटकता फिरता था।

पढ़ाई का यह हाल था तो कैसे मुमकिन था कि कुछ लिखने का भी ख़याल नवाब के दिल में न आता, जब कि बीज पहले से ही मौजूद था। लेकिन बड़े आश्चर्य की और काफी गहरे आशय की बात है कि तेरह साल का नवाब जब लिखने बैठा तो उसने तिलस्म और ऐयारी की राह नहीं पकड़ी, बावजूद उन सैकड़ों किताबों के जिन्हें वह घोलकर पी

चुका था और जो निश्चय ही उसके दिमाग पर छायी रही होंगी। कोई ताकत जो खुद उससे बड़ी थी उसका हाथ पकड़कर उसे सामाजिकता के उस रास्ते पर ले गयी जिसे भविष्य में उसका अपना खास रास्ता बनना था, जिसे अपने पैरों से रौंद-रौंदकर उसने पक्का किया, जिस पर उसके पैरों के गहरे निशान हैं जो जल्द मिटनेवाले नहीं हैं। शुरू की कुछ कहानियों में सामाजिकता के साथ-साथ कहानी के ढांचे में यह तिलस्मी-ऐयारी रंग भी थोड़ा-बहुत घोला मगर उसकी पहली रचना, जो उसका परिचय-पत्र था, इस चीज़ से कतई पाक है।

वह रचना, उसकी पहली रचना, जिसे शायद चिराग अली के सिपुर्द कर दिया गया, अपने तरह की एक बेजोड़ चीज़ थी जिस पर शायद किसी अच्छे लेखक को भी शर्म न आती। उसके रचे जाने की कहानी खुद मुंशी जी ने बहुत रस ले-लेकर कही है—

मेरे एक नाते के मामू 'कभी-कभी हमारे यहां आया करते थे। अधेड़ हो गये थे लेकिन अभी तक बिन-ब्याहे थे। पास में थोड़ी-सी ज़मीन थी, मकान था, लेकिन घरनी के बिना सब कुछ सूना था। इसीलिए घर पर जी न लगता था, नातेदारियों में घूमा करते थे और सबसे यही आशा रखते थे कि कोई उनका ब्याह करा दे। इसके लिए सौ दो सौ ख़र्च करने को भी तैयार थे। क्यों उनका विवाह नहीं हुआ, यह आश्चर्य था। अच्छे खासे हृष्ट-पुष्ट आदमी थे, बड़ी-बड़ी मूंछें, औसत कद, सांवला रंग। गांजा पीते थे, इससे आंखें लाल रहती थीं। अपने ढंग के धर्मनिष्ठ भी थे। शिवजी को रोजाना जल चढ़ाते थे और मांस-मछली नहीं खाते थे।

आखिर एक बार उन्होंने भी वही किया जो बिन-ब्याहे लोग अक्सर किया करते हैं—एक चमारिन के नयन-बाणों से घायल हो गये। वह उनके यहां गोबर पाथने, बैलों को सानी-पानी देने और इसी तरह के दूसरे फुटकर कामों के लिए नौकर थी। जवान थी, छबीली थी, मामू साहब का तृषित हृदय मीठे जल की धारा देखते ही फिसल पड़ा। बातों-बातों में उससे छेड़-छाड़ करने लगे। वह इनके मन का भाव ताड़ गयी, ऐसी अल्हड़ न थी, और नख़रे करने लगी। केशों में तेल भी पड़ने लगा, चाहे सरसों का ही क्यों न हो। आंखों में काजल भी चमका, ओठों पर मिस्सी भी आयी और काम में ढिलाई भी शुरू हुई। कभी दोपहर को आयी और झलक दिखाकर चली गयी, कभी सांझ को आयी और एक तीर चलाकर चली गयी। बैलों को सानी-पानी मामू साहब खुद दे देते, गोबर दूसरे उठा ले जाते। युवती से बिगड़ते क्योंकर, वहां तो अब प्रेम उदय हो गया था। होली में उसे प्रथानुसार एक साड़ी दी, मगर अब की गजी की साड़ी न थी, खूबसूरत-सी सवा दो रुपये की चुंदरी थी। होली की त्योहारी भी मामूल से चौगुनी कर दी और यह सिलसिला यहां तक बढ़ा कि वह चमारिन ही घर की मालकिन हो गयी।

एक दिन संध्या समय चमारों ने आपस में पंचायत की। बड़े आदमी हैं तो हुआ करें, क्या किसी की इज़्ज़त लेंगे ? एक इन लाला के बाप थे कि कभी किसी मेहरिया की ओर आंख उठाकर न देखा (हालांकि यह सरासर गलत था) और एक यह हैं कि नीच जात की बहू-बेटियों पर भी डोरे डालते हैं। समझाने-बुझाने का मौका न था। समझाने से लाला मानेंगे तो नहीं, उलटे और कोई मामला खड़ा कर देंगे। इनके कलम घुमाने की तो देर है। इसलिए निश्चय हुआ कि लाला साहब को ऐसा सबक देना चाहिए कि हमेशा के लिए याद हो जाय। इज़्ज़त का बदला खून से ही चुकता है, लेकिन मरम्मत से भी कुछ

उसकी पुरौती हो ही सकती है।

दूसरे दिन शाम को जब चम्पा मामू साहब के घर आयी तो उन्होंने अन्दर का द्वार बन्द कर दिया। महीनों के असमंजस, हिचक और धार्मिक संघर्ष के बाद आज मामू साहब ने अपने प्रेम को व्यावहारिक रूप देने का निश्चय किया था। चाहे कुछ हो जाय, कुल मरजाद रहे या जाय, बाप-दादा का नाम डूबे या उतराय।

उधर चमारों का जत्था ताक में था ही। इधर किवाड़ बन्द हुए, उधर उन्होंने खटखटाना शुरू किया। पहले तो मामू साहब ने समझा, कोई असामी मिलने आया होगा, किवाड़ बन्द पाकर लौट जायगा, लेकिन जब आदमियों का शोरगुल सुना तो घबड़ाये। जाकर किवाड़ों की दराज़ से झांका, कोई बीस-पचीस चमार लाठियां लिये, द्वार रोके खडे किवाड़ों को तोड़ने की कोशिश कर रहे थे। अब करें तो क्या करें, भागने का कोई रास्ता नहीं, चम्पा को कहीं छिपा नहीं सकते। समझ गये कि शामत आ गयी। आशिकी इतनी जल्द गुल खिलायेगी यह क्या जानते थे, नहीं इस चमारिन पर दिल को आने ही क्यों देते। उधर चम्पा इन्हीं को कोस रही थी—तुम्हारा क्या बिगड़ेगा, मेरी तो इज़्ज़त लुट गयी। घरवाले मूड़ ही काटकर छोड़ेंगे। कहती थी, अभी किवाड़ न बन्द करो, हाथ-पांव जोड़ती थीं, मगर तुम्हारे सिर पर तो भूत सवार था। लगी मुंह में कालिख कि नहीं ?

मामू साहब बेचारे इस कूचे में कभी न आये थे। कोई पक्का खिलाड़ी होता तो सौ उपाय निकाल लेता, लेकिन मामू साहब की तो जैसे सिट्टी-पिट्टी भूल गयी। बरौठे में थर-थर कांपते हनुमान चालीसा का पाठ करते हुए खड़े थे। कुछ न सूझता था।

और उधर द्वार पर कोलाहल बढ़ता जा रहा था, यहां तक कि सारा गांव जमा हो गया। बाम्हन, ठाकुर, कायस्थ, सभी तमाशा देखने और हाथ की खुजली मिटाने आ पहुंचे। इससे ज़्यादा मनोरंजक और स्फूर्तिवर्द्धक तमाशा और क्या होगा कि एक मर्द और एक औरत को साथ घर में बंद पाया जाय ! बढ़ई बुलाया गया, किवाड़ फाड़े गये और मामू साहब भूसे की कोठरी में छिपे हुए मिले। चम्पा आंगन में खड़ी रो रही थी। द्वार खुलते ही भागी। कोई उससे नहीं बोला। मामू साहब भागकर कहां जाते ? वह जानते थे उनके लिए भागने का रास्ता नहीं है। मार खाने के लिए तैयार बैठे थे। मार पड़ने लगी और बेभाव की पड़ने लगी। जिसके हाथ जो कुछ लगा—जूता, छड़ी, छाता, लात, घूंसा, सभी अस्त्र चले। यहां तक कि मामू साहब बेहोश हो गये और लोगों ने उन्हें मुर्दा समझकर छोड़ दिया। अब इतनी दुर्गत के बाद वह बच भी गये तो गांव में नहीं रह सकते और उनकी ज़मीन पट्टादारों के हाथ आयेगी।

एक महीने तक तो वह हल्दी और गुड़ पीते रहे। ज्योंही चलने-फिरने लायक हुए, हमारे यहां आये। अपने गांव वालों पर डाके का इस्तगासा दायर करना चाहते थे।

अगर उन्होंने कुछ दीनता दिखायी होती तो शायद मुझे हमदर्दी हो जाती लेकिन उनका वही दमखम था। मुझे खेलते या उपन्यास पढ़ते देखकर बिगड़ना और रोब जमाना और पिताजी से शिकायत करने की धमकी देना, यह अब मैं क्यों सहने लगा ? अब तो मेरे पास उन्हें नीचा दिखाने के लिए काफी मसाला था।

आखिर एक दिन मैंने यह दुर्घटना नाटक के रूप में लिख डाली और अपने मित्रों को सुनायी। सब के सब खूब हंसे। मेरा साहस बढ़ा। मैंने उसे साफ-साफ लिखकर वह कापी

मामू साहब के सिरहाने रख दी और स्कूल चला गया।

फिर भला मामू साहब कैसे टिक जाते, अपना बोरिया-बकचा उठाया और चलते बने।

नवाब तब तक शरीर से दुर्बल थे और अब शायद पहली बार उन्हें अपने भीतर की इस नयी शक्ति की चेतना हुई जो मारपीट कर सकने से कहीं ज़्यादा भयंकर थी ! जो काम लाठी-डंडे से नहीं हो सकता वह काम यह कलम कर सकता है। मैं कमज़ोर हूं तो क्या, यह एक बड़ा हथियार मुझे मिल गया ! अब कोई मुझे सताकर तो देखे मैं उसकी कैसी मिट्टी पिलीद करता हूं ! ऐसी मार मारूंगा कि पानी भी मांगते नहीं बनेगा।

किसी की खिल्ली उड़ाकर उसका पानी जितनी अच्छी तरह उतारा जा सकता है उतना किसी और तरह नहीं।

यह एक अच्छी चीज़ मिली। मैं क्या जानता था। अब मैं इसी को अपनी ढाल-तलवार बनाऊंगा।

यह नवाब के साहित्यिक जीवन का पहला पाठ था, जिसे वह कभी नहीं भूला। और न शायद एक बार मामू साहब की छीछालेदर करने से उसका जी भरा क्योंकि चालीस बरस बाद 'गोदान' की सिलिया और मातादीन के रूप में चम्पा और मामू साहब फिर जी उठे।

●

मुंशी अजायब लाल अबकी गोरखपुर काफी दिनों रहे। इसी सारी उठा पटक के बीच नवाब ने मिशन स्कूल से आठवां पास कर लिया था। मां को मरे छह साल हो गए थे। इतने दिनों में उसने हवा सूंघकर खतरे को भांपना सीख लिया था।

अनायास ही उसने पाया कि वह अपनी वास्तविक आयु से कई साल बड़ा हो गया है। आगे नवाब के बचपन की कहानी उसी की जुबानी—

मेरा जन्म संवत् 1937 में हुआ। पिता डाकखाने में क्लर्क थे, माता मरीज। एक बड़ी बहन भी थी। उस समय पिताजी शायद 20 रुपये पाते थे। 40 रुपये तक पहुंचते-पहुंचते उनकी मृत्यु हो गई। यों वह बड़े विचारशील, जीवन-पथ पर आंखें खोलकर चलने वाले आदमी थे; लेकिन आखिरी दिनों में एक ठोकर खा ही गये और खुद तो गिरे ही थे, उसी धक्के में मुझे भी गिरा दिया। पंद्रह साल की अवस्था में उन्होंने मेरा विवाह कर दिया और विवाह करने के साल ही भर बाद परलोक सिधारे। उस समय मैं नवें दरजें में पढ़ता था। घर में मेरी स्त्री थी, विमाता थी, उनके दो बालक थे और आमदनी एक पैसे की नहीं। घर में जो कुछ लेई-पूंजी थी, वह पिताजी की छः महीने की बीमारी और क्रिया-कर्म में खर्च हो चुकी थी। और मुझे अरमान था, वकील बनने का और एम. ए. पास करने का। नौकरी उस जमाने में भी इतनी ही दुष्प्राप्य थी जितनी अब है। दौड़-धूप करके शायद दस-बारह की कोई जगह पा जाता, पर यहां तो आगे पढ़ने की धुन थी—पांव में लोहे की नहीं अष्टधातु की बेड़ियां थीं और मैं चढ़ना चाहता था पहाड़ पर !

पांव में जूते न थे। देह पर साबित कपड़े न थे। महंगी अलग—10 सेर के जौ थे। स्कूल से साढ़े तीन बजे छुट्टी मिलती थी। काशी के क्वींस कालेज में पढ़ता था। हेडमास्टर ने फीस माफ कर दी थी। इम्तहान सिर पर था। और मैं बांस के फाटक पर एक लड़के

को पढ़ाने जाता था। जाड़ों के दिन थे। चार बजे पहुंचता था। पढ़ाकर छः बजे छुट्टी पाता। वहां से मेरा घर देहात में पांच मील पर था। तेज चलने पर भी आठ बजे से पहले घर न पहुंच सकता। और प्रातःकाल आठ ही बजे फिर घर से चलना पड़ता था, कभी वक्त पर स्कूल न पहुंचता। रात को भोजन करके कुप्पी के सामने पढ़ने बैठता और न जाने कब सो जाता। फिर भी हिम्मत बांधे हुए था।

मैट्रिकुलेशन तो किसी तरह पास हो गया, पर आया सेकेंड डिवीजन में और क्वींस कालेज में भरती होने की आशा न रही। फीस केवल अव्वल दरजेवाले की ही मुआफ हो सकती थी। संयोग से उसी साल हिन्दू कालेज खुल गया। मैंने इस नये कालेज में पढ़ने का निश्चय किया। प्रिसिंपल थे मि. रिचर्डसन। उनके मकान पर गया। वह पूरे हिन्दुस्तानी वेश में थे। कुरता और धोती पहने फर्श पर बैठे कुछ लिख रहे थे। मगर मिजाज को तबदील करना इतना आसान न था। मेरी प्रार्थना सुनकर—आधी ही कह पाया था—बोले कि घर में कालेज की बातचीत नहीं करता, कालेज में आओ। खैर, कालेज में गया। मुलाकात तो हुई; पर निराशाजनक। फीस मुआफ न हो सकती थी। अब क्या करूं ? अगर प्रतिष्ठित सिफारिशें ला सकता, तो शायद मेरी प्रार्थना पर कुछ विचार होता; लेकिन देहाती युवक को शहर में जानता ही कौन था ?

रोज घर से चलता कि कहीं से सिफारिश लाऊं, पर बारह मील की मंजिल मारकर शाम को घर लौट आता। किससे कहूं ? कोई अपना पुछत्तर न था।

कई दिनों के बाद एक सिफारिश मिली। एक ठाकुर इन्द्रनारायण सिंह हिन्दू कालेज की प्रबन्ध-कारिणी सभा में थे। उनसे जाकर रोया। उन्हें मुझ पर दया आ गई। सिफारिशी चिट्ठी दे दी। उस समय मेरे आनन्द की सीमा न रही। खुश होता हुआ घर आया। दूसरे दिन प्रिंसिपल से मिलने का इरादा था; लेकिन घर पहुंचते ही मुझे ज्वर आ गया। और दो सप्ताह से पहले न हिंला। नीम का काढ़ा पीते-पीते नाक में दम आ गया। एक दिन द्वार पर बैठा था कि मेरे पुरोहितजी आ गये। मेरी दशा देखकर समाचार पूछा और तुरन्त खेतों में जाकर एक जड़ खोद लाये और उसे धोकर सात दाने काली मिर्च के साथ पिसवाकर मुझे पिला दिया। उसने जादू का असर किया। ज्वर चढ़ने में घण्टे ही भर की देर थी। इस औषध ने, मानो जाकर उसका गला ही दबा दिया। मैंने पण्डितजी से बार-बार उस जडी का नाम पूछा; पर उन्होंने न बताया। कहा—नाम बता देने से उसका असर जाता रहेगा।

एक महीने बाद मैं फिर मि. रिचर्डसन से मिला और सिफारिशी चिट्ठी दिखाई। प्रिसिंपल ने मेरी तरफ तीव्र नेत्रों से देखकर पूछा—इतने दिनों कहां थे ?

'बीमार हो गया था।'

'क्या बीमारी थी ?'

मैं इस प्रश्न के लिए तैयार न था। अगर ज्वर बताता हूं तो शायद साहब मुझे झूठा समझें। ज्वर मेरी समझ में हलकी-सी चीज थी, जिसके लिए इतनी लम्बी गैरहाजिरी अनावश्यक थी। कोई ऐसी बीमारी बतानी चाहिए, जो अपनी कष्टसाध्यता के कारण दया को भी उभारे। उस वक्त मुझे और किसी बीमारी का नाम याद न आया। ठाकुर इन्द्रनारायण सिंह से जब मैं सिफारिश के लिए मिला था, तो उन्होंने अपने दिल की धड़कन की बीमारी की चर्चा की थी। वह शब्द मुझे दया आ गया।

मैंने कहा—पैलपिटेशन आफ हार्ट सर !

साहब ने विस्मित होकर मेरी ओर देखा और कहा—अब तुम बिलकुल अच्छे हो ?

'जी हां।'

'अच्छा, प्रवेश-पत्र भरकर लाओ।'

मैंने समझा बेड़ा पार हुआ। फा़र्म लिया, खानापूरी की और पेश कर दिया। साहब उस समय कोई क्लास ले रहे थे। तीन बजे मुझे फार्म वापस मिला। उस पर लिखा था—इसकी योग्यता की जांच की जाय।

यह नई समस्या उपस्थित हुई। मेरा दिल बैठ गया। अंग्रेज़ी के सिवा और किसी विषय में पास होने की मुझे आशा न थी और बीजगणित और रेखागणित से तो रूह कांपती थी। जो कुछ याद था, वह भी भूल-भाल गया था; लेकिन दूसरा उपाय ही क्या था ? भाग्य का भरोसा करके क्लास में गया और अपना फार्म दिखाया। प्रोफेसर साहब बङ्गाली थे अंग्रेजी पढ़ा रहे थे। वाशिंगटन इर्विङ्ग का 'रिपिवान विंकिल था। मैं पीछे की कतार में जाकर बैठ गया और दो-ही-चार मिनिट में मुझे ज्ञात हो गया कि प्रोफेसर साहब अपने विषय के ज्ञाता हैं। घण्टा समाप्त होने पर उन्होंने आज के पाठ पर मुझसे कई प्रश्न किये ओर फार्म पर 'संतोषजनक' लिख दिया।

दूसरा घण्टा बीजगणित का था। इसके प्रोफेसर भी बंगाली थे। मैंने अपना फार्म दिखाया। नई संस्थाओं में प्रायः वही छात्र आते हैं, जिन्हें कहीं जगह नहीं मिलती। यहां भी यही हाल था। क्लासों में अयोग्य छात्र भरे हुए थे। पहले रेले में जो आया, वह भरती हो गया। भूख में साग-पात सभी रुचिकर होता है। अब पेट भर गया था। छात्र चुन-चुन कर लिये जाते थे। इस प्रोफेसर साहब ने गणित में मेरी परीक्षा ली और मैं फेल हो गया। फार्म पर गणित के खाने में 'असंतोषजनक' लिख दिया।

मैं इतना हताश हुआ कि फार्म लेकर फिर प्रिंसिपल के पास न गया। सीधा घर चला आया। गणित मेरे लिए गौरीशंकर की चोटी थी। कभी उस पर न चढ़ सका। इंटरमीडिएट में दो बार गणित में फेल हुआ और निराश होकर इम्तहान देना छोड़ दिया। दस-बारह साल के बाद जब गणित की परीक्षा में अख्तियारी हो गई तब मैंने दूसरे विषय लेकर उसे आसानी से पास कर लिया। उस समय तक यूनिवर्सिटी के इस नियम ने, कितने युवकों की आकाक्षाओं का खून किया, कौन कह सकता है। खैर मैं निराश होकर घर तो लौट आया; लेकिन पढ़ने की लालसा अभी तक बनी हुई थी। घर बैठकर क्या करता ? किसी तरह गणित को सुधारूं और कालेज में भरती हो जाऊ, यही धुन थी। इसके लिए शहर में रहना जरूरी था। संयोग से एक वकील साहब के लड़कों को पढ़ाने का काम मिल गया। पांच रुपये वेतन ठहरा। मैंने दो रुपये में अपना गुजर करके तीन रुपये घर पर देने का निश्चय किया। वकील साहब के अस्तबल के ऊपर एक छोटी-सी कच्ची कोठरी थी। उसी में रहने की आज्ञा ले ली ! एक टाट का टुकड़ा बिछा दिया। बाजार से एक छोटा-सा लेम्प लाया और शहर में रहने लगा। घर से कुछ बरतन भी लाया। एक वक्त खिचड़ी पका लेता और बरतन धो-मांजकर लाइब्रेरी चला जाता। गणित तो बहाना था, उपन्यास आदि पढ़ा करता। पण्डित रतननाथ दर का 'फसाना-ए-आजाद' उन्हीं दिनों पढ़ा। 'चन्द्रकान्ता-सन्तति' भी पढ़ी। बंकिम बाबू के उर्दू अनुवाद, जितने पुस्तकालय में मिले, सब पढ़ डाले। जिन वकील

साहब के लड़कों को पढ़ाता था, उनके साले मेरे साथ मैट्रिकुलेशन में पढ़ते थे। उन्हीं की सिफारिश से मुझे यह पद मिला था। उनसे दोस्ती थी, इसलिए जब जरूरत होती, पैसे उधार ले लिया करता था। वेतन मिलने पर हिसाब हो जाता था। कभी दो रुपये हाथ आते, कभी तीन। जिस दिन वेतन के दो-तीन रुपये मिलते, मेरा संयम हाथ से निकल जाता। प्यासी तृष्णा हलवाई की दुकान की ओर खींच ले जाती। दो-तीन आने पैसे खाकर ही उठता। उसी दिन घर जाता और दो-ढाई रुपये दे आता। दूसरे दिन से फिर उधार लेना शुरू कर देता; लेकिन कभी-कभी उधार मांगने में भी संकोच होता और दिन-का-दिन निराहार व्रत रखना पड़ जाता !

इस तरह चार-पांच महीने बीते। इस बीच एक बज़ाज से दो-ढाई रुपये के कपड़े लिये थे। रोज उधर से निकलता था। उसे मुझ पर विश्वास हो गया था। जब महीने-दो-महीने निकल गये और मैं रुपये न चुका सका, तो मैंने उधर से निकलना ही छोड़ दिया। चक्कर देकर निकल जाता। तीन साल के बाद उसके रुपये अदा कर सका। उसी जमाने में शहर का एक बेलदार मुझसे कुछ हिन्दी पढ़ने आया करता था। वकील साहब के पिछवाड़े उसका मकान था। 'जान लो भैया' उसका सखुनतकिया था। हम लोग उसे 'जान लो भैया' ही कहा करते थे। एक बार मैंने उससे भी आठ आने पैसे उधार लिये थे। वह पैसे उसने मुझसे मेरे घर गांव में जाकर पांच साल बाद वसूल किये। मेरी अब भी पढ़ने की इच्छा थी; लेकिन दिन-दिन निराश होता जाता था। जी चाहता था, कहीं नौकरी कर लूं। पर नौकरी कैसे मिलती है और कहां मिलती है, यह न जानता था।

जाड़ों के दिन थे। पास एक कौडी न थी। दो दिन एक-एक पैसे का चबेना खाकर काटे थे। मेरे महाजन ने उधार देने से इनकार कर दिया था, या संकोचवश मैं उससे मांग न सका था। चिराग जल चुके थे। मैं एक बुकसेलर की दुकान पर एक किताब बेचने गया था। चक्रवर्ती गणित की कुंजी थी। दो साल हुए खरीदी थी। अब तक उसे बड़े जतन से रखे हुए था; पर आज चारों ओर से निराश होकर मैंने उसे बेचने का निश्चय किया। किताब दो रुपये की थी; लेकिन एक पर सौदा ठीक हुआ। मैं रुपया लेकर दुकान से उतरा ही था कि एक बड़ी-बड़ी मूंछों वाले सौम्य पुरुष ने, जो उस दुकान पर बैठे हुए थे, मुझसे पूछा-तुम कहां पढ़ते हो ?

मैंने कहा—पढ़ता तो कहीं नहीं हूं; पर आशा करता हूं कि कहीं नाम लिखा लूंगा।

'मैट्रिकुलेशन पास हो ?'

'जी हां।'

'नौकरी करने की इच्छा तो नहीं है ?'

'नौकरी कहीं मिलती ही नहीं।'

वह सज्जन एक छोटे-से स्कूल के हेडमास्टर थे। इन्हें एक सहकारी अध्यापक की जरूरत थी। उठारह रुपये वेतन था। मैंने स्वीकार कर लिया। उठारह रुपये उस समय मेरी निराशा-व्यथित कल्पना की ऊंची-से-ऊंची उड़ान से भी ऊपर थे। मैं दूसरे दिन हेडमास्टर साहब से मिलने का वादा करके चला, तो पांव जमीन पर न पड़ते थे। यह सन् 1899 की बात है। परिस्थितियों का सामना करने को तैयार था और गणित में अटक न जाता, तो अवश्य आगे जाता; पर सबसे कठिन परिस्थिति यूनिवर्सिटी की मनोविज्ञान-शून्यता थी, जो

उस समय उसके कई साल बाद तक उस डाकू का-सा व्यवहार करती थी, जो छोटे-बड़े सभी को एक ही खाट पर सुलाता है।

•

नवाब की चाची के व्यवहार और उसकी पहली शादी का बड़ा ही सजीव चित्र शिवरानी देवी ने खींचा है–

'एक रोज़ मेरे पिता के दोस्त बड़े बाबू ने मुझे बुलाया। मैं गया, मेरी पीठ पर हाथ फेरकर बोले–तू दुबला क्यों हो गया है ? क्या घी तुझे नहीं मिलता ? तेरी मां नहीं देती? तुम दूध खूब पिया करो, घी भी खूब खाया करो।'

'उनके इन शब्दों को सुन मैं रो पड़ा। उन्होंने मुझे गले लगा लिया। कहा–बेटा, रो मत। दूसरे रोज़ मैंने देखा कि चाची ने दाल में कच्चा घी डाल दिया।'

मैंने कहा–'मेरी दाल में कच्चा घी क्यों डाल दिया ?'

'कच्चा नहीं पक्का है।'

मैंने कहा–'दाल में घी डाला ही क्यों ?'

'तुम्हीं तो घर-घर रोते हो कि मुझे कुछ नही मिलता।'

'मैंने किससे कहा ?'

'बड़े बाबू से कहा है कि मेरी चाची मुझे घी-दूध नहीं देती।'

'मैंने नहीं कहा।'

'तूने नहीं कहा तो वे वैसे ही शिकायत करते थे ? खुद खाना नहीं, मुझे बदनाम करता है।'

'मैंने कुछ नहीं कहा।'

'झूठा ! मक्कार !'

मुझे रोना आ गया।'

मैं–'जब आपको खाना नहीं था तो रोने क्यों लगे ?'

वे–'अब तुम मुझे कैसे खिलाती हो ? स्त्री में स्त्रीत्व ही नहीं; बल्कि अपनत्त्व भी होना चाहिए। जब तक वह भाव न हो, तब तक किसी से प्यार, पालन कुछ भी सम्भव नहीं।

मै–'जब यह बात थी तो आखिर आप कैसे खाना चाहते थे ?'

'मुझे घी शक्कर के साथ अच्छा लगता है। वैसे नही। दाल में मुझे पसन्द नहीं।'

मैं–'अब आप कैसे खाते हैं ?'

'इस तरह किसे गरज़ पड़ी थी कि मुझे खिलाता। इसी से मैं खाता भी न था। पहले दूध खिलाना बच्चों को ज़रूरी न था। न किसी के लिए था।'

मैं– यह आप कैसे कहते हैं कि बच्चों को जरूरी था। मेरे यहां सब दूध खाते थे।

'तुम ज़मींदार की लड़की हो।'

'तो फिर रहिए साहब, जैसे आप रहते थे।'

•

मेरा विवाह बस्ती जिले की मेंहदावल तहसील में रामपुर गांव में ठीक हुआ। वे भी अपने घर के ज़मींदार थे। कुछ पूरब का रीति-रिवाज ऐसा है कि जब मुझे घर में लोगों ने बुलाया, तब सैकड़ों स्त्रियां घर में थीं। हंसी-मजाक का बाज़ार गर्म था। पुरुषों के नाते तो मैं ही एक था। मुझे हंसी-मज़ाक अच्छा भी लगता था। सब मुझसे हंसी-मज़ाक करती थीं। मैं अकेला उनसे परेशान था। ख़ैर, किसी तरह उनसे उबरा। फिर मेरी स्त्री की बिदाई का समय आया। कई रोज़ का अरसा हो गया था। ऊंटगाड़ी से आना पड़ा, जब हम ऊंटगाड़ी से उतरे, मेरी स्त्री ने मेरा हाथ पकड़कर चलना शुरू किया। मैं इसके लिए तैयार न था। मुझे झिझक मालूम हो रही थी। उमर में वह मुझसे ज़्यादा थी। मैंने उनकी सूरत देखी तो मेरा ख़ून सूख गया।

मैं—'ठीक तो थीं। तुम भी सीधी गरीब को पाकर अपने को कुछ लगाते हो !'

'नहीं जी, बेशर्मी मुझे पसन्द न थी। जो जितनी ही दूर रहता है, उसे उतना ही देखने के लिए दिल में कुतूहल होता है।'

मैं कहती—इसके माने तो यह हुए कि औरतें हमेशा पुरुषों से तेज़ रहती हैं। यह तो अच्छी रही। मरे को मारे शाह मदार। बड़े से दबना, छोटे को दबाना; यह तो कोई अच्छी बात नहीं।

'अजी, तुम्हारे साथ पहले से मेरी शादी हुई होती तो मेरा जीवन इससे आगे होता।'

मैं—'जब तक इन्सान अंधेरी रात न देखे तब तक रोशनी की वकत उसे कैसे मालूम हो ! तुम अपनी चाची के साथ मेरी भी मिट्टी पलीद कर देते। फिर तुम्हीं ने कौन-सी मदद मेरी की। मुझे खुद इस घर में स्थान बनाना पड़ा। अपने लिए नहीं, बल्कि आपके लिए भी। अगर आप मेरी बीवी होते तो मैं बताती कि स्त्रियों के साथ कैसे रहना चाहिए।'

'अच्छा, तुम यह समझती हो कि मैं रहना नहीं जानता था ?'

'पुरुष का काम यह है कि स्त्री को ब्याह कर लाये तो उसका मालिक बने।'

वे हंसकर बोले—'अब तो मैंने आपको मालिक बना दिया।'

'मुझे मालिक बना दिया। एक की मिट्टी पलीद कर दी। जिसकी कुरेदन मुझे हमेशा होती है। जिसे मैं बुरा समझती हूं, वह हमारे ही यहां हो और हमारे हाथों हो। मैं स्वयं तकलीफ सहने को तैयार हूं; परन्तु स्त्री जाति की तकलीफ मैं नहीं देख सकती। उसी का प्रायश्चित शायद मुझे भी करना पड़ेगा; हालांकि मैं बेगुनाह हूं। मेरे पिता को मालूम होता तो आपके साथ मेरी शादी हर्गिज़ न करते।'

'वह बदसूरत तो थी ही। उसके साथ-साथ ज़बान की भी मीठी न थी। यह इन्सान को और भी दूर कर देता है।'

मैं—'आप दावे के साथ कह सकते हैं कि आपका अपना चरित्र अच्छा था ?—ख़ामोश! जब आदमी खुद वैसा न हो तो दूसरे से आशा करना व्यर्थ है।'

'मैंने उनको उनके घर पहुंचा दिया और खुद अपने यहां रह गई। मेरी क्या ज़्यादती?'

मैं—'आप पुरुष थे, आप मुझे ब्याह लाये, वे तो घर में बैठी हैं। यह क्या स्त्रियों के साथ अन्याय नहीं है ? मैं भी बदसूरत होती, तो आप मुझे भी छोड़ देते। अगर मेरा बस होता तो मैं सब जगह ढिंढोरा पिटवाती कि कोई भी तुम्हारे साथ शादी न करे।'

'इसीलिए तो तुम्हें मालूम न हुआ। पहले किस्सा भी तो सुनो, पीछे गरम होना। मेरी

बारात आई। मेरे पिता को मालूम हुआ कि मेरी बीवी बहुत वदसूरत है। बेहयाई की हरकत उन्होंने बाहर ही देख ली। यह मेरी शादी चाची के पिता ने ठीक की थी। पिताजी चाची से बोले—लालाजी ने मेरे लड़के को कुएं में ढकेल दिया। अफसोस ! मेरा,गुलाब-सा लड़का और उसकी यह स्त्री ! मैं तो उसकी दूसरी शादी करूंगा।

चाची ने कहा—देखा जायगा।

'जब मेरी चाची जमनिया जाने लगीं तो मेरी बीवी को भी साथ लेती गई। छः महीने भी वहां पिताजी न रहने पाये कि उनका तबादला लखनऊ हो गया। मैं तो नवें में पढ़ता था। पिताजी लखनऊ जाते समय सबको मढ़वां पहुंचा गये। मैं तो पहले ही से वहीं था। अब यह सब मेरे सिर पड़ी। चाची मेरी पत्नी पर शासन करती थी। उसकी शिकायत भी चाची एकान्त में मुझसे किया करती थीं। वह भी अपनी किस्मत को रोती थी। बीच में मेरी आफत थी। अगर बीच में चाची न होती तो शायद मेरी उनकी ज़िन्दगी एक साथ बीत भी जाती।'

मैं बोली—इसका मतलब यह है कि आप बिलकुल भोंदू थे।

'कह तो दिया कि सचमुच मैं भोंदू था। मैं किसी के ऊपर शासन न कर सकता था।'

तभी न उसका जीवन मिट्टी में मिला दिया !

अपने पिता के मरने के बाद का अपना जीवन खुद उन्होंने लिखा है। इसके साथ उसे भी मैं यहां देती हूं।

•

पिता को मरे दो साल हो गए थे। घर पर नई मा और उनका एक तीन वर्षीय बालक था। पहला बच्चा गुलाब काफी पहले जाता रहा। घर में चारों तरफ दारिद्रय पसरा था। खाने वाले कई कमाने वाला एक अकेला नवाब।

1899 का साल था। नवाब ने मन पक्का कर लिया और चुनार पहुंच गया। चुनार मिर्जापुर के पास और बनारस से चालीस मील दूर, छोटा-सा कस्बा। अपने काम से काम। फुरसत में किताबें ही नवाब की साथी थीं।

घर में विमाता, उनके छोटे भाई विजय बहादुर भी थे। उम्र में नवाब से चार-पाच साल छोटे थे पर उस अन्तर को नवाब ने पाट दिया था। अब सारे दुःख-सुख के भागीदार थे विजय बहादुर सिंह। विजय बहादुर ने जहा साफ दिली पाई थी वहीं नेक और शरीफाना अदाजा भी। जब तक जिए साथ रहे। घर का सारा जिम्मा विजय बहादुर का। वेतन से पूरा न पड़ता तो नवाब न पांच रुपए का ट्यूशन भी पकड़ा। तभी मुफलिसी का दौर अपने पूरे जोशो खरोश से जारी था। उन्हीं दिनों का वाकिया है कि नवाब और विजय बहादुर लमही आए। जाड़े के दिन। कंपकंपाती ठंड। पांच-छह दिन लमही रहे। चलते समय दोनों ने जेबें टटोलीं तो खाली। विमाता से मजबूरी बता कर पैसे मांगें। विमाता ने कहा—पैसे तो खर्च हो गए।

बड़ी विचित्र हालत थी। गांव में मांगते भी तो किससे—सभी तो कपड़ों के नीचे नंगे थे। क्या हो ! पैसे तो चाहिए ही। अनायास विचार कौंधा—क्यों न गरम कोट बेच दिया जाए। नवाब गरम कोट को विशेष मौकों पर ही पहनते वरना सूती से ही काम चलाते। इस

गरम कोट से उन्हें बड़ा लगाव था। मरता क्या न करता—शहर में जाकर दो रुपये में कोट बेच दिया।

नवाब में स्वाभिमान कूट-कूटकर भरा था। अमृतराय के शब्दों में—

"एक रोज़ स्कूल की टीम का फुटबाल मैच मिलिटरी के गोरों की एक टीम से हुआ। गोरे शायद हार गये। स्कूल के लड़कों ने ज़ोर-ज़ोर से हिप हिप हुर्रे का नारा लगाना शुरू किया। गोरे खिसियाये हुए तो थे ही, यह चीज़ उनको कटे पर नमक छिड़कने जैसी मालूम हुई। इन काले आदमियों की यह मजाल ! एक गोरे ने किसी खिलाड़ी को बूट से ठोकर मार दी। मैच देखने वालों में नवाब भी था। गोरे का बूट चलाते भी उसने देखा। जिस्म बहुत मज़बूत नहीं था तो क्या, दिल तो मज़बूत था, और फिर अपने ही मैदान पर खेल हो रहा था। चढ़ती जवानी की उम्र, नवाब का खून खौल पड़ा—इसकी यह हिम्मत ! सिर्फ इसलिए कि हम काले हैं, हिन्दोस्तानी हैं ! फिर क्या था, उसने आव देखा न ताव, झपटकर मैदान में गड़ी हुई एक झण्डी उखाड़ ली और बेतहाशा उन पर पिल पड़ा। लड़कों ने जो उसको आगे-आगे देखा तो खेलनेवाले और तमाशाई सब मैदान में कूद पड़े और उन गोरों की ऐसी पिटाई की कि उन्हें छठी का दूध याद आ गया, सारी अकड़फूं धरी रह गयी।

मैदान जब खाली हुआ तो स्कूल वालों को सबसे ज़्यादा ताज्जुब इस बात का हुआ कि इस मार्के में पहल उस शर्मीले नौजवान मुदर्रिस ने की थी जिसे खेलने से बहुत कम मतलब था और जो हमेशा अपनी किस्से-कहानी की किताबों में डूबा रहता था।"

चुनार कस्बे और वहां के हालात पर उग्र जी का नजरिया—

'उन दिनों किलों की कद्र थी, अतः चुनार में अंग्रेज़ आये। जब मैं पांच-सात साल का था तब चुनार के किले में गोरा-तोपख़ाना पल्टन रहती थी।....बहुत दिनों तक चुनार मे रिटायर्ड गोरे सपरिवार रहा करते थे। लोअर लाइन्स नामक अपनी एक बस्ती उन्होंने कालो के कस्बे की पिछली सीमा पर बसा रखी थी।....सन् 1905 में चुनार की पाच-सात हजार की आवादी के सिरहाने दो-दो गिरजाघर थे। एक परेड ग्राउण्ड की कब्रगाह के पास जर्मन मिशनरियों का रामन कैथलिक चर्च और दूसरा प्रोटेस्टैंट चर्च शहर के बीच में था। ईसाई या अंग्रेज़ों की संख्या शहर में चाहे जितनी रही हो, पर उनका प्रभाव कितना था, इसकी सूचना ये चर्च देते थे। मेरे स्वर्गीय पिता जिस मंदिर में पूजन किया करते थे उसके चबूतरे पर खड़े होकर पांच-सात की वय में, मैंने गोरे सोल्जरों के तोपख़ाने की मार्च मज़े में देखी थी। किले से परेड ग्राउण्ड तक ये गोरे सिपाही मार्च करते हुए अक्सर जाया करते थे। मैदान में मिलिटरी बैण्ड वालों की परेड तो मुझे आज भी भूली नहीं है। कई प्रकार के बाजे वाले, सभी गोरे, ड्रम—ओह !—कितना बड़ा ! इन बैण्ड वाले सिपाहियों के बीच में बाघम्बर धारण किये, हाथ में गदा-जैसी कोई वस्तु हिलाता चलता था एक नाटा, गुट्ठल, सचमुच व्याघ्रमुख कोई दैत्यदेही गोरा ! तब चुनारवालों को ये गोरे महाकाल के दामाद दसवें ग्रह जैसे लगते थे। अकसर लोग इनकी छाया से भी दूर भागते थे। लोअर लाइन्स से गुज़रने वाले ग़रीब ग्रामीण चुनारियों को ये रिटायर्ड या गोरे सिपाही कारण अकारण बेंतों से बुरी तरह मिटीह दिया करते थे। औरतें तो लोअर लाइन्स में जाने की हिमाकत कर ही नहीं सकती थीं। गरगो नदी पार से शहर को विविध वस्तु बेचने आने वाली अहीरिनों, कोरिनों, चमारिनों को अक्सर उन्मत्त गोरे दौड़ा लेते थे, रगड़-सगड़ देते थे, पशुवत्—रेप....'

नवाब ऐंठ-ऐंठ कर रह जाता। बेइंसाफी और ये दरिन्दगी मानो उसे उत्तेजित करती। और इसी मनःस्थिति में उन स्कूल के अधिकारियों से उलझ बैठे जो इब्ने अली नामक मौलवी के साथ नाइंसाफी कर रहे थे। वे लगातार मौलवी का साथ देते रहे। बात का बतंगड़ बन गया। मौलवी साहब के साथ मुंशीजी भी निकाल दिए गए'।

•

अमृतराय ने इसके बाद के संघर्षो की कथा विस्तारपूर्वक लिखी है–

चुनार के मिशन स्कूल से निकलकर मुंशीजी जिनकी उम्र उस समय बीस साल थी, साल भर के अन्दर ही फिर बनारस पहुंचे और किसी नये काम की तलाश शुरू हुई।

क्वीन्स कालेज में बेकन साहब प्रिन्सिपल थे। शिक्षा-विभाग में बड़ा असर रखते थे, एक गरीब नौजवान को हीले से लगाना उनके लिए मुश्किल बात न थी। नवाब के बारे में उनका ख़याल भी अच्छा था। सीधा, सच्चा, ज़हीन, मेहनती लड़का है। मगर बहुत गरीब है।

बेकन साहब ने यहां-वहां दो-एक ख़त लिखे और मुंशीजी की नियुक्ति 2 जुलाई 1900 को बहराइच के ज़िला स्कूल में पांचवे मास्टर के पद पर हुई। वेतन बीस रुपये महीना। सरकारी नौकरी का सिलसिला शुरू हुआ। चुनार की मास्टरी, मुदर्रिसी के इस लंबे ड्रामे का रिहर्सल थी।

बहराइच में मुंशीजी को ज़्यादा दिन नहीं रहना पड़ा। ढाई महीने बाद ही उनकी बदली परताबगढ़ के लिए हो गयी। 21 सितम्बर से उन्होंने परताबगढ़ के ज़िला स्कूल में फर्स्ट एडीशनल मास्टर का काम सम्हाला। वेतन वही बीस जो कि घर की जरूरतों के लिए काफी न था। रुपया बराबर घर भेजना पडता था। चाची अपने बेटे के साथ वहीं रहती थीं। परताबगढ़ में उन लोगों को अपने साथ रखने का सवाल नहीं पैदा होता था क्योंकि मुंशीजी खुद ताले के ठाकुर साहब की हवेली के एक कमरे में रहते थे। उनके दो लड़कों को पढ़ाते थे और उन्हीं के यहां रहते थे। ट्यूशन से अब भी छुटकारा न था। लेकिन यह ट्यूशन और ट्यूशनों जैसा न था क्योंकि ताला के वह ठाकुर साहब बिल्कुल घर के लड़के की तरह उनको मानते थे। और उनका भी संबंध अपने शिष्यो से गुरु-शिष्य का न होकर दोस्ती का ही ज़्यादा था। इस तरह परताबगढ़ में मुंशीजी की ज़िन्दगी काफी इत्मोनान से गुज़र रही थी। न कहीं जाते थे न आते थे। घर से स्कूल और स्कूल से घर।

मिलने-जुलने वालों में पहला नंबर बाबू राधाकृष्ण का था, जो आगे चलकर अवध चीफ कोर्ट के जज हुए। उनसे मुंशीजी की बहुत बनती थी। बराबर अपनी नयी चीज़ें उन्हें सुनाते थे। बाबू राधाकृष्ण साहित्यरसिक तो जैसे थे ही, खुद भी शेर कह लेते थे।

पण्डित जयराम शास्त्री संस्कृत के पण्डित थे, वहीं ठाकुर साहब की हवेली पर वह भी रहते थे, बराबर का साथ था पर सांस्कृतिक पृष्ठभूमि बिल्कुल भिन्न होने के कारण उनके साथ मुंशीजी की मैत्री साहित्यिक मैत्री का रूप न ले पाती थी, जैसी कि बाबू राधाकृष्ण के साथ थी।

अपना खाना मुंशीजी कभी खुद ही पका लेते थे, मगर ज़्यादातर तो लड़कों के साथ हवेली पर ही उनका खाना भी होता।

पढ़ना-लिखना, यही उनकी ज़िन्दगी थी। और पढ़ने से ज़्यादा वह लिखते थे। अक्सर रात को बड़ी देर तक जिखते रह जाते।

लड़कों की और उनकी उम्र में बहुत ज़्यादा फर्क न था, पर लड़के उनका बड़ा अदब करते और वह भी उनको बड़ी मुहब्बत से पढ़ाते, ख़ासकर अंग्रेज़ी और उर्दू। लड़कों से ज़्यादा मेहनत न करवाते।

परताबगढ़ का पानी भी उनको रास आ गया था। जब तक रहे एक बार भी बीमार नहीं पड़े। प्रसन्न थे, संतुष्ट थे, लिखने-पढ़ने में दिन बीत रहे थे।

लेकिन अब यह सिर्फ गोरखपुर-जैसा पढ़ने का चस्का न था बल्कि एक ऐसे आदमी का पढ़ना था जो कि अपने भीतर एक नयी थरथरी महसूस कर रहा था। अब से सात बरस पहले तेरह साल के एक लड़के ने अपने किसी मामा से बदला लेने के लिए उनकी छीछालेदर को नाटक की शकल दी थी। बात आयी-गयी हो गयी थी। लेकिन अब वह अपनी रगों में एक नयी ही सुरसुराहट और अपने दिल में एक नयी ही तड़प महसूस कर रहा था जो अपने लिए ज़बान मांगती थी। मगर वह ज़बान उस चीज़ को दे तो कैसे दे ?

पिछले बरसों में उसने न जाने कितना कुछ पढ़ा था लेकिन उसमें ज़्यादातर राजा-रानी के किस्से थे, तिलस्म और ऐयारी के किस्से थे। पढ़ने में वह बहुत अच्छे लगते थे मगर लिखना वह कुछ और चाहता था। उस तरह के किस्से फिर से लिखकर क्या होगा। ठीक है उनसे दिलबहलाव होता है मगर सवाल यह है कि हम आख़िर कब तक इसी तरह दिलबहलाव करते रहेंगे। इस तरह तो इतिहास के पन्नों से हमारा नाम भी मिट जायगा। ज़रा अपने समाज की हालत भी तो देखो—कैसी मुर्दे की नींद सो रहा है ! उसका दिल बहलाने की ज़रूरत है कि झकझोरकर उसको जगाने की ? न जाने कब से सो रहा है इसी तरह। क्या कयामत तक सोता रहेगा ! यह तो मौत है सरासर ! अगर कुछ लिखना ही है तो ऐसा कुछ लिखो जिससे यह मौत और गफलत की नींद कुछ टूटे, यह मुर्दनी कुछ दूर हो। कितनी बुरी हालत है हमारे हिन्दू समाज की। आदमी को आदमी नहीं समझा जाता। एक आदमी के छू जाने से दूसरे आदमी की जात चली जाती है। यह क्या ज़िन्दा कौमों के लक्षण हैं ?

यह सब इन्हीं बड़े-बड़े तिलकधारी ब्राह्मणों की, पुजारियों, महन्तों, मठाधीशों की कारस्तानी है। कहने को चतुर्वेदी हैं, त्रिवेदी हैं, यह हैं, वह हैं, लेकिन हैं निरे लिख लोढ़ा पढ़ पत्थर, एक वेद की भी शकल जो उन्होंने देखी हो, बस अपने तर माल से काम, हलुआ-पूरी उड़ाये जाओ, चैन की बंसी बजाये जाओ ! भांग-बूटी छानो, जितनी मन चाहे शराब लुंढाओ, सुन्दर-सुन्दर रमणियों को लेकर विहार करो, मंदिर के भीतर रंडी-पतुरिया नचाओ—इससे बड़ी भक्ति, धर्म उपासना और क्या है ! पतुरिया नचाने से भगवान भरस्ट नहीं होते, चमार-पासी उनका दर्शन कर ले तो भगवान भरस्ट हो जाते हैं ! पैसे कहने को वह पतितपावन हैं ! महंतजी की तिजोरी में बंद !

छोड़ो इन मरदूद पंडों-महंतों को, एक नज़र इस गरीब औरत जात पर भी तो डालो। क्या मट्टी पलीद की है बेचारियों की ! कहने को कह दिया—जहां नारियों की पूजा होती है वहां देवता वास करते हैं। लेकिन कोई पूछे कि आपने किसी तरह का कोई अधिकार नारियों को दिया ? बराबरी का दर्जा न देते लेकिन कुछ तो ऐसे अधिकार देते कि नारी

पुरुष के अत्याचारों से अपनी रक्षा कर सकती। वह सब कुछ नहीं। उसकी सच्ची स्थिति दासी के अलावा और कुछ नहीं है। स्वामी अच्छा मिला तो वाह-वाह, बुरा मिला तो रोये अपनी तकदीर को ! कुछ कर नहीं सकती। हर हालत में वह किसी न किसी पुरुष की आश्रिता है, अपने पैरों पर खड़े होने का उसको अधिकार नहीं है। शिक्षा का भी अधिकार उसे नहीं है—पुरुष की बराबरी जो करने लग जायगी ! शूद्र और नारी के कान में वेद का स्वर पड़ने से पातक लगता है ! उसे अशिक्षित रक्खो, निपट असहाय रक्खो, घर की चहारदीवारी में बन्द करके रक्खो। उसका उपयोग इतना ही है कि वह भोग्या है, रमणी है और अगर इससे बढ़कर कोई उपयोग है तो यही कि वह जननी है। वह एक खेत है जिससे सन्तान की, पुरुष की सम्पत्ति के उत्तराधिकारी की प्राप्ति होती है ! उसका अपना कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं है, उसकी अपनी किसी इच्छा को समाज मान्यना देने के लिए तैयार नहीं है, इसीलिए तो कन्या और गौ का स्थान एक है—चाहे जिसके साथ बांध दो ! पांच साल की लड़की का ब्याह पचास साल के बुड्ढे के साथ हो सकता है। लड़की ने पति का मुंह भी न देखा हो तो क्या, ब्याह का मतलब भी वह न समझती हो तो क्या, पति के मरने पर (या उसके द्वारा छोड़ दिये जाने पर) जब वह एक बार विधवा हो गयी तो हो गयी, उसका कोई उपचार नहीं है। उसे फिर विधवा के समान ही सारी ज़िन्दगी रहना है यानी अपनी सारी प्राकृतिक इच्छाओं को मारकर मुर्दे की तरह ज़िन्दा रहना है। ऐसा ही समाज का विधान है और उसमें किसी प्रकार की छूट नहीं है। अगर कभी किसी समय वह कमज़ोरी दिखलाती है यानी प्रकृति के तकाजों के आगे झुकने पर मजबूर होती है—किसी आदमी से प्यार करने लगती है या गर्भवती हो जाती है या किसी के साथ भाग जाती है—तो फिर समाज उसका मुंह भी देखना पाप समझता है। फिर वह समाज के लिए मरे के समान है और बहुत बार तो मौत के घाट उतार भी दी जाती है। उस दण्ड-व्यवस्था में रत्ती भर क्षमा नहीं है।....ऐसा सब अप्राकृतिक विधान न होता तो छिपे-छिपे समाज में इतना सब पाप पनपता कैसे ! कितनी ही विधवाएं और समाज की सतायी हुई स्त्रियां कोठों पर पहुंच जाती हैं। समाज यह सब अपनी आखों के आगे होते देखता है लेकिन तो भी उसके कान पर जूं नहीं रेंगती। अपनी ज़िम्मेदारियों की तरफ से कितना बेख़बर लेकिन बेकसों को सताने के लिए कितना शेर। करेगा-धरेगा कुछ नहीं लेकिन किसी से कोई ग़लती हो भर जाय, कच्चा ही चबा जायगा ! विधवाओं पर तो उसकी विशेष कृपा है—उस दुखियारी स्त्री की दूसरी बहनें ही उस पर चौकीदारी करती हैं और गरीब औरत अगर कहीं दुर्भाग्य से अपनी लीक से जौ भर भी डिग गयी तो फिर उसकी खैरियत नहीं। पहले तो वह औरतें ही उसे अपने तानों से छेद-छेदकर मार डालेंगी और अगर इतने से वह नहीं मरी तो फिर उसका और कुछ उपाय किया जायगा।

इस तरह की कितनी कहानियां नवाब की आंखों के आगे से गुज़र चुकी थीं और हर बार गुस्से से उसकी आंखें जलने लगी थीं। वही सब अनमेल ब्याह की कहानियां विधवा स्त्री की दुर्दशा की कहानियां, समाज को खोखला करनेवाली लेनदेन और दूसरी कुरीतियों की कहानियां—जिनके चलते कितने ही गरीब मां-बाप अपनी बेटी के हाथ पीले भी नहीं कर पाते और इसी दुःख में घुल-घुलकर मर जाते हैं—अब उसके भीतर मचल रही थीं। रास्ता नया था। वह समझ न पाता था किधर बढ़े, कैसे बढ़े। लेकिन वही उसके भीतर की मांग

थी। महज़ दिलबहलाव की चीज़ें वह नहीं लिखेगा। वह ऐसी कहानियां लिखेगा जिन्हें पढ़कर इस मुर्दा समाज में कुछ हरकत पैदा हो। किस्सागोई का फन वह उन पुरानी किताबों से सीखेगा मगर बात अपनी कहेगा। देश की बड़ी-बड़ी बातें वह क्या जाने मगर औरत ज़ात के साथ, नीच कहलाने वाली ज़ातों के साथ जो बेइंसाफियां उसकी आंखों के सामने होती हैं, ज़माने के मक्कार, धोखेबाज़, लोभी, लंपट, दुराचारी लोगों की जिस तरह समाज में तूती बोलती है, उन सब की तरफ़ से वह कैसे आंखें मूंद ले।

आर्य समाज का इस समय काफी दौरदौरा था। प्रचारक लोग घूमते रहते। जगह-जगह सभाएं होतीं, जल्से होते, सनातनी पंडितों से शास्त्रार्थ होते। बाल-विवाह की बुराइयां बतलायी जातीं, अनमेल ब्याह की ख़राबियां बतलायी जातीं, विधवा-विवाह के शास्त्रीय प्रमाण जुटाये जाते, करारदाद की निन्दा की जाती। यह सवाल बिल्कुल दूसरा है कि इन बातों में कितना हिस्सा जबानी जमाख़र्च था और कितने पर खुद अगुआ लोग अमल करने को तैयार थे। बातें ज़्यादा थीं, अमल कम। जो लोग मंच पर खड़े होकर धुआंधार व्याख्यान देते थे और शादी में लेन-देन की प्रथा को बुरा कहते थे, खुद चोरी-चोरी वही काम करते थे, लेते भी थे और देते भी थे। विधवाओं की दुर्दशा पर आठ-आठ आंसू रोते थे लेकिन खुद इसके लिए तैयार न थे कि किसी विधवा से ब्याह कर लें या अपने बेटे का ब्याह कर दें या कि अपनी विधवा बेटी का ब्याह फिर से करने का साहस अपने भीतर पा सकें। होता ज़्यादातर वही था जो सदा से होता आया था, मगर बातें बड़ी-बड़ी होती थी। यही चीज घुन की तरह आर्य समाज के आन्दोलन को खा गयी और सनातन धर्म की चूलें न हिलीं। लेकिन फिर भी यह एक नयी जागृति थी, इक्का-दुक्का आदर्शवादी कभी कुछ कर भी गुज़रता था। ऐसी हालत में फिर भला कैसे मुमकिन था कि नौजवान मुशीजी का मन इस नयी जागृति की ओर न खिंचता। खुद अपनी जिन्दगी में उसने जो कुछ भोगा था, गांव-घर टोले-पड़ोस में इस तरह के जो किस्से होते देखे थे सुने थे, उस सब के आधार पर वह इस नयी चीज की तरफ झुका और सच्चे मन से झुका। अच्छे-बुरे तो हर आन्दोलन में होते है, इसके लिए किसी आन्दोलन को ज़िम्मेदार नही ठहराया जा सकता। बातों के शेर ज़्यादा होते हैं, जिन्दगी में उस चीज़ को बरतनेवाले मुट्ठी भर। यह तो हमेशा का किस्सा है। हर आन्दोलन में यही होता है।देखना यह है कि जो कुछ ये लोग कहते हैं, उसमें सार है या नहीं। दूर जाने की क्या ज़रूरत हैं, सबसे पहले तो खुद उसकी जिन्दगी में उनका प्रमाण मौजूद था। आखिर क्या पड़ी थी, मुंशी अजायब लाल को जो बेटी-बेटे के रहते हुए बुढौती में जाकर दुबारा ब्याह किया ? सेहत भी आपकी माशा अल्ला थी, रोज़ गिलसिया भर दारू न चढ़ाते तो चलना-फिरना दूभर हो जाता, लेकिन शादी करने से बाज़ न आये। ताज्जुब है अज़ीज़ों में किसी ने समझाया भी नहीं कि भैया यह क्या करते हो, क्यों अपने गले की यह फांसी मोल लेते हो। भगवान के दिये तुम्हारे दो बच्चे हैं, अब तुम्हें और क्या चाहिए। राम का नाम लो और इस हरकत से बाज़ आओ, इसमें सिवाय ख्वारी के और कुछ तुम्हारे हाथ न लगेगा। न किसी ने समझाया न खुद आपको अकल आयी। अजी छोड़ो भी, ऐसी भी क्या हवस कि उस पर इंसान काबू न रख सके, उम्र भी तो आपकी मुलाहिज़ा फरमाइए, पचास साल का आपका सिन है और आप चले हैं फिर ब्याह रचाने ! है कुछ इन्तहा इस अहमकपने की ! ज़रा कोई पूछे उनसे, आपसे तो दो बरस भी बीवी के बिना नहीं रहा गया

और आप जाकर एक नयी बीवी ब्याह लाये, समाज ने ज़रा भी कनौतियां नहीं खड़ी कीं, लेकिन अगर किसी औरत ने ऐसी ही उम्र मे पहुंचकर दुबारा शादी की होती तो आपका समाज उसे ज़िन्दा रहने देता ? इस उम्र की बात तो जाने दीजिए, आप तो भरी जवानी में बेवा लड़की को शादी नहीं करने देते। उसे संयम का पाठ पढ़ाते हैं। सारा संयम, सारा इन्द्रिय-निग्रह उसी के लिए है, आपके लिए कुछ नहीं है ? भूख बस आपको लगती है, औरत को भूख नहीं लगती ? आपसे तो उस बुढ़ौती में भी दो बरस नहीं रहा गया और जवान औरत सारी ज़िन्दगी अपनी पहाड़ जैसी जवानी लिये बैठी रहे। वह क्या काठ की बनी है, पत्थर की बनी है ! मगर ख़ैर, आपको किसी ने ब्याह करने से रोका नहीं और आपने ब्याह किया। लेकिन हुआ वही जो होना था। आप खुद तो सिधार गये लेकिन मेरे पेर में सदा के लिए चक्की बांध गये। सदा-सदा के लिए मैं खूंटे से बंध गया। क्या-क्या तमन्नाएं थीं, घूमने की, फिरने की, दुनिया देखने की—सब धरी की धरी रह गयीं। अभी एक ही पैर में चक्की थी दूसरा पैर आजाद था। लेकिन वह भी आपसे न देखा गया, दूसरे पैर की चक्की का भी इन्तज़ाम, आप खुद ही कर गये। बतलाइए नवीं मे पढ़ता था मैं, क्या जल्दी थी मेरी शादी की ? वह भी कोइ शादी की उम्र है ? और शादी भी कैसी औरत से! रूप-रंग, शिक्षा-संस्कार—हर चीज़ से कोरी। कोई उसके साथ निबाह करे भी तो कैसे। लड़ाका ऊपर से। ज़िन्दगी नाम हो गयी। जो उम्र दुनिया देखने में, ज़िन्दगी के नये तजुर्बे का हासिल करने में खर्च होनी चाहिए थी, वह बेल की तरह काम करने में, घर के आये दिन के झगड़े चुकाने में खर्च हो गयी। एक दिन के लिए मैंने नहीं जाना कि ज़िन्दगी में सुकून या इत्मीनान किस चीज़ को कहते हैं।

यह ठीक है कि उसकी तबीयत बहुत घुमक्कड नहीं थी लेकिन तो भी कुछ न कुछ घूमने-फिरने की इच्छा तो हर आदमी के दिल में होती है। और जब वह चीज़ उतनी भी न मिली तो उसका दर्द, उसकी खीझ होनी स्वाभाविक थी। और शायद ज़िन्दगी भर बनी रही—बावजूद इसके कि धीरे-धीरे, वक्त बीतने के साथ-साथ, परीशानियों के भंवर में पड़कर घर पर बने रहना उसका अभ्यास और उसके स्वास्थ्य की विवशता बन गयी। इस चीज़ का एक हल्का-सा परिचय उस ख़त से मिलता है जो उन्होंने 12 दिसंबर सन् 29 को अपने एक नौजवान भतीजे रामजी के पास भेजा था। रामजी डाकखाने में काम करते थे। वह उनकी नौकरी के शुरू-शुरू के दिन थे। ऐसा कुछ मौका आया कि उनके महकमे के लोग अपने कुछ आदमियों को काम के सिलसिले में देश के बाहर भेजना चाहते थे। कोई जबर्दस्ती न थी। कोई अगर जाना चाहे तो जा सकता था। रामजी खुद कुछ तय न कर पाते थे, लिहाज़ा उन्होंने मशविरे के लिए आपके पास लिखा। उसका जवाब देते हुए आपने अंग्रेज़ी में लिखा—तुम्हारा ख़त पाकर खुशी हुई। काम के सिलसिले में तुम बाहर जाने के लिए नाम लिखाओ, इसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं है। शर्त यही है कि इससे तुम्हारी तरक्की के रास्ते खुलते हों। खाने और मकान के साथ साठ रुपये महीना बुरा नहीं है। तुम अगर पांच बरस भी रह गये तो करीब तीन हज़ार रुपये बचा लोगे, जिसकी यहां कोई उम्मीद नहीं है। इसके अलावा यह भी है कि तुम्हें नये-नये देश और नये-नये लोगों को देखने के मौके मिलेंगे और तुम जब घर लौटोगे तो ज़िन्दगी की एक ज़्यादा अच्छी समझ के मालिक होगे।....

रामजी गये नहीं, घर के लोगों ने जाने नहीं दिया, लेकिन आज भी ज़िक्र निकलने पर उनको मुंशीजी के ख़त का यही जुमला बार-बार याद आता है और बड़ी हसरत के साथ याद आता है। वही हसरत शायद मुंशीजी के दिल में थी जब कि उन्होंने वह बात लिखी थी, कुछ ऐसी बात कि बेटे, मैं तो कहीं जा-आ न सका लेकिन अगर तुमको इस चीज़ का मौका मिल रहा हो तो उसे हाथ से मत जाने दो !

मतलब यह कि आर्यसमाज जिन बुराइयों के ख़िलाफ लड़ रहा था—जैसा भी लड़ रहा था—उन सब बुराइयों का भुगतान वह खुद अपनी ज़िन्दगी में कर रहा था। बाप ने बुढ़ौती में ब्याह किया और अपनी बेवा छोड़ गये, एक लड़के के साथ, जिनकी परवरिश की ज़िम्मेदारी उसे ढोनी पड़ी और ऐसी उम्र में ढोनी पड़ी जब कि हर शख़्स कुलांचें लगाना चाहता है। खुद उसकी शादी बचपन में कर दी गयी, एक निहायत अनमेल, फूहड़ शादी जिसको निबाहने की ज़िम्मेदारी और निबाह न पाने की ख़लिश उसे झेलनी पड़ी। वह तो खुद एक ज़िन्दा मिसाल था हिन्दू समाज की जहालत का। लिहाज़ा आर्यसमाज में उसकी दिलचस्पी पूरी थी। जल्सों में तो ख़ैर जाते ही थे, शायद वह आर्यसमाज के बाज़ाब्ता सदस्य भी थे। परताबगढ़ का हाल तो पक्का नहीं मालूम लेकिन इसके कुछ ही साल बाद हमीरपुर में वह आर्यसमाज के बाकायदा मेम्बर थे। 6 फरबरी 1913 को मझगवां से मुंशी दयानरायन निगम को भेजे गये एक ख़त में और बहुत-सी बातों के साथ उन्होंने लिखा था—अब रहा रुपयों का ज़िक्र। मुझे इस वक्त चन्दा की ज़रूरत नहीं है। मगर मेरे जिम्मे हमीरपुर आर्यसमाज के दस रुपये बाकी हैं। बार-बार तकाज़ा हुआ है मगर अपनी तिही-दस्ती ने इजाज़त न दी कि अदा कर दू। आप अगर afford कर सकें तो बराहेरास्त मेरे नाम से हमीरपुर आर्यसमाज के सेक्रेटरी के नाम दस रुपये का मनीआर्डर कर दें।....यहां अब जलसा भी अनकरीब होने वाला है।....

जिस जलसे का इस खत में ज़िक्र है, शायद उसी में मौलवी महेश प्रसाद को जाने का और मुंशी प्रेमचंद से पहली बार मिलने का इत्तफाक हुआ था। वह लिखते है : 'सन् 1912 में प्रेमचदजी हमीरपुर ज़िले में शिक्षा विभाग के सब-डिप्टी इंस्पेक्टर थे। महोबा मे रहते थे। मुझे ठीक याद नहीं कि मई का महीना था या जून का जब कि मुझे आर्यसमाज के एक प्रचारक के रूप में महोबा जाना पडा था। उस समय मुझे उन्ही के यहां ठहरना पडा था। उनके ज़रिए ही मुझे ईसाइयों के उस काम के बारे में बहुत कुछ जानकारी हासिल हुई थी जो कि उस समय महोबे में ही नहीं बल्कि हमीरपुर ज़िले में भी हो रहा था। उन्होने बताया था कि हमारी सामाजिक बुराइयों का ही फल है कि महोबा और बुन्देलखण्ड की दूसरी जगहों में हिन्दुओं के अनेक लड़की-लड़के ईसाइयों के घरों में पहुंच गये हैं।'

मुंशीजी के लिए यह सिर्फ कहने की एक बात न थी बल्कि सीने पर बैठा हुआ एक बोझ था और उन्होंने इन्हीं दिनों 'खून सफेद' नाम की कहानी लिखी। कहानी यह है कि जादोराय का लड़का माधो परिस्थिति के चक्र में पड़कर पादरियों के साथ चला जाता है। कई वरस उन्हीं के साथ रहता है। वह लोग उसको ईसाई बना लेते हैं। फिर एक रोज़ उसको अपने घर की, अपने मां-बाप की सुध आती है और वह किसी दूर-दराज़ जगह से अपने घर पहुंचता है। मां-बाप तो अब भी उसके मां-बाप हैं लेकिन बीच में बिरादरी आकर खड़ी हो गयी है जो दुवारा हिन्दू बन जाने के बाद भी पूरी तरह उसको अपने बीच लेने के

लिए तैयार नहीं है। नतीजा होता है कि वह शाप के-से स्वर में यह कहता हुआ कि 'जिनका खून सफेद है, उनके बीच में रहना व्यर्थ है' फिर वहीं चला जाता है जहां से आया था। कहानी कुछ ख़ास अच्छी नहीं है लेकिन हां, उससे इस बात का पता ज़रूर चलता है कि मुशीजी का मन किस तरह बन रहा था। मन की इस बनावट में आर्यसमाज के अलावा कुछ हाथ शायद उस सोशल रिफ़ार्म लीग का भी था जो रानाडे और गोखले के नेतृत्व में काफी महत्वपूर्ण काम कर रही थी। उसका भी उद्देश्य सामाजिक कुरीतियों को दूर करना था, वही कुरीतियां जिनके चलते उसके पैरों में चक्की के ये मोटे-मोटे पाट बंध गये थे, वर्ना वह भी चिड़ियों की तरह आज़ाद होता।

बहुत लोगों से मिलने-जुलने की आदत उसे कभी न थी। किताबें ही उसकी सबसे अच्छी साथी थीं। जो वक्त पढ़ाने से बचता वह अपने पढ़ने और लिखने में ख़र्च होता। लेकिन अब एक फिक्र उसे सताने लगी थी—यही कि अब उसे ट्रेनिंग पास कर लेना चाहिए। ज़िन्दगी भर अब यही मास्टरी करनी है, ट्रेनिग हासिल किये बिना काम न चलेगा। बहुत अच्छा होता कि सारा समय लिखने-पढ़ने को दिया जा सकता लेकिन सिर्फ किताबें लिखकर तो रोटी नहीं चल सकती। उसके लिए तो कुछ न कुछ करना ही होगा। और जब कुछ न कुछ करना ही है तो फिर उसमें सबसे अच्छी यही मास्टरी है। और मास्टरी के लिए ट्रेनिंग ऐन ज़रूरी है। उस वक्त सूबे का सबसे पहला और अकेला ट्रेनिंग कालेज इलाहाबाद में था। परताबगढ़ खुद इलाहाबाद ज़िले की तहसील था और दोनों के बीच सिर्फ बत्तीस मील की दूरी थी। लिहाज़ा नवाब ने इलाहाबाद जाकर ट्रेनिंग लेने का निश्चय किया और लगभग दो बरस परताबगढ़ में रहने के बाद महकमे से दो साल की छुट्टी लेकर इलाहाबाद पहुचा और 6 जुलाई 1902 को ट्रेनिंग कालेज की प्रेपेरेटरी क्लास में दाख़िल हुआ। एण्ट्रेन्स पास लोग एक साल इसी क्लास में पढ़ते थे और दूसरे साल जूनियर क्लास में। जूनियर और सीनियर क्लास के प्युपिल टीचर साथ-साथ पढते थे। नाटे क़द (पांच फुट चार इंच) और इकहरे जिस्म का यह चौड़ी-चौड़ी हड्डियोंवाला मज़बूत नौजवान जल्दी ही सबकी नज़रों पर चढ़ गया। उसकी वेशभूषा बहुत सादी थी यानी पाजामा और अचकन या ख़ुले गले का लंबा कोट, सर पर साफा। और जिस तरह वेशभूषा सादी थी उसी तरह उसकी आदतें और उसका स्वभाव भी सीधा-सच्चा और बनावट से परे था। उसकी आवाज़ बुलन्द थी और शरीर में बल की भी कमी न थी—पंजा खोलने पर उंगलियों को माड़ना मामूली आदमी के लिए आसान बात न थी। ख़ामख़ाह किसी से दबना भी उसने न सीखा था लेकिन इस सब के बावजूद वह सबसे बहुत झुककर, अदब के साथ, और मुहब्बत से मिलता। होस्टल में लड़ना-झगड़ना तो दरकिनार उसको कभी किसी से असभ्य या रूखे ढंग से बात करते भी नहीं देखा गया। नौकरों के साथ भी वह बहुत अच्छी तरह पेश आता था।

पढ़ने का उसको मर्ज़ था और पढ़ते-लिखते वक्त वह अकसर अपना कमरा भीतर से बन्द कर लिया करता था। खेलकूद में भी वह जी खोलकर हिस्सा लेता था लेकिन उसके असल प्राण अपने लिखने-पढ़ने में बसते थे।

और इन्हीं दिनों उनका एक छोटा उपन्यास 'असरारे मआबिद' (देवस्थान रहस्य) बनारस के एक साप्ताहिक उर्दू पत्र 'आवाज़ए ख़ल्क' में 8 अक्तूबर 1903 से धारावाहिक छपना शुरू हुआ। और इसे एक अनोखा संयोग ही कहना चाहिए कि जिस 8 अक्तूबर को

उनकी पहली रचना रोशनी में आयी, उसी 8 अक्तूबर को तैंतीस साल बाद उनकी आंखें इस दुनिया की रोशनी पर बंद हुईं !

•

1904 में ट्रेनिंग की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास कर ली। गणित उनके लिए सदा एवरेस्ट की चोटी बना रहा सो गणित न पढ़ा सकने की बात इस सर्टिफिकेट में भी दर्ज हुई। अमृतराय ने लिखा है—

"....और शायद इन्हीं दिनों मुंशीजी की चिट्ठी-चपाती मुंशी दयानरायन निगम के साथ शुरू हुई जिन्होंने हाल में ही 'ज़माना' शुरू किया था। उनको लिखने वालों की तलाश थी, इनको अपने लिए किसी पत्र की जिसमें वह बंधकर लिख सकें। धीरे-धीरे इस संबंध ने एक बड़ी गहरी दोस्ती का रूप ले लिया जो मरते दम तक चली। लेकिन अभी तो बस ख़त-किताबत तक बात थी, शकल भी शायद एक दूसरे की उन्होंने न देखी थी।

'आवाज़ए ख़ल्क' में अभी यह किस्सा छप ही रहा था कि मुंशीजी के लिए ट्रेनिंग का सिलसिला ख़त्म करके वापस परताबगढ़ जाने का वक्त आ गया। 30 अप्रैल 1904 को मुंशीजी अपनी जगह पर लौट गये। लेकिन नौ महीने बाद ही ट्रेनिंग कालेज के प्रिन्सिपल केम्प्स्टर ने, जो इस शान्त, परिश्रमी, मीठे और मिलनसार नौजवान से बहुत खुश था, मुंशीजी को ट्रेनिंग कालेज से लगे हुए माडल स्कूल का हेडमास्टर बनाकर फिर इलाहाबाद बुला लिया। पचीस साल के नौजवान के लिए माडल स्कूल की हेडमास्टरी कोई छोटी चीज न थी। माडल स्कूल सचमुच माडल स्कूल था—लड़कों के खेलने-कूदने, पढ़ने-लिखने के सरंजाम के ख़याल से भी और पढ़ाई के स्टैण्डर्ड के ख़याल से भी। पढ़ाई को आसान और दिलचस्प बनाने के लिए नयी से नयी तरकीबें जो विलायत में ईजाद होतीं उनको यहा अमल में लाने की कोशिश की जाती। और मुंशीजी ने बड़ी उमंग और बड़ी तनदिही से उस भरोसे को सच करके दिखाया जो केम्प्स्टर ने उनके प्रति दिखलाया था।

लेकिन मुंशीजी को अभी यहां मुश्किल से तीन महीने हुए थे कि मई 1905 में उनका तबादला कानपुर के लिए हो गया—उसी पचीस रुपये पर, डिस्ट्रिक्ट स्कूल में आठवें मास्टर के पद पर। मगर ख़ैर, नौकरी के यह सब सिलसिले तो चलते ही रहे, नवाब का लिखना भी अपनी सम गति से बराबर चलता रहा। अपनी ज़िन्दगी का ख़ाका अब उसकी आंखों के सामने साफ था। उसी हद तक यह भी साफ था कि लिखने का काम भी, चाहे कम चाहे ज़्यादा, बराबर दिनचर्या के रूप में चलना चाहिए। खाना-पीना, सोना-जागना, ज़िन्दगी के और सब काम जब बिला नागा होते हैं तब लिखने के काम में ही नागा क्यों हो—इस अनुशासन की डोर में अपने को बांधना अब उसने शुरू कर दिया था। और जैसे-जैसे दिन गुज़रते गये वैसे-वैसे यह अनुशासन और पक्का होता गया। अच्छा ही हुआ कि वह मुहूर्त देखकर लिखने के लिए बैठने वालों में न था वर्ना तो उसकी ज़िन्दगी जैसी थी शायद कभी वह शुभ मुहूर्त उसकी ज़िन्दगी में न आता क्योंकि परीशानियों से छुट्टी तो उसको एक दिन के लिए भी नहीं मिली।....उसने ज़िन्दगी में बहुत दुःख देखा था और शायद उस दुःख को सह सकने के लिए ही प्रकृति ने उसे उन्मुक्त हंसी का कवच दे दिया था। यह कवच उसके पास न होता तो वह कबका टूटकर ख़त्म हो गया होता। क्या थी उसकी ज़िन्दगी—उलझे

हुए धागे का एक गोला। मां कबकी सिधार गयी, बाप का साया सर से उठे भी छः सात साल हो गये। घर पर सौतेली मां और उनका बेटा और एक अपनी बीवी, बदशकल, फूहड़,झगड़ालू। सास-बहू के आये दिन के झगड़े, फूलना-गूलना। आराम एक नहीं और मुसीबतों का एक दफ्तर सर पर। पच्चीस रुपये तनख्वाह में से दस-बारह रुपये अपने पास रखकर बाकी घर रवाना कर देने पड़ते। न खाने का सुख न पहनने का, लेकिन कभी तेवर मैला न हुआ। इतना ही नहीं, दर्द जितना ही बढ़ता था, हंसी उतनी ही बुलन्द से बुलन्दतर होती जाती थी। यहां तक कि ट्रेनिंग कालेज के उनके सहपाठी बाबू लालकिशन साहब के अल्फाज़ में 'आपकी और स्वर्गीय बाबू गिरिजाकिशार साहब असिस्टेण्ट कमिश्नर आबकारी की वजह से हमारा छोटा-सा लाफिंग क्लब बन गया था जिसका रोज़ाना इजलास मेरे ही कमरे में हुआ करता था। उसमें शायद और भी दो-एक साहब थे लेकिन इस वक्त ख़याल नहीं आता। बहरहाल, उनमें सभी हंसने वाले थे मगर धनपतराय गज़ब करते थे। जब हंसते तो खूब हंसते और कहकहे पर कहकहा लगाते चले जाते....दूसरे मुझ पर हंस सकें, इसके पहले मैं खुद हंसूंगा और इस ज़ोर से हंसूंगा कि छत गिर पड़ेगी। कितनी अच्छी बात कही है उस अंग्रेज़ कवि ने—हंसो तो सारी दुनिया तुम्हारे साथ हंसती है और रोओ तो अकेले रोओ। लिहाज़ा मैं हंसूंगा ताकि सारी दुनिया मेरे साथ हंस सके—जहां तक मेरी अपनी ज़िन्दगी की बात है। लेकिन जहां मैं समाज का एक अंग हूं और मेरा दर्द अकेले मेरा नहीं बल्कि समाज के बड़े दर्द का ही एक नन्हा-सा टुकड़ा है या मैं देखता हूं कि किसी पर जुल्म हो रहा है वहां मैं चुप नहीं रह सकता और न हंसकर ही छुट्टी पा सकता हूं। सही या गलत, उसकी यह पुख्ता समझ है कि साहित्य को लिखने वाले की निजी ज़िन्दगी से नहीं उसकी समाजी जिन्दगी से सरोकार होता है। साहित्य के बारे में उसकी यह समझ पहले रोज़ से लेकर आखिरी रोज तक रही। इसलिए फिराक गोरखपुरी की बात सुनकर जरा भी ताज्जुब नहीं होता कि मुंशी प्रेमचंद को उर्दू गज़लों से कुछ ख़ास मुहब्बत न थी, बल्कि इसी बात को लेकर दोनों दोस्तों में जब-तब चोंचें भी हो जाती थीं। ताहम मुंशीजी अपने इस शायर दोस्त की तमाम दलीलों के बाद भी अपनी जगह से हिलने पर तैयार न थे। जैसा कि उन्होंने बहुत बाद को अपने मित्र, उर्दू के प्रसिद्ध साहित्यकार इम्तयाज़ अली 'ताज' को 14 सितम्बर 1920 के अपने ख़त में लिखा था—मैं लिटरेचर को मैस्कुलिन दखना चाहता हूं, फेमिनिज़्म, ख्वाह वह किसी सूरत में हो, मुझे पसन्द नहीं। इसी वजह से मुझे टैगोर की अक्सर नज़्में नहीं भातीं। यह मेरा भीतरी नुक्स है, क्या करूं। अशआर भी मुझे वही अपील करते हैं जिनमें कोई जिद्दत हो। 'गालिब' के रंग का मैं आशिक हूं। अज़ीज़ लखनवी के 'गुलकदे' की खूब सैर की थी मगर बदकिस्मती से आज तक एक शेर भी मौजूं नहीं कर सका। न जी चाहता है। गालिबन शायराना हिस (संवेदनशीलता) दिल में है ही नहीं।'

इस ख़त के कई बरस बाद इन्द्रनाथ मदान के एक सवाल का जवाब देते हुए भी कि बंगला साहित्य क्यों दिल को ज़्यादा छूता है, उन्होंने लगभग यही बात कही थी—उसमें एक स्त्रियोचित गुण पाया जाता है, जिसे मैं अपने स्वभाव के प्रतिकूल पाता हूं....

'असरारे मआबिद' तो 'आवाज़ए ख़ल्क' में क्रमशः छप ही रहा था, शायद इन्हीं दिनों, परताबगढ़ के इन नौ महीनों में, मुंशीजी ने अपना अगला उपन्यास 'हमखुर्मा व हमसवाब' लिखा। 30 जनवरी 1905 को परताबगढ़ से मुंशी दयानरायन निगम को भेजे

गये ख़त में जिस नाविल का ज़िक्र है ('मैं बड़े इश्तियाक से मुन्तज़िर हूं कि आपने मेरा नाविल पढ़ा या नहीं।') और बीस रोज़ बाद फिर इलाहाबाद से जिसकी याददेहानी करते हुए उन्होंने अंग्रेज़ी में लिखा था—'दो महीने से ज़्यादा हुआ कि मुझे अपने उपन्यास की पाण्डुलिपि आपके पास अवलोकनार्थ भेजने का सौभाग्य हुआ था इस आशा में कि आप मेरे लिए एक प्रकाशक जुटाने की कृपा करेंगे। मुझे याद है कि वह दिसम्बर की आठ तारीख़ थी जब कि मैंने किताब आपके पास भेजी थी....' वह उपन्यास शायद 'हमखुर्मा व हमसवाब' ही है।

खुद मुंशीजी ने बहुत बरस बाद, 21 जनवरी 1921 को, अपने दोस्त इम्तयाज़ अली 'ताज' को लिखा था—हां, हमखुर्मा व हमसवाब और किशना वगैरह मेरी इब्तदाई तसानीफ हैं। पहली किताब तो लखनऊ के नवलकिशोर प्रेस ने शाया की थी, दूसरी किताब बनारस के मेडिकल हाल प्रेस ने। ये गालिबन सन् 1900 की तसानीफ हैं।

इस ख़त के भी दस-बारह बरस बाद अपनी आत्मकथा 'जीवन-सार' में उन्होंने लिखा—मेरा एक उपन्यास 1902 में निकला और दूसरा 1904 में।

17 जुलाई 1926 के ख़त में उन्होंने निगम साहब को लिखा—सन् 1901 से लिटरेरी ज़िन्दगी शुरू की। रिसाला 'ज़माना' में लिखता रहा। कई साल तक मुतफर्रिक मज़ामीन लिखे। सन् 1904 में एक हिन्दी नाविल 'प्रेमा' लिखकर इण्डियन प्रेस से शाया कराया।

काफी परस्पर-विरोधी सी बातें हैं और कुछ अजब नहीं कि मुंशीजी की स्मृति धोखा दे रही हो। 'प्रेमा' पर प्रकाशन का वर्ष 1907 अंकित है। 'हम-खुर्मा व हमसवाब' पर प्रकाशन-वर्ष अंकित नहीं है। लेकिन, उसका पहला विज्ञापन सितंबर 1906 के 'जमाना' में मिलता है और फिर बराबर मिलता है। इससे यह नतीजा निकालना शायद बहुत गलत न होगा कि वह किताब सितंबर 1906 के आसपास निकली होगी। 'किशना' का पहला इश्तहार अगस्त 1907 में, और समालोचना अक्तूबर-नवंबर 1907 के 'ज़माना' में मिलती है। 'रूठी रानी' का किस्सा अप्रैल से अगस्त 1907 तक क्रमशः निकला।

गरज़ की मुंशीजी ने बंधकर 'जमाना' में लिखना शुरू कर दिया था और छोटी कहानी तो जैसे उन्होंने सबसे पहले 1907 में ही लिखी, लेकिन उसके पहले छोटे-छोटे लेखों और समीक्षाओं का सिलसिला बहुत कायदे से चलता रहा।

हकीम बरहम के उपन्यास 'कृष्णकुंवर' की समालोचना करते हुए मुंशीजी ने फरवरी 1905 के 'ज़माना' में लिखा—

'....उपन्यास अंग्रेज़ी साहित्य-आलोचकों की राय में शब्दचित्रों का एक संग्रह होता है।....उपन्यास का क्षेत्र संप्रति बहुत विस्तृत हो गया है। कहीं तो उसमें ज़िन्दगी के किसी अहम मसले पर बहस की जाती है, जिसकी मुहम्मद अली साहब ने बड़ी कामयाबी के साथ कोशिश की है, कहीं उसमें मानव-स्वभाव की व्याख्या की जाती है, हृदय के भावों, आशाओं और निराशाओं के नक्शे उतारे जाते हैं, कहीं नैतिक बुराइयों को दूर करने की कोशिश की जाती है। उपन्यासकार कभी मित्र का काम करता है और कभी उपदेशक का, कभी दार्शनिक बनता है कभी आयुर्वेद का पंडित....'

इसी कसौटी पर मुंशीजी ने हकीम बरहम की खूब मरम्मत की। लेकिन असल मरम्मत तो इलाहाबाद से चलते-चलाते, अप्रैल 1905 के 'ज़माना' में 'ख़ान बहादुर शम्सुल

उलमा मौलाना मौलवी ज़काउल्ला साहब देहलवी' की हुई।

मौलवी साहब की पेशीनगोई के ख़िलाफ जब कांग्रेस की तहरीक ख़त्म नहीं हुई, बल्कि बंगाल से उठने वाले स्वदेशी आंदोलन के रूप में और आगे बढ़ी तो मुंशीजी, जो अब तक अपना मोर्चा अच्छी तरह संभाल चुके थे, फौरन स्वदेशी आंदोलन के समर्थन में दो लेख लेकर आगे आये जिनमें केवल औपचारिकता का निर्वाह नहीं, एक स्वयंसेवक का सच्चा संकल्प था।

स्वयंसेवक का वही सच्चा संकल्प जो सामाजिक धरातल पर 'हमखुर्मा व हमसवाब' या 'प्रेमा' के नायक अमृतराय में दिखायी देता है जो हिन्दू समाज में विधवा स्त्री की हीन स्थिति देखकर किसी विधवा स्त्री से विवाह करने का निश्चय करता है और अपनी अनुपम सुन्दरी, शीलवती, गुणवती मंगेतर प्रेमा को छोड़ देता है क्योंकि वह अपनी गिनती उन लोगों मे नहीं करवाना चाहता जो दवा को हाथ में लेकर देखते है मगर मुंह तक नहीं ले जाते, जो 'आंखें रखते हैं मगर अंधे हैं, कान रखते हैं मगर बहरे हैं, ज़बान रखते हैं मगर गूंगे हैं।'

'असरारे मआबिद' में कहानी की चाशनी ढीली थी तो यहा कड़ी है, खूब कड़ी। लिहाजा यह है मुंशी नवाबराय का 'हमखुर्मा व हमसवाब'—कील-कांटे से बिल्कुल दुरुस्त!

यह सन् 1905 की मई है और मुशीजी इलाहाबाद से तब्दील होकर कानपुर आ गये हैं।

उनके मिज़ाज मे तकल्लुफ काफी है लेकिन तबीयत जिससे खुल जाती है, खुल जाती है। मुंशी दयानरायन ने उन्हें अपने यहां आकर ठहरने की दावत दी है और मुशीजी उस दावत को कबूल करके उन्हीं के हवेली-जैसे मकान मे, नया चौक में, रह रहे हैं। मुंशीजी 'जमाना' परिवार के अपने आदमी हैं और निगम साहब के दोस्त ही उनके भी दोस्त हैं। पूरा जमघट है। नौबत राय 'नज़र', दुर्गा सहाय 'सरूर', प्यारेलाल 'शाकिर', और और बहुत से लोग जिनके नाम अब खो गये हैं। हर रोज शाम को महफिल जमती थी और हुस्न-ओ-इश्क से लेकर शोले बरसाती हुई सियासत तक, दुनिया की हर चीज के बारे में गरम-गरम बहसें होती थीं। सभी नौजवान थे, जोशीले थे, शेर-ओ-शायरी के लिखने-पढ़ने के शौकीन थे। दीन-दुनिया की कोई चीज़ ऐसी न बचती जिस पर खुलकर बातें न होतीं। एक दूसरे की नुक्ताचीनी होती, हंसी-मज़ाक होते, कहकहे पर कहकहे उड़ते। और सिर्फ कहकहे न उड़ते, बोतलों के काग भी उड़ते। 'सरूर' और 'नज़र' बाकायदा पीने वालो में थे, नवाब राय भी गाहे-ब-गाहे मुंह जुठार लेते।

मुंशीजी उन लोगों में से न थे जो चार दोस्तो के बीच भी कट्टर मौलाना की तरह शराब पीने को एक बड़ा गुनाह समझते हुए, मुहर्रमी सूरत बनाये, लबों को सिये बैठे रहते हैं। क्या मसरफ ऐसे आदमी का और अगर उसे बातचीत नहीं कर आती और हंसने से जिगर के फटने का अंदेशा रहता है तो वह आये ही क्यो ऐसी महफिल में!

मगर साथ ही मुंशीजी उनमें भी न थे जिन्हें हर वक्त अपनी ही आवाज़ सुनना अच्छा मालूम होता है। ऐसा आदमी किसी भी महफिल के लिए एक अज़ाब होता है और लोग उसकी सूरत से नफरत करने लगते हैं। इसके बर-अक्स मुंशीजी महफिल की जान थे। उनसे महफिल का रंग उखड़ता नहीं जमता था।

बेशक उनके स्वभाव का एक पहलू ऐसा भी था जो काफी संकोची था, लजीला था।

अजनबियों के बीच वह मुश्किल से ज़बान खोल पाते थे। लेकिन दोस्तों के बीच उनकी कायापलट हो जाती थी। हंसते थे, हंसाते थे, उर्दू-फारसी के शेर और लतीफे सुनाते थे, लोगों पर फिकरे कसते थे, लोग उन पर फिकरे कसते थे, आपस में किसी तरह का पर्दा न था। खुली हुई, बेबाक तबीयत पायी थी जो दोस्तों की महफिल में बैठकर और भी खुल जाती थी।

महफिल के रंग में बहने का यह हाल था कि एक रोज़ जब कि निगम साहब के यहां कुछ खास दोस्त जमा थे और करीब ही किसी छत पर ग्रामोफोन में बर्ट शेपर्ड का मशहूर लाफ़िंग सांग I sat in a corner बजने लगा तो कुछ देर तो मुंशीजी ख़ामोश रहे और फिर यह कहकर कि लीजिए मैं भी इसके कहकहे में इसका साथ देता हूं, कहकहा मारने लगे और बड़ी देर तक यों ही हंसते रहे।

हफ्तों भी नहीं, चंद दिनों के भीतर यह महफिलें मुंशीजी के खून का ऐसा जुज़ बन गयीं कि जब वह गर्मी की छुट्टियों में अपने घर लमही गये तो इन सोहबतों की याद करके तड़प-तड़प गये, इसलिए और भी कि जिस भी नज़र से देखिए, कानपुर की जिन्दगी अगर स्वर्ग थी तो घर की वह ज़िन्दगी नरक। वहां बस स्कूल का काम था और उससे छुट्टी पायी तो दोस्तों की महफिल थी, हंसी-मज़ाक था, साहित्य-चर्चा थी, न कोई फिक्र थी, न परेशानी। और घर जो आये तो जैसे भिड़ के छत्ते में हाथ मार दिया, सारी परेशानियां जिनसे दूर रहने के कारण नजात मिली हुई थी यकबारगी उनके ऊपर टूट पड़ीं और उन्होंने घबराकर मुंशी दयानरायन को, जो इतने ही दिनों में उनके सबसे अच्छे दोस्त बन चुके थे, एक लंबा ख़त लिखा–

'बरादरम, अपनी बीती किससे कहूं। जब्त किये किये कोफ्त हो रही है। ज्यों-त्यों करके एक अशरा काटा था कि ख़ानगी तरद्दुदात का तांता बंधा। औरतों ने एक-दूसरे को जली-कटी सुनायी। हमारी मख़दूमा ने जलभुनकर गले में फांसी लगायी। मां ने आधीरात को भांपा, दौड़ीं, उसको रिहा किया। सुबह हुई, मैंने ख़बर पायी। झल्लाया, बिगड़ा, सख्त मलामत की। बीवी साहबा ने अब ज़िद पकड़ी कि यहां न रहूंगी, मैके जाऊंगी। मेरे पास रुपया न था। नाचार खेत का मुनाफा वसूल किया। उनकी रुख़सती की तैयारी की। वह रो-धोकर चली गयीं। मैंने पहुंचाना भी न पसन्द किया। आज उनको गये आठ रोज हुए, न ख़त है न पत्तर। मैं उनसे पहले ही खुश न था अब तो सूरत से बेज़ार हूं। गालिबन् अबकी जुदाई दायमी साबित हो। खुदा करे ऐसा ही हो। मैं बिला बीवी के रहूंगा। बिल्ली बख़्शे मुर्गा लंडूरा ही रहेगा। उधर नानिहाल से, वालिदा की तरफ से ज़िद है कि ब्याह रचे और ज़रूर रचे। जब कहता हूं, मैं मुफलिस हूं, कंगाल हूं, खाने को मयस्सर नहीं तो वालिदा साहबा कहती हैं तुम अपनी रज़ामन्दी ज़ाहिर करो, तुमसे एक कौड़ी न मांगी जायगी। सुनता हूं बीवी हसीन है, बाशऊर है, जेब से खर्चने बगैर मिली जाती है, फिर तबीयत क्यों न भुरभुराय और गुदगुदी क्यों न पैदा हो ! ईश्वर जानता है दो-तीन दिन उसका ख़्वाब भी देख चुका हूं। बहरहाल अबकी तो गला छुड़ा ही लूंगा, आइन्दा की बात नरायन के हाथ है। जैसी आपकी सलाह होगी वैसा करूंगा। इस बारे में अभी फिर मशविरा करने की ज़रूरत बाकी है।'

इसी ख़त में अपने घर की और भी जो तस्वीर खींची है, वह भी देखने क़ाबिल है–

'गर्मी की कैफियत न पूछिए। कहलाने को साहिबे-मकान हूं। और खुदा के फज़ल से मकान भी सारे गांव का माबूद है मगर रहने काबिल एक कमरा भी नहीं। कोठे पर आग बरसती है। बैठा और पसीना चोटी से एड़ी को चला। नीचे के कमरे सब गंदे। परीशान। किसी में बैल बंधता है, किसी में उपले जमा हैं। कहीं अनाज का ढेर है, किसी में जांत, चक्की, ओखली, मूसल वगैरह जुलूसफर्मा हैं। कोई बैठे कहां, सोये कहां। मजबूरन अनाज के घर में एक चारपाई की जगह निकाल ली है। उसी पर दिन-रात पड़ा रहता हूं। अकेले घूमने कहां जाऊं। बच्चे तीन-चार दिन के लिये आये हैं। हमारी मख़दूमा को पहुंचाने के लिये बस्ती गये, वहां से अपने वालिद के पास चले जायंगे। इस गर्मी में कैसा पढ़ना कैसा लिखना। सुबह के वक्त घंटा-आध घंटा वर्क-गिरदानी कर लेता हूं, बाकी रात-दिन मैं हूं और चारपाई। सुलक्कड़ बड़ा हूं मगर नींद भी कुछ मेरे घर की लौंडी नहीं। उस पर तरद्दुद अलग। कहां हंसी मज़ाक मे दिन कटता था कहां चुप की मिटाई या गूंगे का गुड़ खाकर बटना पड़ता है। अजब ज़ीक (झंझट) में जान मुबतिला है। भाई, जल्दी से छुट्टी कटे और फिर यारों के जलसे और चहचहे कहकहे हो। आये बीस दिन से ज्यादा गुज़रे मगर कसम ले लो जो ज़बान से प्यारा लफ्ज बबूक एक बार भी निकला हो।'

बहुत हसरत से भरा हुआ ख़त है। कोई छोटी बात नहीं है यह कि आपके घर की एक स्त्री, जो आपकी स्त्री है, चाहे जैसी भी, गले में फांसी लगा ले। लेकिन किस तरह से उसको बयान किया है। किसी तरह की हमदर्दी उस औरत को देने के लिए वह तैयार नहीं है। दिल कितना फटा हुआ है जो इस तरह की बात मुमकिन हो सकी ! उस रोज़ विजयबहादुर उनको ले जाकर बस्ती जो पहुंचा आये तो नवाब के लिए वह सचमुच मर गयीं—गो मरी बहुत बाद को। ख़त उनके जाने के आठ रोज़ बाद लिखा जा रहा है। आठ रोज का वक्त मन की उदासी या भारीपन को कम करने के लिए थोड़ा नहीं होता। लेकिन तो भी खत से एक बेदर्दी का एहसास होता है जो उनकी पूरी तबीयत से मेल नहीं खाता, मगर सनद है इस बात की कि यह शादी गरीब के जी पर कितनी भारी हो रही थी।

मुंशीजी और निगम साहब, दोनों एक-दूसरे की तरफ बड़ी तेज़ी से खिंचे और शायद इसकी एक बड़ी वजह यह थी कि दोनों का स्वभाव एक-दूसरे से काफी अलग और कहीं-कहीं विरोधी भी था। मुंशी दयानरायन कील-काटे से दुरुस्त, दुनियादार आदमी थे, पहलू बचाकर काम करते थे, हर काम मे अपना नफा-नुकसान देख लेते थे। रहने-सहने में भी साफ-सुथरे, कायदे के आदमी थे, हर तरह से बहुत प्रैक्टिकल। मुंशी धनपतराय बिल्कुल उनके उल्टे थे। रहन-सहन में कतई लापरवाह, न कपड़े की फिक्र न लत्ते की, न बालों की फिक्र, न जूते की। किसी भी हालत में रह लेते थे और यह चीज़ आदत बन गयी थी। दुनियादारी से भी उन्हें कम ही वास्ता था। जो बात सही थी, सही थी और जो गलत, गलत—दुनियादारी को उसमें बहुत कम दख़ल था। पहलू बचाकर काम करना सीखा ही नहीं। स्वभाव का यह बुनियादी अन्तर दोनों को काफी अलग-अलग दिशाओं में ले गया, लेकिन एक चीज़ जो दोनों के मिजाज में यकसां मिलती थी वह थी उनकी वजादारी जो कि उस पुराने जमाने की ही एक चीज थी और उसके साथ ही मिट गयी। दोनों अपने स्वभावों की भिन्नता को देखते हुए भी एक-दूसरे की कीमत समझते थे, एक-दूसरे की कद्र करते थे। बात शुरू इसी तरह हुई कि दयानरायन साहब के लिए वह एक नया प्रतिभाशाली लेखक

था और मुंशीजी के लिए निगम साहब एक ऐसे पत्र के संपादक थे जो तेज़ी से अपना स्थान बना रहा था। लेकिन जल्दी ही उसने कुछ और ही शकल अख़्तियार कर ली। मुंशीजी ने निगम साहब को बड़े भाई की जगह दी, गो उम्र में मुंशीजी ही बड़े थे। यह बात निगम साहब को काफी अजीब मालूम हुई लेकिन सच पूछिए तो अजीब इसमें कुछ भी नही है—मुंशीजी को सादी का वह मकूला अभी भूला न था जो उन्होंने अपने बचपन में पढ़ा था, कि उम्र की गिनती सालों से नहीं बल्कि तजुर्बे से होती है। और चूंकि दुनिया के तजुर्बो में वह दयानरायन साहब को अपने से बड़ा समझते थे, इसलिए उम्र में भी अपने से बड़ा मानते थे। और इसीलिए, जैसा कि खुद निगम साहब ने लिखा है, 'बहुत से मामलों में तो जो मेरी राय होती उसी पर वह अमल करते।' सारी ज़िन्दगी यह सिलसिला चला और निगम साहब ने भी 'उनके किसी मामले में दख़ल देने में कभी आगापीछा नहीं किया।'

और अब यह एक नया मामला, मुंशीजी की शादी का, दरपेश था। ....कायस्थों में लड़कियों की कुछ कमी न थी, और नवाब उस वक्त एक हंसमुख, ज़िन्दादिल, स्वस्थ और सुन्दर, खाता-कमाता नौजवान था। चाची शादी करने के लिए पीछे पड़ी थीं और जेब से कुछ खर्चे बगैर एक हसीन और बाशऊर बीवी मिली जाती थी। नौजवान नवाब उसके सपने भी देखने लगा था। लेकिन फिर आदमी का विवेक भी तो है। कैसे रचा ले वह उस तरह का ब्याह ! ऐसी बड़ी-बड़ी बातें अभी उसने अपनी किताब में लिखीं और जब अपनी बारी आयी तो भूल जाय उन सब बातों को ? नहीं, उसके लिए तो यही उचित है कि अगर उसे दुबारा शादी करनी ही हो तो किसी विधवा लड़की से करे, वह खुद कहां का कुंआरा है ! न रहा हो उससे संबंध तो क्या, ब्याह तो हुआ। यही सब बातें सलाह करने की थी। आख़िरकार, मुंशी दयानरायन के शब्दों में, 'शादी के बारे में बड़े सोच-विचार और बहुत कुछ बहस-मुबाहसे के बाद उन्होंने तय किया कि दूसरी शादी की जाय तो किसी विधवा ही से की जाय।' 'घरवाले, ख़ासकर चाची, विधवा-विवाह के बहुत ख़िलाफ थीं। इस तरह की चीज़ घर में पहले कभी न हुई थी, बिरादरीवाले क्या कहेंगे ! नाक कट जायगी ! लोग कहेंगे ज़रूर कोई ऐब है लड़के में तभी तो कुंआरी लड़की नहीं मिली बिरादरी में, वर्ना क्यो करता विधवा लड़की से ब्याह ! चाची उन दिनों नवाब के साथ ही कानपुर में रह रही थी और नवाब कुछ दिनों से, नाजुक तबीयत के, लंबे छरहरे मुंशी नौबतराय 'नज़र' और एक महराजिन के साथ दयानरायन साहब के घर के पास ही मकान लेकर रह रहे थे। हर रोज घर में शादी का मसला छिडता और इसी तरह की बातें होती। कभी-कभी तो नवाब की तबीयत इतनी ज़्यादा भिन्ना जाती कि वह शादी से बाज़ आने की बात सोचने लगता। लेकिन कुछ तो उम्र का तकाज़ा और कुछ उसकी घरेलू ढंग की तबीयत, शादी कर लेना ही उसने तय किया। लेकिन अपने इस इरादे पर वह अटल था कि विधवा ही से शादी करेगा। दूसरों की मुंहदेखी मैं नहीं कर सकता। मुझे जो बात ठीक मालूम होती है, वहीं मैं करूंगा, जिसे शरीक होना हो, हो, न होना हो, न हो।

तभी संयोग से एक रोज़ नवाब की नज़र किसी अख़बार में, शायद बरेली के आर्यसमाजी शंकरलाल श्रोत्रिय के पर्चे में छपे हुए एक इश्तहार पर पड़ी जिसमें लिखा था कि मौज़ा सलेमपुर, डाकख़ाना करबार, ज़िला फतेहपुर के कोई मुंशी देवीप्रसाद अपनी बाल-विधवा कन्या का विवाह करना चाहते हैं और जो सज्जन चाहें इस विषय में उक्त पते

पर पत्र-व्यवहार कर सकते हैं।

नवाब ने फौरन उस पते पर ख़त लिखा। उसके जवाब में ख़त के साथ पचीस-तीस पन्ने का एक किताबचा आया। यह किताबचा अगर और किसी वजह से नहीं तो अपनी लेखन शैली के कारण एक मार्के का और बहुत दिलचस्प दस्तावेज़ है। लेकिन और भी बड़ी बात यह है कि उससे बहुत मज़े की रोशनी उस कायस्थ समाज पर पड़ती है जिसमें नवाब का जन्म हुआ, जिसके बीच वह पला-बढ़ा और जिसके माध्यम से उसने सबसे पहले हिन्दू समाज के मसलों को समझा। जिस समाज के अन्दर से यह दस्तावेज़ पैदा हुआ वही नवाबराय का पहला और बुनियादी समाज है। वही उसकी ज़बान है और वही उसके सोचने-विचारने का ढंग। बाद में उसकी निगाह भी फैली और उसका समाज भी फैला, ताहम उसकी घुट्टी में यही समाज था।

किताबचे पर उसका नाम दिया है, 'कायस्थ बाल विधवा उद्धारक' और उसके नीचे यह इबारत है—मूर्ख गुपनाम द्वारा लिखित जिसको मुंशी गजाधरप्रसाद नायब नाज़िर दीवानी ने यूनियन प्रेस, इलाहाबाद में छपवाकर प्रकाशित किया। 1905।

गुप्त नाम से किताबचे को लिखना और एक अजीज के नाम से उसको छपवाना, यह सब कार्रवाई थी उन्हीं मुंशी देवीप्रसाद की जो अपनी बाल-विधवा कन्या शिवरानी का पुनर्विवाह करना चाहते थे। यह मुंशी देवीप्रसाद अपने गांव के एक बहुत प्रभावशाली व्यक्ति थे। पैसा तो कुछ खास न था मगर इज़्ज़त बहुत थी। दिमाग तो वैसा ही पाया था जैसी कि कायस्थ खोपड़ी मशहूर है मगर साथ ही मिज़ाज में कुछ ठाकुरों जैसा अक्खड़पन भी था। दबंग कड़ियल आदमी थे। बहुत शरीफ, पुराने ढंग के वज़ादार, न तो खुद किसी से बेअदबी करते थे और न किसी की बेअदबी बर्दाश्त करते थे। दोस्ती की टेक निभाना भी जानते थे और दुश्मन को नेस्त-नाबूद करने में भी पीछे न रहते थे। उनके तीन लड़के थे और दो लड़कियां। दोनों लड़कियों का ब्याह उन्होंने छुटपन में ही, दस-ग्यारह साल की उम्र तक पहुंचते-पहुंचते कर दिया था। किस्मत का खेल कुछ ऐसा हुआ कि छोटी लड़की शिवरानी ब्याह के तीन महीने बाद ही विधवा हो गयी। न तो वह पति के घर गयी और न उसने पति का मुंह देखा, मगर फिर भी वह विधवा थी और यह उनकी ज़िन्दगी का सबसे बड़ा गम था। मां-बाप दोनों अपनी इस बेटी का मुंह देखते और कलेजा थाम लेते थे। आख़िरकार बहुत पसोपेश के बाद दोनों ने अपने मन में इस बात का फैसला कर लिया कि हम अपनी बेटी का ब्याह फिर से करेंगे। आज भी यह काम आसान नहीं है, पचपन बरस पहले तो वह बगावत से कम न था। लेकिन मुंशी देवीप्रसाद अब इस बगावत पर आमादा थे। अपनी बेटी का दुख उनसे देखा न जाता था। होगा समाज का विरोध, डटकर होगा—हो। जो होगा देखा जायगा। एक बार फैसला कर लेने पर पीछे कदम हटाने वाले आदमी मुंशी देवीप्रसाद न थे। बिरादरी का एक-एक आदमी हमें छोड़ दे, तो भी यह ब्याह होगा। और चोरी-छिपे न होगा, इश्तहार बंटवाकर होगा। सब लोग जान जायं कि मुंशी देवीप्रसाद अपनी विधवा कन्या का विवाह फिर से कर रहे हैं।

लेकिन इसके लिए ज़रूरी था कि सबसे पहले इस काम के लिए फिजा तैयार की जाय। मुकदमे में कूदने के पहले अपने कागज़ात सब ठीक कर लेने चाहिए ताकि बाद में बगलें न झांकनी पड़ें। इसी खयाल से यह इश्तहारी पर्चा हिन्दी और उर्दू में तैयार किया

गया और उसे काफी बड़ी संख्या में छपवाकर दूर-दूर तक भेज दिया गया। जिसे एतराज़ करना हो, करे; आये हमसे बहस करे, या तो वह मुझे कायल कर दे कि मैं गलत काम कर रहा हूं या मैं उसे वेद-पुराण और शास्त्रों की नज़ीर देकर कायल कर दूंगा कि ठीक बात यही है, बाकी सब तो पोंगा ब्राह्मणों का खेल है।

किताबचा बिलकुल आर्यसमाजी अन्दाज़ में ओंमतत्सत् के साथ शुरू होता है और उसी रंग में आगे बढ़ता है—

प्रार्थना पत्र ख़िदमत में सब भाइयों कायस्थ चित्रगुप्तवंशी के पहुंचकर सुशोभित हो, परमात्मा रोज़-ब-रोज़ तरक्की देवे।

दरख़्वास्त वास्ते सुधार करने चाल चलन ब्योहार जो काबिल सुधार करने के है कि जो न सुधार चाल चलन करने से महापातक होता है कि सब भाइयों को मालूम है और देखते हैं शास्त्रोक्त प्रमाण व वेदाज्ञानुसार सब भाइयों के सामने इस पत्र द्वारा प्रकाशित करता हूं अपने-अपने ज्ञान बुद्धि से ध्यान देकर उनके सुधारने में दिल व जान से मुस्तैद हो जाइए।

हे मेरे प्यारे कौमी भाइयो कायस्थ चित्रगुप्तवंशी ज़रा ध्यान देकर सुनिए कि पद्म पुराण एक प्राचीन पुराण व मुस्तनिद किताब है जिससे साबित है कि बाबा चित्रगुप्त पुरुषा याने मूरिस आला सब भाइयों के हैं और जब से सृष्टि की रचना हुई बदर्बार महाराज धर्मराज के न्यायकारी व आमाल नेक व बद जो जैसा काम करता है, तहरीर फरमाया करते हैं वा उसी के मुताबिक सजा व जज़ा याने स्वर्ग व नर्क तजवीज़ फर्माते हैं।××××

उन्हीं बाबा चित्रगुप्त जी के पुण्य व प्रताप व आशीर्वाद से सब उनकी औलादें कि जिनके संतान व वंश में सब भाई हैं वेदविद्या का पठन-पाठन करते रहें, श्रेष्ठ कहलाते रहे व वक्त महाराज क्षत्रियों के राज्य समय में कायस्थ वंश भाई अपनी वेद-विद्या, व बुद्धि की लियाकत से बड़े-बड़े ओहदों पर (न्यायाधीश) व राज्य कार्य के मंत्री व दीवान मुकर्रर होते रहे और राज्य का इन्तिज़ाम माकूल करते रहे कि सबसे श्रेष्ठ व लायक समझे जाते रहे।

समय के उल्ट-फेर से कि ज़माना तरक्की का हमेशा किसी का एक ही तरह पर नहीं कायम रहा है काल चक्र घूमा करता है....राज्य हाथ से जाता रहा पाप कर्मों का प्रचार होता गया।

समाज का बराबर पतन होता गया और उसमें कोई सुधार इसलिए नहीं होता कि लोग बस अपने स्वार्थ के बन्दे हैं, किसी को अपने समाज के भले-बुरे की चिन्ता नहीं है और हैं तो बस लंबी-चौड़ी बातें, कथनी कुछ और करनी कुछ—

'जाबजा शहरों व कस्बों व नामी मुकामात में कौमी सभा व कमेटी व कान्फ्रेन्स वास्ते धर्म की रक्षा व कौमी चाल चलन व्यौहार व रीति रस्म के दुरुस्ती के लिए शास्त्रोक्त प्रमाण से मुकर्रर फरमाया है और वहां व्याख्यान व लेक्चर धर्म सबंधी दिये जाते है। और उस जलसा सभा में सब भाइ बैठकर सुनते हैं और सत्य-सत्य कहते हैं हां मैं हां गला मिलाते हैं और उन व्याख्यानों के अमल करने का न व्याख्यान देनेवालों के दिलों पर असर रहता है न व्याख्यान सुनने वाले के दिल पर असर पहुंचता है। यह तो मशहूर बात है कि जब तक कोई नसीहत याने उपदेश देने वाला उस नसीहत व उपदेश का आमिल न होगा तब तक करनेवाला सुनने वाले के असर दिल पर नहीं पहुंचता कि अमल करे वह यह कहता

है कि ख़ुदरा फज़ीहत व दीगरां नसीहत करते हैं। बस हे मेरे प्यारे भाइयो जब सभा विसर्जन करके श्रोता वक्ता भाई साहेबान बाहर तशरीफ लायें तो न उस व्याख्यान की सुध है न उसके ध्यान की ख़बर है....'

और आख़िरकार इस सबका वही नतीजा हुआ जो होना था, सारी शेखी किरकिरी हो गयी, अब—

'न वह बूट जूता है न कोट पतलून है न गुलूबंद है न टोपी पेटारीदार दस्तार है बल्कि रय्यार है पैरों में ख़ार है जामाज़ीस्त से वेज़ार हैं घर की हालत कहना अनुचित प्रमात्मा रक्षपाल है धिक्कार-धिक्कार-धिक्कार आख़ थू आख़ थू आख़ थू घमण्ड पर है....'

इतनी लानत-मलामत के बाद जो कि सब पेशबन्दी है, किताबचा असल बात पर आता है—

हे मेरे सजातीय भाई कायस्थ चित्रगुप्त वंशी क्या आप लोग अपने-अपने प्रत्यक्ष नेत्रों से यह न देखते होंगे कि जिन कन्याओं का विवाह हो गया है और दिरागमन याने गौना नहीं हुआ पति याने शौहर उनका मर गया है तो वह बाल विधवा बेचारी नाकर्दे गुनाह अपनी-अपनी ज़िन्दगी किस-किस मुसीबत से काटती हैं....दूसरे वह कन्याएं कि जिनका विवाह और दिरागमन दोनों हो गया है बहुत ही थोड़े दिन के बाद पति उनके मर गये हैं। कुछ भी ज़िन्दगी का लुत्फ नहीं उठाया यहां तक कि सन्तान उत्पन्न होने की नौबत नहीं। तो उन बेचारियों की मुसीबत कहने में नहीं आ सकती है। उनका घर में रहना माइका क्या सुसराल दोनों ही जगह के सहकुटुम्बी माता व पिता व भ्राता सब पर पहाड का ऐसा बोझ भार सिर पर मालूम होता है। गरज कि दोनों किसिम के बाल विधवा कन्या कि जिनका विवाह मात्र हुआ है दिरागमन नहीं हुआ और शास्त्र के अनुसार उनका कन्यात्व नष्ट नहीं हुआ वह मिसिल क्वांरी कन्या के हैं।....हे मेरे भाइयो जांच करने से मालूम हुआ है व देखने में आया है....कि उन कन्याओं दोनो किसिम की कि कुछ तो मुसीबत खाने-पीने से कुछ सतसंग पाकर कुछ काम के वश होकर कि कामदेव बड़ा बली शैतान है मतिभ्रम कर देता है कि बड़े-बड़े मुनियों और महात्मा के हृदय में क्षोभ कर दिया है और भला इन अबलाओं की क्या गिनती है व्यभिचार करने लगती हैं याने बहुतों का कस्बी हो जाना और बहुतों का घर ही में बदचलन हो जाना व बहुतों का अन्य पुरुष विरुद्ध वर्ण याने दूसरे जात के साथ निकल जाना बहुतों के हमल-हराम रह जाना व उसका इसकात हमल कराना बालक का मारना वगैरा वगैरा कहां तक कहा जावै बड़े-बड़े घोर पाप होते हैं व हो गये कि सुनि अघ नर्कहु नाक सकोरी। संसार में रूसियाही बल्कि पुश्तों तक का ऐसा दाग धब्बा लग जाता है कि उसका मिटाना बहुत कठिन हो जाता है।....

(फर्याद बाल विधवा कन्याओं की) हे मेरे सजातीय कायस्थ चित्रगुप्तवंशी आप लोग गौर करके बिला पक्षपात के इंसाफ कीजिए कि जब किसी पुरुष की स्त्री मर जाती है तो वह पुरुष दो-दो अथवा तीन-तीन विवाह कर लेने का अधिकारी होता है और हम बाल विधवाओं ने जो पति के पास तक नहीं गयी हैं और पति का मुंह तक नहीं देखा है पुनर्विवाह हमारे करने में आप लोग लज्जा व घृणा करते हो....क्या पुरुष को काम प्रबल अधिक सताता है और हम काम को जीते हुए हैं। हे भाइयो, हम स्त्रियों का नाम ही कामिनी है। वैदक शास्त्र से ज़ाहिर है कि पुरुष से दुगुण अधिक काम-अग्नि स्त्री के होती है....।

इसके बाद फिर ऋग्वेद, यजुर्वेद, वशिष्ठस्मृति, नारदस्मृति, प्रजापतिस्मृति, कात्यायनस्मृति, मनुस्मृति आदि शास्त्रों से प्रमाण पर प्रमाण जुटाये गये हैं कि किन-किन दशाओं में विधवा का पुनर्विवाह सम्भव है उचित है।

नवाब ने इस इश्तहार को पढ़ा तो उसकी तबीयत फड़क उठी : इस सवाल पर खुद उसके विचारों से यह चीज़ कितना मेल खाती थी ! उसने फौरन लड़की की फोटो की फरमाइश की।

•

इस शादी की बात तथा आगे के प्रसंग शिवरानी जी के शब्दों में—

मेरी पहली शादी ग्यारहवें साल में हुई थी। वह शादी कब हुई मुझे खबर नहीं। कब मैं विधवा हुई, इसकी भी मुझे खबर नहीं शादी के तीन-चार महीने के बाद ही मैं विधवा हुई।

मेरे पिता का नाम मुंशी देवीप्रसाद था। ज़िला फतेहपुर मौजा सलीमपुर, डाकखाना कनवार। मेरे पिता मुझे इस हालत में देखकर दुखी थे। वे अपने को मिटाकर मुझे सुखी देखना चाहते थे। पहले तो पण्डितों से सलाह ली। उसके बाद उन्होंने इश्तिहार निकलवाया। इश्तहार आपने भी पढ़ा। उसके बाद कई जगह लड़के तै हुए। मगर मेरे पिता को लड़के पसन्द न आते। उसी समय आपने उन्हें खत भेजा—मैं शादी करना चाहता हूं। मैंने यहां तक पढ़ा है और मेरी इतनी आमदनी है। मेरे पिता ने लिखा—आप फतेहपुर आइये। मैं वहा मिलूंगा। आप फतेहपुर गये। आप मेरे पिता को पसन्द आये। उन्होंने आपको किराये के रुपये दिये। मुझे यह भी नहीं मालूम कि मेरी शादी हो रही है। मेरी शादी में आपकी चाची वगैरह किसी की राय नहीं थी मगर यह आपकी दिलेरी थी। आप समाज का बन्धन तोड़ना चाहते थे, यहां तक कि आपने अपने घरवालों को भी खबर नहीं दी। मेरी शादी हो गई। शादी में ही, मैं घर आयी और चौदह रोज रही। मेरी तबियत लगती न थी क्योंकि मेरी मां मर चुकी थीं। एक मेरा भाई पांच बरस का था इसको मैं उसी तरह प्यार करती थी, जैसे मां अपने बच्चे को करती है। जब चौदह साल पूरे हुए थे, तब ही मां मर चुकी थीं। मेरा भाई तब तीन वर्ष का था। उसी समय मुझे अपनी ज़िम्मेदारियों का ज्ञान हुआ।

फागुन में मेरी शादी हुई, चैत्र में आप सब-डिप्टी इसपेक्टर हो गए। मैं महीने भर यहां रहती थी तो 10 महीने अपने घर। मुझे यहां अच्छा नहीं मालूम होता था, क्योंकि रोज़ाना झगड़ा होता रहता था।

आप सुबह चार बजे उठते थे। हुक्का पीकर पाखाना जाते, हाथ-मुंह धोते। और जो मिल जाता, उसी का नाश्ता करते। चुस्ती के साथ बैठ कर लिखते। कलम मजदूरों के फावड़े की तरह तेजी से चलती थी। इसके बाद पाखाना जाना। फिर खाना खाना। दौरे पर भी साहित्य का काम करना नहीं छोड़ा। जब मुआइना करना होता, तो उस काम को मुदर्रिसों के हवाले कर देते। वे कहते—'क्या करूं, मैं जो मुआइना करता हूं तो मुदर्रिस लोग मेरे सामने पर्चा छोड़ आते हैं। इस वास्ते उस काम को मैं उन्हीं पर छोड़ देता हूं। कम से कम जिससे यह तकलीफ उन्हें न उठानी न पड़े। वे बेचारे खुश भी रहते हैं। अच्छा मुआइना हो जाने पर उनकी तरक्कियां भी होती हैं।' मैं बोली—तो आपको रखने की

जरूरत गवर्नमेण्ट को क्या थी ?

'अपना काम करना उसका काम है। मेरा काम करना अपना। क्या बड़े-बड़े अफसर देवता ही हैं !'

'कुछ हो, अपना सब काम अपने आप करना चाहिए।'

'करता तो हूं, कहां छोड़ देता हूं। अगर मेरे काम से कुछ फायदा हो तो क्या हानि? सब दुनिया की बातें इसी तरह चलती रहती हैं।'

आपको अपने अफसरों की सहानुभूति तो नहीं मिली। हां, मातहतों के साथ आपने भाईचारा हमेशा किया। क्योंकि अफसरी करना आपको पसंद न था।

उनका कहना था कि अफसर बनकर इंसान इंसान नहीं रह जाता और मुझे इससे हमेशा दूर रखे। वह जिस हालत में रहते, हमेशा खुश रहते थे। उनको दुनियावी चीज़ों के पीछे रंज न था। हां, मां का प्रेम उनमें बहुत था। उन्हीं को उनकी आंखे हमेशा ढूंढ़ा भी करतीं। जिसको अपनी मां को प्यार न करते हुए वे देखते थे, उस पर उन्हें क्रोध आता था। जो लड़का अपनी मां को प्यार न करता था, उसे वे इतना हृदयहीन समझते थे कि क्या कहा जाय।

एक दिन मैंने कहा—'आपने अपनी बहन को पंद्रह साल बाद क्यों बुलाया ? यही प्यार की निशानी है ? हां मां के लिए आप अलबत्ता रो लीजिए। मा को तो मैंने नहीं देखा है।'

'तुमने इसका कारण नहीं समझा, तभी ऐसा कहती हो। इसका कारण यह था कि मेरी चाची के भाई से उनका झगड़ा होता था। मैं उनके घर जाता रहने के लिए। आप हटतीं तो कहां जातीं ? अगर मैं उनको अपने साथ रखता तो वे कहतीं, तुमने एक औरत और एक बच्चे को भी निकाल दिया।'

'यह सब कहने की बातें हैं। अब आपकी वह खुशामद नहीं कर रही है।'

'नहीं जी, मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूं।'

मुझसे उनसे कोई आठ साल तक नहीं पटी। क्योंकि उनके घर में बमचख बहुत था। मैं बमचख की आदी न थी। वे चाहते थे कि मैं अपने लिए खुद स्थान तैयार करूं। उनकी बीवी के नाते मैं घर की मालकिन होकर बैठूं। और मैं चाहती थी कि मैं क्यों यह झंझट बरदाश्त करूं; मैं दुनिया को देखना चाहती हूं। क्योंकि मैं अपनी सास से सुन चुकी थी कि वे कैसा बर्त्ताव मेरी सौत से करती थीं। फिर भी यह कुछ नहीं बोलते थे। मुमकिन है कि यह कल मेरे काम पर मुझसे भी नाराज़ हो। मुझे क्या गरज पड़ी थी कि मैं शासन करती। मैं भी अपने मायके में आनंद से रहती थी। एक दफे मेरे पिता का ख़त आया। उन्होंने मुझे बुलाया था। उसका जवाब आपने दिया कि मैं नहीं बिदा करूंगा। यह इनकार करना मुझे पहले ही मालूम हो गया था। मैं इस पर झल्लाई। आप कमरे में आये। मैं उठकर बाहर निकलना चाहती थी। आप बोले - कहां जा रही हो ?'

'मैं बाहर जा रही हूं।'

'जाओगी कहां आख़िरकार ?'

'अच्छा मैं नहीं जाऊंगी। आप ही यहां से जाइए।'

'अरे मैं कहां चला जाऊं ?'

'तुमको जाने का ठिकाना नहीं तो मैं जा रही हूं।'

'नहीं, 'तुमको धूप में नहीं जाना है।'

मैंने ज़िद की।

उस पर उन्होंने मुझे दो चपत लगाये और बाहर चले गये। फिर जब शाम को आये तो मैं गुस्से में बैठी थी। तब बहुत आहिस्ते से बोले-'इस तरह क्यों झल्लाई हो ?'

'मैं झल्लाऊंगी क्यों ?'

'कैसे कहूं कि तुम झल्लाई नहीं हो ? न किसी से बोलना, न किसी से कुछ कहना-सुनना।'

'मेरे ख़ामोश बैठने से किसी का क्या बिगड़ता है ? सज़ा ही देने के कारण तो आपने मुझे अपने घर जाने नहीं दिया। कैदी कैसे सुखी रह सकता है ?'

'यह तुम्हारी बड़ी भूल है। मैंने तुम्हें तकलीफ देने की नीयत से नहीं रोका बल्कि इसलिए कि तुम्हें जाने देना नहीं चाहता। तुमको तकलीफ देने में मुझे कुछ मिलेगा ? मैं सच कहता हूं, तुम घर चली जाती हो तो मुझे अच्छा नहीं मालूम होता।'

मैं बोली-'तो मुझे तो यहां अच्छा नहीं मालूम होता।'

'मैं चाहता हूं कि तुम अपने घर में आराम से रहो। यह घर तुम्हारा क्यों न बने ?'

'मुझे क्या गरज़ पड़ी है कि दूसरे के घर में घरवाली बनूं ?'

'सच कहता हूं, तुम्हारा घर यही है। कैसे समझाऊं ?'

'थप्पड़ मारकर समझाइए।'-मैंने कहा।

'मैंने थप्पड़ नहीं मारे थे।'

'क्या अभी और मारने की ख़्वाहिश है !'-मैंने कहा।

'सच कहता हूं, तुम्हें मैं क्या कहूं ? घर से निकाल देती हो, कहां जाऊं ?'

'तुमको कैद करने में मज़ा आता है।'-मैंने कहा।

'सच कहता हूं, तुम्हें कैद करने के लिए मैं नहीं रोक रखता। मैं चाहता हूं कि तुम इस घर की मालकिन बनकर मुझ पर भी शासन करो।'

'मैं ऐसी बननेवाली जीव नहीं।'-मैंने कहा।

'तब मैं क्या कर सकता हूं ?'

'हां, तो मैं भी मजबूर हूं।'-मैंने कहा।

उन्हीं दिनों मेरे ख़िलाफ उनकी चाची ने उनसे कई बातें कही थीं। वे मुझसे नाराज थे। सोचते थे, ये मुझे मनाये तो मैं अपने दिल की बातें बतलाऊं।

मगर मैं ऐसी उद्दंड थी कि मुझे इसका कोई गम न था। कई रोज़ बाद खुद मेरे पास आये और बोले-'मुझे तुम ऐसा क्यों कहती थीं ?'

'मैंने कुछ भी नहीं कहा।'-मैंने कहा।

'नहीं तुमने कहा होगा, तभी तो चाची कहती थीं।'

मैं-'अगर आपको मेरी बातों का विश्वास हो तो यकीन रखिए, मैंने नहीं कहा। अगर आपको विश्वास न हो तो मैं क्या करूं ?'

उनको विश्वास हो गया कि मैंने नहीं कहा। बोले-'देखो, यह चाची की बड़ी ख़राब आदत है। इसी तरह पहले भी वह कहा करती थीं। और यह इसी तरह बहुत बातें कहा

करती हैं। गालिबन तुमसे भी मेरे ख़िलाफ कहती होंगी। तभी मैं देखता हूं, हमेशा तुम्हारे क्रोध का पारा चढ़ा ही रहता है।'

'अगर मेरा पारा चढ़ जाय तो क्या ? आपका पारा क्यों चढ़ गया, आप तो समझदार है।'—मैंने कहा।

'मैं तुमसे कहता हूं, पर्दा क्यों नहीं छोड़तीं ? कोई लौंडे की बीवी नहीं हो। मैं दस साल तक काफी पर्दा कर चुका। फिर मेरी मां-भाभी भी नहीं हैं। दस वर्ष के बाद चाची का लिहाज़ करने की कोई जरूरत नहीं।'

मुझसे बेहयाई नहीं होती—मैंने कहा।

'अगर तुमसे बेहयाई नहीं होती तो रोज़ाना एक न एक पंशाखे उड़ा करेंगे।'

'आप भला तो जग भला। जब आप लौंडे नहीं तो इस तरह की बातें सुनते ही क्यों है ? फिर सुनते हैं तो उस पर ध्यान क्यों देते हैं ? अगर आप ध्यान देते हैं, तो मैं मजबूर हू। इन्सान अपने को तो बना ही नहीं पाता, दूसरे को कहां तक बनायेगा।'—मैंने कहा।

'तुम कुछ न करो। मेरे मत्थे तो सब जाता है।'

'आपकी पाली हुई बला भी तो है। पहले ही से आप ठीक रहते तो ऐसी हालत क्यों होती ?'

'मैं क्या करूं, मेरी क़िस्मत ही ऐसी है।'

'हां साहब, जो जैसा करता है, वैसा ही भोगता है।'—मैंने कहा।

'सच कहता हूं, तुम बड़ी निठुर हो। तुमको भी मेरे ऊपर दया नहीं आती।'

'अरे भाई, दया आने की कोई बात हो तो मैं सुनूं।'—मैंने कहा।

'जो कहता हूं उसे सुनो। सुनना यही है कि तुम पर्दे को छोड़ो।'

मैं बोली—'तुम्हारी जो बला है, वह अपने सिर लूं ?'

'तो घर कैसे चलेगा। मेरी समझ में नहीं आता।'

'जैसा चल रहा है, बहुत ठीक है। मैं इस बला को नहीं पालना चाहती। फिर आपको तो काफी प्यार करती हैं, मेरी बात छोड़िए। मैं भी जिस हालत में हूं, उस हालत में रह लूंगी। मैं भी मस्त जीव हू।'—मैंने कहा।

'हा, इसी में मस्त रहती हो कि आनन्द से जाकर बैठती हो। जिसको तुम प्यार समझती हो, वह प्यार नहीं है। अपनी मां का प्रेम निःस्वार्थ होता है। जब वही मुझे नसीब नहीं हुआ तो मैं उसके पीछे कहां तक पड़ूं ?'

यह शब्द कहते-कहते उनकी आंखें सजल हो आईं। उस रोज़ से मुझे उन पर दया आने लगी। उसी दिन से मैं उनमें मिलना चाहने लगी। जब वे उठने लगे तो मुझसे बोले—'सच मानो, मैंने अपने को तुम्हें सौंप दिया है।'

तब से मैं वाकई उन पर शासन करने लगी। तभी से मैं उनके घर को अपना घर भी समझने लगी।

•

इसके बाद आप महोबा आये। मेरे पिता ने मुझे पहले ही बुलाया था। अब मुझे भी बुलाया, उन्हें भी। इसको वे मान भी गये। जिस रोज़ मेरे जाने का समय हुआ और तांगा दरवाज़े

पर आया तो उनकी चाची झल्लाकर बोलीं—'ख़बरदार, अगर उनको भेजा ! अपने तो जा रहे हैं महोबा, उन्हें भेज दे रहे हैं अपने घर !'

'उनको जाने क्यों नहीं देतीं ?'

'उनको घर पहुंचाओगे तो ठीक न होगा। तांगा वापस करो।

मैं बोली—'मैं रहूंगी ही नहीं यहां।'

'मैं क्या करूं, बोलो ?'

मैं—'मैं यह नहीं सुनना चाहती।'

आप मेरे सामने हंसते हुए बोले—'उनको मना लेना कठिन है, तुम्हें नहीं। तुम एक हफ्ता यहां रहो। बाद में तुम्हें महोबा ले चलूंगा। तुमको अगर पहुंचा आये तो बुढ़िया मुझे जिन्दा न छोड़ेगी।'

खैर, मैं राज़ी हो गई। वे चले गये। वहां जाकर चार्ज लिया। वहां से ग्यारहवे दिन आप आये। जब वहां चलने के लिए तैयार हुए तो चाची बोलीं—'मैं नहीं जाऊंगी। क्योंकि उनके दोनों भाई कानपुर में ही हमारे साथ थे और बड़े भाई वहीं 25 रुपये माहवार पर नौकर भी हो गये थे। उन्हीं के पास वह रहना चाहती थीं।

वे बोले—'चाहे तुम जाओ या न जाओ। मैं इन्हें लेकर जाऊंगा।'

चाची—'हां, तुम उनको ले जाओ।'

इसके बाद बडे भाई ने कहा कि तुम उनके साथ जाओ। नहीं जाओगी तो हमेशा पछताओगी। नवाब पहले के नहीं हैं कि पीछे पड़े रहेंगे।

चाची भी राज़ी हो गई। वह भी महोबा गई। तीन महीने के बाद फिर उनकी चाची अपने लड़के के साथ कानपुर लौट आई।

महोबा का जीवन था—सुबह उठना, कुछ खा-पीकर साहित्य की सेवा करना। हां, वहां मैंने उन्हें उनके साहब को प्यार करते पाया। मातहतों को वे मित्र बनाना चाहते थे। मातहतों में जो बड़ा होता था, उसकी इज्ज़त बुजुर्ग की तरह करते थे। वहीं मेरे दो लड़कियां पैदा हुई। कमला वहीं पैदा हुई। मैं अकेली महोबे में दस महीने रही। उन दिनों वे दौरा करने जाते तो डेढ़-दो महीने में आते थे।

उनकी इच्छा होती थी कि मैं भी दौरे पर चलूं। मैं अकेली महोबे में रहती थी।, यह उन्हें पसंद न था। मगर यह दौरे का जीवन मुझे बिलकुल पसंद न था। इसलिए मैं महोबे में ही रहती।

महोबे में बेगार में दूध, घी, बर्तन सब मिलते थे; मगर खाने का सामान वे अपने पास से मंगाते थे। दूध तो इतना मिलता था कि नौकर लोग खोवा बनाकर खाते थे। पहले तो बेगार लेने से उन्होंने इनकार किया। तब वहां के रईसों ने कहा कि यह नियम है। आप यह नियम हटा देंगे तो यह कभी किसी को बेगार आदि देंगे ही नहीं। तब इस पर उन्होंने कहा कि मैं तो नहीं खाऊंगा, मेरे नौकर खायंगे।

उन लोगों ने कहा—'आप न खायं, आपके नौकर ही सही।'

वहां की एक प्रथा यह है कि किसी भी अफसर के माथे में तिलक लगाकर वह रुपया देते हैं। उनसे आप दही-अक्षत तक तो लगवा लेते थे। बस पान उठाकर मुंह में डाला, गले मिले। रुपये के लिए आप कहते थे—मुझे माफ कीजिए।

उसने अगर कहा कि यहां का नियम है, तो बड़े ही मीठे शब्दों में कहते थे—नहीं साहब, यह मेरा सिद्धान्त नहीं है, इसके लिए आप मुझे क्षमा करें।

चपरासी बगैरह को जो मिलता था,तो उसे वे मना नहीं करते थे। दौरे पर वे घोड़े पर जाते थे। जाड़े के दिनों में खुद आप कम्बल ओढ़ते थे, घोड़े को दुशाला ओढ़ाते थे। मैं तो उन्हें देखती थी कि वे प्राणिमात्र के प्रेम में हमेशा लगे रहते थे। सीधा तो मैंने उन्हें एक ही पाया। क्योंकि मैं ज़रूरत से ज़्यादा गुस्सेवर थी। मगर नहीं, मेरा भी गुस्सा वे काफूर-सा उड़ा दिया करते थे। घर में वे हौवा की तरह नहीं रहते थे। शाम का वक्त वे हमेशा गप-शप में देते थे। वगैर काम के वे कहीं नहीं जाते थे। एक दफे का किस्सा है—कातिक का महीना था। तभी बैलगाड़ी रखनी थी। पास में रुपये न थे। मुझसे बोले—'बैलगाड़ी लेना है; मगर रुपये नहीं हैं। बैलगाड़ी ले लेता तो कम से कम 20 रुपये उसका भत्ता मिलता।'

मुझे भी ख़बर नहीं थी कि मेरे सन्दूक में रुपये हैं। क्योंकि जो रुपये आते थे, उन्हें मैं सन्दूक के खाने में डाल देती थी। फिर उसे देखने की मुझे फिकर नहीं होती थी। इत्तफाक से उसी समय उन्होंने मुझसे रुपये मांगे। नौकर को देना था। जब मैंने सन्दूक खोलकर देखा तो उसमें मुझे ज्यादा रुपये दिखलाई पडे। मैंने हाथ डालकर खाने में से सब रुपये निकाले। नोट और रुपये मिलाकर डेढ सौ थे। मैं खूब खुश होकर आई और बोली— 'मैं आपको डेढ सौ रुपये दे सकती हूं।' तब आप हसकर बोले—'वाह, तुम्हारे सन्दूक में डेढ सौ पड़े हैं, तुम्हें खबर भी नहीं।'

मैं बोली—'क्या मैं गरीब की बहुरी की तरह उसे हमेशा देखा करती हूं ? पडे रहेंगे तो सन्दूक में रहेंगे। ख़र्च होने पर कैसे पायेंगे।'

तब आप बोले—'चलो बेड़ा पार हुआ। इसमें गाड़ी और बैल सब आ जायगे।'

दिन भर में दूसरे रोज़ गाडी और बैल दोनों आ गये। मुझसे बोले—'एक बात तुम मेरी मान जाओ। कल चलो, चरखारी में मेला है। देख आयें।'

मैंने कहा—'चलिए।'

हम सब मिलाकर दस आदमी चले। हम सब बैलगाड़ी से गये, खुद घोड़े से गये।

वहां जाकर खेमा लगवाया। राजा साहब के आदमियों को मालूम हुआ कि डिप्टी साहब आये हैं, तो रसद उनके यहां से आई। खैर, शाम को खाना बना। चपरासी महाराज था, उसने खाना बनाया। सब लोगों के खा चुकने पर मेला देखने की ठहरी। मैं और मेरी एक सहेली तो जनाने भाग में गये, आप लोग मर्दाने में गये। सरकस वहां बहुत अच्छा होता था। मगर मैं तो दो-ढाई घंटे में ही घबरा गई। मैं अपनी सहेली को लेकर डेरे पर चली आई। आप लौटे कोई डेढ बजे। मैं अपनी सहेली के साथ ख़ेमे के अन्दर थी। आप सब लोग बाहर। आकर मुझसे बोले—'क्या तुमने कुछ देखा नहीं ? पहले ही चली आई।'

'हां, मैं चली आयी। मेरी तबियत नहीं लगी।' गुनाह बेलज्ज़त, इतनी दूर आई और तमाशा भी नहीं देखा।

•

प्रेमचंद ने लिखा है—

मैंने पहले-पहल 1907 में गल्पें लिखनी शुरू कीं। डाक्टर रवीन्द्रनाथ की कई गल्पें मैंने अंग्रेज़ी में पढ़ी थीं और उनका उर्दू अनुवाद उर्दू पत्रिकाओं में छपवाया था। उपन्यास

तो मैंने 1901 ही से लिखना शुरू किया। मेरा एक उपन्यास 1902 में निकला और दूसरा 1904 में; लेकिन गल्प 1907 से पहले मैंने एक भी न लिखी। मेरी पहली कहानी का नाम था, 'संसार का सबसे अनमोल रत्न'। वह 1907 में 'ज़माना' में छपी। उसके बाद मैंने चार-पांच कहानियां और लिखीं। पांच कहानियों का संग्रह 'सोज़ेवतन' के नाम से 1909 में छपा। उस समय बंग-भंग का आन्दोलन हो रहा था। कांग्रेस में गर्म दल की सृष्टि हो चुकी थी। इन पांचों कहानियों में स्वदेश-प्रेम की महिमा गाई गई थी।

उस वक्त मैं शिक्षा-विभाग में सब डिप्टी इंस्पेक्टर था और हमीरपुर के जिले में तैनात था। पुस्तक को छपे छः महीने हो चुके थे। एक दिन मैं रात को अपनी रावटी में बैठा हुआ था कि मेरे नाम जिलाधीश का परवाना पहुंचा, कि मुझसे तुरन्त मिलो। जाड़ों के दिन थे। साहब दौरे पर थे। मैंने बैलगाड़ी जुतवाई और रातों-रात 30-40 मील तय करके दूसरे दिन साहब से मिला। साहब के सामने 'सोज़े वतन' की एक प्रति रखी हुई थी। मेरा माथा ठनका। उस वक्त मैं 'नवाबराय' के नाम से लिखा करता था। मुझे इसका कुछ-कुछ पता मिल चुका था कि खुफिया पुलिस इस किताब के लेखक की खोज में है। समझ गया, उन लोगों ने मुझे खोज निकाला और इसी की जवाबदेही करने के लिए मुझे बुलाया गया है।

साहब ने मुझसे पूछा—यह पुस्तक तुमने लिखी है ?

मैंने स्वीकार किया।

साहब ने मुझसे एक-एक कहानी का आशय पूछा और अन्त में बिगड़ कर बोले—तुम्हारी कहानियों में 'सिडीशन' भरा हुआ है। अपने भाग्य को बखानो कि अंग्रेजी अमलदारी में हो। मुगलों का राज्य होता, तो तुम्हारे दोनों हाथ काट लिये जाते। तुम्हारी कहानियां एकांगी हैं, तुमने अंग्रेज़ी सरकार की तौहीन की है, आदि। फैसला यह हुआ कि मैं 'सोज़ेवतन' की सारी प्रतियां सरकार के हवाले कर दूं और साहब की अनुमति के बिना कभी कुछ न लिखूं। मैंने समझा, चलो सस्ता छूटे। एक हजार प्रतियां छपी थीं। अभी मुश्किल से 300 बिकी थीं। शेष 700 प्रतियां मैंने 'ज़माना कार्यालय' से मंगवाकर साहब की सेवा में अर्पण कर दीं।

मैंने समझा था, बला टल गई; किन्तु अधिकारियों को इतनी आसानी से सन्तोष न हो सका। मुझे बाद को मालूम हुआ कि साहब ने इस विषय में ज़िले के अन्य कर्मचारियों से परामर्श किया। सुपरिण्टेण्डेण्ट पुलिस, दो डिप्टी कलेक्टर और डिप्टी इंस्पेक्टर—जिनका मैं मातहत था मेरी तकदीर का फैसला करने बैठे। एक डिप्टी कलेक्टर साहब ने गल्पों से उद्धरण निकालकर सिद्ध किया कि इनमें आदि से अन्त तक सिडीशन के सिवा और कुछ नहीं है। और सिडीशन भी साधारण नहीं; बल्कि संक्रामक। पुलिस के देवता ने कहा—ऐसे ख़तरनाक आदमी को ज़रूर सख़्त सज़ा देनी चाहिये। डिप्टी-इंस्पेक्टर साहब मुझसे बहुत स्नेह करते थे। इस भय से कि कहीं मुआमला तूल न पकड़ ले, उन्होंने यह प्रस्ताव किया कि वह मित्रभाव से मेरे राजनीतिक विचारों की थाह लें और उस कमेटी में रिपोर्ट पेश करें। उनका विचार था, कि मुझे समझा दें और रिपोर्ट में लिख दें, कि लेखक केवल कलम का उग्र है और राजनैतिक आन्दोलन से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। कमेटी ने उनके प्रस्ताव को स्वीकार किया। हालांकि पुलिस के देवता उस वक्त भी पैंतरे बदलते रहे।

सहसा कलेक्टर साहब ने डिप्टी इंस्पेक्टर से पूछा—आपको आशा है, कि वह आपसे अपने दिल की बातें कह देगा ?

'आप मित्र बनकर उसका भेद लेना चाहते हैं। यह तो मुखबिरी है। मैं इसे कमीनापन समझता हूं।'

डिप्टी साहब अप्रतिभ होकर हकलाते हुए बोले—मैं तो हुजूर के हुक्म....साहब ने बात काटी—नहीं, यह मेरा हुक्म नहीं है। मैं ऐसा हुक्म नहीं देना चाहता। अगर पुस्तक में लेखक का सिडीशन साबित हो सके, तो खुली अदालत में मुकदमा चलाइए, नहीं धमकी देकर छोड़ दीजिए। 'मुंह में राम, बगल में छुरी' मुझे पसंद नहीं।

जब यह वृत्तान्त डिप्टी इंस्पेक्टर साहब ने कई दिन पीछे खुद मुझसे कहा, तो मैंने पूछा—क्या आप सचमुच मेरी मुखबिरी करते ?

वह हंसकर बोले—असम्भव ! कोई लाख रुपये भी देता, तो न करता। मैं तो केवल अदालती कार्रवाई रोकना चाहता था, और वह रुक गई। मुकदमा अदालत में आता, तो सज़ा हो जाना यकीनी था। यहां आपकी पैरबी करनेवाला भी कोई न मिलता; मगर साहब है शरीफ आदमी।

मैंने स्वीकार किया—बहुत ही शरीफ।

●

प्रेमचंद ने 'सोजे वतन' की भूमिका में लिखा—"हर एक कौम का साहित्य अपने जमाने की सच्ची तस्वीर होता है और जो विचार मस्तिष्क में घूमते हैं और जो भाव कौम के दिलों में गूजते हैं, वे गद्य और पद्य में ऐसे सफाई से नजर आते हैं, जैसे आइने में सूरत।"

ब्रिटिश सरकार ने नवाबराय के लेखन पर प्रतिबंध लगा दिया। नवाबराय ने बेचैन होकर मुंखी दयानरायन निगम को 13 मई 1910 को लिखा—"कलक्टर साहब की खिदमत में मुझे हर मजमून पेश करना होगा और मुझे छटे-छमासे लिखना नहीं, यह तो मेरा रोज का धन्धा ठहरा। हर माह एक मजमून साहिवेवाला की खिदमत में पहुंचेगा तो वह समझेंगे में अपने सरकारी दायित्व से विमुख हो रहा हूं। ऐसी स्थिति में और काम मेरे सिर थोपा जाएगा। इसलिए कुछ दिनों के लिए नवाब राय मरहूम हुए।"

उपनाम रखे बगैर अब गुजारा न था। उपनाम की तलाश हुई तो मुंशी दयानरायन निगम ने ही 'प्रेमचंद' नाम सुझाया। नवाबराय ने इसे स्वीकार करते हुए निगम को लिखा—"प्रेमचंद अच्छा नाम है। मुझे भी पसंद है। अफसोस सिर्फ यह है कि पांच-छह साल में नवाबराय को फरोग देने की जो मेहनत की गई, वह सब अकारथ हो गई। यहां हजरत किस्मत के हमेशा लंडूरे रहे और शायद रहेंगे।"

इस तरह 'नवाबराय' के मरहूम होने के पांच-छः महीने के पश्चात् अक्तूबर-नवंबर में आकर प्रेमचंद का जन्म हुआ। इस नए नाम से प्रकाशित होने वाली पहली कहानी 'बड़े घर की बेटी' थी, जो 'ज़माना' के दिसम्बर 1910 के अंक में छपी। प्रेमचंद के जन्म और अंग्रेज कलेक्टर की चेतावनी के बीच 'गुनाहों का आंगन कुंड', 'अफसाना कुहन' के नाम से 'रानी सारन्धा' दो कहानियां लेखक के नामोल्लेख के बिना 'ज़माना' में छपी। अंग्रेजी दमन के उस काल में 'सोजेवतन' की स्वदेश प्रेम की कहानियों का प्रभाव जन-मानस पर किस रूप में पड़ा, इसका उल्लेख करते हुए फिराक गोरखपुरी ने एक बार कहा था, "जैसे एक टेंक को उड़ाने के लिए एक छोटा परन्तु उचित स्थान पर रखा हुआ बम हो।"

प्रेमचंद लिखित शब्दों की अदम्य शक्ति को जान चुके थे। शिवरानी देवी ने लिखा है–

मैंने कहा–'तो फिर लिखना भी अब बन्द ही समझूं ?'

आप बोले–'लिखूंगा क्यों नहीं ? उपनाम रखना पड़ेगा। ख़ैर, इस वक्त तो बला टली। मगर मैं सोचता हूं अभी यह और रंग लायेगा।'

मैं बोली–'नहीं जी, जो कुछ होना था हो गया। उस संग्रह के कारण तो आप पर ऐसी आफत आई, और मैंने वह अभी तक पढ़ा भी नहीं।'

आप बोले–'यह तो हमेशा की बात है। जब सरकार किसी पुस्तक को ज़ब्त करती है तो उसके ख़रीदारों की संख्या बढ़ जाती है, महज़ यह देखने के लिए कि आख़िर उसमें है क्या ?'

मैंने कहा–'आपने कभी सुनाया भी नही। मैं उर्दू जानती नहीं।'

'अच्छा अब आयेगी तो मैं तुम्हें पढ़कर सुनाऊगा ?'

मैं बोली–'ज़रूर सुनाना।'

शादी के पहले मेरी रुचि साहित्य में बिलकुल नहीं थी। उसके बारे में मैं कुछ जानती भी नहीं थी। मैं पढ़ी भी नहीं के बराबर थी।

कानपुर से 'सोज़ेवतन' का पार्सल आया। एक कॉपी रख ली। बाकी मजिस्ट्रेट को वापस कर दी गई।

उन दिनों मैं अकेली महोबे में रहती थी। वे जब दौरे पर रहते तो मेरे साथ ही सारा समय काटते और अपनी रचनाएं सुनाते। अंग्रेज़ी अखबार पढ़ते तो उसका अनुवाद मुझे सुनाते। उनकी कहानियों को सुनते-सुनते मेरी भी रुचि साहित्य की ओर हुई।

मुझे भी इच्छा होती कि मैं भी कहानी लिखूं। हालांकि मेरा ज्ञान नाममात्र को भी न था, पर मैं इसी कोशिश में रहती कि किसी तरह मैं कोई कहानी लिखूं। उनकी तरह ना क्या लिखती ? मैं लिख-लिखकर फाड़ देती। ओर उन्हें दिखाती भी नहीं थी। हां, जब उन पर कोई आलोचना निकलती तो मुझे उसे सुनाते। उनकी अच्छी आलोचना प्रिय लगती। काफी देर तक यह खुशी रहती। मुझे यह जानकर गर्व होता है कि मेरे पति पर यह आलोचना निकली है। जब कभी उनकी कोई कड़ी आलोचना निकलती, तब भी वे उसे बड़े चाव से पढ़ते। मुझे तो बहुत बुरा लगता।

मैं इसी तरह कहानियां लिखती और फाड़कर फेंक देती। बाद में गृहस्थी में पड़कर कुछ दिनों के लिए मेरा लिखना छूट गया। हां, कभी कोई भाव मन में आता तो उनसे कहती, इस पर आप कोई कहानी लिख लें। वे ज़रूर उस पर कहानी लिखते।

कई वर्षो के बाद 1913 के लगभग, उन्होंने हिन्दी में कहानी लिखना शुरू किया। किसी कहानी का अनुवाद हिन्दी में करते, किसी का उर्दू में।

मेरी पहली 'साहस' नाम की कहानी चांद में छपी। मैंने वह कहानी उन्हें नही दिखाई। 'चांद' में आपने देखा। ऊपर आकर मुझसे बोले–'अच्छा, अब आप भी कहानी-लेखिका बन गई ?' फिर बोले–'यह कहानी आफिस में मैंने देखी। आफिसवाले पढ़-पढ़कर खूब हंसते रहे। कइयों ने मुझ पर सन्देह किया।

तब से जो कुछ मैं लिखती, उन्हें दिखा देती। हां, यह ख़याल मुझे ज़रूर रहता कि

कहीं मेरी कहानी उनके अनुकरण पर न जा रही हो। क्योंकि मैं लोकापवाद से डरती थी।

एक बार गोरखपुर में डॉ॰ एनीबेसेंट की लिखी हुई एक किताब आप लाये। मैंने वह किताब पढ़ने के लिए मांगी। आप बोले—'तुम्हारी समझ में नहीं आयेगी।' मैं बोली—'क्यों नहीं आयेगी ? मुझे दीजिए तो सही।' उसे मैं छः महीने तक पढ़ती रही। रामायण की तरह उसका पाठ करती रही। उसके एक-एक शब्द को मुझे ध्यान में चढ़ा लेना था। क्योंकि उन्होंने कहा था कि यह तुम्हारी समझ में नहीं आयेगी। मैं उस किताब को ख़त्म कर चुकी तो उनके हाथ में देते हुए बोली—'अच्छा, आप इसके बारे में मुझसे पूछिए। मैं इसे पूरा पढ़ गई।' आप हंसते हुए बोले—'अच्छा !'

मैं बोली—'आपको बहुत काम रहते भी तो हैं। फिर बेकार आदमी जिस किसी चीज़ के पीछे पड़ेगा, वही पूरा कर देगा।'

मेरी कहानियों का अनुवाद अगर किसी और भाषा में होता तो आपको बड़ी प्रसन्नता होती। हां, उस समय हम दोनों को बहुत बुरा लगता, जब दोनों से कहानियां मांगी जातीं। या जब कभी रात को प्लाट ढूढ़ने के कारण मुझे नींद न आती, तब वे कहते—तुमने क्या अपने लिए एक बला मोल ले ली ? आराम से रहती थीं, अब फिजूल की एक झंझट ख़रीद ली।' मैं कहती— 'आपने नहीं बला मोल ले ली ! मैं तो कभी-कभी लिखती हूं, आपने तो अपना पेशा बना रखा है।'

आप बोलते—'तो उसकी नकल तुम क्यों करने लगीं ?'

मैं कहती—'हमारी इच्छा ! मैं भी मजबूर हूं। आदमी अपने भावों को कहां रखे ?'

किस्मत का खेल कभी नहीं जाना जा सकता। बात यह है कि वे होते तो आज और बात होती। लिखना-पढना तो उनका काम ही था। मैं यह लिख नहीं रही हूं; बल्कि शान्ति पाने का एक बहाना ढूंढ़ रखा है। बीसों वर्ष की पुरानी बातें याद करके मेरा दिल बैठ जाता है। मेरे वश में है ही क्या ? हां, पहली बातों को सोचकर मुझे नशा-सा हो जाता है। उस नशे से कोई उत्साह नहीं मिलता, बल्कि एक तड़पन-सी पैदा होती है। अब बीती-बातों को याद करके मन बहला लेती हूं।....

उनको साहित्य-सेवा की चिन्ता हमेशा रहती। बनारस दवा लाने वे गांव से रोज़ जाते। ठीक बारह बजे कड़ी धूप में लौटकर घर आते।

'उस पर कोई आपके ऊपर रहम नहीं करता था, न कोई दवा ही लाकर देता था। मूग की दाल में लाल मिर्च की बघार पड़ती थी। आप भूल गये इस बात को ? सबके खिलाने का ज़िम्मा आप पर ही होगा।'

आप बोले—'जाने भी दो, जी।'

मैं बोली—'और क्या !'

आप बोले—'ख़ैर देखा जायगा। मेरी यह इच्छा कभी न कभी ज़रूर पूरी होगी।'

मैं बोली—'इन लोगों को तो पहले किनारे करो।

इन सब बातों को सोचकर उनके बारे में मेरे मन में तरह-तरह के कुतूहल पैदा होते हैं।

जुलाई के आरम्भ में बीमार होने पर भी आप बस्ती स्कूल में चले आये। उनकी

प्रवृत्ति देखकर यही लगता था जैसे वे काम करने के लिए ही पैदा हुए हैं।

कभी-कभी उन पर मुझे गुस्सा भी आता था। घर के सारे आदमी उन्हें परेशान करते, पर वे ज़रा भी ध्यान न देते। सारी तकलीफों को वे ख़ुशी से बर्दाश्त कर लेते। अब मेरी समझ में यह बात आती है कि वे कितने महान् थे। बुरों के साथ भी भलाई का व्यवहार करते। यह हिन्दुस्तान की ख़ास विशेषता है कि किसी के जीवन-काल में मनुष्य उसे ठीक-ठीक नहीं पहचान पाता। खो जाने पर ही मनुष्य को उसकी कीमत का पता लगता है। अगर मैं पहले उन्हें समझ गयी होती तो मेरी यह दशा न होती। मैं पहले इन बातों की आलोचना न करती। जैसे-जैसे इन सब बातों को समझती हूं, वैसे-वैसे कलेजे पर छुरियां-सी चल जाती हैं। वही मैं हूं। सब बातें उसी तरह से हैं। समय वही है। हाथ मलना ही ख़ाली बाकी रह गया है।

●

प्रेमचंद पारिवारिक संबंधों, रोजमर्रा के घर गृहस्थी के कार्यो को जितने मनोयोग से करते और साथ में अपने लेखन का दायित्व भी निभाते वह अनुकरणीय है। इस संबंध में शिवरानी देवी ने लिखा है—

एक दिन की घटना है कि दरवाज़े पर उनके पहले साले बैठे थे। आप उन्हीं से बातें कर रहे थे। वे अपनी बहन के बारे में आपसे बातें कर रहे थे। वे दुखी भी थे। इत्तिफाक से मेरी दो साल की लड़की कमला बकवां-बकवां दरवाज़े पर चली गई। मैं उसे देखने के लिए दरवाजे के तरफ गई। मैंने देखा लड़की उनके साले साहब की गोद में थी। वे बड़े प्यार से उसे चुमकार रहे थे। इसी बीच में रंजीदा स्वर में बोले—अगर हमारा सम्बन्ध भाईचारे का भी होता तो क्या मेरी बहन इसे प्यार न करती। इस पर आप ख़ामोश थे। वे बहुत-सी बातें अपनी बहन के विषय में कहते रहे। मैं बड़े ध्यान से उनकी बातें आड़ में सुनती रही। मेरे भी बदन का खून गरम हो रहा था उस समय। उसके बाद वे चले गये। आप लड़की को लेकर अन्दर आये। वही पहला दिन था, जब मुझे मालूम हुआ कि वे अभी जिन्दा हैं। मुझे तो धोखा दिया जाता रहा कि वे मर गई हैं।

मैंने कहा—'कौन साहब थे ?'

आप बोले—'एक महाशय थे।'

मैं बोली—'मुझे आपसे ऐसी उम्मीद न थी कि आप झूठ बोलेंगे।'

आप बोले—'जिसको इन्सान समझे कि जीवित है, वही जीवित है, जिसे समझे मर गया, वह मर गया।'

मैं—'मैं इसे मानने को तैयार नहीं हूं। आप कृपा करके उन्हें ले आइए।'

'मैं तो लेने नहीं जाऊंगा।'

मैं—'क्यों नहीं जाइएगा ? शादी हुई थी, तमाशा नहीं था।'

'मैंने शादी नहीं की थी। मेरे बाप ने शादी की थी।'

मैं—'बाप ने तो जो अपनी शादी की थी, उसे आप गले बांधे फिर रहे हैं। बाप की शादी की ज़िम्मेदारी तो आपके सिर है, अपनी नहीं ? यह ज़िम्मेदारी का तुक नहीं है।'

'चाहे हो या न हो। मैं लाऊंगा नहीं।'

मैं—'क्या बात है एक आदमी का जीवन मिट्टी में मिलाने का आपको क्या हक

उन्होंने कहा—'हक वगैरह की कोई बात नहीं।'

मैं—'भला आप जो कहते हैं, क्या यही हिन्दू-संस्कार के मानी हैं ?'

'आज न मालूम वह कम्बख़्त कहां आ गया कि उसे देखकर दुनिया भर की बातें तुम सुनाने लगीं।'

मैं कुछ नरम पड़ी। सोचा कि क्रोध से काम नहीं चलेगा। प्यार से बोली—'आप उनको लिवा लाइए। उनकी ज़िम्मेदारी मेरे सिर रहेगी।'

'तुमसे झगड़ा होगा।'

मैं—जैसे मैं घर-गृहस्थी के बारे में कुछ सलाह आपसे नहीं लेती, वैसे ही उनके बारे में मैं आपसे कुछ न कहूंगी। मैं चाहती हूं कि उन्हें खुश रखूं। हम दोनों बड़े आराम से रहेंगे।'

'तुम लोग तो आराम से रहोगी, सज़ा मुझे भुगताओगी।'

मैं—'ईश्वर कसम। आपसे सच कहती हूं, जो इस विषय में आपसे कुछ मैं कहूं।'

'भाई, तुम अपनी इच्छा के अनुसार जो करना चाहो करो। मैं कुछ न बोलूंगा।'

मैं ख़ामोश हो गई।

मैंने उन्हें 'प्रिय बहन' करके खत लिखा। उन्हें बुलाया था। उसके चौथे रोज़ उसका जवाब आया कि जब वे खुद लेने आयेंगे तो मैं चलूंगी। मैं तुमको देखना तो चाहती हूं, पर उन्हें भेजिए लिवा ले जाने को।

मैंने उन्हें ख़त उठाकर दे दिया। उन्होंने कहा—'नहीं आई तो मैं क्या करूं ?'

फिर उन्हें मैं बराबर ख़त लिखा करती थी। उनका ख़त कैथी में लिखा रहता था। उसे मैं उन्हें दे दिया करती थी।

यहीं बस्ती में, 1914 मे, प्राईवेट एफ़. ए. भी उन्होंने पास किया।

जब वे प्राईवेट पढ रहे थे तो उनके सिरहाने सलाई, लालटेन, किताब रखी रहती थी। कभी-कभी मैं चारपाई पर से ही उन्हे आवाज़ दे दिया करती थी कि उठिए, समय हो गया है। 5 बजे तक आप पढ़ते रहते थे। 5 बजे उठकर पाखाने जाते, हाथ-मुंह धोते और तत्काल जो कुछ मिलता, नाश्ता कर लेते। यही उनके रोज़ के काम थे। इसके बाद छः बजते-बजते फिर अपने कमरे में लेख, कहानियां लिखते थे। फिर नौ तक वे साहित्य-सेवा में लगे रहते थे। बाद मे पाखाने जाना, नहाना, खाना होता। फिर कपड़े पहनकर स्कूल जाते। बस्ती में, स्कूल जाते हुए तो एक्के से जाते थे, पर लौटते थे पैदल। रोज़ाना दो आना मुझसे किराये के लिए लेते थे। लौटते हुए तरकारी वगैरह खुद उधर ही से लेते आते। साढ़े तीन बजे घर पहुंचते, कभी चार भी बज जाता था। गृहस्थी का काम मेरे करने पर भी कुछ-न-कुछ रह ही जाता। चार बजे आते ही कुछ नाश्ता करते। उसके बाद पांच तक गप-शप करते रहते। फिर छः बजे से लेकर आठ तक कुछ-न-कुछ साहित्य की सेवा करते।

बीमार तो वे महोबा ही से थे। इतना सब होते हुए भी वे सेकेण्ड पास हुए थे। किसी काम से हार मानना तो उन्होंने सीखा ही न था। घर में बेटी को बड़ी देर तक खिलाते रहते। उसके बाद पास-पड़ोस में किसी से मिलने-जुलने जाते तो बेटी को गोद में उठाते जाते।

बच्चों का प्यार उनमें बहुत था। लौटती बार शाम के समय वे कुछ थक जाते थे। मैं चाहती–पैर दबा दूं, पर उन्हें यह सब बहुत नागवार मालूम होता था।

कभी-कभी मैं ज़िद करके दबा देती, तो वे विवश हो दबवा लेते थे। स्त्रियों से काम करवाना उन्हें पसन्द न था। हुक्के की चिलम तक भरवाना मुझसे वे पसन्द न करते थे। नौकर दरवाज़े पर बैठा रहता था; लेकिन अन्दर आकर वे पानी पीते थे। धोती भी खुद धो लेते थे, यद्यपि नौकर खाली ही रहता। कभी-कभी मैं इन हरकतों पर बिगड़ भी जाती और कहती कि नौकर फिर क्यों हैं ? आप बोलते–'अपनी ज़रूरतें खुद पूरी करना आदमी का धर्म है। आज तो नौकर है, हो सकता है कि कभी नौकर न रहे फिर; मैं पांच रुपये का नौकर तो खुद था।'

मैं–'मैंने तो नहीं देखा।'

'तुम्हारे न देखने से क्या ? मैं तो भुगत चुका हूं। इसलिए इन्सान को अपनी ज़रूरत खुद रफा करनी चाहिए।'....

•

इसके बाद वहीं आपका हाज़मा ख़राब हुआ। हाज़मे की ख़राबी की वजह से आपने वहां से तबादला करवा लिया। सोचा था कोई अच्छी जगह देंगे। मगर दी नेपाल की तराई, बस्ती। यहां भी हाज़मा ख़राब रहा। चार-छः महीना रहने के बाद मेरे पिता ने बुलाया। आए एक महीना प्रयाग में ही रहकर दवा कराई। मैं भी साथ थी। वहां से बिना अच्छे हुए ही आप फिर बस्ती चले आये।

मैं अपने पिता के घर रही। मेरे पिता बोले–'बेटा, देखो ! अपनी दवा करो। एक बार और छुट्टी लो।'

इस बार छः महीने की लम्बी छुट्टी आपने ली। आधी तनख़्वाह मिलती थी 25 रुपये। उसमें 10 रुपये मां को देते थे, 15 रुपये अपने भाई को देते थे, जो झांसी स्कूल में पढ़ता था। पता नहीं वे कैसे अपना खर्च चलाते थे। लेखों के रुपयों से शायद वे अपना गुजर करते रहे हों। कानपुर और लखनऊ दोनों जगह दवा कराते थे।

मैं अपने पिता के घर पर थी। दिसम्बर महीने में मुझे बुलाने मेरे घर गये। पिता से कहलाया कि मैं विदा कराने आया हूं। पिता ने उसी आदमी से कहलाया–वे बड़े आराम में पड़ी हैं। आधी तनख़्वाह पा रहे हैं, क्यों झंझट पाल रहे हैं। खुद भी तो कभी लखनऊ, कभी कानपुर रहते हैं।

ख़ैर, वे वापस गये।

फिर अप्रैल के महीने में आये और बिदाई के लिए कहा। फिर पिता ने वही जवाब दिया। उस दफे उस आदमी से उन्होंने कहलवाया–क्या जिसकी आमदनी ज़्यादा न हो या जो बीमार हो वह अपने बीवी-बच्चे को न ले जाय।

जब मेरे पिता को यह बात मालूम हुई तो उसी आदमी से बोले–मुझे इसमें कोई एतराज नहीं है। मैं तो उनके फायदे के लिए कहता था।

अप्रैल के महीने में मुझे लिवाकर वे लमही आये। इसके बाद दो महीने आप लमही में रहे। शहर रोज़ाना पैदल आते थे और हकीम के यहां से दवा ले जाते थे। कहीं बारह

बजे के करीब फिर गांव वापस जाते थे। पथ्य तो मूंग की दाल का देती थीं चाची, लेकिन उसमें मिर्च की बघार देती थीं। पेचिश दिन-दिन बढ़ती जाती थी। मुझसे रोज़ पेचिश की शिकायत करते थे।

दो महीने बाद फिर बस्ती गये। फिर वही हालत। कोई पंद्रह रोज़ रहने के बाद फिर वापस आये। वहीं डुमरियागंज तहसील में मन्नन द्विवेदी 'गजपुरी' से भी उनकी भेंट हुई। उनसे कभी-कभी साहित्यिक बातें होती थीं। डुमरियागंज जाते तो उन्हीं के यहां ठहरते। उसके बाद फिर घर छुट्टी लेकर आये। फिर तबादले की दरख़्वास्त दी। उस पर भी साहब ने कुछ ध्यान नहीं दिया। फिर इलाहाबाद गये। डाइरेक्टर से मिले। बोले—'बस्ती की आबहवा मेरे माफिक नहीं है।'

साहब—'तुम्हें न महोबा की आबहवा पसंद, न बस्ती की, बताओ कहां भेजूं ? तुम्हारी मास्टरी की जगह 40 रुपये मंज़ूर है ? जा सकते हो ?'

आप बोले—'बाद को लिखूंगा।'

मैं—'तो आप क्या कह आये ?'

'अभी तो मैंने कुछ जवाब नहीं दिया। जैसा कहो, वैसा करूंगा।'

मुझे इन सब बातों से बहुत क्रोध आया और अपनी बेबसी पर अफसोस भी हुआ। बोली—'तो मास्टरी क्या बुरी है ?' वे बोले—'तुम्हें मालूम है, चालीस ही मिलेंगे।'

'हां, मालूम है, 40 रुपये ही मिलेंगे तो क्या ?'

'बताओ खर्च कैसे चलेगा ?'

'देखा जायगा, जैसे चलेगा। खर्च के लिए प्राण तो नहीं दिये जा सकते।'

आप बोले—'सब मिलाकर इस समय तुम्हारे घर पर 100 रुपये आ जाते हैं, फिर भी खर्च नहीं चलता।'

मैं—मैं कहती हूं 1000 रुपये में भी खर्च नहीं चल सकता। जो 10 कमाता है, उसी में वह भी निर्वाह कर लेता है।'

'मैं नहीं जानता, मैं तो सब करने को तैयार हूं।

मैं बोली—'मैं भी तैयार हूं। कोई बात नहीं।

'यों ही लोग परेशान करते हैं।'

मैंने कहा—'सिधाई के सब नतीजे हैं। देखते हैं लोग कि मर रहा है, पर दवा के लिए भी नहीं पूछते। और नहीं, दाल में मिर्चे की बघार दी जाती है। भला यह भी कोई बात है।'

'ख़ैर, तुम्हारी इच्छा ! मैं दरख़्वास्त दिये देता हूं।'

फिर मंज़ूरी आई। उन दिनों हम बनारस थे। जिस दिन मंज़ूरी आई, बोले—चलो फिर वहीं बस्ती।

मैंने कहा—चलो, दौरा तो न करना होगा।

8 जुलाई को फिर हम आये बस्ती। साथ में मैं, मेरी लड़की और उनके भाई थे। फिर पुरानी बस्ती में हम लोगों ने मकान लिया। पहले तो मेरे बहनोई के यहां, जो वहां पोस्टमास्टर थे, ठहरे। दोनों आदमियों ने मिलकर मकान ठीक किया। खाने-पीने का वहां ठीक रहा।

एक रोज़ का वाकया है आप बाज़ार गये मछली, तरकारी, पान वगैरह लाने। वहीं

पं. मन्नन द्विवेदीजी से भेंट हुई। पंडितजी को साथ लिये घर पर आये। आकर बोले—पंडितजी घर पर बैठे हैं। पान तो बना लाओ। वे खुद हाथ धोकर तश्तरी में पान लेकर बाहर आये। उनसे कुछ देर तक गपशप होती रही। फिर पंडित जी अपने घर गये।

आप अन्दर बोले—'आज मछली खरीदते हुए ही पंडितजी मिले। बड़ा मसखरा आदमी है। साथ ही जानदार भी है।'

मैंने कहा—'आपको तो मैं कई बार टोक चुकी हूं कि और किसी से मंगा लिया कीजिए, पर आप मानते नहीं।'

आप बोले—'मुझे अपना काम करते शर्म नहीं मालूम होती। अपना काम करना क्या जुर्म है ? फिर मैं अपने को मज़दूर कहता भी तो हूं।'

मैं—'आप फावड़ा क्यों नहीं चलाते ?'

'फावड़ा नहीं चलाता तो कलम तो चलाता हूं।'

मैं—'अगर आप फावड़ा चलाते होते तो आपको मैं रोटियां पहुंचाती होती।'

'अच्छा, बाहर न सही, घर में तो देती हो। अगर मेरा सौदा बाज़ार से कोई दूसरा लाता तो क्या महराजिन की ज़रूरत न पड़ती ?'

मैं—महराजिन का तो कोई सवाल नहीं। अगर आप अपने को हर हालत के लिए तैयार रख सकते हैं, तो क्या मैं इतना भी नहीं कर सकती ?'

वहां 40 रुपये मिलते थे। 10 रुपये चाची को बराबर भेजते रहते थे। बाकी में हम तीन थे।....

दो-तीन दिन बीतने पर पंडितजी ने तीन-चार खांची मछलियां भेजीं और साथ में एक दोहा—

धीमर ने फांस्यो अभी दीन हीन सफरीन। प्रेमचंद भोजन करें विद्या-बुद्धि प्रवीन।

आप तो घर पर थे नहीं। उसे मैंने रखवाया और चार-चार आने बिदाई देकर उन आदमियों को वापिस किया। कविता उठाकर पढ़ी। मुझे भी हंसी आई। साथ ही चिन्ता भी कि इतनी मछलियां होंगी क्या ? मनाती थी कि जल्दी आयें तो कोई प्रबन्ध हो। जब शाम को आये साढ़े तीन बजे तो टोकरों में आंगन में मछलियां रखी थीं। कपड़े भी उतार न पाये थे कि बेटी को उठा लिया। उसको गोद में लिये हुए मछलियों पर निगाह पड़ी। बोले—'ये कहां से आ गई ?'

मैं बोली—'यही नहीं आई इसके साथ एक कविता भी आई है। यह पंडितजी की शरारत है।'

आप बोले—'मैं समझता था कि ज़रूर इस पर मज़ाक करेंगे।' फिर बोले—'ये होंगी क्या ?'

मैं—'मेरी समझ में तो खुद नहीं आता कि यह क्या होंगी। इसे बंटवाइये। कुछ जीजा के यहां भिजवाइये। और जगह भी भिजवाइये।'

शाम को किसी तरह मछलियों की बला टली। तब से हमेशा मैं डरती रहती थी कि कहीं फिर न इन्हें बाज़ार में वे मिल जायं। मगर इनको इसकी फिक्र न थी। वे तो अपना काम करना जानते थे।

जब पंडितजी दुबारा फिर बस्ती आये तो मछलियों पर काफी कहकहा रहा। साथ ही

उन्होंने यह भी कहा कि पंडितजी, आपकी बनाई वह कविता मुझे बहुत पसंद आई। फिर तुम ऐसी कविता लिखोगे, तो मैं भी कुछ लिखकर भेजूंगा।

उस बस्ती में एक दिन कुआंर का महीना था—हथिया का पानी बरस रहा था। मकान गिर रहे थे। हम चार आदमी भी साथ ही एक मकान में बैठे थे कि मकान गिरेगा, तो फिर जो कुछ होगा हम साथ ही खतरा उठायेंगे। दूसरे रोज़ किसी तरह पानी निकला। आप स्कूल गये। हेडमास्टर बोला—'कल आप क्यो नहीं आये ?'

'साहब, उधर पानी बहुत तेज़ था।'

हेडमास्टर—'क्या आप नमक थे, जो गल जाते ?'

'मैं नमक तो नहीं था। हां, मेरे पड़ोस के मकान गिर रहे थे। मुमकिन है, मेरा भी मकान गिर पड़ता।'

हेडमास्टर—'क्या आप रहकर उसे गिरने से रोक लेते ?'

आप बोले—'रोक तो नहीं सकता था। हां, साथ मर सकता था।'

हेडमास्टर—'फिर आप इसीलिए रुक गये थे ?'

आप बोले—'जी।'

आप घर का काम करने के लिए हमेशा तैयार रहते थे। हमेशा घर के काम में मदद भी करते थे। यह काम मुझे अनुचित मालूम होता। मैं चाहती थी कि बाहर का काम उनके जिम्मे और भीतर का मेरे। जो काम मुझे करना होता, उसे वे मेरे सोते रहते ही खत्म कर देते, क्योंकि मैं ऐसे कामो के लिए उन्हें हमेशा रोकती थी। इस पर कभी-कभी मैं नाराज़ भी हो जाती। कोई घर का भारी काम करना होता, तो उनकी चोरी से मैं पहले ही कर लेती; क्योंकि वे कई साल बीमार रहने के कारण कमज़ोर पड़ गये थे। इसलिए हम दोनो में हमेशा होड़-सी लगी रहती। इसी तरह हमारा घर का काम चलता था।....

●

गोरखपुर का तबादला हुआ। हमने सब सामान गोरखपुर के लिए बुक कराया। बुक कराने पर पता चला कि जो क्वार्टर हमें गोरखपुर में मिलेगा, वह एक दिन देर से मिलेगा।

जब वहां से आने पर आप खाना खाने बैठे तो बोले—'अभी तो हमें कल चलना है, क्योंकि क्वार्टर खाली नहीं। आज ख़त आ गया है। मैं भी सोच रहा हूं कि कल ही चलूं।'

मैं कई दिनों से बीमार थी। सामने वे बैठे खाना खा रहे थे।

मैं—'इसके माने यह हैं कि आप महीने-दो-महीने की छुट्टी लेकर बैठिये।'

तब आप बोले—'क्या आज ही चलना चाहती हो ?'

मैं—'हां, आज ही। सामान तो बुक हो गया, और मैं बीमार। और क्या मुसीबत होगी ?'

आप बोले—'चलो, एक दिन स्कूल ही में ठहर लें।'

मैं—'हां, चलिये।'

हम वहां से चले। तीन बजे चलकर शाम को पांच बजे पहुंचे।

स्कूल में हम ठहराये गये। स्कूल के बरामदे में हमें सब मास्टरों तथा दो सौ के लगभग लड़कों ने घेर लिया। कोई आठ बजे के लगभग वहां के एक मास्टर मुझे ऐसी

हालत में जानकर अपने घर ले गये। बोले-'कल क्वार्टर खाली हो जाने पर मैं उसमें चला जाऊंगा। बात एक ही होगी।'

10 बजे रात को धुन्नू की पैदाइश हुई। उस समय उनकी उम्र छत्तिस-सैंतिस थी। जब लोगों को मालूम हुआ तो मास्टर साहब दाई बुलाने खुद गये। और दरवाज़े पर बाजे बजने लगे। उस मुहल्ले भर में शोर हुआ कि आख़िर बच्चा हुआ कहां ?

फिर सुबह मास्टर साहब उसी क्वार्टर में चले गये जो हमें मिलने वाला था।

उस मकान में हम दो महीने रहे।

धुन्नू मूल में हुआ था। उसकी पूजा खत्म होने पर स्कूल के पूरे स्टाफ को दावत दी गई। फिर हम क्वार्टर में आये। उसी महीने में उनकी 10 रुपये की तरक्की हुई।

फिर वे बी. ए. की तैयारी में लगे। और फिर वही बस्ती का कार्यक्रम चलने लगा।

धुन्नू जब आठ महीने का था, तभी मेरे फोड़ा निकल आया था। उन्हीं दिनों उनका एक महीना फर्स्ट एड सीखने का हुक्म इलाहाबाद में हुआ। हेडमास्टर बोला-'आप जाकर सीख आइये। इसमें 10 रुपये आपकी तरक्की भी है। इसीलिए मैंने आपको रखा।'

वे बोले-'मैं कैसे जाऊं। मेरी बीवी के पेर मे फोड़ा हुआ है।'

हेडमास्टर-'आप अवश्य जाइये। वे अच्छी हो जायंगी।'

वे बोले-'मुझे तो यह फोड़ा खतरनाक लग रहा है। दो महीने गुजर गये। कैसे जाऊं ?'

हेडमास्टर-'तरक्की आपकी हो जाती और कोई बात नहीं।'

वे बोले-'तरक्की की न मुझे अधिक ख़्वाहिश है न उन्हें। फिर क्यों ऐसा करूं ?'

हेडमास्टर-'इसका जिम्मा मुझ पर। मैं आपके घर को अपने घर की तरह समझूंगा।

'अच्छा, आपके कहने से मैं जाता हूं।'

तब तक मेरा पैर कुछ अच्छा भी हो चला था।

उन्होंने भी कहा-'जाइये।' वे एक महीने के लिये गये भी। तब तक मास्टर रोजाना देखने के लिए आते थे।

•

सन् 16 की बात है। आपकी बहन मेरे यहां गई हुई थीं। उनके पास भी दो बच्चियां थीं। दो हम, तीन वे। इन्फलुएंजा में बीमार पड़े। अब उनकी सेवा का हाल सुनिए-बड़े सुबह उठना, उसके बाद आग तैयार करना, हुक्का पीकर काढा चढ़ाना। तब तक पाखाना जाना। पाखाने से लौटने के बाद पानी, दातौन मुझे और अपनी बहन को पहले दे जाना। जब तक धुन्नू, बेटी, अपनी भांजी आदि का हाथ-मुंह धोना। यदि उनकी भाजी अच्छी रहती तो लड़कों को दूध खुद पिला देती।

इन सब कामों को करने के बाद तब आपको खाना बनाने की होती। हां, लड़की स्वस्थ रहती तो वह खुद बना देती। उसको अगर बुखार चढ़ आता तो मजबूर हो जाती। खाना बनाकर सबको जूस-पानी देना भी उन्हीं का काम था। पान बनाकर मेरे डिब्बे में रखकर, धुन्नू को गोद में लिये ही स्कूल चले जाते थे। फिर बारह बजे आते। फिर बेटी को दूध पिलाते, धुन्नू को दूध पिलाते। फिर पान खाकर धुन्नू को लिये स्कूल चले जाते। शाम

को फिर उसी तरह।

अब दो बच्चों को सुलाना भी उन्हें पड़ता। एक को एक तरफ, दूसरे को दूसरी तरफ। रात में लड़के पेशाब कर ही देते थे, तो आप खुद भीग जाते और फिर कपड़े बदलते, दूसरा बिछावन बिछाते।

जब से धुन्नू हुआ, बेटी को बराबर अपने पास रखते थे। कहीं रात मे बच्चे रोने लगे तो रात भर उन्हें लटकाये जागते रहते। क्रोध तो उन्हें छू तक नहीं गया था। उसके तीसरे वर्ष दूसरा बच्चा हुआ तो वे धुन्नू को भी अपने पास रखने लगे।

मेरा वह लड़का ग्यारह महीने का होकर चेचक से बीमार पड़ा। चेचक काली थी। मैंने लड़के की हालत देखकर कहा--कोई डाक्टर बुलाइए। चेचक का रंग खतरनाक है।

आप अपने पढ़ने-लिखने के कमरे में गये और डाक्टरी की किताब वहां से देखकर आये। मुझसे बात करते हुए उनका गला भरा हुआ था। कमरे में शायद रो रहे थे। बोले–'तुम्हारा यह लड़का बचता नहीं मालूम होता।'

मैं–'पहले डाक्टर बुलाइए।'

'डाक्टर को लाता ही हू, पर मुझे विश्वास नहीं।'

मुझे आश्वासन देते हुए बोले–'मरना-जीना तो लगा ही रहता है। क्या करोगी। अपना बस क्या है ?'

उसी समय चाची को तार दिया। वे अपने मायके मे थीं। जब दूसरे रोज आई, तब उनसे बोले–'बेटी और धुन्नू को लेकर तुम मरदाने कमरे मे रहो। ये तो भला बच रहें। मेरी तो राय है कि इन्हें घर से भी दूर रखा जाय।'

चाची–'नहीं, चेचक के दिनों में बाहर जाना ठीक नहीं।' वे अलग रहने लगीं।

लड़का ग्यारहवें दिन ठण्डा होने लगा।

फिर डाक्टर आये। उसने कहा–'सब्र कीजिए।'

रात को जिस समय वह मरा, मै और वे थे। मै चाहती थी, वह दूर भी दूर रहें।

जब उन्होंने मुझे रोते देखा, जब कि बच्चा मर गया था, तो मेरा हाथ पकड़कर वहा से उठा लाये और मुझसे बोले–'क्यों रोती हो ? क्या सुख उससे तुम्हें मिला ? ग्यारह ही महीना जिन्दा रहा, उस पर भी बराबर बीमार। मै तो जिन्दा ही हूं। असल में मैं ही तुम्हारा हू।'

उस दिन रात भर मुझे पकड़े रहे। वे बैठे भी बराबर रहे रात भर। सुबह जब उसकी लाश चली गई तो उसके सारे सामान जलवा दिये। फिर सारे कमरे को फिनायल से धुलवाया। उसके बाद वहा पर हवन कराया। फिर उस कमरे मे नौ महीने तक ताला पड़ा रहा। उन्होंने अपने हाथ से कमरा बन्द कर ताली बाहर फेंक दी। उसकी एक-एक चीज को नहीं रहने देते थे।

इसके बाद खुद बीमार पड़े। जो उन्होंने अपनी आत्म-कथा में खुद लिखा है। 1920 तब था।

शुरू-शुरू में बीमार होने पर उन्होंने जल-चिकित्सा प्रारम्भ की। उससे पेट और भी बढ़ गया। कभी-कभी पेट में दर्द भी होता। दवा से आप बहुत घबराते थे। दवा तो करते नहीं थे। स्कूल में आरामकुर्सी पर लेटे रहते थे। घर में साहित्य का काम तो वैसा ही चलता रहा।

इसके दो महीने बाद मैंने अपने पिता को लिखा कि ये बीमार हैं, और यह बीमारी है। मेरे पिता ने सुनते ही मेरे वकील भाई को भेजा और कहा, फौरन लिवा लाओ। अलग मकान लेकर उनकी दवा होगी।

मेरे भाई आये और बोले—'पिताजी आपको बुला रहे हैं। वहीं आपकी दवा भी होगी।'

आप बोले—'मैं दवा कर चुका। भाई, कहां तक करूं ?'

वे—'नहीं साहब, चलना ही पड़ेगा। पिताजी की सख़्त ताकीद है।'

तब आप बोले—'मैं तो नहीं जाऊंगा। तुम जिस डाक्टर से दवा कराना चाहो, उसे यहां बुलाओ और खुद बैठो।'

भाई बोले—'आपको वहां चलने में कोई तकलीफ नहीं। इलाहाबाद से डाक्टर लाने में आप ही बतलाइये, कैसा होगा। यहां से मैं बिलकुल नावाकिफ हूं।'

आप बोले—'उनसे कह दीजिए, मैं अच्छा हूं।'

वे बेचारे मजबूर होकर चले गये। आठ रोज़ के बाद फिर उन्हें पिता ने भेजा, फिर वही रूखा जवाब।

•

एक बार की बात है। मेरे घर का जीना छोटा था। ऊपर से एक चारपाई नीचे और नीचे से एक चारपाई ऊपर करनी थी। इसके लिए उन्होंने मुझसे कहा—छोटक (छोटा भाई) के आने पर उससे कहना, वह रख देगा। जब वह आया तब मैंने ऊपर की चारपाई को नीचे ले जाने और नीचे की चारपाई को ऊपर ले जाने के लिए कहा। वह बोला—'भाई आयेंगे तो वे खुद करेंगे। मुझे यह बुरा लगा। मैंने खुद चारपाई को अपने हाथों से ऊपर से नीचे किया। मैं उन दिनों बीमार थी। जब उन्होंने स्कूल से लौटने पर चारपाई को नीचे देखा तो बोले—'इसे कौन यहां लाया ?' मैंने कहा—'मैं। जो आपके घर में सबसे तन्दुरुस्त है।' तब आप बोले—'तुम्हें ऐसा करने की क्या जल्दी थी ? मैं तो आ ही रहा था।'

मैंने क्रोध में कहा—'सब कामों के लिए क्या आप ही हैं ? आख़िर ये छोटे-मोटे काम ये लोग नहीं कर सकते ?' तब वे बोले—'इसमें जबर्दस्ती किस बात की ? अपनी तबीयत।'

मैं—'फिर तबीयत को आराम पहुंचाना चाहते हैं। मैं, आप, सभी चुप बैठ जाय तो काम क्या खुद हो जायंगे। चाहिये तो यह कि अपने-अपने योग्य काम सब करें। गृहस्थी के यही माने हैं।'

'भाई ज़बर्दस्ती कुछ नहीं होना।'

मैं फिर झुंझलाई—'अच्छा पिसो। मुझे क्या ?'

•

प्रेमचंद कितने स्वाभिमानी थे, शिवरानी देवी लिखती हैं—

जाड़े के दिन थे। स्कूल का इंस्पेक्टर मुआयना करने आया था। एक रोज़ तो इंस्पेक्टर के साथ रहकर आपने स्कूल दिखा दिया। दूसरे रोज़ लड़कों को गेंद खेलना था।

उस दिन आप नहीं गये। छुट्टी होने पर आप घर चले आये। आरामकुर्सी पर लेटे दरवाजे पर आप अख़बार पढ़ रहे थे। सामने ही में इंस्पेक्टर अपनी मोटर पर जा रहा था। वह आशा करता था कि उठकर सलाम करेंगे। लेकिन आप उठे भी नहीं। इस पर कुछ दूर जाने के बाद इंस्पेक्टर ने गाड़ी रोककर अपने अर्दली को भेजा।

अर्दली जब आया, तो आप गये।

'कहिए क्या है ?'

इंस्पेक्टर—'तुम बड़े मगरूर हो। तुम्हारा अफसर दरवाज़े से निकल जाता है। उठकर सलाम भी नहीं करते।'

'मैं जब स्कूल में रहता हूं, तब नौकर हूं। बाद में मैं भी अपने घर का बादशाह हूं।'

इंस्पेक्टर चला गया। आपने अपने मित्रों से राय ली कि इस पर मान-हानि का केस चलाना चाहिए। मित्रों ने सलाह दी, जाने दीजिए। आप भी उसे मगरूर कह सकते थे। हटाइए इस बात को। मगर इस बात की कुरेदन उन्हें बहुत दिनों तक रही।

पांचवें महीने जब पच्चीस के अलावा 80 रुपये मैंने और दिये और जमा कर आने को कहा तो आप बोले—'ये रुपये कहां थे ?'

मैं—'हर महीने के खर्चे में से ये बचे हैं। अब यहां क्यों रहें ?'

आप बोले—'तो फिर तो बचत के रुपये तुम्हारे हुए।'

मैं—'तो फिर सब मेरे हुए। आप तो कभी एक पैसा नहीं बचा पाये।'

'खैर, लाओ रख आऊं, अच्छा ही है।'

उनकी चाची को ये रुपये बुरे लगे। जब चले गये तो बोलीं—'क्या मैं रुपये अपने पास रख लेती थी ?'

मैं—'रखने का लांछन कहां लगा रही हूं ? और बच गये। घर में रहने से क्या होता? जरूरत पड़ने पर वहां से भी तो आ सकते हैं।'

उन्हें बुरा तो लगा ही।

एक बार की बात है। मैं बीमार थी। मुझे दस्त की बीमारी थी। मेरा लड़का धुन्नू आठ महीने का था। बीमार कई महीने रही। डाक्टरों को आशंका थी कि अपने बच्चे को मैं दूध पिलाती रही तो तपेदिक हो जाने का पूरा खतरा है। इस पर आप एक दिन बोले—'मेहतरानी को दूध पिलाने के लिए रख लो। नहीं तो धुन्नू भी तो कमज़ोर पड़ जायेगा।'

मैं—'यह सब कुछ नहीं।'

'नहीं जी, दूध में क्या हर्ज है ? तुम उसे मत छूना। वह तो बच्चा है।'

मैं—'बच्चे पर दूध का असर बहुत पड़ता है। उसका दूध इसकी प्रकृति के अनुकूल भी तो न पड़ेगा। वह आठ महीने का है, मेहतरानी को तो अभी बच्चा हुआ है। उसका दूध कैसे माफिक पड़ेगा ?'

आप बोले—'फिर तुम्हीं बताओ। क्या करूं ?'

मैं—'बकरी का दूध ठीक होगा।'

एक बकरी उन्होंने मंगवायी। बच्चे के लिए जब भी दूध पीने की ज़रूरत पड़ती, खुद दुहते। चाहे कोई समय क्यों न हो।

मगर लड़का इतनी उग्र प्रकृति का था कि शीशी का रबड़ ही काट डालता, फिर वे हाथ पकड़ते। मैं चम्मच से मुंह में दूध डालती। कभी-कभी मुझे भी इसने गिरा दिया। बहुत ही मचलता था। फिर थोड़ा-थोड़ा साबूदाना खिलाने लगी।

अहीर के यहां से फिर एक सेर दूध आने लगा। चाची उसमें से आधा तो अपने बच्चे के लिए रख लेती थीं। बाकी आधा सेर में साबूदाने के लिए भी पूरा न पड़ता। यह देखकर कि ज़रा से बच्चे का भी ख़्याल नहीं रखतीं, मुझे क्रोध हो आया।

मैंने कहा—'आज से कुल तीन पाव दूध आयेगा, केवल धुन्नू के लिए।'

तब आप बोले—'बेटी क्या यों ही जियेगी ? अरे, उसे भी तो चाहिए।'

मैं—'यहां धुन्नू को ही पूरा नहीं पड़ता। साबूदाना में पानी भी पड़ता है और आप ऐसे कहते है।'

'तुम्हें तो डाक्टर ने दही खाने को कहा है।'

'मुझे तो डाक्टर ने संखिया खाने को कहा है।'

'संखिया खा लेने से तो खूब खेल खत्म हो जायगा।'

उसके तीन दिनों के बाद चाची को खांसी आने लगी। खाना खुद बनाते। चाची कहतीं—अपनी बीवी से क्यों नहीं बनवाते ? खुद आख़िर क्यों बनाते हैं। उसकी बीमारी का यही रहस्य था। तीन रोज़ तक उन्होंने खाना पकाया। चाची ने नहीं खाया। तीसरे रोज जब वे खाना खाकर लेटे, तो आकर चाची बोलीं—'बचवा को तार दे दो। हमको घर पहुंचा दे।'

धुन्नू को आव पड़ती थी। आप बोले—'कहां जाना चाहती हो ?'

'वह आकर मुझे लमही भेज दे।'

आप बोले—'इस समय दवा तक का पैसा नहीं है। आठ महीने के बच्चे की यह दशा! उसकी मां सख़्त बीमार। और वह अभी गया, पचीसों खर्च हुए। तुम बिना समझे क्या करती हो। हां जाना चाहो, बनारस का एक लड़का है, तुम्हें घर वह भेज देगा।'

'हां, मैं जाना चाहती हूं।'

'जाइए। शौक से। कोई बात नहीं।'

शाम की ट्रेन से वे 10 रुपये लेकर रवाना हुई।

मेरे पिता ने मुझे बीमार जान फौरन बुलाया। उसके जवाब में आपने लिखा था—'मैं खुद लिवाकर आ रहा हूं। छुट्टी होने पर।'

जिस दिन हमारे जाने का बिस्तर बंधा तो चाची का तार पहुंचा कि मैं आ रही हूं, मेरी तबीयत यहां नहीं लगती।

आपने जवाब दिया—'अभी मत आओ, मैं इलाहाबाद जाने को तैयार हूं।'

हम इलाहाबाद आये। इसके बाद मैं देहात चली गई। वे भी पंद्रह रोज़ तक मेरे पिता के घर रहे।

फिर वे कानपुर आये। मेरी दवा तो मेरे मायके में होती रही। धुन्नू को दूध पिलाने के लिए एक औरत रखी गई।

धुन्नू भी स्वस्थ होने लगा। मैंने भी दस्त से तो छुट्टी पाई, लेकिन खांसी-ज़ुकाम ने पल्ला पकड़ा।

कानपुर से आपने मेरे पिता से मेरी ख़बर पूछी। पिता ने लिखा—दस्त तो बन्द हो गये; लेकिन खांसी आ रही है। धुन्नू तगड़ा हो रहा है। तुम इसकी चिन्ता छोड़ दो। मगर वे फिर लौट आये। पंद्रह दिन के करीब फिर रहे। उनकी दवा भी वहां बीच-बीच में होती रही। इसके बाद वे कानपुर चले गये।

पंद्रह दिन स्कूल खुलने को रहे तो वे लौटकर आये और मेरी बिदाई के लिए कहा। मेरे पिता बोले—'अब ज़रा सी अच्छी हुई तो फिर बिदाई की सूझी अभी मेरी इच्छा नहीं है।'

फिर उस आदमी से बोले—'कह दो, इतना मेरे साथ किया करें। मैं भी बीमार रहता हूं। मैं भी तो उन्हीं का हूं। इसलिए मैं अकेले यहां आऊंगा तो तकलीफ होगी। इनके रहने से मैं बिलकुल बेफिक्र हूं।'

मेरे पिता राज़ी हो गये। मैं जब यहां आई तो उनका बी. ए. का प्रथम वर्ष था। वे फिर कोर्स की तैयारी करने लगे।

जब मैं गोरखपुर में थी, तो मेरे गाय थी। वह गाय एक दिन कलक्टर के हाते में चली गई। कलक्टर ने कहला भेजा कि अपनी गाय ले जाए नहीं तो मैं गोली मार दूंगा। आपको खबर भी न होने पाई. ढाई-दो सौ के लगभग लड़के नौकरों के साथ पहुंचे।

जब मैंने शोरगुल बहुत सुना और दरवाजे पर देखती हूं कि कोई भी नहीं है तो मैं आपके कमरे में गई। मैंने क्या देखा—आप शान्ति से लिख रहे थे।

आप तो यहां बैठे है। हाते में कोई भी आदमी नहीं है।'

अच्छा।'

जाड़े के दिन थे। एक कुर्ता और स्लीपर पहने बाहर निकले। कलक्टर के बंगले ही की तरफ गये। वहां जाकर पूछा—आखिर तुम लोग क्यों आये ?'

आदमियों ने कहा—'साहब के हाते में गाय आ गई है। उसने गोली मारने को कहा है।'

तुम लोगों को कैसे ख़बर हुई ?'

साहब का आदमी गया था। वही यह सब कह रहा था।'

जब अर्दली गया तो मुझसे बताना चाहिए था।'

आपसे इसीलिए नहीं कहा कि हमीं कौन कम थे।'

मगर साहब को जब गोली मारनी थी, तो मुझे बुलाने की क्या ज़रूरत थी। यह तो साहब की बात बिलकुल बच्चों की-सी है। गाय को गोली मारे और मुझे दिखाकर !'

लड़के—'बगैर गाय लिये हम नहीं जायंगे।'

आप बोले—'अगर साहब ने गोली मार दी ?'

लड़के—'गोली मार देना आसान नहीं है। यहां खून की नदी बह जाएगी। एक मुसलमान गोली मार देता है तो खून की नदियां बह जाती हैं।'

फौजवाले तो रोज़ गाय, बछड़े मार-मार कर खाते हैं, तब तुम लोग सोते रहते हो ? यह तो गलती है कि मुसलमानों की एक कुर्बानी पर सैकड़ों हिन्दू-मुसलमान मरते-मारते हैं। गाय तुम्हारे लिए जितनी ज़रूरी है, मुसलमानों के लिए भी उतनी ज़रूरी है। चलो ! अभी तुम्हारी गाय लेकर आता हूं।'

साहब के पास जाकर आप बोले—'आपने मुझे क्यों याद किया ?'

'तुम्हारी गाय मेरे हाते में आई। मैं उसे गोली मार देता। हम अंग्रेज़ हैं।'

'साहब, आपको गोली मारनी थी तो मुझे क्यों बुलाया ? आप जो चाहे सो करते। या आप मेरे खड़े रहते गोली मारते ?'

'हां, हम अंग्रेज़ हैं, कलक्टर हैं। हमारे पास ताकत है। हम गोली मार सकता है।'

'आप अंग्रेज़ हैं। कलक्टर हैं। सब कुछ हैं, पर पब्लिक भी तो कोई चीज़ है।'

मैं आज छोड़ देता हूं। आइन्दा आई तो हम गोली मार देगा।'

'आप गोली मार दीजिएगा। ठीक है; पर मुझे न याद कीजिएगा।' यह कहते हुए आप बाहर चले आये।

•

प्रेमचंद त्यौहारों को विशेष धूमधाम से मनाते। विशेषकर होली तो मानो उन्हें उल्लास से सराबोर कर डालती। गोरखपुर में जब मास्टर थे होली के दो रोज पहले से ही उन्हें विशेष उत्साह होता था। होली के एक दिन पहले ही सारा सामान–रंग, अबीर, गुलाल, मिठाई, नमकीन, भंग आदि खरीद लाते। होली के दिन लोग आते, स्कूल के लड़के आते और वह सारा सामान उनके सामने रख देते। सभी लोग हुल्लड़ मचाते, खाने-पीने फिर भंग का दौर चलना। फिर गाना-बजाना बड़े धूमधाम से होता। प्रेमचंद खुद भी गाते और कभी-कभी शिवरानी देवी को भी गाने में शामिल करते।

•

सरकारी नौकरी अब दिनोंदिन जी पर भारी होती जा रही थी। दो बरस पहले उसमानिया यूनिवर्सिटी के लिए कोशिश की थी मगर कौन पूछता है। कानपुर डी. ए. वी. स्कूल की हेडमास्टरी खाली थी पर बात बनी नहीं। फरवरी 1920 में मारवाड़ी स्कूल में असिस्टेंट टीचरी मिल रही थी जो उन्हें मंजूर न थी। पिंजरे से आजाद होने के लिए तबीयत छटपटाती रहती। और इस छटपटाहट में, तबीयत अख़बार और प्रेस की तरफ भागती है, फिर ठिठक जाती है और फिर भागती है। शिवरानी देवी ने लिखा है–

उन दिनों उनके भाई कलकत्ते में नौकर थे। वहां उन्होंने एक प्रेस लेना चाहा। प्रेस एक मारवाड़ी के साझे में लेना था। उन्होंने लिखा–नौ हजार में हम लोग खरीद रहे हैं। आप साढ़े चार हजार दीजिए।

जो कुछ मैंने बचाकर रखा था, उसे और प्रामेसरी नोट भुनाकर उन्हें देने के लिए तीन हज़ार इकट्ठा किये। डेढ़ हजार उन्होंने अपने चचेरे भाई से भी मांगे थे। उन्होंने इन्दौर से एक हज़ार भेज दिया। और 500 रुपये बाद में भेजने का वादा किया।

एक रोज़ मैंने पूछा–'रुपये देने का ढंग कैसा है ? प्रेस किन शर्तों पर ठीक होगा ?'

बोले–'शर्त क्या ! अरे प्रेस रखेगा, जो कुछ मुनाफा होगा, तुम्हें भी देगा।

मैं–'इन शर्तों पर रुपया देना ठीक नहीं। हां, धुन्नू के नाम ख़रीदा जाय, वे काम करने वाले रहें।'

'नहीं, वह झल्ला उठेगा।'

फिर ये रुपये आपके नहीं, आप अपने रुपये दीजिए ! रुपये मेरी ही शर्त पर जायंगे।'

'खैर, मैं लिख दूंगा कि धुन्नू की मां इस शर्त पर रुपये देना चाहती हैं।'

इस ख़त का चौथे रोज़ जवाब आया कि मेरी यहा बड़ी हंसी हो रही है। क्या आप हमारे ऊपर विश्वास नहीं करते ? मेरे ही और कौन है, धुन्नू ही तो मेरे भी हैं। मेरे लिए बड़े अफसोस की बात है।

ख़त आने पर उसे उन्होंने मुझे सुना दिया और बोले—'बड़ा गड़बड़ हुआ।'

मैं—'कोई गड़बड़ नहीं। मेरी राय ठीक है। मैं किसी के हाथ में नहीं होना चाहती। कोई काम हो, अपनी जगह होना चाहिए। मैं बहुतों को देख चुकी हूं। आप आंखें बन्द करके चलते हैं, मैं आंखें खोलकर चलती हूं।'

'अच्छा बोलो इसका जवाब क्या लिखूं ?'

मैं—'मेरी तरफ से लिखो कि जब तक कोई लड़का मेरे पास न था, तब तक तुम ही सब कुछ थे। यह लड़का तुम्हारा भी है तब नाम रहना क्या बुरा ? तुम यहां खुद आ जाओ, सब बातें साफ-साफ हो जायं। फिर सब तुम्हारे ही हाथ में तो होगा। उसका तो महज़ नाम रहेगा।'

इस पर वे झल्लाये हुए चौथे दिन आये। कहने लगे—'लोगों ने मेरा बहुत मजाक बनाया।'

मैं—'मज़ाक उड़ाने वाले बेवकूफ हैं। उन्हें समझ होनी चाहिए। फिर ये तो बनिये हैं। बनिये के यहां तो और रोगों में लिखा-पढ़ी होती है। इसमें बुरा लगने की कोई बात नहीं थी।'

इसके बाद वे बोले—'मैं इन शर्तों पर रुपया लेने में असमर्थ हूं।'

मैं—'मैं भी मजबूर हूं।'

मैं—'भाई साहब के भी रुपये भेज दीजिए।'

'भेज दिया जायगा।'

'नहीं, भेज दीजिए। रखने की जरूरत ही क्या है ? कोई और काम तो है नहीं।'

इसके बाद वे चले गये।

•

सन् बीस की बात है। असहयोग का ज़माना था। गांधीजी गोरखपुर में आये। आप बीमार थे, फिर भी मैं, दोनों लड़के, बाबूजी मीटिंग में गये। महात्माजी का भाषण सुनकर हम दोनों बहुत प्रभावित हुए। हां, बीमारी की हालत थी। विवशता थी। मगर तभी से सरकारी नौकरी के प्रति एक तरह की उदासीनता पैदा हुई।

इसके दो साल पहले ही आप बी. ए. पास कर चुके थे। एम. ए. पढ़ने की तैयारी में भी लग गये थे। फीस भी दाख़िल कर चुके थे। बीमार तो थे ही, दवा किसी की करते न थे। बीमार की हालत में वे मुझे अपने पास से हटने न देते थे।

एक दिन झुंझलाकर मैं बोली—'इसका निर्णय आज अवश्य करना होगा कि दवा कीजिएगा या नहीं ?'

आप बोले—'दवा से कुछ न होगा।'

मैं—'महज़ इसका जवाब दीजिए कि दवा कराइएगा या नहीं ?'

'भाई, दवा करने से क्या होगा, जवाब तो उसका उल्टा ही होगा।'

मैं—'फिर आप वही कहते चले जा रहे हैं। मुझे आख़िरी निर्णय बताइये।'

'आख़िर करोगी क्या ?'

मैं—'यह करूंगी कि संखिया मंगाकर, खाकर सो जाऊंगी। न रहूंगी, न तकलीफ देखूंगी। अभी दो ही महीने हुए मेरा एक लड़का मर गया, अब आप बीमार पड़े हैं। घर-गृहस्थी देखूं, दोनों बच्चों को देखूं। आपकी बीमारी की यह हालत। अब मुझमें ज़्यादा ताकत नहीं।'

'अच्छा दवा करूंगा। नहीं ही मानती हो जब। मगर दवा से कुछ लाभ नहीं होगा। हां, तुम कह रही हो, करूंगा।'

मैं—'दवा करना हमारा काम है। लाभ-हानि होना ईश्वर के अधीन है। कब से कीजिएगा, कल से न ?'

'हां, कल ही से करूंगा।'

मैं—'हां, कल ही से शुरू कीजिएगा। कल होते देर नही लगती।'

ऐसा कहने पर उन्हें स्वाभाविक हंसी आ गई। मैंने कहा—'हंसने से काम न चलेगा। जो कह रही हूं, करना पड़ेगा।'

'नहीं, देखना, कल से ज़रूर करूंगा दवा न करूंगा तो रहूगा कहां ?'

'हां, ठीक सुबह !'

सुबह हाथ-मुंह धोकर धीरे-धीरे वैद्य के यहां गये। वहा से दवा और बेल के पत्ते लाये। मैंने तैयार करके दवा उनके सामने रखी।

आठ दिन तक घड़ों पानी पाखाने के रास्ते से निकला।

दिन भर जब काफी दस्त आये, तब मैं बोली—'अब आप तुरन्त वैद्य के यहा जाइए।'

वैद्य ने कहा—'ठीक है। पेट का सारा पानी निकल रहा है घबड़ाने की क्या बात है ? एक भस्म मैं और दे रहा हूं, उससे आपके बदन में गर्मी भी रहेगी। कमज़ोरी भी न रहेगी।'

पानी आठ दिन तक पेट से निकलता रहा। फिर दुबारा उसने दवा दी। उबली हुई तरकारी, बिना छना हुआ हाथ का पिसा आटा खाने को बताया। खैर, इस तरह वह जैसे-तैसे अच्छे हुए।

एक दिन की बात है, मुझसे बोले—'तुम राय देतीं तो मैं सरकारी नौकरी छोड देता।'

मैं जवाब देती हुई बोली कि इस विषय पर विचार करने के लिए दो-तीन दिन का समय चाहिए।

'मैं तो खुद ही चाहता हूं कि पहले तुम अपना विचार ठीक कर लो।'

जो उलझन उनको थी वही दो-तीन दिन मुझे भी हुई। मुझे भी बार-बार यही ख़्याल होता कि आखिर बी. ए. की ख़्वाहिश क्यों हुई, यही न कि आगे तरक्की की आशा। पहले तो यह ख़्याल था कि यह कभी प्रोफेसर हो जायंगे, और जीवन के दिन आराम से कटेंगे, क्योंकि सेहत अच्छी न थी। और कहां यह प्रस्ताव कि जो कुछ भी मिलता है उसको भी छोड़कर महज़ हवा में उड़ा जाय। इन सब बातों को सोचकर यही दिल में आता था कि इनको नौकरी छोड़ने से रोक दूं। दो रोज़ का समय लिया था लेकिन चार-पांच दिन में भी कोई निर्णय न कर सकी।

चार-पांच दिन के बाद उन्होंने फिर पूछा कि बतलाओ तुमने क्या निर्णय किया। मैं बोली—एक दिन का समय और। उस दिन मैंने यह सोचा कि आखिर यह इतने बीमार थे और बचने की कोई आशा न थी; एक तरह शायद उन्होंने मुझे जवाब ही दे दिया था, यह कहकर कि यह 3000 रुपये हैं और तीन तुम हो। मैंने सोचा कि यह अच्छे हो गये हैं तो नौकरी की कोई चिन्ता न होनी चाहिए। क्योंकि ईश्वर कुछ अच्छा ही करने वाला होगा, तभी तो यह अच्छे हो गये हैं। मान लो जब यही न रहते तो मैं क्या करती, शायद इसी काम के लिए ईश्वर ने इन्हें अच्छा किया हो। फिर उन दिनों जलियांवाले बाग में जो भीषण हत्याकाण्ड हुआ था, उसकी ज्वाला सभी के दिल में होना स्वाभाविक थी। वह शायद मेरे भी दिल में रही हो। दूसरे दिन अपने को उन सभी मुसीबतों को सहने के लिए तैयार कर पाई जो नौकरी छोड़ने पर आने वाली थीं। दूसरे दिन मैंने उनसे कहा—छोड़ दीजिए नौकरी को। 25 वर्ष की नौकरी छोड़ते हुए तकलीफ तो होती ही थी। मगर नहीं ! यह जो मुल्क पर अत्याचार हो रहे थे, उनको देखते तो वह शायद नहीं के बराबर थी। जब मैंने उनसे कहा कि छोड़ दीजिए नौकरी क्योंकि इन अत्याचारों को तो अब सबको मिलकर मिटाना होगा और यह सरकारी नीति अब सहनशक्ति के बाहर है।

अब आप अपनी स्वाभाविक हंसी हंसकर बोले—'दूसरों का अन्त करने के पहले अपना अन्त सोच लो।'

मैं बोली—'मैंने सोच लिया है, जब तुम अच्छे हो गये हो तो मैं सोचती हूं कि अब आगे भी मैं जङ्गल में मङ्गल कर सकूंगी और मेरा ख्याल है कि ईश्वर कुछ अच्छा ही करने वाला है।'

आप बोले—'सोच लो, फिर न कहना कि छोड़कर खुद भी तकलीफ उठाई और मुझे तकलीफ दी। क्योंकि सर पर तकलीफ आगे बहुत आने वाली हैं, मुमकिन है कि खाने को खाना भी न मिले।'

मैं बोली—'मैं इसके लिए सोच चुकी हूं, मैं तो यह जानती हूं कि सर पर जब बला आती है, तब सब कोई भुगत लेता है। फिर भुगतते तो हैं बड़े-बड़े घर के लोग, अपनी तो बिसात ही क्या है ?'

तब वह बोले—'यही निश्चय है ?'

मैं बोली—'हां।'

'तो मैं कल ही इस्तीफा देता हूं; और कल ही यह सरकारी मकान भी आपको छोड़ना होगा। जाना कहां है, इसका भी कोई ठिकाना नहीं।'

मैं बोली—'गांव चलना है।'

वह बोले—'गांव में ही तुम्हारे रहने के लिए मकान कहां है, क्योंकि जो पुराना घर है, उसमें चाची वगैरह का गुज़र होता होगा। उसमें तुम्हारे लिए जगह कहां ?'

मैं बोली—'तो घर उन्हीं का है ?'

वह बोले—'जहां, ज़मीन पाओगी, वहीं तो रहोगी कि दूसरे के मकान में चली जाओगी ?'

मैं बोली—'मकान में जो जगह है, आधी वह लेंगे। बाकी आधी तो हमको देंगे।'

आप बोले—'उसमें जगह ही कितनी है ?'

मैं क्रोध के साथ बोली—'कुछ भी है। हमीं क्यों छोड़कर चले जायं, वही क्यों न जायं। जब उन्होंने हमारे आराम-तकलीफ का कोई ठेका नहीं लिया है, तो हमीं क्यों लें ?'

'तो तुम इसके ऊपर यह कह सकती हो कि जब सरकारी नौकरियां और नहीं छोड़ रहे हैं तब मैं ही क्यों छोडूं ?'

'यह एक पक्ष का काम नहीं है, यह तो देश भर की बात है।'—मैं बोली—'फिर इसमें त्याग, तपस्या और बलिदान है, यह अपनी मर्ज़ी से मनुष्य कर सकता है।'

आप हंसकर बोले—'जिसको तुम त्याग, तपस्या, बलिदान समझती हो, वह एक भी नहीं है। यह तो हम-तुम दोनों का अपने पापों का प्रायश्चित करना मात्र है।'

मैं बोली—'फिर घर चलना ही होगा। आखिर चलेंगे कहां ?'

आप बोले—'मेरा तो विचार है कि यहीं गोरखपुर में कुछ काम कर लूं। कुछ नहीं तो कोई पचास-साठ रुपये तो दे ही देगा। यहीं दस-पांच रुपये का मकान लेकर पड़े रहें। मेरा विचार है कि एक चरखा-संघ खोलें इसके लिए पोद्दार तैयार भी है।'

मैं बोली—'जब सरकारी नौकरी छोड़ दी, तब यहां रहने की कोई वजह नहीं मालूम होती और आबहवा भी यहां की तुम्हारे माफिक नहीं है। मेरी समझ में नहीं आता कि अब यहां पर रहा क्यों जाय। अभी तक तो सरकारी नौकरी का लोभ था।'

आप बोले—'यहां तो कुछ काम भी होगा भाई और बनारस चल के बैठने से क्या होगा, यह मेरी समझ में नहीं आया। क्योकि यहां और कुछ नहीं है तो पोद्दार मेरा मददगार है ही। बनारस में तुम्हारा कौन मददगार बैठा है ?'

मैंने कहा—'और कुछ नहीं तो घर के लोग तो हैं ही।'

तब वह बोले—'जिनको तुम अब तक अपना समझती थीं, वह अपने लिए थे, तुम्हारे लिए नहीं। जब तुम्हारे पास पैसा नहीं है तो तुम्हारा कोई साथ क्यों देने लगा। तुम्हें मालूम हुआ है कि अभी अपनी बीमारी में मैं चाची को रोकना चाहता था कि वह रहें मगर वह नहीं रहीं ? उनका लड़का नौकर है ही, उसकी शादी हो ही गई है। अब उसको क्या पर्वा है जो मेरा साथ दे। अब तो वह यही समझेंगे कि शायद मुझसे कुछ मदद चाहते हैं। जब से वह मेरी उस हालत पर मुझे छोड़कर गये, एक बार भी कम से कम देखने को आये ? दो बार तुम्हारे भाई मुझे बुलाने भी आये और दवा कराने के लिए भी।'

मैं बोली—'कौन तुम्हीं उनके पास दवा कराने को गये ?'

'खैर मैं जाऊं या नहीं, उनका कर्त्तव्य तो अदा हो गया। इसके माने यह होते हैं कि अब वह मेरे हितैषी हैं, और जिनको मैं अपना समझता था, अब वह नहीं रह गये। इसलिए वहां जाने में तुमको क्या आनन्द मिलेगा, मेरी समझ में नहीं आता।'

मैं बोली—'आख़िर घर तो चलना ही है। मैं कब उनकी रोटियों पर गुज़र करने वाली हूं। अगर मुझमें कष्ट सहने की शक्ति न होती तो मैं क्यों इस्तीफा देने के लिए आपको तैयार करती। मैं अपने घर तो जा ही सकती हूं। या अब उनके लिए पूरा बनारस छोड़ दिया जायगा ?'

'तो वहां जाने से फायदा ही क्या ? आपस में द्वेष ही तो बढ़ेगा।'

'मैं इस द्वेष से डरती कब हूं और इस तरह डरकर गृहस्थी में कोई रह नहीं सकता। यह तो एक संन्यासी ही कर सकता है। घरबार वाला नहीं।'

'अच्छा साहब, जैसी तुम्हारी इच्छा हो।'

'हां, मेरी तो इच्छा यही है। मैंने जीवन में कभी डरना नहीं सीखा।' मैंने कहा—'अपने से मैं किसी को छेड़ूंगी नहीं, मगर जो मुझको छेड़ेगा, उससे डरकर कहीं भागूंगी भी नहीं।'

गोरखपुर की नौकरी छोड़ने के बाद आप महावीर प्रसाद पोद्दार के निवास-स्थान मनीराम गये। वहां से चाची के पिता को नौकरी छोड़ने का सारा किस्सा एक चिट्ठी में बताया। उनके नाना ने लिखा, नौकरी छोड़कर बुरा किया, खैर, तुम्हारी इच्छा। अपने बाल-बच्चों को मेरे पास छोड़ जाओ और अपने लिए कोई काम ढूंढो। अभी से काम छोड़ने के बाद क्या करोगे ?

आप उस चिट्ठी को लिये मेरे पास आये। हंसकर बोले—'ये पुराने खुर्राट समझते हैं कि सारी लियाकत हमीं ने पाई है। लिखते हैं बाल-बच्चों को मेरे पास पहुंचाकर अपने लिए काम ढूंढो।'

उनका खत पढ़कर मुझे भी बुरा लगा। मैं बोली—'इतने सारे बच्चे हैं भी तो। दाने-दाने को मर न जायेंगे।'

आप बोले—'नौकरी छोड़ते हुए सब मैंने समझ लिया है। फिर ये लोग मुझे पाठ सिखाते हैं, जिन्होंने अपनी सारी जिन्दगी बेकारी ही में बिता दी।'

मैं बोली—'अब ये इलाकेदार हुए हैं। तुम्हारी परवरिश के लिए खप रहे हैं।'

आप बोले—'अगर ये अपनी परवरिश कर लें तो समझो मेरी परवरिश हुई। मैं पंद्रहवें साल से ही बोझ उठाने का आदी हो गया हूं, अब तो ईश्वर की दया से अपना ही बोझ है। उस वक्त की समझो। तीन-तीन परिवारों की ज़िम्मेदारी मुझ पर थी। उस समय ये अपना बोझ तक न उठा सके।'

मैं बोली—'जरूर उठायेंगे जब कह रहे हैं।'

आप बोले—'शायद वे घबरा रहे हैं। शायद मैं उनके नाती पर अपना बोझ न डाल दूं।'

मैं बोली—'उनका यह सोचना गलत थोड़े ही है।'

आप बोले—'तुम भी क्या बच्चों की-सी बातें करती हो। जो आदमी औरों का बोझ ले सकता है, वह अपने बाल-बच्चों का बोझ किसी के सिर डाल नहीं सकता। खुदा न ख़ास्ता अगर ऐसी नौबत आ जाय तो उसे चाहिए कि अपने बच्चों को ज़हर देकर मार डाले।'

मैं बोली—'वे जैसे घबरा उठे हैं।'

आप बोले—'ये लोग बड़े संकीर्ण विचार के हैं। ये हमेशा किसी न किसी के सिर का बोझ बनकर रहे हैं।'

पोद्दारजी के यहां हम लोगों के दिन बहुत अच्छे कटे। ऐसा मालूम होता था कि पोद्दारजी और हम सब एक ही हैं। पोद्दारजी ने हमारी काफी सेवा की, उन्हीं की सेवा की वजह से वे जल्दी तन्दुरुस्त हुए। 13 मील शहर रोजाना पोद्दारजी जाते थे। बाबूजी दरवाज़े पर बैठे-बैठे चर्खे बनवाते और लिखते-पढ़ते।

दो महीना रहने के बाद तै हुआ कि पोद्दारजी के साझे में शहर में चर्खे की दुकान खोली जाय और एक मकान वहां लिया गया। उसी जगह दस कर्घे लगाये गये। चर्खा

चलाने वाली कुछ औरतें भी थीं। देहात से बनकर चर्खे आते थे, वे बेचे भी जाते थे। शाम के वक्त पोद्दारजी और बाबूजी तथा और कुछ मित्र लोग बैठकर गपशप करते।

एक दिन की बात है। रात को खाना खाकर आप जैसे उठे, वैसे ही लाल बादल हुए। मुझसे बोले—'तुम लोग भी जल्दी खा लो। मालूम होता है, आंधी जल्दी आयेगी। जैसे ही थाली परोसकर रखी, वैसे ही आंधी-पानी दोनों आये। मैं तो भागकर बच्चों के कमरे में पहुंची, वहीं आप भी पहुंचे। उसी वक्त पत्थर गिरना शुरू हुए। पत्थर पड़ते समय मैं बरांडे में पहुंची और उनकी मेज पर जो कागज़ लिखे हुए पड़े थे, उन्हें समेटकर उनकी चारपाई पर पटक दिया। तब तक पत्थर अन्दर भी खपड़ा तोड़कर आने लगे। तब आप घबराकर बोले—देखो रानी, बच्चों का सिर फूटा। हम जल्दी में बच्चों के ऊपर एक लिहाफ तानकर दोनों तरफ खड़े हो गये। बच्चों के सिर बचने की उम्मीद तो थी; पर अपने कैसे बचाते। हम दोनों के सिर पर पत्थर लगे। वे बोले—'अब अपने सिर कैसे बचाये जायंगे ?'

मैंने बच्चों को एक तख्ते के नीचे डाल दिया। मैंने उनसे कहा, 'आप भी जल्दी चल जाइए।'

'तुम भी इसी के नीचे आओ।'

'नौकर, तू भी चल भीतर।'

हम पांचों उस तख्त के नीचे पेट के बल पड़े थे। बिछावन-ओढन सब भीग गये थे। आप बोले—'तुम्हें मौके पर बात सूझ जाती है, लेकिन मुझे नहीं सूझती, क्या बात है अगर आज न होतीं तो दो-एक सिर अवश्य फूट गये होते।'

बच्चों को सुलाकर हम बाहर पत्थर देखने आये। देखते है तो कमरे के बराबर पत्थर लगा हुआ है। मेज़ पर कागज न देखकर बोले—'मेरे कागज़ भी उड़-पड़ गये।'

मैं—'नहीं चारपाई के नीचे सब पड़े हैं। मैंने उन्हें रख दिया था।'

एक बार की बात है, धुन्नू छोटा था। आप एक लेख लिखकर मेज़ पर रख आये थे। धुन्नू ने जाकर उस लेख को फाड़ डाला। कलम-दवात लेकर, दूसरे कागज पर वह कुछ खुद लिखने लगा। जब आपने कमरे के अन्दर जाकर यह हरकत देखी तो क्रोध में आकर एक चपत लगायी और डांटा—'भगो यहा से नहीं तो और भी पीटूंगा।'

धुन्नू की चीख़ मेरे कानों में पड़ी। मैंने उनकी बहन से कहा—'जीजी, जरा देखिए तो, धुन्नू पर मार पड़ रही है ?' वह वहां दौड़ी हुई गई। बच्चे को गोद में उठाकर बोलीं—'क्यों बच्चे को मार दिया ?'

'तुम देखो तो। मेरा लेख इसने फाड़ डाला। आज इसे मैं भेजनेवाला था। दुष्ट ने इसे फाड़ डाला। अब क्या अपना सिर भेजूं ?'

'बच्चा ही तो है। समझदार थोड़े ही किया। तुम भी तो कम शैतान न थे।'

'मैं लेख थोड़े ही फाड़ता था।'

'तब लेख लिखता ही कौन था ? रामू के कान तो तुम्हीं ने काटे थे। यह लेख कान से भी महंगा था।'

आप चुप।

बहन बड़बड़ाती हुई—'नासमझ बच्चे पर इतनी मार !'

जीजी उसे गोद में लेकर अन्दर आई, बोलीं—'इन्हें क्रोध आने लगा है।'

फिर मैं उनसे बनारस आने को कहने लगी। बोले—'वहां जाकर क्या करोगी ?'

'यहीं रहने से क्या होगा ? वहां पर बैठिए और अपना काम कीजिए।'

'मैं काम तो यहां भी करता ही हूं।'

'फिर भी यहां रहना ठीक नहीं। वहां की आब-हवा भी आपके अनुकूल पड़ेगी।'

'अच्छा है दो-तीन रोज़ में चला जाय।'

उसके बाद हम लोग लमही आये।

लमही (बनारस) आने के बाद वे 40 रुपये प्रतिमास पर दो लेख या दो कहानी नियम से लिखते थे। लिखते तो और जगह के लिए भी थे; पर यह मुस्तकिल था।

सुबह उठना, पाखाना जाना, फिर हाथ-मुंह धोकर कुछ नाश्ता करना। फिर अपने रोज के काम पर लग जाना। फिर बारह बजे काम से उठना, नहाना-खाना। उसके बाद एक घण्टे आराम करते थे। फिर उसी तपते हुए मकान के नीचे दो बजे से लिखने-पढ़ने लग जाते थे, फिर कुछ नाश्ता करके बच्चों को लेते और दरवाज़े पर बैठकर गांव वालों से बात करते। यही उनकी जिन्दगी का क्रम था।

एक दिन चर्खा बनवाने के लिए एक जमींदार साहब के पास लकड़ी मांगने गये। बोले—'मुझे आप लकड़ी दीजिए, मैं बनवाई दूं, और चर्खे देहात में बांटे जायं जिससे गरीब भाइयों में चर्खे का प्रचार बढ़े।'

जमींदार को यह बात प्रिय लगी। और वे देने पर राजी हुए।

गांव भर के आदमियों को इकट्ठा करके आप अपने साथ लकड़ी लदवा लाये। एक माह तक दो बढ़ई दरवाजे पर चर्खे बनाते रहे। उसके बाद सब लोगों को एक-एक चर्खा मुफ्त बांटा गया। चर्खे किस तरह से चलाये जायं, कैसा सूत हो इन सब बातों की जानकारी वे लोगों को कराने लगे। इसी तरह दो महीने बीते।

एक दिन की बात है। वे जब खाना खाने बैठते तो मैं तत्काल अपने हाथों उन्हें गरम-गरम रोटियां पकाकर देती थी। जब आप खाना खाने बैठे तो घी नदारद ! मुझसे पूछा—'क्या दाल में घी नहीं पड़ा ?'

मैं—'घर में हो तब न।'

उसी समय उन्होंने अपनी चाची को बुलाया, और पूछा—'घी क्यों नहीं रहा ?'

चाची—'एक दिन बिना घी के नहीं खा सकते ?'

'कभी घी, कभी तरकारी, कभी दाल इस तरह तो एक-न-एक चलता ही रहेगा। आखिर है क्यों नहीं ?'

'नहीं रहा।'

उसी समय झल्लाकर थाली पर से उठ गये।

सबों ने खाना खाया। मैं तो दुबारा चौके ही में न जा सकी। मुझे यह चिन्ता परेशान करने लगी कि ये आखिर और क्या खायेंगे। क्या वैसे ही रहेंगे। मैंने तुरन्त आठ आने का घी गांव में से मंगवाया और मूंग की दाल धूप में बैठकर मैंने खुद पीसी। मुंगौड़े और हलुआ बनाया। जब तैयार हो गया तो उनके पास डरते-डरते ले गई। बोले—'इस समय कुछ न खाऊंगा।' मैंने कहा—'बड़ी मेहनत से अभी मैंने तैयार किया है और मैंने भी अभी तक कुछ नहीं खाया है।'

मेरी यह धमकी सफल हुई और उन्हें खाना पड़ा। तब से मैं बराबर सामान मंगवाकर रखने लगी। आप बोले—'अब यहां ज़्यादा रहना अच्छा नहीं।'

उसके दूसरे दिन मेरे पिता के मरने की ख़बर आई। दो ही तीन दिन बाद मुझे लेकर वे इलाहाबाद गये। वहां सात-आठ रोज़ रहे। उसके बाद आप कानपुर चले गये। वहां मारवाडी विद्यालय में हेड-मास्टरी खाली थी। उसके मैनेजर श्री काशीनाथ थे। वे गणेशशंकर विद्यार्थी के मित्रों में से थे। उन्होंने यह तै किया कि इस काम को आप स्वीकार कीजिए। आपके आने से रंग आ जायगा। आपने उसे कबूल किया। यह जून, 1921 की बात है। तै हुआ कि जुलाई से आप काम पर आ जायंगे। इसके बाद आप इलाहाबाद आ गये। मुझसे बोले—'मैं अपने लिए जगह ठीक कर आया। आओ, हम-तुम बनारस एक बार फिर हो आयें।'

फिर एक महीने तक उसी तरह चलता रहा।

पांचवीं जुलाई को हम कानपुर आने की तैयारी में लगे। उन दिनों बन्नू पेट में था। चाची बोलीं—'इन्हें छोड़ जाओ।'

आप बोले—'इन्हे मैं न छोडूंगा। इनकी तबियत अच्छी नहीं। क्या मालूम क्या हो जाय। मुझे तो जीवन भर पछताना पड़ेगा।'

चाची—'होनी को तुम रोक लोगे ?'

'मेरे सामने होने से मुझे पछतावा तो न रहेगा।'

चाची—'तब तुम मुझे बुलाओगे। मुझे आना पड़ेगा।'

'यह तो आपकी मर्जी पर है।'

हम पांचवीं तारीख़ को दोनों बच्चों को लिये कानपुर पहुंचे। कानपुर जाने के बाद मेरी तबियत फिर ख़राब हुई। जो महरी हम रखते, एक दिन आती, दो-चार दिन गायब रहती। मुझे दस्त हो रहे थे। कमज़ोरी बेहद थी। खाना हज़्म न होता था। साबूदाना पानी में उबालकर खाती थी। कभी-कभी तो वे खाना तो पकाते ही, बर्तन भी अपने हाथों साफ करते। एक दिन मुझे रात भर दस्त आये। रात को कोई 4 बजे के करीब कमज़ोरी के कारण मैं गिर पड़ी। आप दौड़े आये। देखा तो मेरी यह हालत थी। मुझे उठाकर चारपाई पर रखा। मैं बेहोश थी। जब मुझे होश हुआ तो आंखों में आंसू भरकर बोले—'तुम्हारी जब यह हालत थी, तो मुझे क्यों न जगाया ?'

मैं—'आपको क्यों तकलीफ देती ?'

'तो तुम मर जाने पर अपनी लाश ही दिखाना चाहती थी।'

मैं—'मरने का क्या अन्देशा था ? कमज़ोर थी, गिर पड़ी।'

'मरना कैसे होता है ? बेहोश तो थीं ही तुम।'

मैं—'कभी मरी तो नहीं हूं कि मरना बताऊं।'

'तुम्हें हर समय मज़ाक ही सूझता है।'

मैं—'अरे अब तो अच्छी हूं।'

उसी के डेढ़ महीने बाद बन्नू पैदा हुआ। उनकी चाची आई तो मेरे पास ज़रूर; पर ज़चगी के बीस दिन बाद वापस चली गई।

●

प्रेमचंद कलम-दवात का मोह अपनी बीमारी में भी न छोड़ पाते। शिवरानी देवी अपने संस्मरण में लिखती हैं—

रात को जब मैं सो जाती तो धीरे से उठकर अपनी कापी, कलम-दवात उठा लाते। जाड़े के दिन थे, चारपाई पर रजाई ओढ़े लिखने लगते।... मैं देख पाती तो झल्ला उठती—क्या अभी बीमारी कुछ कम है जो और किसी बीमारी की चाह है !

—नहीं मैं लिख कहां रहा था, देखता था पीछे का लिखा हुआ।

—सारा ज़माना तो आपको ठग लेता है, लेकिन आप हैं कि मुझी को ठगना चाहते हैं !

—तुम्हें कौन ठगेगा भला !

—इसी तरह गोरखपुर में बीमारी जड़ पकड़ गयी, लिखने के कारण, अब फिर वैसा ही करने पर तुले हुए हैं।

—कहां ? तुमने कलम ही तोड़कर फेंक दी थी। लिखता कब था !

—कलम तो बाद को मैंने तोड़ी, जब और किसी तरह आप नहीं माने। दिन भर मैं भी तुम्हारे साथ लेकर बैठी रहती थी।

—अच्छा लो भाई, अब मैं कुछ काम न करूंगा !

●

प्रेमचंद की यही सरलता घर और बाहर उन्मुक्त रूप से सबको सहयोग करने को आतुर रहती। शिवरानी देवी ने लिखा है—

एक दिन एक महाशय मेरे यहां आये और बोले कि रेल में मेरा कोट कोई चुरा ले गया, उसी में रुपये भी थे। मैं अपनी बीवी-बच्चों को लेने ससुराल जा रहा था। मुझे कुछ रुपये चाहिए। नहीं तो मैं जा नहीं सकता। दो रोज तक वे रहे। मुझसे आप बोले—'इनको 15 रुपये चाहिए। दे दो।'

मैं—'रुपये कहां हैं ? फीस ही के तो रुपये हैं।' आप बोले—'किस तरह भी सही। दो तो। मेरा बड़ा नुकसान हो रहा है।'

मैं—'अगर वक्त पर रुपये न आये।'

'पहले उसे दो। पीछे समझ लेंगे।'

मैंने उन्हें 15 रुपये दिये। वे लेकर विदा हुए।

पांच-छः रोज़ के बाद फिर वे अपने बीवी-बच्चों को लेकर पहुंचे, तीन रोज़ रहे। उनसे दुबारा 20 रुपये मांगे। वे मेरे पास डरते हुए आये। बोले कि वे 20 रुपये फिर मांग रहे है। मैं क्या करूं ?'

मैं—'मुझे तो तुमने परेशान कर डाला। इतने रुपए कहां हैं ? दूसरे के रुपये, अगर समय पर न आये तो ! मेरे पास रुपये नहीं हैं।'

'रुपये नहीं हैं तो इतने आदमियों को खिलाओ। या जवाब दो।'

'जवाब तो आप ही को दे देना चाहिए था।'

आप बोले—'न दोगी तो टलेंगे नहीं। चार-चार आदमियों को पकाकर खिलाना भी मुश्किल पड़ जायगा। कह रहे हैं कि फौरन रुपये भेज दूंगा।'

मैंने फिर 15 रुपये दिये। उसने चार-पांच दिन में देने का वादा किया था। जब वादे की तारीख़ ख़त्म हुई तो मैंने पूछा—रुपये आये ? तब आप बोले—रुपये तो नहीं आये। ख़ैर, जब फीस देनी हुई, तो मैंने घर से रुपये मिलाकर पूरे किये।

15-20 दिनों के बाद एक दिन मैंने कहा—'आप एक ख़त तो भेज दीजिए।' तो आप बोले—'बिना तुम्हारे कहे मैंने दो ख़त भेजे हैं।'

मैं—'अब आज प्रतिज्ञा कर लीजिए कि उधार की नीयत से किसी को न दूंगा।'

'तुम जैसा कहो, वैसा ही करूं। जो मांगने आयेगा, उसे देना तो पड़ेगा ही।'

मैं—'तुमको उलझन नहीं होती। तुम तो समझते हो सन्दूक में 1 रुपया रखने से 10 रुपये हो जाते हैं।'

'तुम भी तो चुपके से निकालकर दे देती हो। रहते नहीं तो कैसे देती हो ? पहले ही की तरह थोड़े ही है। जब फीस के रुपये न दाख़िल होते तो मैं जानता कि रुपये नहीं हैं।'

मैं—'कम से कम मेरी परेशानी तो महसूस किया करो।'

'अरे भाई, क्या करूं ? तुम अपनी तबीयत को दोष क्यों नही देती। लोग रुपये रखे रहते हैं, लेकिन देते नहीं।'

'मुझे तुम्हारे ऊपर दया आ जाती है। इसी से मजबूर हो जाती हू। सब तो तुम्हें भाइ का आदमी समझते ही हैं। मैं भी क्यों समझूं ?'

'ख़ैर, हम लोग शायद इसी के लिए पैदा हुए हों।'

मैं ख़ामोश हो गई। तब उधार की नीयत से मैंने किसी को रुपये नहीं दिये।

इसी तरह की एक और घटना है—एक बार ग्वालियर से एक ख़त आया। मै लखनऊ में थी। उसमें लिखा था कि 100 रुपये आप भेजे दें तो मुझे 100 रुपये महीने की एक नौकरी मिल जाय। मुझे जमानत देनी है।

उन्होने मुझे वह ख़त पढ़कर सुना दिया। और बोले—'100 रुपये वे मांग रहे है। उन्हें 100 रुपये की जगह मिल रही है।'

मैं—'तो फिर नौकरी करें, रुपये क्यों माग रहे हैं ?'

'उसको जमानत जो देनी है।'

ख़ैर, उसके ऊपर मुझे भी दया आई। मैंने सोचा 100 रुपये देने पर जब एक आदमी को 100 रुपये की जगह मिलती है तो क्या हरज है ?

आप बोले—'नहीं वह दो महीने में 50 रुपये करके दे देगा।'

मैं—'देने-लेने की इच्छा मत करो। उसे दे दो। उसका भला हो जाय। उसका जीवन शायद सुधर जाय।'

'ख़ैर, जैसी तुम्हारी इच्छा।'

दूसरे दिन बैंक से 100 रुपये मैंने मगवाये। और उनको भिजवा दिये।

आपने पत्र में लिख दिया कि ये रुपये मैं नहीं, शिवरानी भेज रही हैं।

चौथे रोज उनका पत्र आया। लिखा था कि खुशी है। अब मुझे वह जगह मिल जायगी।

तब से एक महीने तक बराबर उनके ख़त आते रहे।

उसके बाद वे स्वयं आये। मेरे घर ठहरे। बोले—'मैं छुट्टी लेकर केवल आप लोगों के

दर्शनों के लिए आया हूं। मेरी मां पहले ही मर चुकी थीं। मेरे पिता ने दूसरी शादी कर ली। मुझसे उन्हें बड़ी नफरत है। अब मैं इसी को अपना घर समझ रहा हूं।'

दो-तीन दिन के बाद मैं बोली—'इन्हें आप किसी होटल में ठहरा दीजिए।'

आप बोले—'मैं भी यही ठीक समझता हूं।'

एक होटल में वे बारह रोज़ तक ठहरे रहे। उन दिनों 'हंस' निकालने की चर्चा हो रही थी। उन महाशय को लिखने-पढ़ने का शौक था। फिर वे बारह-तेरह रोज़ के बाद चले गये। उसके बाद मई महीने में हम लोग घर आये। जून में बेटी कमला की शादी थी। उस अवसर पर वे मेरे घर पर आये और पंद्रह दिन तक बराबर रहे। जब वे जाने लगे तो फिर उन्होंने 50 रुपये मांगे, दिये गये, यह बात मुझे नहीं मालूम। वे गये। उसी के बाद जुलाई में आप भी लखनऊ गये। वहां उस समय में नहीं गई। वे धुन्नू को अपने साथ लेते गये।

उसके बाद उसने पटने में अपनी शादी ने की। आपको खबर दी। आपने उसकी बीवी के लिए हाथ की सोने की चार चूड़ियां, गले की जंजीर, कर्णफूल और दो-तीन रेशमी साड़ियां खरीदकर दीं और 100 रुपये नगद बारात के खर्च के लिए दिये और खुद पटने तक गये भी।

वह अपनी बीवी ब्याह कर लखनऊ लाया। तीन रोज के बाद उसे ढूंढती हुई पुलिस पहुंची। वह फरार आदमी था। तब उससे आप बोले—'तुम यहां नहीं रह सकते। वह अपनी बीवी को लेकर चला गया। जब मैं अगस्त के महीने में पहुंची तो उन्होंने बताया कि उसकी शादी हुई है। यहां से कपड़े ले गया है, रुपये ले गया है।'

एक दिन सुनार तकाजा करने आया। मैं उनके पास बैठी थी। सुनार ने कहा—'रुपये चाहिए।' उसी सुनार से अपनी लड़की के लिए भी मैंने जेवर बनवाये थे।

मैं बोली—'तुम्हारे रुपये तो पूरे दे दिये गये थे।'

सुनार—'वह रुपये नहीं। बाबूजी ने एक बंगाली सज्जन को और गहने दिलवाये हैं।'

'बंगाली के यहां से रुपये आयेंगे तो मिलेंगे।'

आप बोले—'हां, उसका पत्र आया था। जैसे ही रुपये आये, मैं दूंगा

सुनार चला गया। उसके बाद मैंने उनसे पूछा कि जब उसके पास रुपये नहीं थे तो आपने दिये क्यों ?

'जैसे तुमने नौकरी के लिए 100 रुपये भेजे, वैसे ही मैंने उसकी शादी करा दी। तुम रहतीं तो उसकी बीवी तुम्हारे पैर दबाती।'

मैं चुप हो गई, उसके कुछ दिनों पर बजाज पहुंचा। उस दिन भी इत्तफ़ाक़ से मैं उसी कमरे में थी।

मैं—'तुम क्यों आये ?'

'बाबूजी ने एक बंगाली बाबू को कपड़े दिलवाये हैं।'

मैं—'क्या तुम्हें भी रुपये नहीं मिले ?'

बजाज—मिले होते तो क्या मैं ज़बर्दस्ती आपसे मांगता ?'

उसको भी वही जवाब दिया गया। जब वह चला गया तो मुझे बुरी तरह क्रोध आया।

मैं—'जितना ही मैं उधार से घबराती हूं, उतना ही आप मेरे सिर पर लाद देते हैं।

अभी लड़की की शादी की, तब तक आप उधार लाये और इतना फिर उधार। या तो आप मालिक रहें, नहीं मेरी राय से काम होना चाहिए। यह बेहूदगी मुझे कतई पसन्द नहीं। कभी कोई बला, कभी कोई बला। मुझे तो कोई उम्मीद नहीं कि वह रुपये भेजेगा।'

आपने उन रुपयों के लिए मुझसे छिपकर लिख-लिखकर रुपये मंगाकर भरना शुरू किये। कोई डेढ़ साल में पूरे रुपये दे पाये।

यह बातें मुझे जैनेन्द्रकुमार ने मरने के बाद बतलायीं। जैनेन्द्र जानता था। उससे वे पहले बता चुके थे। और मुझसे न बताने के लिए सख़्त ताकीद की थी—घर में न बताना, नहीं तो ज़बर्दस्त फटकार सुननी पडेगी।

एक बार की बात है। मेरे पास छोटा बच्चा बन्नू था। मैं खाना पका रही थी। बन्नू रो रहा था। उसे बेटी ने उठा लिया। बच्ची-बच्चा दोनों गिरे। बच्चे के सिर में चोट लगी। तीन दिन तक तो वह चारपाई पर सिर तक न रख सका। इसलिए तीन-चार दिनों तक उन्हें ही रोटी पकानी पड़ती। सुबह के काम तो वैसे ही चल रहे थे। साढ़े चार बजे ही उठ जाते थे और लिखने-पढ़ने में लग जाते थे। धुन्नू को पढ़ाते भी थे। लिखते भी जाते थे। उसके बाद फिर नहा-खाकर स्कूल जाते। स्कूल से लौटते हुए तरकारी वगैरह अपने साथ लेते आते थे। बच्चों के साथ भी कुछ देर खेलते। कांग्रेस की मीटिंग रोज़ाना चल रही थी, उसमें भी शरीक होते। मीटिंग से कभी-कभी लौटने में रात के दस बज जाते। जिस दिन दस बजे लौटते, उस दिन रात को काम न कर पाते, उस दिन तीन बजे रात को ही जगकर काम में लग जाते। मगर इतना आहिस्ते से उठते थे कि मैं जाग न पाती। मैं हमेशा आराम के लिए झगड़ती रहती थी। पर वह कब थे मानने वाले। उसी साल अगहन के महीने में आप बीमार पड़े। नौ दिन बुख़ार दिन-रात रहा। मगर जब मैं उनकी तबियत का हाल पूछती तो वे 'अच्छा है' यही कहते। मेरे घर उन दिनों चूल्हे में आग भी न जली। दोनों बच्चों को बाज़ार की पूड़ियां और दूध मिलता था।

दसवें दिन स्कूल के मास्टर आये और पूछा—'आपकी तबियत कैसी है ?'

बोले—'बुख़ार नहीं उतर रहा है, मियादी मालूम होता है।'

वे लोग थोड़ी देर बाद जाकर एक वैद्य को बुला लाये। उसने एक ऐसी तेज दवा दी कि बुख़ार तो उतर गया; लेकिन खून के दस्त आने लगे। जिस दिन खून के दस्त आने शुरू हुए उन्हें मैं पाखाने में पहुंचा आई। जैसे ही आप वहा से उठने लगे, वहीं बेहोश होकर गिर पड़े। मैं दरवाज़े के पास ही खड़ी थी। हड़बड़ाकर दरवाजा खोला। देखा, बेहोश ! उठाकर किसी तरह चारपाई पर रखा। उसके कुछ देर बाद उन्हें होश आया। बोले—'न मालूम कैसी दवा दी ? उस समय बेहद कमजोरी थी। तीन रोज़ तक खून के दस्त आयें उसके बाद जब अपना कहार आया तो उसी से एक मास्टर साहब को बुलाया और उनसे वैद्य को बुलाने को कहा। वैद्य आये और दूसरी दवा दी। उससे दस्त भी अच्छे हो गये। एक महीने तक कमज़ोरी के कारण ज़ीना नहीं उतर पाये।'

मगर लिखने की ख़्वाहिश उन्हें सदैव रहती थी। रात को जब मैं सो जाती तो धीरे से उठकर अपनी कापी, कलम-दवात उठा लाते। जाड़े के दिन थे, चारपाई पर रजाई ओढ़े लिखने लगते। उन दिनों वे 'प्रेमाश्रम' लिख रहे थे। मैं देख पाती तो झल्ला उठती—'क्या अभी बीमारी कुछ कम है, जो और किसी बीमारी की चाह है ?'

'नहीं। मैं लिख कहां रहा था। देखता था, पीछे का लिखा हुआ।'

'सारा ज़माना तो आपको ठग लेता है; लेकिन आप मुझे ठगने लगते हैं।'

'भला कौन तुम्हें ठगेगा ?'

मैं—'इसी तरह गोरखपुर में बीमारी जड पकड़ गई लिखने के कारण। अब फिर वैसा ही करने पर तुले हुए हैं।'

'कहा ? तुमने कलम ही तोड़कर फेंक दी थी। लिखता कब था ?'

'कलम तो बाद को मैंने तोड़ी, जब किसी तरह भी आप नहीं माने। दिन भर मैं भी तुम्हारे साथ बेकार बैठी रहती थी।'

'मैं कुछ काम न करूंगा।'

मैं—'आप स्वस्थ हो जायं तो काम कीजिए, रोकता कौन है ? अभी नीचे ज़ीने से उतरने तक की ताकत तो आई नहीं और काम करना शुरू कर दिया। फिर भी आप न माने तो मैं फिर कलम तोड़कर फेंक दूंगी। छोटा बच्चा कहा न माने तो ठीक भी है, आप इतने बड़े होकर एक बात नहीं मानते।'

'अब मान जाओ। कह दिया, कलम तक न छुऊंगा।'

मैं—'अभी ताले के अन्दर रख देती हूं, न रहेगी बांस न बजेगी बांसुरी।'

आंव जारी ही था। मैं इस बीमारी से बहुत दुखी हुई। एक रोज़ बोली—'कोई दवा कीजिए। बोले—'तुम देखती हो, दवा तो बराबर कर रहा हूं। फायदा न हो तो मैं क्या कर सकता हूं।' घर में कोई भी न था। शाम को मै खाना बनाने लगी। बन्नू को खांसी आ रही थी। वह छः महीने का था। खाना बनाते हुए वह अक्सर रोता। बहुत दुबला हो गया था। मैं रोटी बेल देती, वे रोजाना सेक लेते। जब वे खाना खाकर बैठते, तो बच्चे को लेते, और तब मैं खाना खाती।

एक रात का सपना है। मैंने ख्वाब में देखा कि आगामी जुलाई से ये अच्छे हो जायंगे। जागने पर मुझे बड़ी खुशी हुई। इसके पहले के भी दो-चार सपने सच निकले थे। उन्हें मैंने आवाज़ दी कि क्या आप सो गये हैं ? बोले—'क्या है ?'

मैं—'अगामी जुलाई से आप अवश्य अच्छे हो जायगे।'

'क्या तुमको मेरी बीमारी की याद सोने पर भी नहीं भूलती ?'

मैं—'इसे सच समझिए। यह बात झूठी नहीं।'

'तुम इसी तरह के स्वप्न देखती हो।'

मैं—'कल इसे नोट कर लीजिए। गोरखपुर में भी इसी तरह का स्वप्न देख चुकी हूं और वह सच निकला।'

'कल नोट कर लूंगा। देखूं, सच निकलता है या नहीं।'

मैं—'हां, मुझे विश्वास है। आपको भी विश्वास हो जायगा।'

फिर काशीनाथजी से झगड़ा होना शुरू हुआ। एक दिन मुझसे बोले—'क्या करूं। यह कमबख़्त मेरे पीछे पड़ा है।'

मैं—'तो क्या ? आप उसकी सहते रहेंगे ? हटाइए। इस्तीफा देकर घर चलिए।'

'घर भी तो वही बात है ! रुपये तो कहीं से आने ही चाहिए।'

मैं—'सरकारी नौकरी से इस्तीफा देते समय मारवाड़ी विद्यालय का प्रश्न नहीं था।'

'रानी, यह हिन्दुस्तान है। कलम के बल पर रोटियां चलाना बहुत ही मुश्किल है।'

मैं–'तो क्या ? कम में ही निर्वाह कर लेंगे। जब वह नहीं चाहता तो खुद कहां तक सहा जाय ?'

'तुम्हारी राय यही है कि छोड़ दूं ?'

'ज़रूर छोड़िए। ज़रूरतों का गुलाम होना ठीक नहीं।'

उस समय काशी से 'मर्यादा' नाम की एक पत्रिका निकालती थी। उसके संपादक बाबू संपूर्णानन्द थे। उसी दिन पत्र आया, आप आकर संपादन कीजिए। 150 रुपये वेतन मिलेंगे। उसके बाद उन्होंने इस्तीफा दे दिया। स्कूल में मास्टर चाहते थे, इनकी बिदाई में एक जलसा किया जाय। और इनको एक अभिनन्दन-पत्र दिया जाय। काशीनाथ को यह अच्छा न लगा। पर मास्टरों ने न माना। लड़कों की भी इच्छा थी। जलसा हुआ। अभिनंदन-पत्र दिया गया। उसी के कारण चार-पांच मास्टर और निकाले गये। पच्चीस-तीस लड़के स्वयं हट गये।

उसके बाद निश्चित हुआ कि घर चलना चाहिए। मेरे भाई आये। मुझे और बच्चों को अपने यहा ले गये। आप अकेले काशी आये। 'मर्यादा' में काम करना शुरू किया। कबीर चौरा पर मकान लिया। फिर उसी तरह काम चलने लगा। 11 बजे 'मर्यादा' आफिस जाते, खाना खुद पकाकर, खाकर जाते। भाई को भी खुद लिखाते।

'इस तरह डेढ़ साल 'मर्यादा' में रहे। फिर विद्यापीठ में हेडमास्टरी पर नियुक्त हुए। वेतन 135 रुपये तय हुआ। रोज़ाना भदैनी एक्के से जाते। उसी जुलाई से दस्त आना बन्द हो गये। तब आप बोले–'भाई, तुम्हारा सपना सच निकला।'

मैं–'धन्यवाद ईश्वर को।'

•

आप गांव में रहते तो अपने दरवाज़े पर हमेशा झाड़ू लगाते। कभी-कभी मै उन्हे रोकती। छोटे बच्चों को दरवाज़े पर बिठाकर चार बजे शाम को उनके पास मिट्टी इकट्ठा कर देते, पत्तियां इकट्ठी कर देते, सिकटे इकट्ठा कर देते और लड़कों को खेलने के ढग सिखाते। उसके बाद जब गांव के काश्तकार इकट्ठा होते, तो उनसे बातें करते, झगड़ा निपटाते। बच्चों से खेलते भी जाते। कोई नये कायदे-कानून बनते तो उन काश्तकारों को समझाते। उन सबों के साथ तो वे बिल्कुल काश्तकार हो जाते थे। उम्र की बड़ाई के लिहाज से जिसका जैसा सम्बन्ध होता, सदा वैसा आदर देते। चाहते थे कि गांव एक किला बन जाय। उपन्यास के चित्रों की तरह सजीव कर देना चाहते थे। काश्तकारों की कमज़ोरी देखकर उनको बड़ा दुख होता। काश्तकारों की स्त्रियों से भाभी, चाची, बहन, बेटी का जैसा सम्बन्ध होता सदा उसी तरह का व्यवहार वे करते। उनमें बड़ों को वे सलाम करते थे। जो भाभी लगती थीं, अगर वे मज़ाक कर देतीं, तो हंस देते और बुरा न मानते। गांव में बहुत दूर शौच को निकल जाते थे। वहां आम के दिनों में लोटे में आम भी लेते आते। मूली का दिन होता, तो मूली भी तोड़कर लोटे में लेते आते।

•

साहित्य के प्रति उनकी प्रतिबद्धता के बारे में शिवरानी देवी का एक संस्मरण :–

हिन्दुस्तानी एकेडेमी जैसे संस्था खुलवाने के लिए आप और मुंशी दयानरायण निगम बहुत दिनों से प्रयत्नशील थे। हिन्दुस्तानी एकेडेमी खुली तो आप भी उसके एक सदस्य बनाये गये। आप मीटिंग में बराबर जाते थे। वहां से आने पर मैं बराबर पूछती–'कैसा प्रबन्ध ये लोग कर रहे हैं ?'

आप बोले–'हम लोगों की इच्छा जिस प्रकार की संस्था खुलवाने की थी, वह तो पूरी नहीं हुई।'

मैं बोली–'आख़िर तब इन लोगों ने क्या खोला ?'

आप बोले–'कुछ न कुछ तो ज़रूर ही होगा।'

मैं बोली–'तब आप लोगों को सन्तोष क्यों नहीं हुआ ?'

आप बोले–'यह काम करने का कोई तरीका नहीं है। हम तो चाहते थे कि हिन्दुस्तान की हर भाषा का एक-एक लेखक उस कमेटी में हो। जिस किसी विषय की किताब निकलती वह पहले उन लेखक मेम्बरों द्वारा दिखा ली जाती। उसी को उसको देखने का हक होता। इस तरह कोई भद्दी किताब न निकल सकती। उससे उन लेखकों के गुणों के विकास को क्षति न पहुंचती। अपने यहा साहित्य की उन्नति भी होती, और साथ-साथ उस लेखको का विकास भी होता। जिस चीज़ की कमी होती, उसकी वृद्धि की जाती। लेखकों को इधर-उधर भटकने की ज़रूरत न होती। नये लेखकों के गुण-दोष कोई बताता नहीं, बस 'नहीं ठीक है' कहकर लौटा देता है। यह न्याय थोड़े ही है। नये लेखको के प्रति विद्वानों का यह कर्त्तव्य है कि वह उनके गुण-दोष समझा दें। उसको इस तरह समझ-बूझकर, एकेडेमी अपना कार्य चलाती। रहा पारितोषिक का सवाल। रॉयल्टी पर भी ले सकती थी, इकट्ठा मूल्य देकर भी ले सकती थी।'

मैं बोली–'लेखकों की रचनाएं कहीं पड़ी थोड़े ही रहती हैं।'

आप बोले–'ऐसे प्रकाशकों की जरूरत नहीं है कि वे अपने ही पेट भरें। लेखकों को भी कुछ मिलना चाहिए। एकेडेमी और लेखक का तो पारवारिक सम्बन्ध-सा हो जाना चाहिए। आजकल के लेखको की तरह नहीं, न प्रकाशकों की तरह ही। जब तक दोनों में ऐसा सम्बन्ध न होगा, तब तक कुछ भी नही होने का। इस तरह लेखक का जब कुछ लाभ नही होता तो वे निराश होकर बैठ जाते हैं। जिससे लेखकों का विकास नही हो पाता, और साहित्य की उन्नति भी रुक जाती है।'

मैं बोली–'साहित्य की उन्नति और कैसे हो ?'

आप बोले–'अभी 'उन्नति' नाम की चीज़ को तो गन्ध तक नहीं है। बल्कि कहना तो यह चाहिए कि काम से ज़्यादा आपस में "तू-तू" "मैं-मैं" अधिक है। "तू-तू" "मैं-मैं" में कहीं काम होता है ?'

मैं बोली–'तब कैसे काम होगा ?'

आप बोले–'जब तक यहां के साहित्य में तरक्की न होगी, तब तक साहित्य, समाज और राजनीति सबके सब ज्यों के त्यों पड़े रहेंगे।'

मैं बोली–'तो क्या आप इन तीनों की एक माला-सी पिरोना चाहते हैं ?'

आप बोले–'और क्या। ये चीज़ें माला जैसी ही हैं। जिस भाषा का साहित्य अच्छा

होगा, उसका समाज भी अच्छा होगा। समाज के अच्छा होने पर मजबूरन राजनीति भी अच्छी होगी। ये तीनों साथ-साथ चलने वाली चीज़ें हैं।'

मैं बोली–'तो यह क्या ज़रूरी है कि तीनों को साथ ही लेकर चला जाय ?'

आप बोले–'इन तीनों का उद्देश्य ही जो एक है। साहित्य इन तीनों चीज़ों की उत्पत्ति के लिए एक बीज का काम देता है। साहित्य और समाज तथा राजनीति का सम्बन्ध बिल्कुल अटल है। समाज आदमियों के समूह को ही तो कहते हैं। समाज में जो हानि-लाभ तथा सुख-दुख होता है, वह आदमियों पर ही होता है न। राजनीति में जो सुख-दुख होता है वह भी आदमियों पर ही पड़ता है। साहित्य से लोगों को विकास मिलता है, साहित्य से आदमी की भावनाएं अच्छी और बुरी बनती हैं। इन्हीं भावनाओं को लेकर आदमी जीता है और इन सब तीनों चीज़ों की उत्पत्ति का कारण आदमी ही है।'

मैं बोली–'आप शायद जड़ तक पहुंचने की कोशिश कर रहे हैं।'

आप बोले–'जड़ की ही रक्षा में तो सब सम्भव है। विना जड की रक्षा के कुछ नहीं होगा।'

मैं बोली–'उन लोगों के दिमाग में ये बातें क्यों नहीं आई ?'

आप बोले–'बड़े-बड़े आदमियों के दिमाग में ये सब बातें क्यों आयें ? गरीबों की समस्याओं की ओर उनका ध्यान ही कब जाता है ? जब तक उन पर नहीं बीतेगी, तब तक कैसे समझ सकेंगे ? इन सबों को सुधारने के लिए साहित्य ही एक ज़रिया है। जब तक कोई इसे अपने हाथ में नहीं लेगा, यह नहीं सुधर सकता।'

आप दिन-रात लेखकों के लिए सचिन्त रहते थे। आपने सत्यजीवन वर्मा के सहयोग से 'लेखक-संघ' नाम की एक संस्था भी खोली थी। उसके बाद हमेशा वे इस विषय पर चर्चा चलाते रहते। सन् 1935 में प्रगतिशील लेखक-संघ खुला था। उसके पहले सभापति भी आप हुए थे।

वह काम ऐसी अशुभ घड़ी में उठाया गया कि उसका उठाने वाला ही उठ गया। सोचिए तो वे साहित्य के लिए कितना सचेष्ट रहते थे। अभी वे कुछ भी न कर पाये थे कि बीच ही में वे चले गये। इसी ख़याल से कि सभी प्रान्तीय भाषाएं एक माला की तरह गुथी रहें, उन्होंने भारतीय साहित्य-परिषद् को "हंस" दे दिया था। उन्हें विश्वास था कि इसमें सब एक परिवार के से हो जायंगे। इसी में उनको देश की राजनीति की सारी गुत्थियां सुलझ जाने का भरोसा था। उनके जीवन-काल ही में "हंस" को "परिषद्" ने अलग कर दिया था। वे अपनी कठिन बीमारी के समय भी "हंस" को नहीं भूले थे। गवर्नमेण्ट ने उनसे ज़मानत भी मांगी थी। जब साहित्य-परिषद् ने जमानत नहीं दी तो "हंस" बन्द कर दिया गया।

आप बीमार पड़े। मुझसे बोले–"हंस" की जमानत तुम जमा करवा दो। मैं अच्छा हो जाने पर उसे संभाल लूंगा।

उनकी बीमारी से मैं खुद परेशान थी। उस पर "हंस" की उनको इतनी फिक्र !

मैं बोली–'अच्छे हो जाइए, तब सब कुछ हो जायगा।'

आप बोले–'नहीं, दाख़िल करा दो। रहूं या न रहूं "हंस" चलेगा ही। यह मेरा स्मारक होगा।'

मेरा गला भर आया। हृदय थर्रा गया। मैंने जमानत के रुपये ज़मा करवा दिये।

आपने समझा, शायद धुन्नू जमानत न जमा कर पाये। दयानरायणजी निगम को तार दिया। वे आये। पहले बड़ी देर तक उन्हें पकड़कर वे रोते रहे। वे भी रोते थे, मैं भी रोती थी, और मुंशीजी भी रोते थे। मुंशीजी ने कई बार रोकने की चेष्टा की। पर आप बोले—'भाई, शायद अब भेंट न हो। अब तुमसे सब बातें कह देना चाहता हूं। तुमको बुलवाया है; "हंस" की ज़मानत करवा दो।'

मैं बोली—'धुन्नू जमा कर चुका है।'

वे जिस विषय को चाहते, दिल से चाहते। वे मेरे थे तो साहित्य के भी थे। आज वे नहीं हैं। जिन कामों पर मैं उनसे झुंझलाती थी, आलोचनाएं करती थी, उन्हीं की आज मैं तारीफ़ करते थकी जा रही हूं। और उन्हीं से मुझे प्रेम भी है, मुझे अपने से ज़्यादा उन चीज़ों से प्रेम है जो उनकी है। बल्कि यह कहना चाहिए कि मैं भी अपने खून से सींचकर उन्हें हरी करना चाहती हूं। मेरा अपना कोई अस्तित्व नहीं है, यह मैं लिख नहीं पा रही हूं कि मेरी स्थिति क्या है। अपने अन्दर उन दर्दों को मैं इसलिए छिपाये हूं कि उन्हें हरा-भरा रख सकूं। जो लोग इस साहित्य को हरा-भरा करेंगे, वे जैसे हमारी सेवा ही कर रहे हैं। यही उनकी भी सच्ची सेवा है।

सन् '24 का ज़माना था। आप लखनऊ में थे। 'रंगभूमि' छप रही थी। अलवर रियासत से राजा साहब की चिट्ठी लेकर पांच-छः सज्जन आये। राजा साहब ने अपने पास रहने के लिए बुलाया था। राजा साहब उपन्यास-कहानियों के शौकीन थे। राजा साहब ने 400 रुपये प्रतिमास नकद, मोटर और बंगला देने को लिखा था। सपरिवार बुलाया था। उन महाशयों को यह कहकर कि मैं बहुत बागी आदमी हूं, इसी वजह से मैंने सरकारी नौकरी छोड़ी है, राजा साहब को एक खत लिखा—'मैं आपको धन्यवाद देता हूं कि आपने मुझे याद किया। मैंने अपना जीवन साहित्य-सेवा के लिए लगा दिया है। मैं जो कुछ लिखता हूं, उसे आप पढ़ते हैं, इसके लिए आपको धन्यवाद देता हूं। आप जो पद मुझे दे रहे हैं, मैं उसके योग्य नहीं हूं। मैं इतने में ही अपना सौभाग्य समझता हूं कि आप मेरे लिखे को ध्यान से पढ़ते हैं। अगर हो सका तो आपके दर्शन के लिए कभी आऊंगा।

एक साहित्य सेवी
धनपत राय।

मेरे पास आप आकर बोले—'अलवर के राजा साहब ने मुझे बुलाया है।'

मैंने कहा—'किसलिए ?'

आप बोले—'मुझे प्राइवेट सेक्रेटरी बनाना चाहते हैं।'

मैंने कहा—'राजों-महाराजों के यहां जाकर क्या कीजिएगा ?'

'क्यों ? मोटर मिलेगी, 400 रुपये नकद मिलेगा, बंगला मिलेगा। बुरा क्या है?'

'आपकी किसी से पटेगी भी ?'

'मैं लड़ाका हूं ?'

'समझने की क्या बात है, सामने देखने की बात है। गोरखपुर में इंस्पेक्टर ने ज़रा-सा मगरूर कह दिया तो आप उस पर केस चलाने को उतारू हो गये। महोबे का कलक्टर धमकी दे रहा था कि अगर मुसलमानी राज होता तो हाथ कटवा लिया जाता, तो आपने

सहा ही नहीं। भला राजों-महाराजों से आपकी कैसे पट सकती है ? गैर मुमकिन ! एक दिन भी गुज़र नहीं हो सकती। आपके लिए सबसे बेहतर है मज़दूरी। राजों-महाराजों के यहा वही ठहर सकता है, जो उनकी जूतियां सीधी करता फिरे। जिसमें कुछ भी स्वाभिमान होगा, वह राजाओं के यहां नहीं ठहर सकता।'

आप बोले—'मेरी तो इच्छा है, चलूं, कुछ दिन बंगले-मोटर का शौक तो पूरा कर लूं। मेरी कमाई में इसकी गुंजाइश नहीं।'

मैं हंसकर बोली—'यह उसी तरह हुआ, जैसे कोई वेश्या अपनी ज़रूरतों को पूरा करने के लिए चकले में बैठे। जिसने मज़दूरी करना अपना ध्येय समझ लिया हो, उसे मोटर-बगले की ख़्वाहिश कैसी !'

आप बोले—'मुझे ख़्वाहिश न हो, तुम्हें तो हो सकती है।'

'मुझे अगर ऐसी ख़्वाहिश होती तो सरकारी नौकरी से इस्तीफा देने को न कहती।'

'अगर बच्चों को ख़्वाहिश हो तो ?'

मैं झुंझलाकर बोली—'बच्चे खुद अपनी ख़्वाहिश अपने हाथ-पैरों से पूरी करेंगे। फिर बच्चों को भी आप-सरीखा बनना चाहिए।'

'अगर न बनें तो मार-मारकर बनाओगी ?'

'अगर ये न वैसे बनें तो मैं समझ लूंगी ये मेरे बच्चे हैं ही नहीं।'

तब हंसकर बोले—'मैंने पहले ही धता बता दिया।'

'आपको मुझे चिढ़ाने में मज़ा आता है ?'

'मैं यह सोच रहा था कि अगर तुम्हारी इच्छा हो तो मैं इसे भी पूरी कर दूं।'

'आप उपन्यास-कहानियो के पात्र खूब गढ़ लेते हे, पर मुझको पहचानने में इतनी गलती क्यों ?'

'उपन्यास-कहानियां तो अपनी रुचि के अनुसार बनती हैं। मगर आदमी को अपनी रुचि का कैसे बनाया जाय ? जबरन किसी को कुछ कहना भी नहीं चाहिए।'

'मैं अपनी रुचि के प्रतिकूल आदमियो के साथ रह ही नहीं सकती।'

तो आप बोले—'मान रहा हूं कि मैं जो चाहता हूं, वही तुम भी चाहती हो।'

सन् 1928 में मैं लखनऊ में थी। एक दिन मेरे घर पर कालाकांकर के राजा अवधेशसिंह आये। उनके साथ और भी कई आदमी आये। बातें चलती रहीं। आपने बेटी को आवाज़ दी—बेटी, पान दे जा। मैंने पान और इलायची भिजवा दी। जब वे चले गये तो आप अन्दर आकर बोले—'कल मुझे 8 बजे कालाकांकर की कोठी पर जाना है।'

मैं बोली—'आगन्तुक महाशय कौन थे ?'

'राजा साहब खुद थे ? क्या बताऊं कल एक कहानी "माधुरी" को ज़रूर देनी है। और एक दूसरी बला भी आ पड़ी।'

मैंने कहा—'उन लोगों को आपने कहां बैठाया ?'

आप बोले—'जहां मैं बैठा था।'

मैं बोली—'यह तो ठीक नहीं। मैंने बीसों बार आपसे कहा कि दो-चार कुर्सियां आप लाकर रख लें। इन लोगों ने क्या सोचा होगा ? और आपको कैसे अच्छा लगता है ?'

आप बड़े ज़ोर से हंसते हुए बोले—'तो फिर मैं राजा लोगों के लिए थोड़े ही इन्तजाम

करता हूं। मैं तो मज़दूर हूं। जो मोटा-झोटा खाने-पहनने को मिला, खाया-पहना। मेरी गद्दी तो ज़मीन है। अब उन लोगों को अच्छा न लगे तो इसके लिए मैं क्या करूं।'

मैं बोली—'तो इससे क्या ? अपने को तो खुद चाहिए। क्या हर एक आदमी अपने को अच्छा नहीं दिखलाना चाहता ?'

आप बोले—'तुम्हारा कहना ठीक है, पर यह यूरोप नहीं है। यह तो हिन्दुस्तान है। यहां की आमदनी तो छः पैसे रोज़ की है। बहुतों को तो भरपेट रोटी भी नहीं मिलती। तुम क्या कहती हो ? वह विलासिता के सामान कहां से जुटा सकता है ? और अगर लोग मर-मरकर जुटाते हैं तो यह गरीबों के प्रति अन्याय है।'

मैं बोली—'महज़ आप ही के करने से सब कुछ थोड़े ही ठीक हो जायगा ?'

वह बोले—'तो इसका मतलब यह थोड़े ही होता है कि सबके साथ मैं भी कुएं में गिरूं। अपना-अपना सिद्धान्त अलग होता है। मैं इसी में खुश हूं। न कोई चिन्ता, न कोई फिक्र ! हमें किसी भी चीज की चिन्ता नहीं है। कुर्सी मेज़ मंगा लूं तो कल तुम कहोगी कालीन भी चाहिए। फिर नौकरों की चिन्ता। एक-पर-एक लगा ही रहेगा। जो इनके फेर में पड़े रहते हैं, उन्हें इर्सा से फुर्सत नहीं मिलती। इसी विलासिता का परिणाम है कि हम लोगों को गुलाम होना पड़ा। आज कितना ही हाथ पैर हिलाते-डुलाते हैं पर कुछ कर नहीं पाते। उन्हीं लोगों के पापों का परिणाम है कि हम लोग गुलाम हैं और ऊपर से पाप करते जायं तो न जाने क्या परिणाम होगा ?'

मैं बोली—'आप भी जरा-ज़रा-सी बात में क्या-क्या सोच जाते हैं !'

आप बोले—'यहां वालों को बहुत सादे ढंग से गुज़र करना चाहिए। हम लोगों को अपने से छोटों को देखना है। उनको देखो और उनमें मिलने की कोशिश करो। यही हम लोगों को चाहिए।'

मैं बोली—'आज स्वराज्य की आवाज लगाने वाले ये ही कुर्सी-मेज वाले हैं। गरीबों के दिमाग की उपज यह नहीं है। नंगे और भूखे क्या कर सकते हैं ?'

तब आप बोले—'जैसे कि मोटे आदमियों ने ही आज़ादी खोई, वैसे ही पाने की चेष्टा करने में लगे हैं। कोई हमारे साथ ये एहसान नहीं कर रहे हैं। मनुष्य सब दिन नहीं पतित रह सकता। सरकारी मायाजाल यह नहीं है। आत्मा की पुकार को आदमी कहां तक ठुकरा सकता है ? बड़े-बड़े चोर-डाकू भी अपने अपराध को समझ लेते हैं।'

यह सब बातें करते हुए उनके चेहरे पर चिन्ता के बहुत गम्भीर भाव थे। मैं रह-रहकर देखती जाती। पर विवाद जारी था।

मैंने 50 रुपये का फर्नीचर मंगवाया। उससे कमरा सजा दिया। पर वे हमेशा ज़मीन ही पर बैठते। ज़मीन पर एक डेस्क रख लेते और एक डेस्क बच्चे के लिए होती। उस बच्चे को रोज़ सुबह आप पढ़ाते। हां, उस कमरे में कोई आ जाता तो उसे ले जाते। रोज़ाना उसकी सफाई स्वयं वे करते। मैं अपने दिल में सोचती, मैंने नाहक फर्नीचर मंगवाकर और उनकी बला बढ़ा दी। झाड़ना-पोंछना उनका वक्त ख़राब करने लगा।

एक दिन उनके पास जाकर मैं बोली—'आप मत साफ किया कीजिए। मैं स्वयं उसकी सफाई करूंगी।'

आप बोले—'नहीं, मैं स्वयं साफ कर लिया करूंगा। तुम्हारी मदद की ज़रूरत नहीं।'

मैं बोली—'मैं आपकी क्या मदद करूंगी !'

जब मैंने झाड़न छीन लिया तो आप प्यार से बोले—'तुम यह सब काम मत किया करो। कोई आदमी आ जायगा तो क्या सोचेगा ? अपने दिल में सोचेगा अच्छे रईस हैं। बीवी सफाई करती है, आप खड़े देख रहे हैं।'

मैं बोली—'तो इसमें क्या गुनाह है ?'

आप बोले—'आजकल की तहज़ीब के ख़िलाफ है।'

मैं बोली—'आपकी बात भी मुझे भद्दी लगती हैं।'

आप बोले—'अपना काम करने में कुछ बुराई नहीं है।'

उस दिन से मैं खुद उसे साफ करने लगी। उनसे कह देती, नौकर ने साफ किया है। इसी तरह जूते में पालिश करने से भी उन्होंने मना किया था। यह सब बातें ज़रूर मामूली हैं, पर सोचिए कितना उनके अन्दर विवेक था। मेरे दिल में बार-बार आता है कि वे किसी सन्त से भी कम नहीं थे। मेरे लिए यह बड़े गर्व की बात है कि वे मेरे थे और मैं उनकी हूं।

●

महात्मा गांधी को प्रेमचंद एक सच्चा समाजसेवक और देश उद्धारक मानते थे। महात्मा गाधी से मिलने की उनकी बहुत प्रबल इच्छा थी। गाधी जी लखनऊ पधारे तो उनके आगमन के दो दिन पहले ही वे घर से चल पड़े। शिवरानी देवी ने लिखा है—

सन् 1928 की बात है। हिन्दुस्तानी एकेडेमी की मीटिंग थी और प्रयाग में ही वर्किंग कमेटी की भी मीटिंग थी। महात्मा गांधी भी उन दिनों प्रयाग में आने वाले थे। आपको महात्मा गांधी से मिलने की बहुत दिनों से ख़्वाहिश थी। यह बात सुन्दरलालजी को मालूम हुई कि आपको महात्मा गांधी से मिलने की इच्छा है। उनका पत्र आया—आप एकेडेमी की मीटिंग से दो दिन पहले आ जाइए, महात्मा गांधी से मुलाकात कर लीजिए। आप मुझसे बोले—'आज तो मैं जाऊंगा।'

मैं बोली—'आप तो कहते थे कि चौथे दिन जाना है, फिर आज क्यों जा रहे हैं ?'

आप बोले—'मैं दो दिन पहले जा रहा हूं, महात्माजी से मिलना चाहता हूं।'

मैं बोली—'तब तक क्या महात्माजी चले जायगे ? एकेडेमी की मीटिंग में तो जाना ही है।'

आप बोले—'मुमकिन है, तब तक महात्माजी चले जायं, ज़्यादा दिन कहीं वह ठहरते भी तो नहीं।'

मैं बोली—'अच्छा तो जाइये।'

'लोगों को यह सुनकर आश्चर्य होता है कि मैं अभी तक महात्माजी से नहीं मिला।'

वे दो दिन पहले गये भी और एकेडेमी की मीटिंग के दो दिन बाद लौटे, मगर फिर भी महात्मा गांधी के दर्शन न कर पाये। जब घर आये, मैंने कहा—'दो दिन पहले तो गये और दो दिन बाद आये, तब भी आपको महात्मा गांधी के दर्शन नहीं हुए ?'

आप बोले—'उन विचारों को फुरसत कहां ? सैकड़ों आदमी तो उनसे मिलने वाले

ठहरे, उनको एक मिनट की भी फ़ुरसत नहीं, सैकड़ों तो उनको रोज़ाना चिट्ठियां देखनी पड़ती हैं।'

मैं बोली—'आख़िर और लोग उनसे कैसे मिलते हैं, कि आज ही उनको काम फट पड़ा है, यह काम तो उनके महेशा के हैं।'

आप बोले—'तो वह लोग हाथ धोकर दर्शन के पीछे ही पड़ जाते हैं। मैं केवल दर्शन ही तो करना नहीं चाहता था। मैं तो 10-5 मिनट उनसे समय लेता। और जो कुछ वह लिखते-पढ़ते हैं, वह तो मैं कहीं-न-कहीं पढ ही लेता हूं। मैं सुनता हूं कि महात्मा जी जैसे और सब बातों में निपुण हैं, उसी तरह वह बात करने में भी बहुत कुशल है इसी आशा को पूरी करने के लिए मैं गया था।'

मैं बोली—'अफसोस ! चार दिन का समय भी गया और वह आनन्द भी न मिल पाया।'

आप बोले—'हा, इसको तो मैं अपनी बदकिस्मती कहता हूं।'

फिर उस समय के बाद सन् '35 में 'हिन्दी परिषद' की मीटिंग वर्धा में हुई। उस समय आप 'हंस' के विषय में बात-चीत करने के लिए वर्धा गये। परिषद' को 'हस' देना था और उसके साथ-ही साथ, हिन्दी और हिन्दुस्तानी के विषय में भी सलाह-मशविरा करना था। उसमें महात्मा जी ने स्वयं बुलाया था। तब आप गये, और चार दिन तक वर्धा में रहे। जब वहा से आये, तब महात्माजी के विषय में कहने लगे—'जितना मै महात्माजी को समझता था, उससे कहीं ज्यादा वह मुझे मिले। महात्माजी से मिलने के बाद कोई ऐसा नहीं होगा जो बगैर उनका हुए लौट आये। या तो वह सबके हैं या वह अपनी ओर सबको खींच लेते है। उनकी शक्ल-सूरत और बातों में इतना खिंचाव है कि उन्हे जो भी देखता है, उनकी तरफ ख़्वाहमख़्वाह खिंच जाता है। मैं कहता हूं कि बुरे-से-बुरा आदमी भी जो उनके समीप जाय तो उनका ही होकर लौटेगा, महात्मा गाधी के समीप कोई कितना ही झूठा जाय, मगर उनके सामने उसे सच बोलना ही पड़ेगा।

•

एक-न-एक तरह की कमज़ोरी हर इसान के दिल में होती है और उसी के हिसाब से कोई एक दाव से चित होता है कोई दूसरे से। और दुनिया को उगलियों पर नचाने वाला कलाकार वही है जो हर आदमी की कमजोरी को समझता है। मुंशीजी की नस को भी उसने खूब ही पकड़ा। नामी गिरामी लिखने वाले है, इंसान के दुख-दर्द की बात करते हैं, यानी कि दर्दमन्द दिल तो होगा ही होगा। ओर मुंशीजी का यही दर्दमन्द दिल गरीबो की मुफलिसी ओर अमीरो की फिजूलखर्ची ओर दिखावे से किस तरह मर्माहत होता—

सन् '28 के लगभग की बात है। नवम्बर का महीना, स्थान लखनऊ; शायद वायसराय आये थे। आप दफ्तर से आये। मुझसे बोले—'आज लखनऊ में कोई 40,000 रुपये आतिशबाज़ी और रोशनी में ख़र्च होगा, शायद तुमने अपनी ज़िन्दगी में भी न देखी होगी।'

मैं बोली—'किसको फालतू पैसा मिला है, जो इस कदर बेरहमी से ख़र्च कर रहा है।'

आप बोले—'ख़र्च कौन कर रहा है ? मे पूछता हूं, चलोगी देखने, चाहो तो बच्चों को

लेती चलो, सबको दिखला दो।'

मैं बोली—'आप चलेंगे ?'

आप बोले—'हां, क्यों नहीं चलूंगा, गरीबों का घर फूंक तमाशा देखा जायगा। उसमें हम लोग भी तो अपनी आंखें सेंक ही लेंगे, और आह भर लूंगा, और अपनी बेहयाई की हंसी में शायद हंस भी लूंगा, और इससे आगे, अपना वश ही क्या है ?'

मेरी समझ में तब तक यह बात नहीं आई थी कि रुपया कहां से आया होगा, और यह क्यों ऐसा कहते हैं। मैं हंसकर बोली—'अभी तक तो आप लेखक ही थे, अब कवि कब से हो गये जो कविता में बातें करते हैं ?'

बोले—'मैं भाई कविता में तो बातें नहीं करता हूं, मैं तो यहां का रोना तुम्हें सुनाता हूं।'

मैं बोली—'यह आपकी गोल-मोल बातें मेरी समझ में नहीं आतीं, ठीक से मुझे समझा दीजिये।'

आप बोले—'पहले मुझे एक गिलास ठंडा पानी तो पिला दो।'

मैं अन्दर गई, और थोड़ा-सा सूखा मेवा, और ठंडा पानी लाकर फर्श पर रख दिया। और उसी पर मैं बैठ गई, और तीनों बच्चे भी बैठ गये। बच्चे मेवे खाने लगे, आप चिलगोजा छीलकर एक-एक अपने मुंह में डाल रहे थे। मैंने चाहा कि चिलगोजा मैं छील दूं। आप बोले—'नहीं, अगर तुम छील दोगी तो मैं इकट्ठे खा जाऊंगा, यों मैं एक-एक छीलकर ही खाऊंगा। अब सुनो आतिशबाज़ी की बात। जो राजे-महाराजे हर साल यहां आते हैं वे कुछ-न-कुछ इसीलिए यहां रखते जाते हैं कि जब-जब वायसराय और युवराज यहां पधारें तो वह उनके स्वागत में ख़र्च हो। और जो कमी पड़ती है, वह तुम्हारे यहां के काश्तकारों से वसूल किया जाता है। उन गरीबों के खून की कमाई, कूड़ा-घास की तरह आतिशबाज़ी में फूंक दी जाती है। जिस मुल्क के आदमी की कमाई औसत छः पैसे रोज हो, उस मुल्क में किसी को क्या हक है, कि एक-एक शहर में 40-40 और 50-50 हज़ार रुपये आतिशबाज़ी में फूंका जाय ? जहां पर तन ढंकने को कपड़ा न हो, दोनों जून रूखी रोटियां भी न मिलें उस मुल्क में इस बेरहमी से पैसा फूंका जाय, और इसलिए कि वायसराय साहब खुश होंगे, और इन मोटे आदमियों को खिताब देंगे ?'

लड़कों ने जब रोशनी का नाम सुना, तब सब पकड़कर शोर मचाने लगे कि 'चलिए बाबूजी ! चलिए !' आप उन लड़कों को शान्त करते हुए बोले—'अभी नहीं, तुम जाकर खेलो, रात में रोशनी होगी।' लड़के तो कुछ देर के लिए बाहर चले गये, मैं बोली—'तो यह लोग पैसे देते ही क्यों हैं ?'

आप बोले—'अगर वह देंगे नहीं तो क्या वह ज़िन्दा रहने पायेंगे ? ये मोटे-मोटे आदमी उनको खा जायंगे, या छोड़ेंगे ?'

मैं बोली—'जब उन्हें हर हालत में मरना ही है तो कुछ करके क्यों नहीं मरते ? इससे तो कहीं बेहतर है कि कुछ करके मरें।'

आप बोले—'यहां 80 प्रतिशत काश्तकार हैं, 20 प्रतिशत और लोग बाकी बचते हैं, जिसमें पढ़े-लिखे, मालदार, रोज़गारी सब हैं। अगर इनमें इतनी ही शक्ति और बुद्धि होती तो आज यह मुट्ठी भर अंग्रेज़ हमारे देश में डेढ़ सौ साल से राज्य न करते होते। मगर नहीं,

इनमें न तो शक्ति है, और न बुद्धि।'

मैं बोली—'तो क्या सब निकम्मे हैं ?'

तब आप बड़ी गम्भीरता के साथ बोले—'हां, यह सब देखकर तो यही कहना पड़ता है कि यह निकम्मे हैं। और शायद मुल्क इसके लिए तैयार भी नहीं है।'*

मैं बोली—'क्या यही लोग तैयार होंगे ?'

कहने लगे—'इसमें न क्रोध करने की बात है, न हंसने की, बल्कि यह तो आंसू बहाने की बात है।'

मैं बोली—'सब तो खुश हैं, कोई तो आंसू नहीं बहा रहा है।'

आप बोले—'तो इसके माने हैं कि हममें इतनी जड़ता छाई हुई है कि उसका दर्द ही हम महसूस नहीं करते।'

मैं बोली—'तो क्या इस बीमारी का कोई इलाज है, या यह मर्ज ला-इलाज है ?'

तब आप बोले—'महात्मा गांधी शायद कुछ कर जाय, नहीं तो फिर उसी तरह सहते-सहते हालत खराब होती चली जायगी। जब इंसान खुद मरने के लिए तैयार हो जाता है, तभी उसमें किसी दूसरे को मारने की शक्ति आती है।'

मैं बोली—'जब इंसान खुद ही मर जायगा, तब किसी को क्या खाकर मारेगा, उस समय तो इंसान खुद ही मिट जायगा।'

आप बोले—'तुमको वह कहावत याद है कि नहीं—मरता क्या न करता ? वह हालत जब इंसान की हो जाती है, तब वह सब कुछ करने को तैयार हो जाता है। जब तक इंसान को थोड़ा-सा भी सुख मिलता जाता है, तब तक उससे सुख का मोह छोड़ा नहीं जाता, लालसा आगे को बनी रहती है। जब इंसान समझ लेता है, कि मरने के सिवाय कोई चारा नहीं, तो वह मरने के लिए तैयार होता है।'

मैं बोली—'तब क्या यहां अंग्रेज वसूल करने आ रहे हैं ?'

वह बोले—'माना कि अंग्रेज वसूल करने नहीं आते पर एक शहजोर ही तो कमजोर को चूस रहा है।'

मैं बोली—'जब स्वराज हो जायगा, तब क्या चूसना बन्द हो जायगा ?'

आप बोले—'चूसा तो थोड़ा-बहुत हर जगह जाता है। यही शायद दुनिया का नियम हो गया है कि कमजोर को शहजोर चूसे। हां, रूस है जहां पर कि बड़ों को मार-मारकर दुरुस्त कर दिया गया, अब वहां गरीबों को आनन्द है। शायद यहां भी कुछ दिनों के बाद रूस जैसा ही हो।'

मैं बोली—'क्या आशा है कुछ ?'

आप बोले—'अभी जल्दी कोई उसकी आशा नहीं।'

मैं बोली—'मान लो कि जल्दी ही हो जाय, तब आप किसका साथ देंगे ?'

आप बोले—'मजदूरों और काश्तकारों का। मैं पहले ही सबसे कह दूंगा कि मैं तो मजदूर हूं। तुम फावड़ा चलाते हो, मैं कलम चलाता हूं। हम दोनों बराबर ही हैं।'

मैं हंसकर बोली—'इस तरह कहने से काम नहीं चलेगा। वह तुम्हारा विश्वास भी नहीं करेंगे।'

वह बोले—'तब तक सब पढ़-लिख जायगे। क्या रूस में लेखक नहीं हैं ? वहां

लेखकों की हालत यहां के लेखकों की हालत से अच्छी ही नहीं, कई गुना अच्छी है। मैं तो उसी दिन के लिए मनाता हूं कि वह दिन जल्दी आये।'

मैं बोली–'तो क्या रूस वाले यहां भी आयेंगे ?'

वह बोले–'रूस वाले यहां नहीं आयेंगे, बल्कि रूस वालों की शक्ति हम लोगों में आयेगी।'

मैं बोली–'वह लोग अगर यहां आते, तो शायद हमारा काम जल्दी हो जाता।'

वह बोले–'वह लोग यहां नहीं आयेंगे, हमीं लोगों में वह शक्ति आयेगी। वही हमारे सुख का दिन होगा, जब यहां काश्तकारों और मज़दूरों का राज्य होगा। मेरा ख़याल है कि आदमियों की ज़िन्दगी औसतन दूनी हो जायगी।'

मैं बोली–'वह कैसे होगा ?'

आप बोले–'सुनो वह इस तरह होगा कि अभी हमको रात-दिन मेहनत करने पर भी भरपेट आराम से रोटियां नहीं मिलतीं। रात-दिन कुछ-न-कुछ फिक्र हमेशा रहती है।'

मैं बोली–'तो फिक्र हम लोग अपने आप ही तो करते हैं। मज़दूरों का राज्य होने पर क्या हमको फिक्रों से छुट्टी मिल जायगी ?'

आप बोले–'क्यों नहीं छुट्टी मिलेगी ? हमको आज मालूम हो जाय कि हमारे मरने के बाद भी हमारे बीवी-बच्चों को कोई तकलीफ नहीं होगी, और इसकी ज़िम्मेदारी हमारे सिर पर नहीं, बल्कि राष्ट्र के सिर पर है, तो हमारा क्या सिर फिर गया है कि हम अपनी जान खपाकर रात-दिन मेहनत करें और आमदनी का कुछ-न-कुछ हिस्सा काटकर अपने पास जमा करने की कोशिश करें ? हमको आज मालूम हो जाय कि हमारे मरने के बाद हमारे बाल-बच्चों को तकलीफ न होने पायेगी, तो ऐसा कौन आदमी है कि आराम से खाना-पहनना नही चाहेगा ?'

मैं बोली–'मैं आपके सामने एक दर्जन नाम गिना सकती हूं, जिन्होंने बुढ़ौती में शादी की, जबकि पहली बीवी से भी लड़का-लड़की दोनों मौजूद थे। वह जो कुछ कमाते थे, सोलहों आना ख़र्च कर डालते थे, और मरने के बाद उन्होंने अपने कफन को भी नही छोड़ा था, लेकिन उनको कोई चिन्ता नहीं थी और भगवान् के सहारे रहते थे। कई आदमियों के ऐसे नाम गिना सकती हूं, जो काफी मालदार है, और चिन्ता-फिक्र करने की कोई वजह नही है, फिर भी रात-दिन कोई-न-कोई चिन्ता अपने सिर पर लिये रहते हैं।'

आप बोले–'अगर ऐसे ज़माने में, जैसे ज़माना आज है, चारों तरफ हाहाकार मचा हुआ है; इस ज़माने में कोई अपनी और अपने घरबार की चिन्ता न करता हो, और भगवान् के सहारे खुश-खुश बैठा रहता हो, तो उसको समझ लेना चाहिए कि परले दरजे का बेहया है। बाल-बच्चों के रहते बुढ़ापे में शादी करें, उनके लिए इस्तेमाल करने को मेरे पास कोई शब्द ही नहीं। और जो कोई अपने लिए नहीं, दूसरों के लिए चिन्ता करें, जैसे महात्मा गांधी, वह तो मेरी निगाह में सबसे महान् शक्ति हैं।'

हम लोगों में इस तरह की बात हो ही रही थी कि लड़के फिर पहुंच गये, और बोले, 'चलिए बाबूजी, समय हो गया। सब लोग तो जा रहे हैं।' सबको लेकर गये, साथ में मैं भी थी। सब लोग तो खुश-खुश आतिशबाज़ी देख रहे थे, आप ऐसे अनमने एक किनारे बैठे हुए थे, कि उनको देखकर मालूम होता था, जैसे इनके अपने ही घर की सम्पत्ति फूंकी जा रही हो।

एकाध-घण्टे के बाद सबको वापिस ले आये। लड़के नहीं आना चाहते थे, बोले—'मेरे सर में दर्द हो रहा है।' चले तो आये, मगर आतिशबाज़ी के फूंकने का महीनों रंज रहा। पचीसों बार घर में उन्होंने इसकी समालोचना की, हमारे मुल्क का पैसा ऐसी बेरहमी से ख़र्च होता है कि हाथ मलकर रह जाना पडता है। मगर अपना बस ही क्या है।

मैं बोली—'तो आप रोकने की कोशिश क्यों नहीं करते ?'

'अरे भाई, मेरे बस की बात होती तो मैं आज जमीन ही पर क्यों रहता, आकाश में न उड़ा रहता ? मगर अफसोस तो यही है कि अपना कोई बस नहीं है।'

मैं बोली—'जहां कोई अपना बस नहीं, वहां अफसोस करना बेकार है।'

वह बोले—'चाहे कुछ भी हो, जिस बात का हमको दर्द होता है वह जल्दी भूला नहीं जा सकता।'

मैं बोली—'बहुत लोगों ने आतिशबाजी देखी होगी, और खुश हुए होंगे, आतिशबाज़ी की समालोचना भी की होगी, कि कैसी अच्छी थी, और आप बैठे-बैठे आतिशबाजी फूंकने की समालोचना कर रहे हैं।'

मैं उठकर चली आई।

सन् '29 की बात है। मैं प्रयाग से लौट रही थी। मेरे साथ बन्नू था, आप थे। हम तीनों इंटर क्लास से आ रहे थे। चैत का महीना था, अष्टमी थी। गाडियों में बेहद भीड थी। जब बहुत से देहाती मुसाफिर हमारे डिब्बे में घुस आये तो आप बोले—'यह ड्योढा दर्जा है, किराया ज्यादा लगेगा।'

देहाती लोग बोले—'क्या करें बाबूजी, दो गेज में पडे हैं।'

आप बोले—'तुम लोग कहां से आ रहे हो, कहां जाओगे ?'

'हम लोग शीतलाजी के दर्शन करने गये थे।' —देहातियों ने कहा।

आप बोले—'शीतलाजी के दर्शन करने में तुम्हें क्या मिला ? सच बताओ, तुम लोगों का कितना-कितना खर्चा हुआ ?'

'एक-एक आदमी के कम-से-कम 15 रुपये।' —देहातियों ने कहा।

आप बोले—'इसका यह मतलब कि तुम लोगों ने चार-चार महीने के खाने का गल्ला बेच दिया। इससे अच्छा होता कि देवीजी की पूजा तुम घर पर ही कर लेते। देवीजी सब जगह रहती हैं। वहां भी तुम पूजा कर सकते थे। देवी-देवता तभी खुश होते हैं जब तुम आराम से रहो।'

'क्या करें, मनौती माने थे। अगर देवीजी के यहां न जाते तो नाराज न होतीं।' —देहातियों ने कहा।

गाड़ी बेहद भरी थी। सांस लेना कठिन था। गर्मी भी पडने लगी थी। अगला स्टेशन जब आया तो मैं बोली—'इनसे कह दीजिये उतर जायं। इन उपदेशों का पालन इनसे नहीं होगा।'

आप बोले—'तो बिना समझाये भी तो काम नहीं चलने का।'

मैं बोली—'फिर से समझा लेना। मेरा तो दम घुटा जा रहा है।'

आप बोले—'इन्हीं के लिए तो जेल जाती हो, लडाई लड़ती हो और इन्हीं को हटा रही हो। मुझे तो इन गरीबों पर दया आती है। बेचारे धर्म के पीछे भूखों मर रहे हैं।'

मैं बोली–'जो बेवकूफी करेगा, वह भूखों न मरेगा तो और क्या होगा ?'

आप बोले–'क्या करें, सदियों के अन्धविश्वास के पीछे पड़े हैं।'

मैं बोली–'जो खुद ही मरने के लिए तैयार हैं, उन्हें कोई ज़िन्दा रख सकता है ? इनके ऊपर जबरन कोई कानून लगा दिया जाय तो इनमे समझ आ सकती है ?'

तब आप बोले–'धीरे-धीरे समझ लेंगे। यद्यपि अभी काफी देर है। कोई काम जबरन किया जायगा तो मरने-मारने को तैयार हो जायंगे।'

मैं बोली–'तो गाड़ी में बैठे-बैठे नहीं सीख जाएंगे।'

तो फिर बोले–'आख़िर तब कब समझाया जाय ?'

मैं बोली–'आप इन्हीं के लिए तो पोथा-का-पोथा लिख रहे हैं।'

'ये उपन्यास लेकर थोड़े ही पढ़ते हैं। हां, उन उपन्यासों के फिल्म तैयार कर गांव-गांव मुफ्त दिखलाये जाते तो लोग देखते।'–आप बोले।

मैं बोली–'पहले आप लिख डालिए। फिर फिल्म तैयार करवाइयेगा।'

हम में ये बाते हो ही रही थीं कि तब तक रेलवे-पुलिस का आदमी आया। उन सबो को धमकी देने लगा और कहने लगा कि ड्योढा है। और किराया लाओ।

उन पुलिसमैन की हरकत देखकर आपको बड़ा क्रोध आया और बोले–'तुम लोग आदमी हो या पशु ?'

'पशु क्यों हूं ? तीसरे दर्जे का किराया दिया और ड्योढे मे आकर बैठे हैं !'

'तीसरे में जगह थी जो उसमें बैठते ? किराया तो तुमने ले लिया। यह भी देखा कि गाड़ी में जगह है या नही ? आदमियों को पशु बना रखा है, तुम लोगों ने। मैं इनके पीछे लड़ूंगा। यह राहज़नी कि किराया ले लें और गाड़ी में किसी को भी जगह नहीं। चलो, दो इनको तीसरे दर्जे में जगह, और उन आदमियों से कहा कि चलो, म तुम्हारे साथ चलता हू।' और उन आदमियों को लिये हुए पुलिसमैन के साथ आप उतर पड़े।

पुलिसमैन ने उन आदमियों को किसी तरह एक-एक करके भग। जब आप लौटकर आये तो मुझसे बोले–'देखा इन आदमियों को ?'

मैं बोली–'आप क्यों लड़ने लगे ?'

आप बोले–'मैं क्या कोई भी इस तरह की हरकत नही देख सकता। और इस तरह के अत्याचार देखकर कुछ न बोले तो मैं कहूंगा कि उसके अन्दर गर्मी नहीं है।'

मैं बोली–'कांग्रेस के आदमी जो नेता कहे जाते हैं, वे 'ए' 'बी' में मौज से रहते हे। यह पता भी नहीं रखते कि 'सी' क्लास वालों को क्या आराम-तकलीफ है।'

आप बोले–'अगर यहा के सभी आदमी ज़िम्मेदार ही होते ता इस तरह का मुल्क न होता। हमारी इसी कमी से सरकार राज्य कर रही है। मुट्ठी भर अंग्रेज़ पैंतीस करोड आदमियों पर राज्य करें. इसके माने क्या हैं ? हम में चरित्र-बल, आत्म-बल कुछ भी नही है। उसी का तावान हम भोग रहे हैं और रो रहे हैं।

मैं बोली–'यह एक दिन में थोड़े ही संभलेगा।'

आप बोले–'तो क्या सब लोग हाथ-पर-हाथ धरे बेठे रहें, तब भी तो अच्छा न होगा ?'

मैं बोली–'होगा, जब होगा।'

वे बोले–'तो तुम नाहक जेल गई, कांग्रेस के पीछे मरती रहीं। यह आज़ादी का पौधा इमली के दरख़्त की तरह है। बाबा लगाता है तो पोता फल खाता है।'

'मैं खुद मजदूर हूं और मजदूरों का दोस्त हूं। उनके प्रति किसी तरह का अन्याय या सख़्ती देखकर मुझे दुख होता है।' तभी तो 25 सितंबर, 1934 को 'भारत' में संपादक के नाम एक चिट्ठी छपाई जो खुद अपनी दुखभरी दास्तान कह रही है–

सरस्वती प्रेस के प्रोप्राइटर होने के नाते हड़ताल की कितनी ज़िम्मेदारी मुझ पर आती है उसे स्पष्ट करना आवश्यक है ताकि आपके पाठकों को उससे मेरे बारे में जो गलतफहमी हो सकती है वह दूर हो जाय।

सरस्वती प्रेस लगातार कई साल से घाटे पर चल रहा है। पहले 'हंस' निकला और उससे तीन साल तक बराबर घाटा होता रहा।....इसके बाद प्रेस में काम की कमी को पूरा करने और जाति की कुछ सेवा करने के लिए मैंने 'जागरण' निकालने का भार भी ले लिया ....और दो साल अपने समय का बहुत बड़ा भाग खर्च करके उसे चलाता रहा लेकिन उसमें भी बराबर घाटा ही रहा, यहां तक कि प्रेस पर कोई चार हज़ार का ऋण हो गया जिसमें कर्मचारियो का देना और कागज़ वालों का बकाया दोनों शामिल हैं। फिर भी मैंने हिम्मत नहीं हारी और जब अपनी बिगड़ी आर्थिक दशा से तंग आकर मैं काशी से चलने लगा तो मैंने 'जागरण' का सम्पादन-भार बाबू सम्पूर्णानन्द को सौंपा....मगर घाटा बराबर होता रहा! मेरी पुस्तकों की बिक्री के रुपये भी प्रेस के खर्च में आते रहे फिर भी खर्च पूरा न पड़ता था, क्योंकि इधर पुस्तकों की बिक्री भी घट गयी है। बाबू सम्पूर्णानन्द जी के हाथों में 'जागरण' ने सोशलिस्ट नीति की जैसी ज़ोरदार वकालत की, वह हिन्दी संसार भली-भांति जानता है। मैं खुद सोशलिस्ट विचारों का आदमी हूं और मेरी सारी ज़िन्दगी गरीबों और दलितों की वकालत करते गुज़री है। हिन्दी में 'जागरण' एक ऐसा पत्र था जिसने घाटे की परवाह न करते हुए वीरता के साथ सोशलिज्म का प्रचार किया। जब प्रेस की आमदनी का यह हाल था तो कर्मचारियों का वेतन कहां से पाबन्दी के साथ दिया जा सकता था ? मेरी किताबों से जो कुछ आमदनी होती वह इतनी भी नहीं है कि उससे मेरा निर्वाह हो सकता। न मुझमें यह फन है कि धनिकों से अपील करके कुछ धन संग्रह कर सकता।....

....मुझे ऐसी दशा में 'जागरण' को अवश्य बन्द कर देना चाहिए था, जैसा मेरे अनेक मित्रों ने कहा, लेकिन दुनिया उम्मीद पर कायम है और मैं बराबर यही सोचता रहा कि शायद अब पत्र का प्रचार बढ़े। उसके पीछे कई हज़ार का नुकसान उठा चुकने के बाद उसे बन्द करते मोह आता था। मेरे कई मित्रों ने प्रेस को ही बन्द करने की सलाह दी क्योंकि प्रेस के बन्धन से मुक्त होकर मै अपनी पुस्तकों और लेखों से लस्टम-पस्टम अपना निर्वाह कर सकता हूं। कम-से-कम उस दशा में मुझ पर किसी का कर्ज़ तो न रहता लेकिन मुझे यही संकोच होता था कि ये पच्चीस-तीस आदमी बेकार होकर कहां जायगे। बला से मुझे कुछ नहीं मिलता, मेहनत भी मुफ्त करनी पड़ती है मगर इतने आदमियों की रोज़ी तो लगी हुई है। इस ख़याल से मैं हर तरह की ज़ेरबारी उठाकर प्रेस और पत्र चलाता रहा। दिल मे समझता था, कर्मचारियों को प्रेस का ज्ञान है ही क्या वह मेरी मजबूरी नहीं समझते ? जब उन्हें मालूम है कि मैंने आज तक प्रेस से एक पैसे का लाभ नहीं उठाया और अपनी जायज़ कमाई से कम-से-कम दस हज़ार रुपये प्रेस और पत्रों के पीछे फूंक दिये तो उनको मेरे

नादिहन्द होने की कोई शिकायत नहीं होनी चाहिए। मैं तो उल्टे अपने को उनकी हमदर्दी का पात्र समझता था। मैं मानता हूं कि गरीबों को समय पर वेतन न मिलने से बड़ा कष्ट होता है, लेकिन क्या वे खुद ही इस प्रेस के मालिक होते तो वे भी मेरी ही तरह सिर पीटकर न रह जाते ? क्या उन्हें किसानी में घाटा नहीं हो रहा है और वे प्रेस की मज़दूरी करके लगान नहीं अदा कर रहे हैं ? कर्मचारी को मालिक से असंतोष तब होता है जब मालिक खुद तो आमदनी हज़म कर जाता है और उन्हें भूखा रखता है। जब उन्हें मालूम है कि मालिक खुद बेगार में रात-दिन पिस रहा है, उसकी जेब में एक पाई भी नहीं जाती, तो उनको मालिक से शिकायत करने का कोई जायज़ मौका नहीं है। फिर भी, इन परिस्थितियां पर ज़रा भी विचार न करके प्रेस संघ ने प्रेस में हड़ताल करवा दी। मैंने ख़बर पाते ही संघ के सभापति महोदय को सारा हाल समझा दिया....लेकिन उन्हें तो अपनी शानदार फतेह की पड़ी थी, मेरी गुज़ारिशों पर क्यों ध्यान देते ? उन्हें यहां तक विचार न हुआ कि इस प्रेस को साहित्य या समाज की सेवा ही के कारण यह घाटा हो रहा है। और यही प्रेस है जो मज़दूरों की वकालत कर रहा है, और इस लिहाज़ से मज़दूरों की हमदर्दी का हकदार है, ऐसी कोशिश करें कि वह सफल हो और ज्यादा एकाग्रता से उनकी वकालत कर सके। उनके सोशलिज्म में ऐसे तुच्छ विचारों के लिए स्थान ही नहीं था। वहां तो सीधा-सादा खुला हुआ सिद्धान्त था कि प्रेस ने मज़दूरी बाकी लगा रक्खी है, इसलिए हड़ताल करवा दो। मैं अब भी प्रेस को बन्द कर सकता था क्योंकि मैं पहले ही कई बार कह चुका हूं कि प्रेस से मुझे कोई आर्थिक लाभ नहीं है, बल्कि हमेशा कुछ न कुछ घर से देना पड़ता है, लेकिन फिर यह ख़याल करके कि इतने आदमी उसी प्रेस से कुछ न कुछ पा रहे हैं, उसे बन्द कर देने से उन्हीं का नुकसान होगा और उन्हें अपने बाकी वेतन के लिए कई महीने का इन्तजार करना पड़ेगा, प्रेस को जारी कर दिया। यह है उस शानदार विजय का वृत्तान्त जो संघ को सरस्वती प्रेस पर प्राप्त हुई है। अपने वकील का गला घोंटना अगर विजय है तो बेशक उसे विजय हुई, क्योंकि इस झमेले में 'जागरण' बन्द हो गया। जिन मज़दूरों के लिए वह सैकड़ों का माहवार घाटा सह रहा था, जब उन्हीं मजदूरों को उस पर दया नहीं आती तो फिर उसका बन्द हो जाना ही अच्छा था।

रह गयीं अन्य शर्तें। वे सब अच्छी हैं और मैं हमेशा से उनकी पाबन्दी करता आया हूं। मेरे कर्मचारियों में से किसी का साहस नहीं है कि वह मेरे विरुद्ध अपशब्द या डांट-डपट का आक्षेप कर सके। मैं खुद मज़दूर हूं और मजदूरों का दोस्त हूं। उनके साथ किसी तरह का अन्याय या सख़्ती देखकर मुझे दुख होता है। और मेरे मैनेजर ने मारपीट की थी तो कर्मचारियों को मुझसे कहना चाहिए था, अगर मैं मैनेजर की तम्बीह न करता तो उनका जो जी चाहता करते।....इन शर्तों में एक भी ऐसी नहीं है जो मैं सच्चे हृदय से न मान लेता, बल्कि मैं तो मज़दूरों को आधे महीने की पेशगी देने की शर्त भी मानता, अगर कोष में रुपये होते। मैं खुद चाहता हूं कि वह समय आये जब मजदूरों को (जिनमें मैं भी हूं) कम-से-कम काम करके अधिक-से-अधिक मज़दूरी मिले, खूब छुट्टियां मिलें, और जितनी सुविधाएं दी जा सकें दी जायं, मगर शर्त यही है कि आमदनी काफी हो। घाटे पर चलने वाले उद्योग को बड़ी-बड़ी सदिच्छाएं रखने पर भी बदनाम होना पड़ता है और उस पर कोई भी बड़ी आसानी से शानदार फतेह पा सकता है !

जिसके लिए अपना पेट काटा और सारी ज़िन्दगी आराम नहीं जाना, वही कहे कि तुम मेरा पेट काट रहे हो, मेरा खून चूस रहे हो ! बड़ी गहरी पीड़ा हुई मुंशीजी को और उसी तैश में उन्होंने दो-तीन जगह चिट्ठियां दौड़ा दीं। उसके चौथे रोज़ 29 तारीख़ को उन्होंने जैनेन्द्र को लिखा—'मैंने सोचा तीन महीने की मज़दूरी एक हज़ार रुपये से कम न होगी। कागज़ वालों के भी दो हज़ार देने हैं। क्यों न हंस और स्टाक किसी को देकर उससे रुपये ले लो और सब बकाया चुकाकर प्रेस से हमेशा के लिए पिण्ड छुड़ा लो। तभी दो-तीन जगह पत्र लिखे। एक पत्र ऋषभ जी को भी लिखा। स्टाक लेना तो सबने स्वीकार किया, पर हंस पर कोई न खड़ा हुआ। इस बीच में हड़ताल टूट गयी। एक महीने का वेतन लेकर सब काम करने आ गये।'

•

बेटी की शादी करके पति-पत्नी दोनों ही कुछ हलका अनुभव कर रहे थे। इस बार मकान अमीनुद्दोला पार्क में मिला। छः साल लखनऊ रहे और छः मकान बदले। 20 मार्च, 1929 तक जबकि देश भर में तलाशियां और लोगों की धर-पकड़ हुई, 'गबन' शायद आधे से कुछ कम ही लिखा गया था। साम्प्रदायिकता का जोश पूरे उफान पर था परन्तु आप इसके कट्टर विरोधी थे। कहते न मैं हिन्दू हूं, न मुसलमान।' इस संदर्भ में शिवरानी देवी ने अपने संस्मरण में लिखा है—

कई मुसलमान लेखक आपसे होली मिलने आये। साथ में फूलों का हार था और अबीर भी। आप कमरे में बैठे हुए थे। उन लोगों ने आपको गुलाल लगाकर पान दिया। उस अबीर को उन लोगों को लगाकर भर-अंक मिले। बड़ी देर तक वे लोग बैठे रहे। उसके बाद उन्होंने सबके साथ बैठकर खाना खाया। खाते समय तीनों आदमियों में बातें चल रही थीं। मेरी एक 'कुरबानी' नाम की कहानी निकली थी। उस पर उन लोगों ने उन्हें बधाइयां दी थीं और हार और उर्दू में परचा दिया था। जब उन्हें पहुंचाकर लौटे तो उसी हार और उसी गुलाल से मुझसे होली खेले।

मैं बोली—'आपने बड़ी देर लगा दी।'

आप हंसते हुए बोले—'काम तुम करो, और बधाई मुझे मिले।'

मैं बोली—'आख़िर है क्या, बताओ न !'

आप बोले—'तुमने जो "कुरबानी" नाम की कहानी लिखी है, उसी पर उन लोगों ने मुझे बधाई दी है।'

मैं हंसती हुई बोली—'फिर देखो, मैं अब की ऐसी कहानी लिखूंगी, जिससे आपकी बदनामी हो। समझे न !'

आपने हंसकर कहा—'इसमें चिढ़ की क्या बात है ! पुरुष बड़े हैं। उन्हें सब कुछ मिलता है।'

मैं बोली—'उस पर आपको गालियां भी मिलेंगी। मुझे संतोष हो गया कि चलो दूसरी कहानी नहीं लिखनी पड़ेगी। उसी पर मुझे लोग विधर्मी बना डालेंगे।'

आप बोले—'हिन्दुओं की बात तो निराली होती है।'

मैंने पूछा—'आप हिन्दू हैं या मुसलमान ?'

आपने हंसकर जवाब दिया—'न मैं हिन्दू हूं, न मुसलमान।'

मैंने कहा—'नहीं यह बात नहीं है। आप हिन्दू तो हैं ही।

आपने कहा—'जिस धर्म में रहकर लोग दूसरे का छुआ पानी नहीं पी सकते, उस धर्म में मेरे लिए गुंजाइश कहां ? मेरी समझ में नहीं आता कि हिन्दू धर्म किस पर टिका हुआ है ?'

मैं उन पर व्यंग्य करती हुई बोली—'स्त्रियों के हाथ में।'

आप बोले—'हिन्दू धर्म सबसे ज़्यादा स्त्रियों ही को चौपट कर रहा है। ज़रा सी गलती स्त्रियों से हुई, उन्हें हिन्दू-समाज ने बहिष्कृत किया। सबसे ज़्यादा हिन्दू स्त्रियां चकलेखाने में हैं। सबसे ज़्यादा हिन्दू स्त्रियां मुसलमान होती हैं। ये आठ करोड़ मुसलमान बाहर के नहीं हैं, घर के ही हैं। ये सब तुम्हारी ही बहनें हैं। और मैं यह भी कहता हूं कि ऐसे तंग धर्म में रहना भी नहीं चाहिए। पहली बार जब हिन्दुओं के मौजूदा धर्म की नीव पडी तब पुरुष कर्त्ता-धर्त्ता थे। उन्होंने अपने लिए सारी सुविधाएं रख लीं, हिन्दू स्त्रियों को छोटे-से दायरे के अन्दर बंद कर दिया; फिर वह कैसे उदार विचार का होता। वे स्त्रियां न देवियां थीं, न मिट्टी का लौंदा। जो-जो अच्छाइयां या ख़राबियां पुरुषों में होती हैं, वे ही सब स्त्रियों में भी पाई जाती हैं। तो जब तक कि दोनों बराबर-बराबर न बंटी हों तब तक कैसे कल्याण होगा? पुरुषों की वे सुविधाएं स्त्रियों को भी मिलनी चाहिए। थोडी-थोडी गल्तियों में अपनी बेटी-बहनों को निकाल देते हैं। फिर वे कहीं-न-कहीं तो ज़रूर जायंगी। हिन्दुओं की कोशिश तो यह होती है कि उन स्त्रियों को दुनिया ही से विदा कर दिया जाय। सरकार के भय से जरा चुप रहते हैं। उधर मुसलमानों का धर्म बहुत विशाल है। उसमें सबको रखने की ताकत है। इधर हिन्दू लोग खुद अपने लिए गड्ढा खोदते हैं तब उसमें कौन गिरेगा ? वही गिरेंगे भी। मान लो एक गर्भवती औरत को कोई निकाल दे तो वह कहां जायगी ? यह समझ लो, एक औरत को निकालते समय दो को तुमने मुसलमान कर दिया। फिर उसके जितने बच्चे होते जायंगे, सब मुसलमान ही तो होंगे। तुम्हारे यहां जब स्त्री और पुरुष में समानता नहीं है, तब अन्य धर्म वालों में कब संम्भव है ? बिल्कुल असम्भव है। मगर हिन्दू लोग अपनी हठधर्मी नहीं छोड़ते। फिर मैं तो कहता हूं कि अगर हिन्दू ऐसी ही हठधर्मी मे पड़ रहे तो जब इनके घर की लड़कियां खुद दूसरे के घर में शादी करना पसन्द करेंगी, तो क्या तुम समझती हो यह नुकसान थोड़ा है। फिर इन लोगों में तो मूढ़ता-सी आ गई है। देखो ज़रा-सी कुरबानी के पीछे सैकड़ों आदमी साल में मरते हैं।'

मैं बोली—'आख़िर ज़्यादा हिन्दू न !'

आप बोले—'चाहे कोई भी हों। मरते तो हैं तुम्हारे ही भाईबन्द न ! तुम्हीं में से निकलकर वे मुसलमान हुए हैं, और यह सब तुम्हारी मूर्खता का तावान है। फिर मैं तो कहता हूं, गाय के पीछे आदमी की कुरबानी होना अच्छा है ? और वह गाय तो तुम्हारी और मुसलमानों दोनों की है। वह भी इसी जगह पैदा होते हैं और मरते हैं। जिस-जिस चीज़ से उनका हानि-लाभ होगा, उसी से तुम्हारा भी होगा। अगर तुम ठंडे दिल से समझा दो तो दूसरी बात है। अगर तुमसे समझाते न बने तो उसे छोड़ दो। यहां तो झगड़ा करने का मर्ज़ है।'

मैं बोली—'आप समझदार हैं तो खुद क्यों नहीं समझा देते ?'

वे बोले—'जिनको मैं समझाता हू वे खुद समझदार हैं। वे गाय की कुरबानी खुद नहीं करते।'

मैंने कहा—'फिर कौन करते हैं ? किसे समझाया जाय ?'

आप बोले—'उन लोगों को समझाना है जिनकी रोजी इन्हीं झगड़ों पर चलती है। इनमें पंडा, मुल्ला और नेता शरीक़ रहते हैं। उन्हीं को इसमें ज़्यादा मज़ा आता है। इस झगड़े में जनता का क्या हाल होगा, इससे उन्हें कोई बहस नहीं। उनको तो वाहवाही मिलनी चाहिए और मौज उड़ाने के लिए पैसे। जितना हम लोग पंडों से परेशान हैं, उतना ही समझदार लोग मुल्लाओं से।'

मैं बोली—'तब आप लोग क्यों नहीं उनको निकालकर बाहर करते ?'

आप बोले—'कोई समय आयेगा, जब वे लोग बाहर ही निकाल दिये जायंगे। अंग्रेज़ों के यहां हज़ारों बछड़े काट-काटकर भेज दिये जाते हैं। उनसे कोई नहीं कहता कि इन बछड़ों को मत भेजो। न बेचें तो जबरन कोई थोड़े ही छीन लेगा। मगर नहीं, उनसे कोर दबती है। जहां लड़ना है, वहां नहीं लड़ते।'

मैं बोली—'हम लोगों की पूजा की चीज गाय है।'

आप बोले—'तुम लोग कौन कम हो मुसलमानों से। तुम लोग भी तो भेड़-बकरे देवी का बलि चढ़ाते हो। क्या उस बकरे की जान नहीं होती ? इसी से मैं कहता हूं, कोई धर्म न अच्छा होता है, न बुरा। उन्हीं हिन्दुओं को मैं कहता हूं जो गाय के पीछे प्राण देते हैं, वही हिन्दू अपने मां-बाप को रोटियां नहीं दे सकते हैं। वही हिन्दू घर की बेटी-बहन को निकाल देते है। यह क्या इंसानियत से दूर करने वाली बातें नहीं हैं ? फिर भी लोग नाज़ से कहते हैं, गऊ हमारे पूजने की चीज है। जो मां को रोटी न दे सके, वह गाय को क्या चारा देगा ?'

मैं बोली—'यहां सैकड़ों आदमी गाय के पीछे प्रतिवर्ष कुरबान होते हैं। गाय के पीछे।'

आप बोले—'रानी, पागल न हो तुम, सुनो, वह गाय के पीछे नहीं कुरबान होते, बल्कि वे अपनी कुरेदन के पीछे कुरबान होते हैं। उनके अन्दर जो कुरेदन रहती है, उसी को मौका पाकर दोनों निकालना चाहते हैं।'

मैं बोली—'आप किसी मजहब को अच्छा समझते हैं ?'

आप बोले—'अवश्य मेरे लिए कोई मज़हब नहीं। राम, रहीम, बुद्ध, ईसा सभी बराबर है। इन महापुरुषों ने जो कुछ किया सब ठीक किया। उनके अनुयायियों ने उसका उलटा किया। कोई धर्म ऐसा नहीं है कि जिसमें इंसान से हैवान होना पड़े। इसी से मैं कहता हूं, मेरा कोई ख़ास मज़हब नहीं है सबको मानता भी हूं। इस तरह के जो नहीं हैं, उनसे मुझे कोई मुहब्बत नहीं। यही मेरा धर्म समझो।'

•

आर्थिक कष्ट जीर्ण ज्वर की तरह मुंशीजी की ज़िन्दगी का अभिन्न अंग बना रहा परन्तु सरकारी प्रलोभनों से दूर इस कलम के मसीहा की एक ही रटन्त थी 'मैं जनता का तुच्छ सेवक हूं।' शिवरानी देवी ने लिखा है—

मैं लखनऊ में थी। हेली साहब गवर्नर होकर आये थे। उन्होंने अपने एक मित्र से,

जो हिन्दुस्तानी थे, कहा—धनपतरायजी को आप पत्र लिखें। मैं उनको रायसाहबी देना चाहता हूं, क्योंकि वे भारत के सबसे बड़े राइटर हैं। जिनसे गवर्नर साहब ने कहा, वे इनकी किताबों के बड़े भक्त थे। उन्होंने एक पत्र लिखा और लिखा कि गवर्नर साहब आपको रायसाहबी का ख़िताब देना चाहते हैं। आप उनसे मिलिए।

वह पत्र लेकर आप अन्दर आये, मुझसे बोले—'गवर्नर साहब का मेरे पास पत्र आया है।'

मैंने पूछा—'क्या लिखा है ?'

'साहब बहादुर मुझे रायबहादुरी देना चाहते हैं।'

मैं—'उन्हीं का ख़त है कि किसी और से लिखवाया है ?'

'हां, किसी और से लिखवाया है।'

'कौन महाशय हैं ?'

'हैं एक महाशय, सर का ख़िताब उन्हें भी मिला है।'

'लीजिए शौक से रायसाहबी।' मैं बोली—'खाली रायसाहबी देंगे कि और भी कुछ ?'

'इशारा तो और भी कुछ के लिए है।'

'तब लीजिये न।'

'तो क्यों देना चाहते हैं, बता दूं ? तब मैं जनता का आदमी न रहकर पिट्ठू रह जाऊंगा।'

मैं—'कैसा पिट्ठू ?

'उसी तरह, जैसे और लोग हैं। अभी तक मेरा सारा काम जनता के लिए हुआ है। तब गवर्नमेण्ट मुझसे जो लिखवायेगी, लिखना पड़ेगा। तुम अगर कहो, तो ले लूं।'

मैं—'ज़रूर लीजिये।'

'तुम्हारा निर्णय हो तो मैं लिखूं।'

मैंने सोचा, कहीं सचमुच न लिख दें, बोली—'बड़ा महंगा सौदा है।'

तब आप बोले—'हां, मैं ऐसा खुद न करूंगा।'

'उनको क्या जवाब दीजियेगा ?'

'उनको धन्यवाद लिख दूंगा और लिख दूंगा कि मैं जनता का तुच्छ सेवक हूं। अगर जनता की रायसाहबी मिलेगी तो सिर-आंखों पर। गवर्नमेण्ट की रायसाहबी की इच्छा नहीं। गवर्नर साहब को मेरी तरफ से धन्यवाद दे दीजियेगा।'

सन् '29 की बात है। महीनों से रात को मुझे हल्का-हल्का बुख़ार आता था। सुबह 4 बजे उतर जाता था।

कांग्रेस का ज़माना था। सुबह से 12 बजे तक घर के खाने-पीने का काम करती। 12 बजे के बाद महिला-आश्रम चली जाती। आप बार-बार मुझे मेहनत करने से रोकते। डाक्टरों का कहना था कि मेहनत करने से बुख़ार हो आता है।

मैं उस बुख़ार को छिपाना चाहती थी। अगर बुख़ार की हालत जान जाते तो कांग्रेस का काम रुक जाता।

जुलाई का महीना था। शराब की पिकेटिंग हो रही थी। मैं 50-60 औरतों को लिये तीन-चार दिन गई। वहां से लौटने पर नहाती थी।

चौथे दिन मुझे तेज़ी से बुख़ार चढ़ आया। दस दिन और दस रात तक बुख़ार रहा। आपको यह देखकर क्रोध आया।

उन दिनों देहातों में मोहनलाल सक्सेना दौरा करने जाते थे। आये तो तीन दिन तक आप भी उन्हीं के साथ दौरा करते रहे। चौथे दिन देखा कि मेरा बुख़ार नहीं उतरा। मैं बोली—'आप तीन दिन तक कहां थे ?'

आप बोले—'जहां से तुम बुख़ार लेकर आई, वहां का काम करने गया था।'

मैं बोली—'आप तीन रोज़ गायब रहे।'

'अगर गायब न रहता तो काम कैसे चलता ?'

मैं बोली—'मेरे अच्छी होने पर आप जाते। घर में छोटे-छोटे बच्चे, मैं बीमार।'

आप बोले—'जब कोई मरने पर तुला हो तो मैं उसे ज़िन्दा रख सकता हूं ?'

मैं बोली—'मरने पर कौन तुला है ? हां, ज़िम्मेदारी समझना हर एक का कर्तव्य है।'

अगर वे कहीं जलसे में जाते तो वहां जो उन्हें हार वग़ैरह मिलता तो लौटते ही उसे व मुझे पहना देते। और कहने—'लो यह हार।'

मैं—'यह हार तो जनता की तरफ से मिला होने के कारण बड़ा कीमती है। जनता से आपको मिला। आपने उसे उठाकर दूसरे को दे दिया। यह क्या ? यह तो ऐसा लग रहा है कि हार का मूल्य आपने नहीं समझा।'

आप बोले—'नहीं, उसने मुझे भेंट किया। वह भेंट की हुई चीज़ मेरी हो गई। मैं जिसका पुजारी हूं, उसे मैंने चढा दिया। इसका मूल्य अब और भी बढ़ गया है। मैं तुम्हें अपने से कम नहीं समझता।'

मैं—'मतलब यह कि जनता द्वारा दिया हुआ कर्तव्य का बोझ आपने मेरे सिर डाल दिया। मैं अगर इस बोझ को अपने दुर्बल कन्धों पर न संभाल सकूं तो....'

'मै तो समझता हूं कि किसी बोझ को बिना तुम्हारे सहारे के नहीं उठा सकता। फिर मैं तो तुमसे अलग अपने को समझता ही नहीं। मैं तो यहां तक समझता हूं कि कोई पुरुष बिना स्त्रियों के कुछ भी नही कर सकता। जब तक स्त्रियों का हाथ किसी काम में न लगेगा, तब तक कोई भी काम पूरा नहीं पड़ सकता। जब घर-घर की स्त्रियां, आर पुरुष हिन्दुस्तान की तरक्की में लगेंगे, तभी कल्याण होगा।'

मैं—'खुशामद करना हो तो आपको बुला लें। स्त्रियों को तो इस तरह की बातों से और अभिमान हो जायगा।'

'मेरा विश्वास है कि चाहे औरों को हो या न हो, पर तुमको तो कतई नहीं हो सकता।'

मैं—'मैं कोई देवी नहीं हूं। मुझे भी गर्व हो सकता है।'

'मुझे मालूम है। तुम्हारे गर्व से कल्याण ही हो सकता है। ऐसा गर्व तो होना ही चाहिए। अगर वैसा गर्व मुल्क भर में हो जाय तो हम आदमी बन जायंगे। जो अपने को बलिदान कर दूसरे का गर्व बढ़ाता है उसका गर्व मान्य है।'

●

जन्म से मरण तक पुरुष स्त्रियों के ही साथ रहते हैं मां के रूप में, बहन के रूप में, स्त्री के रूप में, बेटी के रूप में, स्त्री ही सेवा करती है। कौन ऐसा समय है, जब वे स्त्रियों से अलग रहते हैं ? जाति एक ही है। क्या स्त्री-जाति पुरुष मात्र से दुश्मनी कर ले तो वह जीवित रह सकती है ? जो लोग स्त्रियों की निन्दा करते हैं वे लगता है स्त्री से पैदा नही हुए या स्त्री का प्यार उन्हें नहीं मिला। वे नारी जाति के प्रति, उसके सम्मान के प्रति कितने सजग और जागरूक थे, उनकी पत्नी के शब्दों में–

सन् '30 की लखनऊ की बात है। महात्मा गांधी नमक कानून तोड़ने डांडी गये। सब शहरों में महात्मा गांधी की जय की धूम मची हुई थी। उन दिनों हम लोग लखनऊ में थे। वे 'माधुरी' का सम्पादन करते थे। अप्रैल का महीना था। मेरे घर के सामने अमीनुद्दौला पार्क था। उसी जगह रोज स्वयंसेवक आकर नमक बनाते और ऐसा मालूम होता था कि सारा लखनऊ उसी जगह उमड़ा आता था। उन्हीं के साथ-साथ पुलिस मय हथियार के पहुंच जाती थी। कई युवकों को अपने हाथ से कुरते और टोपियां पहनाकर नमक बनाने को भेजते। उनको मैं अपने हाथों से हार पहनाती, और जब वह मेरे पैर छूने लगते तो बरबस मेरी आंखों से आंसू ढुलक जाते। मैं भी उसी उमंग में सीने से लगाकर आशीर्वाद देती, बेटा विजयी हो। इसी तरह तीन महीने तक यह काम चलता रहा। इसके बाद हम में और उनमें बातें होती थीं। वह बराबर कहते थे, रानी ! मेरे जेल जाने का समय आ गया है। मैं उनको जेल नही जाने देना चाहती थी, क्योंकि उनकी सेहत ठीक नहीं थी। मैं सोचती कि अगर यह जेल जायंगे तो इनकी क्या हालत होगी। उसका ख़याल ही मुझे सिहरा देता था। मगर उनके सामने उनका विरोध भी नहीं कर सकती थी; क्योकि इसमें कायरता थी। सभी के पुत्र और पति और भाई सबके प्यारे होते हैं, तब सभी अपने-अपने को छिपाकर रखना चाहें, तब काम करने वाले कहां से आयेंगे, इसकी चिन्ता मुझे थी। अब मैं स्वय सोचती कि बच्चे जेल जाने के काबिल थे ही नहीं और इनको जेल जाने देना चाहती नही थी, तब सवाल आता कि आख़िर जेल जाये तो कौन ? उसमें आगे बढ़ना मेरा काम था।

20 जुलाई को स्वरूपरानी नेहरू लखनऊ आई थीं और उनका भाषण सुनने म गइ थी। हिन्दुस्तान के बड़े-बड़े आदमी मेरे ख़याल से सभी जेलों में जा चुके थे। जवाहरलालजी भी जेल में थे। माता स्वरूपरानी नेहरू के भाषण में वह जोर था, वह दर्द था, वह गर्मी कि जो शायद मुर्दो में भी जान डाल सकती थी। मुझ-जैसी मुर्दादिल को भी कुछ गर्मी मिली ओर मैंने भी अपने कर्तव्य की तरफ कदम बढाया। माता स्वरूपरानी नेहरू ने स्त्रियो के सामने उनका कर्तव्य बताया, उसमें बहुत-सी स्त्रियों ने हस्ताक्षर किये, और उसमें मैंने भी अपना नाम दिया। उसी दिन से मैंने भी काम करना शुरू किया। पहले महिला-आश्रम नही था, उन्हीं दिनों ग्यारह स्त्रियां ने मिलकर महिला-आश्रम कायम किया। सब स्त्रियां बारह बजते-बजते आश्रम में पहुंच जाती थीं, उनमें मैं और मेरी लड़की भी रहती थी। पहले शुरू-शुरू का काम था। स्त्रियां में काफी घबराहट थी। मुझे भी काफी घबराहट होती थी। मुझे अकेले घर लौटना होता, तब मैं घबराई हुई रास्ते में चलती। पर कहीं वह मुझे बाज़ार में देख, लेते तो वह मेरे साथ हो लेते। कहते कि तुम इस कदर घबरा क्यों जाती हो। म झेंप जाती और कहती, मैं क्या करूं ? मेरा अकेले में जी घबराता है। वह कहते, इसमें घबराने की कौन-सी बात है। तब मैं कहती मान लो कोई बदमाश मिल जाय तो क्या

होगा? तब वह कहते कि मान लो कोई बदमाश है ही, तो तुम्हारा क्या बिगाड़ लेगा ? तुम चुपके से अपने घर चली आना। तब वह मुझे दरवाज़े तक लौटकर पहुंचा जाते। फिर लौटकर बाज़ार से सामान लेने जाते। इसी तरह दो-ढाई साल तक चलता रहा।

सन् '31 नवम्बर का महीना था, 11वीं तारीख। आप तीन दिन पहले ही बनारस गये हुए थे। 8 बजे का समय था। एक बहिन महिला-आश्रम से आई और मुझसे बोलीं–

चलिये, आपको कांग्रेस-दफ्तर में बुलाया है। मुझे नहीं मालूम काम क्या है। वहां जाने पर मालूम हुआ कि विदेशी कपड़ो की दुकानों पर हमारे 10 स्वयंसेवक गिरफ्तार हो चुके हैं, और व्यापारी लोग विदेशी कपडों की गांठों पर मोहर नहीं करा रहे हैं। अब आप लोग जाइये तब कहीं उन लोगों में गर्मी आयेगी।

मै 11 बहनों के साथ एक मोटर पर गई और कुछ बहनों को लौटती मोटर पर आने के लिए बुला गई। वहां जाने पर हमने पिकेटिंग करना शुरू किया और कोई 15-20 मिनट के बाद पुलिस इस्पेक्टर आया। मुझसे बोला–'आपको गिरफ्तार कर रहे हैं।' मै बोली–'पहले वारण्ट दिखलाओ।'

इन्सपेक्टर–'वारण्ट की कोई ज़रूरत नही, नये कानून के अनुसार।'

मे अपनी छहों बहनों से बोली–'महात्मा गाधी की जय के नारे लगाओ। हम गिरफ्तार हो गइ हैं। चलिये।'

हम लोग महात्मा गाधी और भारतमाता की जय के नारे लगाते हुए लारी पर बैठ गये। सात बहनें हम थी, एक इन्स्पेक्टर, 7 कान्स्टेबिल बैठ गये। सब बहनें राष्ट्रीय गीत गाती हुई चलीं। थोडी दूर जाने पर पुलिस इन्स्पेक्टर लारी रुकवाकर उतर गया, फिर भी हमारा गाना उसी तरह होता रहा। मुझे खयाल आया कि मेरी गिरफ्तारी के पहले कोई 50-60 स्त्रियों को पुलिस शहर से बाहर बीहड स्थानो में छोड आई थी। जब लारी से इन्स्पेक्टर उतर गया, तब मैंने देखा कि मेरी लारी पर जो सिपाही बैठे थे, उनकी आंखों में आसू थे। मेरा ख़याल है कि उनके दिल के अन्दर दर्द भी था। मुझसे बोले–'माताजी, यहा हमको बाइस-बाईस रुपये मिलते है, अगर हमको बाहर दूसरा कोइ 10 रुपये भी देता तो हम इस पाप की नौकरी को कभी का छोड देते।'

मे बोली–'बेटा ! इसकी कोई बात नहीं है, जब तक तुम नौकरी करते हो तब तक तुम्हारा यह कर्तव्य हो जाता है कि ईमानदारी के साथ अपना कर्तव्य करो, क्योंकि एक तरह की यह भी बेईमानी है कि तुम हमारे साथ रियायत करो। जैसे हम अपने नेता की बात मानकर जेल जाते है, उसी तरह तुम्हारा भी कर्तव्य है। तुम लोग यह जरूर करना कि हम लोगों को कहीं बाहर न छोड़कर जेल में ही छोडना।'

सिपाही आंखों में आंसू भरकर बोला–'माताजी ! यदि आप लोग इतनी उदार न होती तो जेल ही क्यों जातीं, हम आपको जेल में ही ले जाकर छोड़ेंगे। दुख तो इस बात का है कि जिन माताओं और बहनों की हमें पूजा करनी चाहिए थी, उन्हीं को आज इस पापी पेट के लिए जेल लिये जा रहे हैं।'

मैं बोली--'बेटा ! तुम लोगों को ईश्वर से प्रार्थना करनी चाहिए कि वह हमें अपना कर्तव्य करने के लिए शक्ति दे। तुम अब भी मेरे बेटे हो और मैं तुम्हारी मां हूं। हां, रास्ते दोनों के अलग-अलग हैं।'

यही कहते-कहते हम जेल के फाटक के पास पहुंच गये। वहां इन्स्पेक्टर पहले ही से मौजूद था। सिपाही लोग भी आंखों से आंसू पोंछते हुए लारी से उतरे और हम सात स्त्रिया भी लारी से उतरीं।

जेल के दफ्तर में गई। वहीं सबसे नाम-गांव पूछा गया। जेलर ने सबके नाम-गांव लिखने के बाद, जिन बहनों के पास जेवरात थे, उनको उतरवाकर रखवा लिया और हम बहनों को जेल में ले जाने के लिए जमादारिन से कहा। मैं जेलर साहब से बोली–'आप कांग्रेस-दफ्तर में फोन करा दीजिये कि हम लोग जेल के अन्दर आ गई हैं।'

जेलर ने कहा–'बहुत अच्छा, मैं किये देता हूं।'

मैं–'धन्यवाद।'

जेल के अन्दर जब मैं गई तब दोपहर के दो बजे थे। जेल में बहनों को हमारे आने की पहले ही से खबर मिल चुकी थी, वह हमारे स्वागत के लिए आंचलों में फूल भरे, हाथों में माला लिये पहले ही से खड़ी थीं। हम जैसे ही पहुंचे वैसे ही वे गले में माला डालकर, फूल बरसाकर इस तरह मिलीं, मानो मुद्दतों से बिछुड़ी हुई परिचित बहनें मिली हों। थोड़ी देर में वहां खासी भीड़ इकट्ठा हो गई। वह थोडी ही देर में देश की सारी बातें सुन लेना चाहती थीं। इसी तरह बाहर की बातें बताते-बताते 5 बज गये। 5 बजे के बाद कोई चार-पांच सौ आदमी और मेरी लड़की और बच्चे भी पहुंचे। फिर मै दफ्तर में बुलाई गई। हम सब बहनें फाटक पर आई। मेरे घर से कपड़े वगैरह और मेरी रोज़ की जरूरी चीजे लेकर आये थे। मेरा छोटा बच्चा 9 साल और कुछ महीने का था। स्कूल जाते समय वह मुझसे कहकर जाता कि अम्मां तुम बाहर कांग्रेस का काम करने न जाना, नहीं तो गिरफ्तार हो जाओगी। तुम घर पर नहीं रहतीं तो घर अच्छा नहीं लगता। रोजाना तो मैं उसको उपदेश देती थी कि मान लो मैं गिरफ्तार हो गई तो तुम क्या करोगे? क्या मुझसे माफी मंगवाओगे ? तब वह नन्हीं-नन्हीं दोनों बांहें गले में डालकर और मेरे सीने में मुंह छिपाकर कहता, नहीं अम्मां, माफी नहीं मंगवाऊंगा। आज उसी को अपने सामने देखकर मैं खुद रो पड़ी। आंसुओं को छिपाती। मेरी आंखें बच्चों के सामने न उठती थीं। डर यह था कि मेरे छिपे हुए आंसू मेरे बच्चे देख न लें। एक बहन मेरे बच्चों के साथ मिलने को गई थीं। उन बहन को मैंने अपने बच्चों को सौंपा, 'जब तक मेरे पति जी न आ जायं, तब तक आप इन्हीं के पास रहियेगा।' उस वक्त अपने बच्चों को दूसरों के हाथों में सौंपते हुए जो दर्द मेरे दिल के अन्दर उठा उसको बहुत-बहुत कोशिश करते हुए भी छिपा नहीं पाती थी। आज भी मैं उस दर्द को महसूस करती हूं, अपने पति की मृत्यु पर और अपने जीवित रहने पर। क्या उनको हम लोगों को छोड़ते समय कम दर्द रहा होगा ? मगर नहीं, समय सबको सब तरफ नचाता है और इंसान विवश होकर रहता है और उसी में गोते खाता रह जाता है। सब दर्दो को भुलाते हुए भी मनुष्य उन्हें भुला नहीं पाता है। यह मेरी ही नहीं सभी मनुष्यों की कमज़ोरी है। अब भी मैं उन सब बातों को याद करती हूं तो आंखों में आंसू छलछला आते हैं।

दूसरे दिन मेरे पति घर आये। उनको पहिले ही मेरे जेल जाने की ख़बर मिल चुकी थी, वह मुझसे मिलने जेल में आये। मैं दफ्तर में बुलाई गई। आप फाटक पर खड़े थे। मुझे देखते ही उनकी आंखें भर आई। 'अच्छा, तुम जेल में आ गई ?'

मैंने कहा—'हां, मैं तो आ गई हूं। कहिये आप तो अच्छे थे ?' आप बोले—'हा, मैं अच्छा हूं, तुम अपनी कहो, तुम कैसे हो ?' मैं खुद अपना खुशी का चेहरा बनाती हुई बोली—'हां, मैं तो अच्छी हूं। यहां हमारे जेल काफी आराम दे रहे हैं। मुझे कोई कष्ट नहीं है।' उसके बाद वह मुझसे मिले। मैंने उनको घर की बातें बनाई और कहा कि अच्छी तरह से रहियेगा। बच्चों का ख़याल रखियेगा।

इन सब बातों के बाद वह अपनी स्वाभाविक हंसी में हंसकर बोले—'तुम तो इधर कैद हुई, उधर मुझे भी वन्दी बना दिया।'

मुझे उनकी बनारस की बात याद आई, जो उन्होंने प्रेस के विषय में कही थी कि हम-तुम दोनों एक नाव के यात्री हैं, हमारा-तुम्हारा ध्येय अलग नहीं हो सकता। मैं बोली—'इसका निर्णय तो आप सात साल पहले ही कर चुके हैं।' फिर आप बोले—'अच्छा उसी को तुमने पूरा किया है ?'

मैं बोली—'पूरा तो नहीं किया, हां पूरा करने की कोशिश करती हूं। मगर मैं तुम्हारे बगैर अकेले कैसे कर सकती हूं ? मैं घर पर रहती तो शायद सारा घर चौपट हो जाता। मैं वहां भी आराम करती थी, आपकी कृपा से यहां भी आराम ही है। घर पर तो बहुत काम है। यहां तो मैं आराम से हूं।'

इसी तरह छः बार वह मुझसे मिलने गये, मगर मैं देखती थी कि वह मुझे जेल में देखकर खुश न थे। मैं देखती थी कि वह मुझे देख आंखों में आंसू भरे रहते थे। जिस समय मैं छूटने वाली थी, मुझे उस तारीख के एक दिन पहले ही छोड़ दिया गया। छूटकर मैं अकेली ही घर पहुंची। उस समय आप दफ्तर में थे। जब वह शाम को घर आये तो मुझे देखकर मुस्करा दिये। मैंने उठकर उनके पैर छुए, मुझे उठाकर सीने से लगाते हुए उनकी आंखें सजल हो गईं। मुझसे बोले—'क्या तुम बीमार थीं ?' गला तो मेरा भी भर आया था। मैं बोली—'मैं तो काफी अच्छी हूं। आप बीमार थे क्या ?' आप बोले—'मैं बीमार क्यों होने लगा। मैं तो घर में आराम से बैठा था, मुझे तो बीमार होने की कोई वजह ही नहीं थी।'

हमारी छोटी भावज, बच्चे आदि बैठे ही थे। मेरी छोटी भावज बोलीं- 'आप कहते हैं कि मैं आराम से बैठा था। जिस दिन से आप जेल गईं, उस दिन से कभी आपके चेहरे पर किसी ने हंसी तक तो देखी नहीं।' आप झेंपते हुए बोले—'आप भी खूब हैं।' मेरी भावज बोली—'मैं झूठ नहीं बोलती, मैं तो सच कहती हूं।' इसमें सब बच्चों ने मिलकर हां में हां मिलाई।

मेरी भावज उठाकर फल और मेवे ले आई। सब लोग खाते जाते थे और मेरी गैरहाज़िरी में जो-जो बातें हुई थीं, मुझसे बतलाते जाते थे। ऐसा मालूम होता था कि घर में नया जीवन आ गया है। मगर एक-दूसरे की तन्दुरुस्ती की तरफ देखते हुए हम दोनों खुश न थे, क्योंकि 7 पौंड मेरा वजन घटा था और 14 पौंड उनका। रात को सब लोग हट गये तब मैंने पूछा कि आखिर आपकी हालत क्या है ?'

'कुछ नहीं, अच्छा तो हूं।'—आप बोले।

मैं बोली—'अच्छे तो नहीं हैं, जैसे मैं छोड़ गई थी वैसे भी नहीं हैं।'

आप बोले—'वैसा कैसे रह सकता था ? तुम उधर जेल में थीं, इधर मैं जेल का अनुभव कर रहा था।'

उस दिन रात के दो-ढाई बजे तक इसी तरह की बातें होती रहीं।

जब मैं जेल से लौटी, और दूसरे दिन उनके कमरे में गई, तो वहां मैंने देखा कि मेरा फोटो लगा है और उसको एक चन्दन की माला और एक फूल की माला पहनाई गई है।

मैं बोली–'यहां आपने मेरा फोटो क्यों लगाया ? यहां लोग आते-जाते हैं, यहां क्यों लगा दिया ? इसको यहां नहीं लगाना चाहिए था, क्योंकि यहां हर तरह के लोग मिलने-जुलने आते हैं। यह अच्छा नहीं मालूम होता; इसे मुझे उतारकर दे दीजिए।'

आप हसकर बोले–'यह क्या हटाने के लिए लगाया है ?'

मैं बोली–'यह अच्छा नहीं लगता साहब, कोई देख लेगा।'

'तो क्या मैंने उसको छिपाकर रखा है ? देखने के लिए तो है ही।'

मैं बोली–'यह तो एक तरह से मुझे शर्म मालूम होती है।'

'न मालूम तुम्हें क्यों शर्म मालूम होती है, मुझे तो कोई शर्म नही मालूम होती। तुम्हारे कमरे में मेरा फोटो भी तो लगा है। तो मेरे ही कमरे में तुम्हारी फोटो तुम्हें क्यों बुरी लगती है ?'

मैं बोली–'मर्दों के कमरों में औरतों के फोटो अच्छे नहीं लगते।'

'इसमें बुरा लगने की कोई बात नहीं है। तो तुम्हारी फोटो कहां लगे, कि तुमको बुरी न लगे, अच्छी लगे, और तुमको शर्म भी न लगे।'

मैं बोली–'मेरा फोटो मेरे कमरे मे रहे। मेरा भाई लगावे, मेरे बेटे लगावें तो मुझे बुरा न लगेगा।'

आप बोले–'मैं तो समझता हूं कि तुम्हारा फोटो लगाने का सबसे ज्यादा अधिकार मुझे है। ख़ैर, यह जो दो नाम तुमने लगाये, यह तो कुछ नहीं, मगर मेरी उमर का कोई दूसरा पुरुष तुम्हारा फोटो लगावे और उसकी उपासना करे, तो शायद मै उसका जानी दुश्मन हो जाऊं।'

मैं बोली–'इसमें उपासक होने की कौन-सी बात है ? आप अपने मित्रों के फोटो नहीं लगाते हैं ?'

आप बोले–'मित्रों का फोटो तो मैं लगा सकता हूं, मगर मित्रों की बीवियों का फोटो लगाने का मुझे कोई हक नहीं है। एक मा, बेटी, बहन छोड़कर।'

मैं खीझकर वहां से चली आई।

●

नमक कानून तोड़ा जा रहा था। कइयों को अपने-अपने पैसों से खादी का कुर्ता, टोपी, धोती पहनाकर मेरे हाथ से उसके गले में हार पहनवाकर लखनऊ के गूंगे नवाब के पार्क में भेजा। भेजते हुए कहते थे–जाओ बहादुरो, नमक-कानून तोड़ो। मैं भी जल्दी पहुंचता हूं। उन लोगों को हार पहनाते हुए मेरी आंखों में आंसू आ जाते। कभी-कभी वहां मार भी पड़ जाती। उस समय का वह दृश्य आज भी आंखों में आंसू ला देता है। आप भी कई बार चलने को तैयार हुए। पर मेरे अनुरोध को वे टालते नहीं थे। जब-जब भी जेल जाने का प्रस्ताव आता, मैं स्वीकार न करती। उनकी तन्दुरुस्ती सालों से गिरी हुई थी। फिर भी उनका दिल बिल्कुल युवा का-सा था। मुझे यही लगता कि जेल में इनकी तन्दुरुस्ती बहुत

खराब हो जायगी। उन्हें जेल में मैं नहीं देख सकती थी।

एक दिन की बात है—मैं महिला-आश्रम गई थी, वहां बहुत सी बहनों ने सलाह करके मुझे कप्तानी का पद दे दिया। मैं क्या करती ? 700 स्त्रियों का आग्रह कैसे टालती ! मैंने उन्हें धन्यवाद दिया। उसी समय बाबू मोहनलाल सक्सेना ने मुझे वार्किंग-कैमेटी का मेम्बर भी बनाया। वहां पर जो भी कार्रवाइयां हुई, उन्हें अंग्रेजी में नोट किया। मेरे साथ जो वालंटियर मेरे घर पर पहुंचाने आया, उसी के द्वारा बाबूजी को लिखा कि इसे उर्दू और हिन्दी में तर्जुमा करने का अधिकार है आपको।

वह आदमी लौट गया तो आप मेरे पास आये और बोले—'तुमको मालूम है, यह कप्तानगिरी तथा वर्किंग-कमेटी की मेम्बरी तुम्हें जेल ले जायगी।'

मैं—'मेरा उन लोगों के सामने कुछ बस नहीं चलता। वे दूसरों को पसंद ही नहीं करती थीं। फिर वे कोई नौकर नहीं। जो अपनी ज़िम्मेदारी अधिक समझता है, उसे उतना भार दिया ही जाता है और उसे लेना भी चाहिए। और भाई, दो में एक को करना ही पड़ेगा।'

आप बोले—'मैं भी अब जेल जाने की तैयारी में हूं।'

मैं—'मैं कहां जेल पहुंच रही हूं ?'

मुझसे इतनी बातें करने के उपरान्त आप कांग्रेस-आफिस जाकर मोहनलाल सक्सेना से बोले—'भई, यह तुमने क्या किया ? जिन्हें तुमने कप्तान और वर्किंग-कमेटी का मेम्बर बनाया है, वह अगर जेल गई तो उनकी महज लाश बचेगी। वे हमेशा अपनी ताकत के बाहर काम करती आई है।'

सक्सेना—'उन्हें तो स्त्रियों ने चुना है। मेरा क्या बस था ? हां, वे उतनी स्त्रियों का आग्रह टाल न सकी।'

जब मैं जेल गई तो आप घर पर न थे। दूसरे दिन पहुंचे। घर पर मेरी लड़की, दोनों बच्चे तथा नौकर थे। दूसरे दिन सबको साथ लेकर जेल में मेरे पास पहुंचे, उनकी आंखें आंसुओं से भरी थीं।

मैंने उनसे कहा—'मैं बड़े आराम से हूं।'

उन्होंने कहा—'ठीक है।'

जब-जब मिलने के लिए वे जेल गये, तब-तब उनकी यही हालत रही। कई मित्रों की बधाइयां आईं, तार आये। कई मित्र सामने बधाई देते हुए बोले—'भाई, आप खूब रहे। बीवी जेल में और आप बधाई लेने पर बैठे हैं।'

'मैंने तो अपनी सबसे अमूल्य चीज भेंट की है।'

जब तक मैं जेल में थी, प्रति सप्ताह वे इतनी चीजें यह समझकर भेजते थे कि सबके काम आये। जब मैं छूटकर आई तो मालूम हुआ कि वे तभी से नहीं हंसे, भरपेट शायद खाना भी न खाया वज़न तो ड्योढ़ा मुझसे उनका घटा। उन्हीं दिनों सी-क्लास के कैदियों पर मार पड़ती थी. भरपेट खाना नहीं मिलता था, न कम्बल ओढ़ने-बिछाने को मिलता था। इसका घोर दुख मुझे था। एक दिन मैं अपने घर में इसका जिक्र कर रही थी कि कितना बड़ा अन्याय है। ए. बी. वाले तो सब सुविधाएं पावें और सी-क्लास के बेचारे वालंटियरों को इतने दुख। मेरी समझ में नहीं आता ये ए. बी. वाले कैसे इसे तोड़ नहीं डालते। वहां

पर भी ज्यों-के-त्यों रईस। मेरी समझ में इस रईसी से द्वेष फैलेगा।

आप बोले—'इसी रईसी ने ही तो हिन्दुस्तान को गारत किया है।'

मैं—'इसका आन्दोलन करने का मेरा निश्चय है।'

आप बोले—'इस बार मुझे जाने दो।'

'दो में एक ही आदमी तो जा सकता है। हम इतने मालदार नहीं कि हमारे बच्चे हमारे बिना ही सुखी रह सकेंगे। फिर आप साहित्य के जरिये तो अपना काम कर ही रहे हैं। ख़ामोश थोड़े ही बैठे हैं। मैं घर में बैठी-बैठी क्या काम करूं ? आप घर में बैठकर और जरूरी काम कर रहे हैं। सब यश आप ही ले लेंगे ?'

'जब कभी यश बंटने लगेगा तो सब मैं तुम्हें दे दूंगा।'

मैं बोली- 'बड़े दानी आप रहे ! ऐसा दिल तो स्त्रियों को मिला है कि काम करके छिप जाती हैं। बच्चे हमें हों, तकलीफ हम भोगें। नाम आपका हो।'

हम दोनों में इस तरह के विनोद चलते रहते हैं।

म्युनिसिपैलिटी से रंडियों के निकाले जाने का प्रस्ताव पास हो चुका था। मैं सोचने लगी कि आखिर ये जायेंगी कहां और इनका पेशा क्या होगा ? ये ऐसी घृणास्पद हैं कि दुनिया में रहने के लिए इनको जगह नहीं है। आख़िर ये हमारे ही बीच की तो हैं। मैं इन्हीं चिन्ताओं में मशगूल थी। पाप करने में क्या इन्हीं का हिस्सा होता है ? पुरुष-समाज क्या इससे बाहर है ? यह अत्याचार तो उन्हीं लोगों की प्रेरणा का फल है। आप उसी समय मेरे कमरे में आये और मुझे उदास देखकर बोले—'कैसी तबियत है ?'

मैं बोली—'स्त्रियों की तबियत होती ही क्या है?'

बोले—'आखिर बात क्या है ?'

मैं बोली—'पूछकर क्या कीजियेगा ? ईश्वर ने पुरुषों को स्त्रियों की जिम्मेदारी दी है। वे चाहे जो कर सकते हैं। मेरी समझ में बिल्कुल नहीं आता कि परमात्मा स्त्रियों को क्या जन्म देता है। दुनिया में आकर वे क्या सुख उठाती हैं, मेरी समझ में नहीं आता। शायद पुरुषों के पैरों तले रौंदी जाने के लिए ही वे संसार में आती हैं। और हमेशा उन्हीं सबकी वे सेवा भी करती हैं। अगर मेरा वश होता तो मैं स्त्री मात्र को संसार से अलग कर देती। न रहता बांस, न बजती बांसुरी।'

आप जोर से हंसते हुए बोले—'आख़िर बात क्या है ?'

उसी जगह अख़बार था। उनके सामने कर दिया। बोली—'देखिये अपने लोगों की करामात।'

आप उसको पढ़कर कुछ गम्भीर हो गये। बोले—'रानी, यह न तुम्हारे वश की बात है, न मेरे। और इन बातों में रखा ही क्या है ? व्यर्थ में तुम खुद दुखी होती हो। और उसका दोष मुझ पर देने लगती हो। तुम यह जानती हो कि मेरे वश में यह सब कुछ नहीं है।'

मैं बोली—'आप इन पर लिख और बोल तो सकते ही हैं। यह क्योंकि जो बात बुरी लगे, उसे वैसा मानकर बैठ जायं।'

आप बोले—'लिखने के मामले में तो मैं कभी पीछे नहीं रहा हूं। इन्हीं की गुत्थियां सुलझाने के लिए मैंने सेवासदन लिखा। और भी कहानियां और लेख मैंने लिखे हैं। अमल करना न करना तो उन लोगों के हाथ में है। तुम सारा-का-सारा दोष मेरे सिर मढ़ देती हो।

खुद परेशान होती हो और मेरे ऊपर बिगड़ती हो।'

मैंने पूछा–'कोई उपाय हो तो बतलाइये। यह बात सुनकर मेरा चित्त बहुत उद्विग्न हो उठा है।'

आप बोले–'जब तक हिन्दुस्तान आजाद नहीं होता, तब तक इनकी गुत्थियां नहीं सुलझ सकतीं। या तो फिर कोई बड़ा महात्मा पैदा हो कि जो इन गुत्थियों को सुलझा दे। सदियों से बिगड़ा हुआ ज़माना इतनी जल्दी कैसे सुधर जायगा।'

मैं बोली–'पुरुष वर्ग यह क्यों समझता है कि दुनिया में उन्हीं लोगों के रहने की जगह है। उन लोगों को पहले वे ही लोग घर से निकाल लाते हैं। वे लोग उन्ही लोगों के खराब करने की वजह से ख़राब होती हैं। आखिर वे दुनिया से कहां जायं ? मरने पर भी तो छुटकारा नहीं।'

आपने कहा–'मालूम होता है मैंने यह हालत बना रखी है ?'

मैं बोली–'मुझे तुम पर गुस्सा नहीं आ रहा है। मुझे गुस्सा आ रहा है दुनिया की अनीति पर और आप पर तो इसलिए बिगड़ रही हूं कि आप इसे सुनकर कोई उद्योग करें।'

आप बोले–'तुम विश्वास मानो यह मेरे वश के बाहर की बात है। समाज से लड़ने के लिए स्त्रियां कितनी विवश हैं, उससे कम विवश पुरुष नहीं हैं। अपना वश ही नहीं है तो क्या किया जाय।'

मैं बोली–'गांधीजी भी इस पर कभी कुछ नहीं लिखते।'

आप बोले–'जिन विषयों पर बोलते हैं उन्हीं को कहां लोग मान लेते हैं ?'

मैं बोली–'अब तो शायद वे ही इन अभागिनों का कुछ उपकार कर सकें।'

मेरे कहने पर वह हंसने लगे। मुझे और भी क्रोध आया। मैंने कहा, 'आप हंसते क्यों हैं ? मुझे बेचारियों पर दया आ रही है और आप हंसते हैं।'

आप बोले–'लाचारी की बात है। ज्यादा सिर खपाना ठीक नहीं।'

सुख के दिन बीत गये। वे कहां चले गये, पता नहीं। जाने फिर लौटेंगे या नहीं ? यह संसार भूलभुलैया है। कैसे मैं समझूं कि वे कहां जमा होते हैं ? अगर जमा होते तो फिर उन्हें वापस होना चाहिए था।

मैं उन पर कर्तव्य और अकर्तव्य सब डाल देती थी। मैं उनसे जिद करती थी। अब यह मेरी समझ में आता है कि मैं कितनी नादान थी। वही मैं अब हूं। शायद अब किसी के सामने मुंह खोलने को तैयार नहीं हूं। मेरा खयाल था कि मैं सब कुछ हूं। क्यों न समझती ? मेरे लिए उन्हें छोड़कर और था ही कौन ? आख़िर मैं अपने सुख-दुख की गाथा किससे कहती ? क्योंकि एक तरह से वे ही मेरी नाव खेने वाले थे। मैं सारा बोझ उन्हीं पर रख देती थी। शायद इसीलिए मेरा उन पर सारा अधिकार था। हम सारी बातें सबसे नहीं कह सकते। दूसरे तो दूसरे ही हैं। वे अपने थे। तभी शायद उन्हें मेरी चिन्ता हर तरह रहती थी। और इसीलिए मैं मुंह भी फुलाती थी। अब तो जैसे बदल गई हूं। बदलूं क्यों न, जब समय बदल गया तो क्यों न बदलूं ? वैसे ही कैसे रह सकती हूं ? जब नाव चलाने वाला नहीं रहा तो यात्री की सुरक्षा कैसे हो सकती है ? उसी तरह मैं भी डूबी हुई हूं। देखने में तो मैं बैठी हूं, पर डूबी हूं। करीब-करीब उसी तरह की हूं। मगर मेरा दिल उसी समय टूट गया, जिस समय उन्होंने दम तोड़ा।

कई साल की बात है। मैं इलाहाबाद गई हुई थी। मेरी भाभी होली के दिन मुझे रोकना चाहती थीं।

आप बोले—'मैं अकेला हूं, कैसे छोड़ जाऊं ? हां, मैं दिल्ली जाने वाला हूं। दिल्ली वालों ने मुझे बुलाया है। वहां से दो-तीन दिन बाद लौटूंगा, तब आप दोनों होली खूब खेलें।'

जब हम दोनों दिल्ली गये, तो वहां खूब होली रही। वहां सारे कपड़े उनके खराब हो गये। जब वहां से इलाहाबाद पहुंचे तो बारह बजे थे। आप बोले—'आओ महादेवी से मिलते चलें।' उनके दरवाज़े पर हम दोनों पहुंचे। मैं अन्दर गई। आप तांगे पर थे। मैं फौरन लौटना चाहती थी, मगर महादेवी मुझे रोकना चाहती थीं। बोलीं—'मैं उन्हें भी बुला रही हूं।'

जब एक देवी उन्हें बुलाने गई तो आप उनसे विनीत स्वर में बोले—'जाकर उनको भेजिये।'

वे महादेवी के पास इस खबर को लेकर आई।

महादेवी ने कहा—'वे खुद आकर लिवा ले जायं। हम इन्हें जाने नहीं देंगी।'

इसी तरह दो घंटे तक वे तांगे पर बैठे रहे। बाद में खुद उतरकर आये और बोले—'अब भी न जाने दीजिएगा ?'

सब एक स्वर में हंसीं और बोलीं—'आपकी हार तो हुई।'

'मैं तो आप लोगों से कभी से हारा हूं।'

मैं—'तो आप पहले क्यों नहीं आये ?'

'मैं सोचता था, इन्हें जल्दी फुर्सत हो जायगी।'

देवियां—'आप अपनी चालाकी में थे।'

इसके बाद उन लोगों ने नाश्ता करवाया। हम लोग स्टेशन से ही खा-पीकर चले थे। नाश्ता करने की तबियत न थी। उन लोगों ने वही पुरानी धमकी फिर दी। आपको मजबूरन खाना पड़ा।

उसके पहले मैं प्रयाग महिला-सम्मेलन में गई थी। और वे उसका मार्ग-व्यय मुझे दे रही थीं। मैं ले नहीं रही थी। वे उलाहना देती हुई बोलीं—'बाबूजी, देखिये ये मार्ग-व्यय नहीं ले रही हैं।'

'इनको ज़रूरत ही क्या रहती है। मैं आप लोगों के बीच में बोलूं ही क्यों ? आप सब एक हैं।'

मैं लखनऊ में थी। जो महराजिन हमारे यहां खाना पकाती थी, वह एक दिन शाम को खाना पकाने नहीं आई। जब वह सुबह आई तो मैं बोली—'रात कहां रह गई ?'

महराजिन रो रही थी। बोली—'मेरा लड़का कभी से गायब है।'

मैंने पूछा—'तलाश किया—कहां गया ?'

महराजिन बोली—'कल जब मैं आपके यहां खाना पकाने आई तब सुबह था। कल मैंने सारा शहर ढूंढ़ डाला, मगर कहीं पता नहीं लगता। कुछ लोगों से पता चलता है कि दो-तीन लड़कों के साथ कहीं भागा है।'

जब मेरी और महराजिन की बात चल रही थी, उस समय आप कमरे में काम कर रहे थे। महराजिन की और मेरी बातें सुनकर वे भी बाहर आ गये। क्योंकि उन्हें मुझसे ज़्यादा उसकी चिन्ता रहती है। क्योंकि उस हालत में खाना मुझे पकाना पड़ता था।

बाहर निकलकर आप बोले—'कल कहां रह गई थीं ?'

वह उनके सामने भी रोती हुई बोली—'बाबूजी, मेरा लड़का जाने कहां खो गया ? मैं उसी के लिए रात-दिन मरती हूं। और वह इस तरह गायब हो जाता है मानो उसको मुझसे कोई नाता न हो।'

आप बोले—'जब वह इस तरह का नालायक है तो तुम्हीं क्यों मरती हो ? जाने दो। जब उस बदमाश को खयाल नहीं होता कि मैं ही विधवा मां के लिए सब कुछ हूं, तब तुम्हीं क्यों जान देती हो ? कमाओ, खाओ, पड़ी रहो। वह तुमको कभी भी आराम नहीं दे सकता। तुम्हें तकलीफ ही देने के लिए वह पैदा हुआ है।'

महराजिन बोली—'मां की तबियत है, नहीं मानती। कल से चला गया है, रात-दिन बीत गया, मुंह में पानी तक नहीं गया। कुछ भी खाने की इच्छा नहीं होती।'

आप बोले—'यह तुम्हारी बेवकूफी है। क्योंकि वह तो अपनी खुशी से गया है और खुश भी होगा। तुम नाहक मरती हो।'

मैं बोली—'उसकी तरह यह तो अपनी तबियत नहीं बना सकती न ! यह मां ठहरी, बेटे की तकलीफ नहीं सही जाती।'

आप बोले—'ये तो मां है ठीक, पर उसकी भी तो तबियत वैसी ही होनी चाहिए। वह तो इनके अगले जन्म का दुश्मन है। वह दुश्मनी का बदला लड़का होकर पूरा कर रहा है। वह जब देखता है कि मां इस तरह परेशान हो रही है, तब भी बदमाशी करना नहीं छोड़ता और उसकी हिम्मत आगे ही को बढ़ी जा रही है। मैं तो कहता हूं महराजिन तुम आराम से रहो। लौटकर आये तो घर में रहने भी मत दो। वह खुद ठीक हो जायगा।'

मैं बोली—'मां इतनी जल्दी ऐसी बन भी तो नहीं पाती।'

आप बोले—'जब ऐसे बेटे हों तो ऐसी मां बनना चाहिए। बगैर बने काम नहीं चल सकता। लड़कों की हिम्मत तब और आगे बढ़ जाती है। मां अगर कड़े दिल की हो जाय तो वह लड़का भी ठीक हो जायगा। और इसी तरह रो-रोकर मरना है तो मेरे खयाल में वह ठीक नहीं होगा।'

मैं बोली—'सभी लड़के ऐसे नहीं होते।'

महराजिन को मालूम हो गया था कि बाबूजी के दफ्तर में एक ज्योतिषी है। मुझसे बोली—'आप उस ज्योतिषी से पुछवा देतीं तो कुछ पता चल जाता।'

मैंने कहा—'हां, पुछवा दूंगी।'

मैंने ज्योतिषी से पुछवाने की सभी जिम्मेदारी अपने सिर ले ली। उसी समय जाकर बोली—'आप अपने दफ्तर में जरा उनसे पूछिएगा।'

आप बोले—'तुम्हें भी ज्योतिषियों और पण्डितों का चक्कर लग गया ?'

मैं बोली—'मैं मानूं या न मानूं। वे पूछती हैं, उन्हें बतला दीजिए। आप उनको अपने साथ लेते जायं, उनसे पूछ देखेंगी।'

आप बोले—'कहीं कुछ नहीं होगा।'

मैंने कहा—'नहीं, वादा कर दिया है, पुछवाना पड़ेगा।'

आप बोले—'खैर, मेरे साथ ही चली चलें।'

मैंने कहा—'खाना खाकर आपके साथ चली जाओ।'

'बहनजी, मेरी तबियत बिलकुल नहीं है खाने की', महराजिन बोली।

आपने कहा-'खा लो महराजिन।'

आप अपने साथ महराजिन को ले गये। जो कुछ महराजिन ने कहा, उसे पण्डित को समझा दिया और पण्डित का कहना महराजिन को। उसके साथ-साथ ज्योतिषी की तारीफ कर दी। ज्योतिषी ने बताया था कि दो-तीन दिन में आप-से-आप तेरा लड़का आ जायगा, जब महराजिन चलने लगी तो उसे किराये के लिए आपने दो पैसे भी दिये। तीसरे दिन महराजिन का लड़का सचमुच आ गया। महराजिन को खुशी हुई।

मेरे घर में एक नौकरानी बूढ़ी बारिन थी। मेरे ही घर का काम करती, रात-दिन मेरे ही घर में रहती। उस बारिन के चार बेटे जवान थे, एक बेटी थी। मगर बुढ़िया को कोई खिला नहीं सकता था और जब उसका महीना पूरा होता उसका कोई-न-कोई लड़का आकर उसकी तनख़्वाह ले जाता। एक दिन मैं और वे बैठे थे। चंद मिनट पहले ही उसका लड़का रुपया लेकर गया था। आप बड़े अफसोस के साथ बोले-'इस बुढ़िया के लड़के आदमी हैं कि शैतान ? मेरी समझ में नहीं आता कि यह बूढ़ी मां काम करे और इसके जवान-जवान लड़के तनख़्वाह लेने पहुंच जायं।'

मैं बोली-'आप आख़िर कहना क्या चाहते हैं ?'

आप बोले-'मैं यह कहना चाहता हूं कि ये जवान लड़के बुढ़िया की कमाई लेने क्यों आते हैं ? खुद देना चाहिए। बड़े बेहया हैं, बदमाशों को शरम भी नहीं आती।'

मैं बोली-'शरम क्यों आये ? शरम तो अच्छे अच्छों को नहीं आती। ये तो जाहिल ही हैं।'

आप बोले-'तो यह देती क्यों है बुढ़िया ?'

मैं बोली-'आकर रोते होंगे, इसी पर दे देती होगी। वह तो मां ठहरी। कैसे तकलीफ दे सकती है। आपने एक कहानी भी तो लिखी थी "बेटों वाली विधवा"। आप तो इस विषय में पहले ही अपने विचार प्रकट कर चुके हैं, फिर मुझसे क्यों पूछते हैं ?'

आप बोले-'मैं समझता था ज़्यादा खुदगर्जी अंग्रेज़ी पढ़े-लिखों में ही आ गई है। अब इन सबों का हाल देखकर दंग रह जाना पड़ता है। पहले मैं देखता था छोटे लोगों में मा की इज्ज़त होती थी, उसकी जगह पर यह उल्टा ही दिखाई पड रहा है। उस बेचारी को रोटी भी देने वाला कोई नहीं है। ये तो जवान हो गये हैं। जैसे बचपन में चूस-चूसकर उसका दूध पीते थे, अब जवान होने पर उसी का पैसा चूसने को तैयार हैं।'

मैं बोली-'आपको नई-नई बातें याद आ जाती हैं।'

आप बोले-'नहीं जी, मैं देखता हूं उस बेचारी से बडी वाल्टी नहीं उठती, सुबह जब वह पानी लाती है तो उसके हाथ कांपते रहते हैं। या मैं खुद अपना काम कर लेता हूं या उधर ही आकर नहा लेता हूं। शाम के वक्त मैं खुद चारपाई छत पर डाल लेता हूं। मुझे उसकी हालत पर दया आती है। मगर इन भूतों को दया छू भी नहीं गई है। तुम इन लोगों को मना क्यों नहीं कर देती हो ?'

मुझे इस तरह दूसरे के घर का न्याय बूझने पर क्रोध-सा आ गया।

मैं बोली-'मुझसे नहीं कहते बनता। आप ही समझा दीजिये। आप इन लोगों को समझाना जितना आसान समझते हैं, उतना है नहीं। इनके जीवन में जो महत्त्व लड़कों का

है, वह किसी का नहीं। ये किसी और के समझाने से न समझेंगे।'

आपने कहा—'तभी तो लड़के बहुत शरीफ हो रहे हैं न ! "मोर पिया मोर नांव न पूछै, मोर सुहागिन नांव" यही दशा इसकी है।'

मैंने कहा—'रांड मांड़े खुशी।'

उस दिन देर तक हम लोगों में वाद-विवाद होता रहा।

आप बोले—'स्त्रियों में एक बात यह भी तो है कि शौहर जीता रहे, माने या न माने; पर वह स्त्री भाग्यवती समझी जाती है। कहते हैं कि वह बड़ी सुखी है। जिसका पति न हो, वह अभागिन समझी जाती है। उस बेचारी को अभागिन कहेंगे।'

मैं बोली—'आपकी इस बात का खण्डन तो मैं ही कर देती हूं। जिसका पति मर गया वह तो सचमुच अभागिन है।'

आप बोले—'तुम गलती पर हो।'

मैं बोली—'मैं गलती पर नहीं हूं, आप हैं।'

आप बोले—'मैं इसको नहीं मानता।'

मैंने कहा—'आपके न मानने से क्या होता है ?'

आप बोले—'मान लो कोई आदमी अपनी स्त्री के रहते दूसरी स्त्री से शादी कर लेता है और पहली की बात भी नहीं पूछता। दिल में यह मनाता हो कि मर जाय तो अच्छा है। तुम्हीं बताओ उसके जीवन में क्या है ? उसको तुम सुखी समझती हो ? तुम समझो, मैं तो नहीं समझूंगा। मैं उसे ही सुखी समझूंगा, जिसका पति मर गया है। कम-से-कम उसमें जो प्रेम था, अपनापा था, वह तो उसके साथ है। उसके लिए अब क्या रहा ? उस सधवा के हाथ तो कुछ नहीं लगा ? जलना और नफरत बस ! उस विधवा को तड़पन है, जलन है मगर विधवा के दिल के अन्दर जो अपनापा और प्रेम के अंकुर जमा हो गये हैं, वही उसकी स्थायी सम्पत्ति हैं। उसके मरने पर ही वह दूर हो सकेगा। जो उसके दिल के अन्दर स्थान है, वही उसके जीवन की स्थायी और अमूल्य वस्तु है। जिसके जीवन में ये चीजें मिल जाय उसे और किसी चीज़ की ज़रूरत ? अब उसका अन्दाजा लगाओ, जिसे घर में जीवित पति जला रहा है।'

मुझे क्या मालूम था कि इन बातों को याद करके एक दिन मुझे रोना पड़ेगा। उनके सम्बन्ध की सारी स्मृतियों को मन में सजोकर सतोष करना पड़ेगा। वाह री किस्मत, तू सब कुछ करवाती है। तेरे हाथ का खिलौना सभी को बनना पड़ता है। मेरे स्वामी ने कहा था कि स्थायी चीज स्मृति ही होती है और कुछ नहीं होता। केवल वही चीज़ स्थायी है। एक दिन वे थे जब दुनिया भर के वाद-विवाद पर घंटों बहस होती। उस समय वे बातें व्यर्थ की बहस मालूम होती थीं। आज उन्हीं को सोच-सोचकर लिखने बैठी हूं। हालांकि उन बातों को सोचकर हृदय पर छुरियां-सी चल जाती हैं। मगर फिर भी उन्हें याद किये बिना नहीं रहा जाता। उनको सोचने में जो एक झलक-सी दिखाई पड़ जाती है, वह बीते हुए सुखों की एक स्मृति है। मुझे विवश होकर लिखना पड़ रहा है। मैं यह सोचकर नहीं लिख रही हूं कि इसमें पाठकों का कोई मनोरंजन होगा; या कोई तथ्य निकलेगा। मैं क्यों लिखती हूं। क्यों सोचती हूं, खुद नहीं जानती। हां, यह जानती हूं कि इनको सोचने में कोई सार और कोई तथ्य अवश्य होगा। तभी तो लिखती हूं क्योंकि जब आदमी को रोने की इच्छा होती

है तब उसको दुख की घटनाएं याद करने में मज़ा आता है। तभी तो वह याद करता है और सोचता है।

●

स्त्रियों के प्रति उनके विचार क्या थे, इन सब बातों का पता तो पाठक ऊपर की घटनाओं से पा गये होंगे।

आज के सात-आठ वर्ष पहले आपने 'जागरण' में एक लेख द्वारा हरविलास शारदा के समानाधिकार के प्रस्ताव पर बधाई दी थी और लिखा था—'मैं आपको दिल से बधाई देता हूं। स्त्रियां आपकी हमेशा कृतज्ञ रहेंगी। क्योंकि स्त्री और पुरुष दोनों मिलकर जिस सम्पत्ति को जोड़ते हैं पति के मर जाने के बाद उन्हीं के गोद के बच्चे उनसे मुंह छिपाते हैं। यह प्रस्ताव जिस दिन पास होगा, करोड़ों महिलाएं आपको हृदय से आशीर्वाद देंगी और आपकी सदैव कृतज्ञ रहेंगी। उन्हीं के साथ मैं भी आपका कृतज्ञ हूं। क्या हिन्दू-ला में स्त्रियां बेकार की चीज़ समझी गई हैं कि जो कूड़ा-करकट की तरह उन्हें निकालकर बाहर किया जाता है ? भगवान् जाने, यह कानून क्यों और किनके लिए बना था। मुझे तो आशा है, कोई भी विचारवान् व्यक्ति इस प्रस्ताव पर असहमति न प्रकट करेगा।'

मैंने भी उसे पढ़ा और उन्हें बधाई दी।

आप बोले—'मुझे बधाई क्यों दे रही हो ? बधाई तो हरविलासजी को मिलनी चाहिए।

'आपने समर्थन किया, इसलिए आपको बधाई दे रही हूं।'

जब सब लोग खाना खाकर सो रहे तब 'जागरण' में जो पढ़ा था, उसी पर मैं बात करने लगी।

मैं बोली—'आपने तो शारदा साहब की खूब तारीफ की।' बोले—'नहीं तो ! स्त्रियों के लिए उनके इस प्रयत्न पर मुझे खुशी है, लिख दिया। तुम्हीं बताओ इन देवियों पर किसी नेता या विद्वान् को रहम आया ?'

मैं बोली—'मनु ने तो लिखा है।'

आपने कहा—'लिखने से क्या ? आज का कानून आज के लिए लागू है। गवनमेण्ट तो नहीं चाहती।'

मैं बोली—'तब कानून बनाने से भी कोई न मानेगा।'

आप बोले—'तुम गलत कह रही हो। कानून का डण्डा बड़ा मज़बूत होता है। उसके सामने सभी सिर झुका देते हैं। तब मानने न मानने का सवाल नहीं रह जाता। आज अगर कानून पास हो गया तो बड़ा ही उपकार होगा। जो चीज़ धर्म पर छोड़ी जाती है, वह मुर्दा है। उनका होना न होना दोनों बराबर हो जाते हैं।'

मैं बोली—'दुनिया में क्या हर बेटे नालायक होते हैं ?'

आप बोले—'नालायकों को दुरुस्त करने के लिए ही तो ऐसा चाहिए। फिर देखो अभी झगड़ा है। इन पोप-पन्थियों के मारे पास हो जाय तब न।'

मैं बोली—'आपने तो अपनी ओर से पास ही कर दिया।'

आप बोले—'तुम लोगों को तो सबसे ज़्यादा बधाई देनी चाहिए थी।

मैं बोली—'मनुस्मृतिकार ने तो पहले ही लिख दिया है।'

आप बोले—'वह बहुत दिन की बात हो गई। उसे धर्म-ग्रंथ मानेंगे, पर उसकी बात पर अमल नहीं करेंगे।'

मैं बोली—'लेकिन क्या सभी बच्चे ऐसे होते हैं जो ऐसा व्यवहार कर सकते हैं ?'

आप बोले—'अगर सब ऐसा करें तो क्या करोगी ?'

मैं बोली—'तुम्हारे पिताजी क्या छोड़कर गये थे ? और अपनी मां भी नहीं, सौतेली थीं; फिर भी वह किस तरह शासन करती थीं, क्या आप भूल गये ?'

आप बोले—'मुझे छोड़ दो। तुम अपने ही बच्चों को देख लो। यद्यपि तुम्हारा शासन उन्हीं लोगों की भलाई के लिए होता है; फिर भी वे तुम्हारी बातों पर ध्यान नहीं देते। मुझे उन लोगों पर क्रोध आता है। मैंने कई बार तुमसे कहा है कि जब वे तुम्हारा कहना नहीं मानते, तब क्यों उन पर हुकूमत करती हो ? उनको मालूम है कि वे कितने प्यार से रखे जाते हैं। अगर माताओं को उन्हीं का सहारा रहा तो बुरी बात है न ? तुमको याद होगा, मैंने एक कहानी "बेटों वाली विधवा" नाम की लिखी थी। वह कल्पित नहीं थी। सच्ची घटना के आधार पर थी। तुम उसे जरा पढ़ना। हो सकता है कि तुमने पढ़ी हो।'

मैं झेंपती हुई बोली—'भाड़ में जाय, होगा। मैं बच्चों के साथ थोड़े ही ब्याही गई हूं। तुम्हारा भी यह कहना है कि मैं तुमसे ब्याही गई हूं, न कि बच्चों से।'

आपने हंसकर कहा—'अब कुछ फीस दो। तुम्हे मैंने कितनी बातें बताईं। दो बीड़ा पान तो दो।'

ये बातें करते-करते बारह बज गये थे। आप बोले सो जाओ।

आज मैं उन बातों को सोचती हूं तो कलेजा बैठ जाता है। उनके अभाव से मुझसे ज्यादा देश की हानि हुई है। अभाग्यवश ऐसी संख्या बहुत थोड़ी है कि कुछ पुरुषों ने स्त्रियों की उन्नति में भाग लिया है। वे मेरे अकेले नहीं थे। हां, मैं भाग्यशालिनी जरूर थी। इतना बड़ा पुरुष मेरा होकर रहता था। यह दूसरी बात है कि मैं उनके जीवन-काल में उन्हें पूरा-पूरा नहीं पहचान पाई। मैंने उन्हे पति-रूप में प्राप्त किया था, मेरे वे थे भी वैसे ही सब कुछ। उनको मैं श्रद्धा की चीज़ कैसे मान पाती। वे मेरे बहुत ही निकट के स्वजन थे। इसी कारण शायद मेरी आंखों पर पट्टी बंधी रहती थी। मैं पहचान नहीं पा रही थी।

एक बात और हो सकती है। श्रद्धा और प्रेम साथ-साथ नहीं चल सकते। श्रद्धा सिर झुकाती है, और प्रेम हृदय लगता है। शायद यही बात है कि दोनों साथ-साथ नहीं चल सकते। मैं अगर उनसे श्रद्धा करती होती तो पान-फूल लेकर दौड़ती। वे मेरे लिए बाज़ार जाकर दौड़कर पान-मिठाई न लाते। सोते समय मुझे उठाकर वे गिलास का पानी न पिलाते। मुझे नींद न आने पर मुझे पंखा न झलते। मेरी छोटी-से-छोटी ज़रूरतों को दौड़कर वे पूरी न करते। तब वे मुझे मिलाने की कोशिश न करते। प्रेम तो उन सबों से, जहां ये बातें नहीं, कोसों दूर भागता है। इन दोनों का मेल ही नहीं खाता। आज जब वे मेरे नहीं रहे तो वे मेरी श्रद्धा की चीज़ हो गये हैं। मेरे हाथ अब र ही क्या गया। जिस कानून पर इतनी बहस हुई थी, वह उनके मरने के चार महीने बाद पास हुआ। वह ऐसी मनहूस घड़ी में पेश हुआ था कि उनके मरने के बाद ही वह वापस हुआ। वे उसे पास हुआ देखकर कितना खुश होते, ईश्वर ही जानता है। मैं विमूढ़ हो बैठी-बैठी इन्हीं बातों को सोचती रहती हूं। बीता सुख जैसे स्वप्न का हो। यही सोचते-सोचते एक दर्द-सा हो आता है, और उसी

में थोड़ी देर के लिए अपने को भूल जाती हूं। वे जहां भी होंगे, वहां उनकी आत्मा शान्त होगी। मगर यहां तो वे अशान्ति ही दे गये। अपने को इस जीवन में शान्ति कहां ? यहां तो बस हाथ मलना है और हाथ कुछ आना नहीं है।

●

काम और केवल काम उनका साध्य था पर कोई मिलने वाला आ जाय तो चाहे कितना भी ज़रूरी काम हो तुरन्त छोड़कर, उससे बातचीत करने लगते। और सारे जब तक अगन्तुक अपनी मर्जी से ही न उठ जाए वे उसका साथ न छोड़ते। परिणामतः कामों का कार्यक्रम गड़बड़ा जाता। देर रात तक जाकर उसकी भरपाई करते। पत्नी खीजती—

कई रोज से सुबह का समय लोगों से मिलने में ही निकल जाता, रात को उठकर काम करते। एक दिन मैं बोली—'रात को काम करना ठीक नहीं।'

आप बोले—'तब काम कब करूं ? दिन भर लोगों से मिलने से ही छुट्टी नहीं मिलती।'

मैं बोली—'आख़िर मिलने का कोई समय क्यों नहीं निर्धारित कर लेते ? यह क्या कि जब कोई आये उससे आप गपशप करने लगे।'

आप बोले—'तो क्या करू ?'

मैं बोली—'इसका प्रबन्ध तो आप ही कर सकते हैं।'

आप बोले—'वे बेचारे इतनी दूर से मिलने के लिए आते है और उनसे न मिला जाय तब भी तो नहीं अच्छा होता। यह कैसे सम्भव है कि मैं उनसे न मिलू।'

मैं बोली—'तो हर समय का यह झंझट ठीक नहीं। जो जब आया उसी में उलझ पड़े।'

आप बोले—'यह तो बड़े आदमियों के लिए है कि उनका मिलने का समय निर्धारित रहे।'

मैं बोली—'मै बडा आदमी होने के लिए नही कहती हू, सब काम समय से हो जाने के लिए मैं कह रही हूं।'

आप बोले—'यह ठीक है। पर यह बड़े आदमियों के लिए ही सम्भव है। जो मै खुद बुरा समझता हूं वही करूं। फिर वे बेचारे कहां जायं ?' शुरू-शुरू मे कुछ लिखना चाहते हैं। वे लोग बिना पतवार की नाव की तरह हैं। उन्हीं समस्याओं को सुलझाने के लिए वे इतनी दूर से मेरे पास आते है। अगर मैं उनसे बात न करूं तो वे कहां जायंगे ?'

मैं बोली—'सबको सिखाने का ठेका क्या आपने ले रखा है ?'

आप बोले—'भाई, तब क्या करूं ? सुबह घूमना भी ज़रूरी होता है। घूमकर आते ही नाश्ता करके काम करने अपने कमरे में बैठ जाता हूं। खुद भी लिखता-पढ़ता हूं, साथ ही तुम्हारे बच्चों को भी पढ़ाता हूं। उसके बाद फिर उटता हूं, नहाता-धोता हूं, खाना खाता हूं। उसके बाद प्रेस जाता हूं। प्रेस से आने के बाद एक घण्टे तक आकर बच्चों से बात करता हूं। नहीं वे भी सब बिलल्ले हो जायं। फिर उसी के साथ-साथ अपनी भी तो थकान मिट जाती है। उसके बाद मुंशी आ जाता है, उसे कुछ-न-कुछ बोलना पड़ता है। फिर नौ बजे उठकर खाना खाता हूं। एक घण्टा ही बाकी बचता है। उतनी ही देर में चाहे जो कुछ

पढ़ूं-लिखूं। उस पर सरकारी हुक्म है कि दस बजे सो जाओ। सरकारी हुक्म टाला भी जा सकता है पर तुम्हारा तो टाला भी नहीं जा सकता। अब तुम्हीं बताओ इसमें कितना समय मैं निकाल सकता हूं। "लीडर" तो मैं प्रेस में पढ़ता हूं। मेरा तो एक-एक सैकिंड बंटा हुआ है। मैं तो ईश्वर से मनाता रहता हूं कि रात छोटी हुआ करे, दिन बड़ा।'

मैं बोली—'आप रात को भी तो काम करते हैं।'

आप बोले—'उठता तो जरूर हूं, पर तुम्हारा डर लगा रहता है कि कहीं तुम जग न पड़ो। भाई, काम कब करूं अगर रात को न जागूं ?'

मैं बोली—'इससे तो यह बेहतर होता कि आप अकेले रहते। आपको शादी-ब्याह नहीं करना चाहिए था।'

आप बोले—'बला तो कुछ भी नहीं है। तुम हो, घर-गृहस्थी की ओर से छुट्टी पा गया हूं। पैसा कमाना मेरे लिए कठिन नहीं है। गृहस्थी की गुत्थियां मैं हर्गिज़ नहीं सुलझा सकता। मैं इस मानी में खुश हूं कि सब बला तुमने अपने सिर ले ली है।'

मैं बोली—'तब तो आप आराम से ही रहते। मैं डांटने को तो न रहती। आप रात-दिन काम करते।'

आप बोले—'ख़याल गलत है। तुम नहीं रहती हो तो मैं इतना काम नही कर पाता।'

मैं बोली—'तो क्या मुझे चिढ़ाने के लिए रात-रात भर जगकर काम करते हैं ?'

आप बोले—'अगर कोई खाने वाला न हो तो कमाने वाला गदहा है।'

मैं बोली—'क्यों ? तब तो आराम ही आराम रहता है।'

आप बोले—'नहीं जी, वह भी कोई आदमी है। वैसों का जीवन पशुओं से भी बदतर हो जाता है।'

मैं बोली—'तब तो सबसे ज्यादा आफत मेरे ऊपर है।'

आप बोले—'आफत की क्या बात है इसमें, तुम्हारी निगरानी ने ही मुझे इस तरह बना रखा है।'

मैं बोली—'लेखकों को बडी आफत रहती है।'

आप बोले—'तुम भी तो लेखिका बन रही हो। मना तो करता हूं आराम से रहो। पर तुम कहां मानती हो।'

मैं बोली—'जब आप आराम नहीं करते तो मै क्यों आराम से रहूं ?'

आप बोले—'तुम्हारा ख़याल गलत है। मै उसमें घुटता नहीं। मुझे उसमें आनन्द आता है। फिर अब तो तुम्हें भी थोड़ा-थोड़ा अनुभव होगा।'

मैं बोली—'रात-दिन काम करने को घुटना नहीं कहते हैं ?'

आप बोले—'कोई जबर्दस्ती थोड़े ही मुझसे करवाता है। अब इसी से सोच लो। मुझसे जो मिलने वाले आते हैं, उनसे मेरा ही लाभ है उनका नहीं।

मैं बोली—'तब तो बहुत ठीक है। लेकिन इतनी मेहरबानी किया कीजिये कि रात को जगा न कीजिये। रात के उठने से बीमारी की शंका मुझे हो आती है।'

आप बोले—'इसी तरह समझ लो। मैं भी तुम्हारी बीमारी से बहुत घबराता हूं। तुम बीमार पड़ जाती हो तो मेरा भी सारा काम पिछड़ जाता है।

मैं बोली—'मैं काम करने की वजह से कभी बीमार नहीं पड़ी।'

आप बोले—'साल में तुमको भी एक-न-एक रोग लगा रहता है।'

मैं बोली—'कभी पड़ तो मैं नहीं जाती।'

आप बोले—'मैं ही कब पड़ जाता हूं ?'

मुझसे अक्सर इस तरह अनेक विषयों पर उनसे बातें होतीं। मेरे गुस्से का जवाब वे हंसी से देते। मैं आज उन बातों को सोचकर प्राण ग्रहण करती हूं। पहले क्रोध आता था, आज दुख होता है।

इतना ही होता तो भी चलता पर वे तो जैसे सहयोग की साक्षात् मूर्ति थे। अमृतराय लिखते हैं—

उन्हीं दिनों की बात है, एक रोज़ कैलाशनाथ जी प्रेस पहुंचे। कैलाशनाथ गोरखपुर के जूनियर ट्रेनिंग कालेज (मुंशीजी के वक्त के नार्मल स्कूल) में कई बरस तक प्रिंसिपल रहे। तब वह अठारह-बीस साल के नौजवान थे। उन्हें कोई अभिनन्दनपत्र छपाने के लिए दिया गया। अब सुनिए—

'बनारस के सभी छोटे-बड़े प्रेस बंद थे। जहां जाता, कोरा जवाब मिलता, प्रेस बन्द है। लाचार, निराश, घूमता हुआ मैं विशेशरगंज में सरस्वती प्रेस के सामने आया। देखा प्रेस बंद है पर कपाट आधे खुले हैं। अंदर झांका, एक साधारण-सा व्यक्ति खादी का मैला कुर्ता-धोती पहने बैठा था। मैंने पूछा—क्यों साहब, प्रेस बंद है ?'

'—जी, प्रेस तो बंद है, पर कहिए आपका क्या काम है ?'

नौजवान ने अपना काम और उसकी अहमियत बतलायी तो वह आदमी ठठाकर हंस पड़ा और बोला—आपको बिल्कुल ऐन वक्त पर यह काम सूझा ! पहले क्यों नहीं आये ?'

नौजवान ने अपनी सफाई दी—मुझे तो कल ही यह काम सौंपा गया है और तभी से मैं दौड़-भाग कर रहा हूं, पर न तो कल ही किसी प्रेस ने इस काम को लेना मंजूर किया और न आज ही।

'तो इसमें घबराने की ऐसी कौन-सी बात है, हाथ से ही लिखकर तैयार कर लीजिए।'

पर जब इससे नौजवान की दिलजमई नहीं हुई तो उस आदमी ने कहा—अच्छा घबराओ नहीं, देखता हूं, पास ही में एक कंपोजीटर रहता है, अगर वह आज काम करने के लिए तैयार हो जाय तो क्या कहना, तुम थोड़ी देर यहां बैठो।

यह कहकर वह आदमी कंपोज़ीटर को ढूंढ़ने चल दिया। आध घंटे बाद लौटा तो कंपोज़ीटर साथ था। पर वह छुट्टी का दिन था, सभी मेले की तैयारी में लगे थे और कंपोज़ीटर काम करने में आनाकानी कर रहा था। तब उस आदमी ने बड़े प्यार और आग्रह से कहा—'यह लड़का बहुत परेशान है। अगर आज इसका काम न हुआ तो बनारस की बड़ी भद होगी।'

कंपोज़ीटर काम में जुट गया और वह आदमी नौजवान से बातें करने लगा।

जब पैसे चुकाने का वक्त आया तो उसने जो चार्ज बतलाया वह दूसरे प्रेसों के साधारण रेट से भी कम था। नौजवान ने कुछ सकुचाते हुए कहा—आज तो छुट्टी का दिन

है, आपको दुगना चार्ज लेना चाहिए...

मगर वह आदमी इसके लिए राज़ी न हुआ और पैसे कंपोज़ीटर के हाथ में देते हुए बोला—भाई, जो तुम्हारा पैसा हो वह तुम ले लो, जो बचे, हमें दे दो। चलो दोनों का काम चला।

•

लिखने के समय तो मानो दीन-दुनिया का होश न रहता। अमृतराय ने 'कलम के सिपाही' में लिखा है—

रात के नौ बजे से ही खाने के लिए मुंशीजी की पुकार होने लगती, कभी एक लड़का मां का संदेश लेकर पहुंचता कभी दूसरा, और जब इन राजदूतों या यमदूतों से काम न चलता तो शिवरानी देवी खुद खटर-पटर करती नीचे उनके कमरे में पहुंचतीं और कुछ बड़बड़ाती हुई कलम उनके हाथ से लेकर कलमदान में रख देतीं। मुंशीजी कभी 'तुम चलो, मैं अभी आया' का पाठ पढ़ाने की कोशिश करते, कभी खिसियाकर मुस्कराते हुए कहते, 'क्या करती हो रानी, जुमला तो पूरा कर लेने दो।' लेकिन रानी इन सब बहानेबाज़ियों की क्या ताब लातीं, मुंशीजी गिरफ्तार करके ऊपर लाये जाते, बच्चे (जो बाबूजी के साथ बैठकर खाने के लोभ में अक्सर बिना खाये ही सो गये रहते) जगाये जाते और रात के खाने का प्रकरण शुरू होता।

मुंशीजी खुद तो इस तरह जी तोड़कर काम करते लेकिन बच्चों को ज़्यादातर खेलने की ही नसीहत करते। एक रोज छोटे साहबज़ादे बैठे भूगोल का होमवर्क कर रहे थे। नक्शे बनाने में वह ज़रा ज्यादा ही कच्चे थे, लिहाजा बनाते-बिगाड़ते-बनाते शाम हो गयी। मुंशीजी ने प्रेस से लौटकर जो यह हाल देखा तो फौरन उन्हें घर से बाहर निकालकर ही दम लिया।

इन्हीं दिनों मुंशीजी ने हेण्ड्रिक विलेम वान लून की 'स्टोरी आफ मैनकाइण्ड' का अनुवाद हिन्दी में किया। किताब लेकर लिपिक को बोलते जाते थे। पर खुद अपने लिखने का काम मुंशीजी अपने हाथ से ही कर पाते थे और उन्हें ऐसे लोगों पर बड़ा ताज्जुब होता था जो कहानी-उपन्यास भी बोलकर लिखा लेते हैं।

•

प्रेमचंद कितने सहज और साधारण रंग-ढंग के थे, उनकी उन्मुक्त हंसी कितनी अविस्मरणीय थी, जैनेन्द्र का संस्मरण—

मुलाकात की कहानी कुछ कम दिलचस्प नहीं है—

कुम्भ के मेले पर इलाहाबाद जाना हुआ। वहां प्रेमचंदजी का जवाब भी मिल गया। लिखा था—अमीनुद्दौला पार्क के पास लाल मकान है। लौटते वक्त आओ ही। ज़रूर आओ।

सन् '30 की जनवरी थी। खासे जाड़े थे। बनारस से गाड़ी लखनऊ रात के कोई चार बजे ही जा पहुंची थी। अंधेरा था और शीत भी कुछ कम न थी। ऐसे वक्त अमीनुद्दौला पार्क के पास वाला लाल मकान तो मिल जायगा ही, पर मुमकिन है असुविधा भी कुछ हो।

लेकिन दर-असल जो परीशानी उठानी पड़ी उसके लिए मैं बिल्कुल तैयार न था।

पांच बजे के लगभग अमीनुद्दौला पार्क की सड़क के बीचोंबीच आ खड़ा हो गया हूं, सामान सामने निर्जन एक दुकान के तख़्तों पर रखा है। इक्का-दुक्का शरीफ आदमी टहलने के लिए आ-जा रहे हैं। मैं लगभग प्रत्येक से पूछता हूं—जी, माफ कीजिएगा। प्रेमचंदजी का मकान आप बतला सकते हैं ? नज़दीक ही कहीं है। जी हां, प्रेमचंद।....

उसी सड़क पर ही मुझे छः बज आये। साढ़े छः भी बजने लगे। तब तक दर्जनों सज्जनों को मैंने क्षमा किया। लगभग सभी को मैंने अपने अनुसन्धान का लक्ष्य बनाया था लेकिन मेरे मामले में सभी ने अपने को निपट असमर्थ प्रकट किया।....

आसपास मकान कम न थे और लाल भी कम न थे। और जहां मैं खड़ा था, वहां से प्रेमचंदजी का मकान मुश्किल से बीस गज़ निकला, लेकिन उस रोज़ सम्भ्रान्त श्रेणी से प्रेमचंदजी तक के उस बीस गज़ के दुर्लभ्य अन्तर को लांघने में काफी देर लगी। और क्या इसे एक संयोग ही कहूं कि अन्त में जिस व्यक्ति के नेतृत्व का सहारा थामकर मैं उन बीस गजों को पारकर प्रेमचंदजी के घर आ लगा वह कुल-शील की दृष्टि से समाज का उच्छिष्ट ही था ?....

जीने के नीचे से झांकने पर मुझे जो कुछ ऊपर दीखा उससे मुझे बहुत धक्का लगा। जो सज्जन ऊपर खड़े थे उनकी बड़ी घनी मूंछें थीं, पांच रुपये वाली लाल इमली की चादर ओढ़े थे जो काफी पुरानी और चिकनी थी, बालों ने आगे आकर माथे को कुछ ढक सा लिया था और माथा छोटा मालूम देता था। सिर ज़रूरत से छोटा प्रतीत हुआ। मामूली धोती पहने थे जो घुटनों से ज़रा नीचे तक आ गयी थी।....मैंने जान लिया कि प्रेमचंद यही हैं। इस परिज्ञान से बचने का अवकाश न था। पर उनको ही प्रेमचंद जानकर मेरे मन को कुछ सुख उस समय नहीं हुआ। क्या जीते जी प्रेमचंद इनको ही मानना होगा ?... प्रेमचंद के नाम पर यह सामने खड़ा व्यक्ति इतना साधारण, इतना स्वल्प, इतना देहाती मालूम हुआ कि....

इतने में उस व्यक्ति ने फिर कहा—आओ भाई, आ जाओ।

मैं एक हाथ में बक्स उठा जीने पर जो चढ़ने लगा कि उस व्यक्ति ने झटपट आकर उस बक्स को अपने हाथ में ले लेना चाहा।....

घर सुव्यवस्थित नहीं था। आंगन में पानी निरुद्देश्य फैला था। चीजें भी ठीक अपने-अपने स्थान पर नहीं थीं। पर पहली निगाह ही यह जो कुछ दीखा, दीख सका। आगे तो मेरी निगाह इन बातों को देखने के लिए खाली ही नहीं रही।....

सब काम छोड़कर प्रेमचंद जी मुझे लेकर बैठ गये। सात बज गये, साढ़े सात बज गये, आठ होने आये, बातों का सिलसिला टूटता ही न था। इस बीच मैं बहुत कुछ भूल गया। भूल गया कि यह प्रेमचंद हैं, हिन्दी के साहित्य सम्राट हैं। यह भी भूल गया कि मैं उसी साहित्य के तट पर भौंचक खड़ा अनजान बालक हूं। यह भी भूल गया कि क्षण भर पहले इस व्यक्ति की मुद्रा पर मेरे मन में अप्रीति, अनास्था उत्पन्न हुई थी।....

उस व्यक्ति की बाहरी अनाकर्षकता उस क्षण से जाने किस प्रकार मुझे अपने आप में सार्थक वस्तु जान पड़ने लगी। उनके व्यक्तित्व का बहुत कुछ आकर्षण उसी अ-कोमल आनबान में था।....

इस जगह आकर प्रेमचंद की मेरी अपनी काल्पनिक मूर्तियां जो अतिशय छटामयी और प्रियदर्शन थीं, एकदम ढहकर चूर-चूर हो गयीं और मुझे तनिक भी दुःख नहीं होने पाया।....

मैं यह देखकर विस्मित हुआ कि आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियों से वह कितने घनिष्ठ रूप में अवगत हैं। योरोपीय साहित्य में जानने योग्य उन्होंने जाना है। जानकर ही नहीं छोड दिया, उसे भीतर से पहचाना भी है और फिर परखा और तौला है। वह अपने प्रति सचेत हैं, Consistent है, स्वनिष्ठ है।

मैंने कहा—बंगाली साहित्य हृदय को अधिक छूता है—इससे आप सहमत हैं ? तो इसका कारण क्या है ?

प्रेमचदजी ने कहा—सहमत तो हूं। कारण, उसमें स्त्री-भावना अधिक है। मुझमें वह काफी नहीं है।

सुनकर मैं उनकी ओर देख उठा। पूछा—स्त्रीत्व है, इसी से वह साहित्य हृदय को अधिक छूता है ?

बोले—हा तो। वह जगह-जगह स्मरणशील हो जाता है। स्मृति में भावना की तरलता अधिक होती है, संकल्प में भावना का काठिन्य अधिक होता है : विधायकता के लिए दोनों चाहिए—

कहते-कहते उनकी आंखें मुझसे पार कहीं देखने लगी थीं। उस समय उन आंखों की सुर्खी एकदम गायब होकर उनमें एक प्रकार की पारदर्शिता भर गयी थी मानो अब उनकी आंखों के सामने जो हो स्वप्न हो। उनकी वाणी में एक प्रकार की भीगी कातरता बजने लगी। वह स्वर मानो उच्छ्वास में निवेदन करता हो कि 'मैं कह तो रहा हूं पर जानता मैं भी कुछ नहीं हूं। शब्द तो शब्द है, तुम उन पर मत रुकना। उनके अगोचर में जो भाव ध्वनित होता हो उसी में पहुंचकर जो पाओगे, पाओगे। वहीं पहुंचो, हम-तुम पर रुको नहीं। राह में जो बाधा है लांघते जाओ, लांघते जाओ, उल्लंघित होने में ही बाधा की सार्थकता है।'

बोले—जैनेन्द्र, मुझे कुछ ठीक नहीं मालूम। मैं बंगाली नहीं हूं। वे लोग भावुक है। भावुकता से जहां पहुच सकते हैं, वहा मेरी पहुच नहीं। मुझमें उतनी देन कहा ? ज्ञान से जहां नहीं पहुंचा जाता, वहा भी भावना से पहुंचा जाता है। लेकिन जैनेन्द्र मैं सोचता हूं, काठिन्य भी चाहिए।

कहकर प्रेमचंद जैसे कन्या की भांति लज्जित हो उठे। उनकी मूंछें इतनी घनी थीं कि बेहद। उनमें सफेद बाल तब भी रहे होंगे। फिर भी मैं कहता हूं, वह कन्या की भांति लज्जा में घिर गये। बोले—जैनेन्द्र, रवीन्द्र, शरत् दोनों महान् है। पर हिन्दी के लिए क्या वही रास्ता है ?....मेरे लिए तो वह राह ही नहीं है।

उनकी वाणी में उस समय स्वीकारोक्ति ही बजती मुझे सुन पड़ी। गर्वोक्ति की तो वहां संभावना ही न थी।

बातों का सिलसिला अभी और भी चलता लेकिन भीतर से खबर आयी कि अभी डाक्टर के यहां से दवा तक लाकर नहीं रखी गयी है, ऐसा हो क्या रहा है ! दिन कितना चढ़ गया, क्या इसकी भी खबर नहीं है ?

प्रेमचंद अप्रत्याशित भाव से उठ खड़े हुए। बोले—ज़रा दवा ले आऊं, जैनेन्द्र। देखा, बातों में कुछ खयाल ही न रहा।

कहकर इतने ज़ोर से कहकहा लगाकर हंसे कि छत के कोनों में लगे मकड़ी के जाले हिल उठे।....मैंने इतनी खुली हंसी जीवन में शायद ही कभी सुनी थी।

•

इतना परिश्रम करने पर भी आर्थिक विपन्नता पीछा न छोड़ती। 'हंस' और 'जागरण' दो-दो पत्रों के निकालने में सारी ऊर्जा लग रही थी। 1934 का साल था। तभी बम्बई से फिल्म कम्पनी वालों का बुलावा आया। चन्द्रभाल जी से बात हुई। सब कुछ सोच विचारकर बम्बई जाने को तैयार हो गए। पत्नी से राय ली। बोले—'चलो बम्बई, तुमको सैर करा लाऊं।' मैंने कहा—'कैसी सैर ?' आप बोले—'फिल्म कम्पनी वाले मुझे बुला रहे हैं।'

मैं बोली—'फिल्म कम्पनी वाले बुला रहे हैं, यह ठीक है। पर वहां की आबहवा अच्छी नहीं है, फिर आपका हाज़मा कमज़ोर, वहां के जलवायु में आप ठीक रह न सकेंगे।'

आप बोले—'आख़िर और लोग भी तो रहते हैं।'

मैं बोली—'सबके रहने न रहने की क्या बात है, हर एक आदमी अपने-अपने सुभीते से रहता है। मैं तो आपका वहा जाना अच्छा नहीं समझती।'

आप बोले—'तुम्हीं सोचो, बिना जाये काम भी तो नहीं चल सकता। यहां जो कुछ आमदनी होती है, अपने ख़र्च के लिए हो जाती है। अब यह "हंस" और "जागरण" कैसे चलें? यह भी तो तुम्हारे साथ दोनों बंधे हुए हैं।'

मैं बोली—'तो फिर इनके लिए भी बम्बई जाना मैं ठीक नहीं समझती।'

आप बोले—'अब जो इन हाथियों को गले से बांधा है तो क्या उनको चारा नहीं दोगी? आख़िर इनको भी तो जिन्दा रखना है।'

मैं बोली—'आप जो भी काम करते हैं, जान की मुसीबत मोल ले लेते हैं।'

'अरे साहब, इन बातों का रोना तो पचासो बार हो चुका है, अब जब इनको बांध लिया है, तो इनको चलाना ही होगा। और एक बात बताता हूं, जो वहां जाने पर खास फायदा होगा वह यह कि उपन्यास और कहानियां लिखने में जो फायदे नहीं हो रहे हैं, उससे कहीं ज़्यादा फिल्म दिखलाकर हो सकता है। कहानियां और उपन्यास जो लोग पढ़ेंगे, वही तो उनसे लाभ उठा सकेंगे ? फिल्म से हर जगह के लोग फायदा उठा सकते हैं।'

मैं बोली—'लोग फायदा उठा सकते हैं, उससे मेरा क्या उपकार होगा ?'

आप बोले—'यही तो तुम्हारी गलती है। लोगों के उपकार के लिए मैं थोड़े ही लिखता हूं ? अपनी आत्मा की शान्ति के लिए जो कुछ लिखता हूं, उसकी तादाद में जितने ही लोग ज़्यादा समझ सकें, देख सकें, पढ़ सकें उतनी ही मुझे ज़्यादा शान्ति मिलेगी। और उसके बाद, दूसरा फायदा यह होगा कि "हंस" और "जागरण" के चलाने के लिए मैं ज़्यादा रुपया दे सकूंगा। 9 हज़ार रुपये साल वह देने का वादा करते हैं, और इसके साथ, यह भी है कि बम्बई में एक-डेढ़ साल रहने के बाद, वह मुझे 9-10 हज़ार घर बैठे देंगे। मैं घर पर बैठ करके उनके लिए यहां से कहानियां भेजता रहूंगा। बतलाओ साल-डेढ़ साल बम्बई में रहना क्या बुरा है ? हमेशा के लिए घर बैठे काम मिल जाय तो क्या बुरा है ?'

मैंने कहा कि अगर ऐसा है तो चलिए।

आप बोले—'अब मैं ज़्यादा दिन थोड़े ही काम कर सकूंगा ? काम करने लायक यह 5-6 साल ही और हैं।'

मैं बोली—'तब क्या आप इतनी जल्दी पेन्शन लेकर बैठेंगे ?'

'अरे एक चरखा छोडूंगा, तो दूसरा चरखा लूंगा। यह पढने-लिखने का काम छोड़कर देहातों में भी तो कुछ काम करने की मेरी इच्छा है।'

मैं बोली—'जब आप देहात काम करने जायंगे, तब यह चरखा कहां जायगा ?'

आप बोले—'तब तक धुन्नू जो कुछ होना होगा सो हो जायगा, उसी को सब काम सौंप करके हम और तुम दोनों देहात में किसानों का काम करेंगे। क्योंकि जो हालत आजकल काश्तकारों की है, जब तक कोई उनके बीच में रहकर काम नहीं करेगा तब तक उनको सुधारना बहुत मुश्किल है। जरूरत है कि खुद उनके बीच में रह करके उनमें काम करे। जो काम उनके बीच में रहकर साल-दो साल में हो सकता है वह लम्बी-लम्बी स्पीचों से काफी दिनों में भी होना कठिन है।'

मैं बोली—'अगर आप ही काम करेंगे, तो कितने काश्तकारों का सुधार कर देंगे, और कितनों का उपकार हो जायगा ?'

आप बोले—'मैं कई बार कह चुका कि कोई कार्य किसी के उपकार के लिए नहीं किया जाता है। जो काम आदमी करता है, अपनी आत्मा की शान्ति के लिए।'

मैं बोली—'मान लो धुन्नू से जो आशा रखते हो, वह न करे, तो आप उसके साथ क्या कर सकते है ?'

आप बोले—'मैं उसको कोई अपना बोझ थोड़ा ही दे रहा हूं, आखिर वह काम करने के लायक होगा तो काम तो करेगा ही ! तो बाहर की नौकरी से घर का काम लाख दरजे अच्छा होता है। फिर बाहर काम रखा ही कहां है। लोग मारे-मारे घूम रहे हैं।'

मैं बोली—'कुछ भी हो, मान लो वह यह खचड़ा न लेना चाहे तो पहले से किसी से भी आशा रखना बेकार है। जैसे पहले आप अपने भाई को समझते थे, कि बाद को मेरा मददगार होगा। तो उन्होंने मदद की ? और नहीं तो पढ़-लिखकर जैसे ही नौकर हुए, और शादी हुई, शादी तक आपके साथ रहे, शादी हुई और अलग हुए। अब ऐसा मालूम होता है, जैसे उनसे कोई नाता ही नहीं है।'

आप बोले—'रानी ! भाई तो भाई था, उस पर सोतेला।'

मैं बोली—'तो क्या आपने उनको धुन्नू से कम प्यार किया था ? तो फिर धुन्नू से कैसे आशा रखते हैं ?'

आप बोले—'भाई के साथ दया का प्यार था, लड़के के साथ खून का प्यार है। भाई दूसरे का लड़का था, लड़का अपने ही खून से है। अपने बच्चों के साथ मां-बाप हमेशा ही जीवित रहते हैं। आशा तो यही की जाती है कि जैसे हम-तुम हैं, उसी तरह हमारे बच्चे भी होंगे। फिर सोच लो, हमारा बोझ ही क्या उनके सर पर है। एक तरह से फिर भी उनके साथ हमारा उपकार है।'

मैं बोली—'मेरे खयाल में तो अब किसी से आशा करना बेकार है।'

आप बोले—'तो मैं कहीं दूसरी जगह थोड़े ही जाऊंगा, अपने लमही गांव में अपना

घर बनवा लिया है, उसी में हम-तुम रहेंगे। और कभी-कभी शहर आकर के इनका काम भी देख जाया करेंगे। बन्नू है, यह जब तक चाहेगा पढ़ेगा। और फिर तुम्हारे साथ बोझ ही कौन भारी है। वह भी आकर दोनों भाई मिलकर काम करेंगे, हम भी जो कुछ लिखा करेंगे, इन लोगों के पास भेज दिया करेंगे। अब बताओ, तुमको इसमें क्या एतराज़ है ?'

मैं बोली—'अपने काम की ज़िम्मेदारी दूसरे के सर देना मैं उचित नहीं समझती। बहुत मुमकिन है, अपने ही बच्चे समझने लगें, कि हम इनको कमाकर देते हैं।'

आप बोले—'नाम सब मैं अपने ही रक्खूंगा जिसमें इनको कहने का यह हक ही नही होगा। फिर मैं यह आशा नहीं करता हूं कि मेरे लड़के इतने नालायक हों। जब यह नालायक बनेंगे तो मैं इनके कान गरम न करूंगा ? मैं यहां तक समझता हूं कि मैं और तुम जंगल में भी रहेंगे, तो भूखे वहां भी नहीं रहेंगे, हमारे लोगों के कर्म इतने बुरे नहीं हैं।'

मैं बोली—'तब आपको बम्बई कब जाना है ?'

वह बोले—'इसी पहली जून को हमको पहुंच जाना चाहिए।'

मैं बोली—'अभी तो हमें इलाहाबाद मे दो शादियों में जाना है।'

आप बोले—'तो मैं पहले अकेला जाऊंगा, जब तुमको शादियों से छुट्टी मिल जायगी तो तुमको भी फिर ले जाऊंगा।'

'तो बच्चे भी बम्बई में पढ़ेंगे ?'—मैं बोली।

'मैं इस विषय मे कुछ कह नहीं सकता।'—वह बोले। 'वहां जाने पर मालूम होगा।'

मैं बोली—'तो क्या आप सोचते है कि बच्चों को यहां छोड़कर मैं चलूंगी ?'

आप बोले—'तो भाइ, मैं कहता हूं न, कि वहां जाने पर ही सब मालूम होगा, कि क्या करना होगा।'

उसके बाद जाने की तैयारी होने लगी। जब वहां जाने को तैयार हुए तो रुपये नदारद। जो रुपये पास मे थे भी, वह बैंक मे थे और साल भर की मियाद पर थे, क्योंकि बैंक से 1500 रुपये कर्ज भी ले चुके थे। अब रुपये कहां से आयें। प्रेस मैनेजर से पूछा—'प्रेस के एकाउंट में रुपये हैं ?'

मैनेजर—'एकाउंट में रुपये नहीं हैं।'

मेरे पास एक मित्र के रुपये रखे हुए थे, अमानत के रूप में। आप बोले—'आखिर वह रुपये तुम्हारे पास रखे हुए हैं उसमें से 200 रुपये निकाल लो। उनसे कह देना, और इसी महीने के बाद रुपये वापस कर दूंगा, तब उनको दे देना।'

मैं बोली—'मेरी हिम्मत नहीं कि किसी की अमानत से एक पैसा भी निकालूं, क्योंकि मैं जाते समय उनके रुपये उनको देती जाऊंगी।'

आप बोले—'उसमें कहने की क्या बात है, यही कह देना, 200 रुपये लिया है, अपने खर्च में, इसी महीने के बाद दे देंगे। अभी कोई उनको ज़रूरत भी नहीं है।'

मैं बोली—'मैं कुछ भी नहीं जानती और न एक पाई उसमें से छू सकती हूं। अपने मैनेजर से पूछिये, अगर वह 15 दिन के बाद शादियों में रुपया देने का वादा करें, तो मेरे पास 100 रुपये हैं। वह दे सकती हूं।'

आप इन रुपयों के होने की बात सुनकर बोले—'यह रुपये तुम्हारे पास कहां थे ?'

मैंने कहा—'घर में थे, और कहां थे।'

आप बोले—'यह बड़े मौके से तुम्हारे रुपये निकले। आज मैं तीन-चार दिन से रुपये के लिए परेशान था, सोचता था, किससे उधार मागूं किसी से मांगते भी तो नहीं बनता।'

मैं बोली—'जैसे आज मुझसे कहने लगे, पहले कहा होता, तो मैं पहले ही इस उलझन को हटा देती।'

आप बोले—'मैं डरता था, सारा क्रोध तुम "हंस" और "जागरण" पर ही उतारोगी।'

मैं बोली—'आपके "हंस" और "जागरण" की गोया मैं सौतेली मां हूं।'

आप बोले—'क्या करूं, मैं भी तो अपने सिर बेहूदे-से-बेहूदा रोग पाल कर, हमेशा से जो पालने की आदत है, उसमें तुमको भी लेकर पीसता ही तो रहता हूं। रोग पालता हूं मैं, रोग कहूं या शौक कहूं, करता मैं हूं, मत्थे जाती है तुम्हारे। तुम्हें भी तो हमेशा से इसी परेशानी में डाले रहता हूं, अब मैं हूं या मेरी जगह पर कोई दूसरा हो। हमने तो काम किया, और काम का ज़िम्मा भी लिया, और आज एक टका भी पास में नहीं है, और तुम अपने पास से फिर भी 100 रुपये देने को तयार हो। इसके लिए तुमने कम-से-कम 10 महीने तो तपस्या की होगी, तब जाकर यह 100 रुपये जोड़ पाई होगी। कौन तुमको हम ज्यादा रुपये दिये देते हैं। मगर फिर भी तुमने अपने पास 100 रुपये बचा ही लिये। मैनेजर के हाथ से करीब 700 रुपये महीने में खर्च होते हैं। मगर उसके एकाउंट में कुछ नहीं तुम्हारे हाथ से 150 रुपये खर्च होते है, वहां 100 रुपये तुम निकाल सकती हो। खर्च करने में तुम कुशल हो या हम ?'

मैं बोली—'अजी साहब, हमारे पास ज्यादा आये होंगे, तभी निकाल सकी हूं। मैं तपस्या करने वाली जीव नहीं।'

बीस रुपये उनकी जाने की तयारी में खर्च हुए, अस्सी रुपये उनके साथ में दे दिये। जिस दिन उन्हें बम्बई जाना था, उस दिन रात भर जागते ही रहे, क्योंकि सुबह के चार बजे की ट्रेन पकड़नी थी। जाना दूर था, परेशानी तो कई दिन से थी, मुझे जो परेशानी थी वह तो थी ही, मुझसे ज्यादा वह परेशान थे। बार-बार झुंझलाते थे, और कहते थे कहां से यह शादियां भी तुम्हारे सर पड़ीं। अभी साथ-साथ सब बच्चों के चलते।

मैं बोली—'अभी वहां मकान भी तो ठीक नहीं है, कहां साथ-साथ ले चलते।'

आप बोले—'चलना होता तो वहां कई मित्र हैं, दो-तीन दिन किसी के यहां भी ठहर सकते थे। किसी के मकान में ठहर जाते, और उसी बीच में मकान आदि सब ठीक हो सकता था। यहां तुम अकेली सब बच्चों के रहोगी, मैं वहां अकेला रहूंगा, क्या होगा मेरी समझ में नहीं आता। आराम से तो पड़ा ही था। इन लोगों ने मुझे बुला ही लिया। कम-से-कम इन सब झंझटों से बरी तो थे।'

मैं बोली—'तो यह रोग अपने आप लिया गया है, या किसी दूसरे ने पैदा किया है? मैं तो आपसे मना कर रही थी, और आप माने नहीं।'

आप बोले—'मानता तो बहुत कुछ, मगर काम भी चले तब न। काम भी तो नहीं चलता था। मजबूरी थी। मजबूरी भी तो कोई बला है।

मैं बोली—'जब मना करती हूं तब मानते भी तो नहीं हैं, यह सब मजबूरियां आपकी ही बनाई हुई हैं।'

आप बडे सरल भाव से बोले—'अब बताओ जब बन गई, तो मैं क्या करूं ?'

मैं बोली–'तो अब करना क्या है, अब तो सुबह की गाड़ी से जाना है।' सुबह जाने वाले ने आप ही आवाज़ दी, जब आप तांगे में बैठने लगे, और मैंने उनके पैर छुए, मेरा गला भर आया।

आप बोले–'जैसे ही तुम्हारे यहां की शादियां खत्म हों वैसे ही मुझे पत्र लिखना, जिससे मैं तुम लोगों को जल्दी-से-जल्दी लिवा ले जाऊं।'

वह तो चले गये, मैं ऊपर आई। एक घंटे तक मैं रोती रही। वह महीना-बीस दिन की जुदाई थी, पत्र-व्यवहार हमेशा ही होता रहता था। तब वह जुदाई दुखद थी, और अब हमेशा की जो जुदाई हो गई उसको बड़ी आसानी से, और आराम से बैठी सोच रही हूं।

उनके पहुंचने का पत्र 7 जून को तहसील सोराम में मिला, जहा कि मै शादी में गई थी।

•

आप 25 जुलाई को काशी आये। पानी खूब जोरों से बरस रहा था। सुबह 4 बजे की ट्रेन से उतरे थे। बुरी तरह भीग गये थे। मैंने नमस्कार करके पूछा–'अच्छा आप बुरी तरह भीग कैसे गये ?' आप हंसकर बोले–'तुम समझती थीं कि तुम जो कोठे पर सो रही थीं, सो हर जगह कोठे ही बने हुए हैं, मैं स्टेशन से घर तक आने में भीगा हू। और पानी कैसा तेज है, कई बार तुमको आवाज़ देने पर तो तुम सुन पाई हो।'

मैं बोली–'अच्छा तो आप कपड़े बदल डालिए, कहीं जुकाम न हो जाय।'

मैं खुद ही उनका होलडाल खोलने लगी। कहने लगे–'मैं निकाले लेता हू, तुमसे नहा खुलेगा, क्यों परेशान होती हो।' कपड़े बदले। कुछ दुबले हो गये थे।'

मैं बोली–'तबियत कैसी है ?'

आप बोले–'अच्छी है, अच्छा तो हूं। तुम कहो, तुम्हारे यहा क्या हालचाल है ?'

मैं बोली–'लड़कों का नाम तो लिखा ही चुकी हूं, जो तुमको मालूम ही है। बेटी, मै, और ज्ञानू यहा हैं। आप कै दिन की छुट्टी लेकर आये हैं।'

आप बोले–'चार-पांच दिन की लेकर आया हूं।'

मैं बोली–'आपको बम्बई कैसा लगा ?'

आप बोले–'बम्बई कैसा लगा, अच्छा है।'

मैं बोली–'अच्छा वह कम्पनी वाले कैसे हैं ?'

आप बोले–'कैसे बताऊं, फिल्म संसार दूसरा ही संसार है। वहां तो साहब ही साहब हैं। मेरे साथ तो उन लोगों का व्यवहार बहुत अच्छा है। मैंने मकान भी ले लिया है, जो तुमको लिखा था। अब चलो, तुम भी चलो तो कुछ अच्छा मालूम हो। जैसे बनारस में था, घर से प्रेस जाता था, और घर पर बैठकर काम करता था, उसी तरह स्टूडियो जाता हूं, और घर पर बैठकर काम करता हूं। बल्कि यहां तो सबके साथ था। और ठीक से था, जी नहीं घबराता था, वहां तो रात-दिन काम ही काम है। बम्बई तो उन लोगों के लिए ज़्यादा दिलचस्प हो सकता है, जो सैर-तमाशे के आदी हों। मेरे लिए, जैसे मियां की दौड़ मस्जिद तक, स्टूडियो जाना और घर पर बैठकर काम करना; मेरी तबियत तो वहां घबराती थी।'

मैं बोली–'बच्चों का नाम लिखाने के लिए आपने ठीक ही नहीं किया।'

आप बोले—'कैसे ठीक करता, बच्चों का नाम लिखाने से मैं वहां बंध जो जाता, और न बंधता तो लड़कों की पढाई चौपट होती। अब बच्चे यहां पढ़ते हैं, हम तुम वहां रहेंगे। जब हमारी इच्छा होगी, छोड़-छाड़कर अपने अड्डे पर फिर बैठ जायेंगे। वहां से आने में कोई झंझट नहीं होगी।'

दूसरे दिन इलाहाबाद से दोनों बच्चे भी आ गये, और काफी चहल-पहल हो गई। मगर वह चहल-पहल स्थायी न थी। बच्चों के दिल में यह ख़याल था ही, कि अम्मां और बाबूजी दोनों चले जायंगे। हम लोगों के दिल में कोई ख़ुशी न थी। क्योंकि हमको यह चिन्ता थी कि अब बच्चे छूट जायेंगे। आपने घर में चारों तरफ देखना शुरू किया। बोले—'अच्छा भूकम्प में तुम्हारे घर का भी काफी नुकसान हुआ है ?'

मैं बोली—'15 दिन से मजूर लगा रखे हैं, तब जाकर मरम्मत हो पाई है।'

आप बोले—'बहुत से लोगों के मकान गिर गये, तुम्हारा फट ही गया तो क्या नुकसान हुआ।'

मैं बोली—'तो मैं कुछ कहती थोड़े हूं, खैर जो हुआ, सब अच्छा ही होता है।'

उसके तीसरे दिन हम लोग बम्बई जाने के लिए तैयार हुए, साथ में दोनों लड़के थे, और बेटी, ज्ञानू, हम दोनों थे।

जब इलाहाबाद के स्टेशन पर पहुंचे, मैंने खाना खोला, और सोचा कि बच्चों को कुछ खाना खिला दूं। जैसे ही दोनों बच्चों को खाना खिलाने के लिए बिठाया, वैसे ही गाड़ी ने सीटी दी। मैंने खाना समेट करके, एक रूमाल में बांध दिया। छोटे बच्चे बन्नू से कहा कि बेटे ! इसको अपने साथ में लेते जाओ, बोर्डिंग हाउस में पहुचकर दोनों भाई खा लेना, क्योंकि रात के दस बजे वहा खाना थोड़े ही मिलेगा, और पहुचते-पहुचते ग्यारह बज जायेंगे।

बन्नू हाथ का खाना उठा करके, पैर छूते समय रो उठा क्योंकि वह तेरह साल का बच्चा था। पहली बार हम लोगों से जुदा हो रहा था, और सबसे छोटा बच्चा ! रोना तो मुझे भी आता, मगर मैं अपनी तबियत कड़ी किये हुए था, कि बच्चों के सामने कैसे रोऊं? यह सब परेशान हो जायेंगे। खैर, बन्नू तो हम तीनों के पैर छूता हुआ, रोता हुआ, गाड़ी से उतर गया। आपने उसको समझाया—'देखो रोना मत, आराम से दोनों भाई रहना। दोनो भाई साथ-साथ पत्र लिखना, और फिर अब तुम दशहरे पर आना, आराम से रहना।'

ख़ैर, बन्नू तो गाड़ी से उतर गया, मगर धुन्नू खिडकी छोड़ता ही न था।

आप बोले—'खिड़की छोड़ दो। जाओ, तुम रो क्यो रहे हो ?' तभी तीसरी बार गाड़ी ने फिर सीटी दी।

आप बोले—'भाई गाड़ी छोड़ दे, क्यों देर कर रहा है।' धुन्नू ने नीचे से ही सलाम किया और चला गया।

मैं बोली—'पानी तो रखा ही है, आप खाना खा लीजिए।'

आप बोले—'मेरी खाने की तबियत नहीं है। ज्ञानू सो गया क्या ?'

मैं बोली—'वह भी नहीं सोया, मेरी गोदी में बैठा तो है।'

कहने लगे कि इसको मुझे दे दो। उसको गोदी में ले लिया, ऐसा मालूम होता था कि दोनों बच्चों की कमी उस बच्चे से पूरी करना चाहते हैं। उसको रास्ते भर अपने ही पास

रखे रहे। चाय और दूध लेकर बीच-बीच में उसको पिलाते जाते थे। क्योंकि एक ही डिब्बे में हम सब लोग बैठे थे। बेटी शरमाती थी। बच्चे को बराबर अपने ही पास रखा, जब तक घर नहीं पहुंच गये। और वह भी, मैं या बेटी उसे ले लेती तो रोता था। हम लोगों ने बनारस में खाना खाये-खांये दूसरे दिन दो बजे इटारसी में खाना खाया। तीसरे दिन सुबह दादर पहुंचे, मगर इस तीन दिन के सफर में कोई खुश न था। और खुश कैसे होता ? यह तो वही लोग अनुमान कर सकते हैं, जिन्हें पहली बार चार-छः महीने के लिए अपने बच्चों से दूर होना होगा। मैं थी मां, वह पिता थे। और वह बड़ी बहन थी। हम तीन आदमी एक जगह जा रहे थे। वह दोनों बच्चे अलग, जहां दो में से एक भी साथ न थे; न बाप, न मां। ऐसी हालत में हम लोगों का दुखी होना लाज़मी था।

जब हम अपने घर दादर में चार बजे सुबह पहुंचे, पानी उस समय भी तेजी से बरस रहा था। पानी से बचने के लिए, विक्टोरिया को भी चारों तरफ से बन्द कर लिया था। इसलिए उस समय मैंने कुछ देखा न था, कि हम कहां जा रहे हैं।

●

समाज में बढ़ते अन्याचार और विलासिता के भूत से वे सदैव परेशान रहते। युवा पीढ़ी की संस्कारहीनता उन्हें कहीं गहरे तक आहत करती। इस संबंध में शिवरानी देवी के दो स्मरण 'काशी विश्वविद्यालय में जलसा' तथा 'उन्नीस सौ पैंतीस' विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं—

यह सन् '33 की घटना है। विश्वविद्यालय में जलसा था। और विषयों के जलसा के साथ-साथ गल्प-सम्मेलन भी था, जिसके सभापति आप थे। मार्च का महीना था। मैं घर में अकेली थी। आप वहां जाने को तैयार हुए तो बोले—'तुम भी चली चलो। अकेली भी तो हो। फिर तुम्हारा जाना जरूरी भी तो है।' पहली मीटिंग ग्यारह बजे से थी। उसके सभापति मालवीयजी थे। दूसरी मीटिंग ढाई बजे से शुरू होनी थी। इसमें डेढ़ घंटे के करीब हमें वहां रुकना पड़ता।

आप बोले—'तब तक तो मौलवी महेशप्रसादजी से मिला जा सकता है। यहां तो तब तक मनहूसियत छाई रहेगी।' मैं तैयार हो गई। हम दोनों साथ-साथ वहां गये। इत्तिफ़ाक से वे अपनी पत्नी के साथ कहीं बाहर गये हुए थे।

मैं बोली—'यहां से भी लौटना हुआ।'

विश्वविद्यालय-छात्रावास के बगल में एक नहर खुद रही थी। वहीं करीब में एक दरख़्त था। उसके नीचे हम लोग बैठे। पहली मीटिंग में उनको फूलों का एक हार दिया गया था। उस हार को मुझे पहनाते हुए बोले—'लो हमारी-तुम्हारी यह खुशी की शादी रही।'

मैं बोली—'अभी तक आप क्वांरे थे ?'

आप बोले—'लोगों का क्या ख़याल होता होगा, यह भी तुमने सोचा ?'

मैं बोली—'लोग समझेंगे गंगा-स्नान करके ये लौटे हैं और यहां बैठकर थकान मिटा लेना चाहते हैं।'

आप हंसकर बोले—'गंगा नहाने वालों में न मैं शरीक किया जा सकता हूं, न तुम्हीं। देखने वाले बेवकूफ नहीं होते। और मैंने जो कहा, वही लोग समझेंगे।'

हम दोनों नहर के पास घूमने लगे। वहां कई जगह हमने देखा कि युवक और

युवतियां आपस में हंसी-ठट्ठा करते इधर-उधर चहलकदमी कर रहे हैं। उनको देखने पर यह मालूम होता था कि जैसे अंग्रेज़ों के यहां सुनने में आता है, उसी तरह का वातावरण यहां भी हो रहा है। आपके चेहरे पर तो जैसे खुशी थी ही नहीं। लटकता हुआ चेहरा देखकर मुझे भी चिन्ता हो आई। बोले—'यह गुलाम देश कब सुधरेगा, समझ में नहीं आता। यहां नकल करने की आदत यहां तक है कि ये दूसरों की नकल करने में अपने को विद्वान् और बुद्धिमान् समझते हैं। और वह भी पूरी नकल नहीं अधूरी। खराबियों की नकल तो ये झटपट कर लेते हैं, अच्छाइयों की ओर झाकते तक नहीं। उनमें निरी बुराइयां ही हों, यह बात नहीं है। जो अंग्रेज़ गर्मी में पंखे के नीचे दिन काट देता है, वही उस समय भी, जब कि बाहर आग बरसती रहती है, मीलों उत्साह से दौड़ जाता है। ख़तरे-से-ख़तरे उसके लिए आरामदेह हैं। यह उनके राष्ट्र के लिए बहुत ही जरूरी चीज़ है। उससे तो हम कोसों भागते जा रहे हैं। इसी सबका कारण है कि हम परतन्त्र हैं।'

मैं बोली—'इस समय आपकी आलोचना से क्या लाभ ?'

आप बोले—'ऐसे गुलाम देश को विलासिता से क्या मतलब ?'

मैं बोली—'अंग्रेजों की तरह रहेंगे, तभी तो आजाद होंगे।'

आप बोले—'विलासिता आजादी की दुश्मन है।'

मैं बोली—'ये सब आदतें बचपन में नहीं आतीं। इन लोगों के हौसले कम उमर में पलते हैं।'

आप बोले—क्या इन लड़के-लड़कियों पर जब बोझ पड़ेगा तो चौकन्ने न हो जायगे '

आप बोले—'यह जवानी की गंदी आदत है, वह लड़कपन की थी। यह तो आदमी को कहीं का भी नहीं रहने देती। एक बात है, तुमने सोचा है ? डाक्टर के यहां दवा के लिए रोगी जाते हैं; उनमें कोई जीता है, कोई मरता है। मरे हुए रोगी अपना अनुभव संसार को बता नहीं पाते। अच्छे हुए रोगी चाहे उसके इलाज से न भी अच्छे हुए हों लेकिन वे दुनिया में उसी का गुण गाते हैं; इसी तरह इनमें दो-चार अच्छे होंगे, पर सब नहीं।'

मैं बोली—'इसका मतलब क्या ? क्या संसार के सभी आदमी साधु होकर सब दिन रहें ?'

आप बोले—'कुछ दिनों के बाद तो इन्हीं के हाथों राष्ट्र की बागडोर होगी। ये सिरफिरे तब भी आफत मचाये रहेंगे।'

मैं बोली—'तब आप क्यों परेशान हैं ? काज़ी परेशान शहर की फिक्र में। कहां तो मजेदार बातें चल रही थीं और कहां आफत और फिर आप अपना काम तो करते ही हैं। दुनिया न करे, न करे।'

मैं बोली—'आपको बल मिलता है और आपके द्वारा लोगों को मिलता है। पर मुझे क्या मिलता है ?'

कई कहानियां पढ़ी गईं। आपका भी भाषण हुआ। उस भाषण में उसी जगह की इसी परिस्थिति पर बहुत कुछ बोले। पर वह फटकार लोगों की खुशी को तो बढ़ाती जा रही थी। पर मुझे तो ऐसा लगा जैसे ये लोग अपनी गलती को समझ ही नहीं पा रहे हैं। और साथ-साथ यह भी है कि जैसा जहां का वातावरण होगा, वैसा ही वहां बनना भी चाहते हैं।

मुझे तो उन लोगों की गलतियां न मालूम हुई। वे मजबूर हैं, वहां उस तरह का बनने के लिए जवानी की उम्र और पानी का रेला एक तरह का होता है। जिधर को झुकाव होगा, उधर ही बह जायगा। उनके बदले में, बनाने वाले हों तो क्या देर लगे ? उनका बनना बहुत आसान होता है। फिर हमारे यहां युवकों को तो एक ख़ास चीज़ सिखाई जाती है, विलासिता, क्योंकि हमें विलासिता की तरफ ले जाने में उसे ज्यादा-से-ज्यादा फायदा है। वहां से आने के बाद कई दिनों तक हम दोनों में इसी विषय पर चर्चा होती रही। उनके विचारों से मुझे ऐसा लगता था कि अगर उनके वश की बात होती तो शायद वे संसार का कायाकल्प कर देते। बराबर इस विषय पर बातें चलतीं। अब न वे हैं, और....मैं तो और भी वह नहीं हूं। हां, ये बातें मेरी आंखों के सामने हुई हैं। ये बातें उनकी हैं। वे पाठकों के थे, इसलिए मैं इन्हें पाठको को भेंट कर रही हूं। मैं खुद भी अपनी नहीं हूं।

दोनों लड़के पढ़ने के लिए प्रयाग जा रहे थे। मैं और मेरी जेठानी तथा आप लड़कों को पहुंचाने बाहर निकले। बन्नू जाते समय दुखी होकर नमस्कार करने लगा। धुन्नू धीरे से गाडी पर बैठकर चलने के लिए तैयार हो गया। जब वह चला गया तो बोले—'धुन्नू बड़ा बदतमीज़ है। न यह किसी की इज्ज़त करता है न मोह।'

मैंने कहा—'हुआ क्या ?'

बोले—'तुमने देखा नहीं ? हम तीनों को नमस्कार तक नहीं किया। जैसे कोई नाता ही नहीं हम लोगो से।'

मैं बोली—'कालेज में पढ रहा है न।'

आपने कहा—'नहीं जी, अंग्रेजों में यह बात नहीं है। तुम गलती कर रही हो। अगर कोई अंग्रेज़ लड़का अपने मां-बाप को छोड़ता होता तो इस तरह थोड़े ही चला जाता। वह सबको बारी-बारी से प्यार करता। उनके यहां बाप का चुम्बन करना बहुत अच्छा समझा जाता है। हम लोग उन्हें जैसा हृदयहीन समझते हैं वस्तुतः वे लोग वैसे होते नहीं। हां नालायकों की कमी वहां भी नही है।'

मैं बोली—'आखिर लड़का ही तो है।'

बोले—'जाने देने की बात मै नहीं कर रहा हू। मुझे यह बुरा लगता है कि आदमी अपनी ड्यूटी से क्यों अलग होता है ? मैं यह थोड़े ही कहता हू कि इससे कुछ हो गया। हां, इतना ज़रूर हुआ कि हमारे अन्दर का प्यार उसने ठुकरा दिया।'

मैं बोली—'नुकसान क्या हुआ ?'

आप बोले—'प्रत्यक्षतः शायद नुकसान न हुआ हो, पर स्नेह पर धक्का लगा।'

मैं बोली—'ख़ैर।'

बोले—'सबसे ज्यादा भाग्यवान् आदमी वह है जिसे सब कोई प्यार करे। प्यार के आगे दुनिया की सारी चीज़ें फीकी पड़ जाती हैं।'

मैं बोली—'खुद समझ आ जायगी।'

आप बोले—'अरे ठीक तो हो ही जायगा। मैं तो कह रहा हूं प्रेम के बदले में प्रेम मिलना चाहिए। अगर लड़के अपने से बड़ों का पैर छूते हैं, तो उस समय बडों की शुभ कामनाएं उन्हें मिलती हें। वे ही शुभ कामनाएं आदमी को आदमी बना देती हैं।'

मैं बोली—'तो क्या ये लोग जानवर हैं ?'

बोले—'जानवर नहीं हैं; फिर भी जब इनका दिल इन भावनाओं से खाली है तो जानवर ही समझो।'

मैं बोली—'जाने दीजिए।'

बोले—'सो तो है ही। यों ही कह दिया।'

मेरी समझ में नहीं आता कि उस कलाकार की दृष्टि कितनी सूक्ष्म थी। जो आदमी सब विषयों का ज्ञान रखता हो और सब पर दृष्टि रखता हो उसे विषय में एक तरफा डिग्री नही दी जा सकती। जितनी बातें हुई अब देखने में मामूली हैं; पर इन्हें दृष्टि से देखने पर बडी तत्त्व की लगती हैं।

अपने घर पर पहुंचने के बाद, ग्यारह बजे खाना खाकर आप स्टूडियो जाने के लिए जस ही तैयार हुए, वैसे ही पडोस के एक गुजराती सज्जन जिनके बूढ़ी मा थी, बोले—'बाबूजी, सबको लिवा लाये ?'

'हां लिवा लाया, सब था ही कौन ? हमारी लडकी आई है, और वह आई है। बच्चों को इलाहाबाद पढ़ने के लिए छोड आये हैं।'

'आइए ! आइए !! हमारे घर पर।'

'अब तो हम दफ्तर जा रहे हं।' मुझसे बोले—'देखो जी ! यह माजी तुम्हारी बहुत याद किया करती था।'

मैंने उनको बुलाया, और आप दफ्तर चले गये। हमसे उनसे बहुत देर तक बातें होती रही. शाम को जब वह 4 बजे स्टूडियो से लौटे, तो देखती हू भीगे-भागे, साथ में दो चारपाई लिवाये चले आ रहे है।

मे बोली—'आप फिर भी भीगते हुए आ रहे हैं, कौन ऐसी चारपाई की जल्दी थी।'

आप हसकर बोले—'यह क्यों नहीं पूछती हो कि तुम्हारा छाता क्या हुआ ?'

म बोली—'वाकई म छाता कहा गया ?'

आप बोले—'मुझे जल्दी थी कि चारपाई भी साथ मे लेता चलूं, उसमें जल्दी में छाता दफ्तर ही मे भूल गया।'

मैं बोली—'ऐसी जल्दी क्या थी कि पानी बरस रहा है, और आदमी छतरी भूल आये। यह तो कोई तुक नही है।'

आप हंसकर बोले—'तुक क्यो नही है। दो महीने अकेले बम्बई में रहते-रहते, जो आदमी घबरा गया हो, उसके घर मे अगर बीवी-बच्चे आ जाएंगे तो उसको खुशी नहीं होगी ? उसी खुशी में भूल हो गई है। और घर-बार का इन्तज़ाम भी करना था, चारपाई आप लोगों के लिए ही तो लेने गया था।'

मैं बोली—'यह तो अच्छी खुशी है कि तावान के ऊपर तावान पड़े, फिर भी कहें खुशी है।'

'तुम तावान पर तावान कहती हो, यहां शादियो में हजारों के वारे-न्यारे लोग करते रहते हैं। आतिशबाज़ी और राग-रंग में। और जिसमें उनको मिलता क्या है, एक बीवी। फिर आज मेरे घर में तो तुम हो, बेटी है, ज्ञानू है, तीन आदमी आए हैं। तब भी न खुश होऊं। इसके मानी यह हैं कि मैं ऐसा बदकिस्मत हूं कि मुझे किसी बात में खुशी न हो। मैं ऐसा नहीं हूं; मुझे जो कुछ ईश्वर देता है, मैं उसमें खुश हूं।'

मैं बोली—'तभी तो एक मज़े का मसला है कि—"फूले-फूले दुलहा फिरत हैं होन हमारो ब्याह। पांओं बेड़ी पड़त हैं, ढोल बजाय-बजाय।" यह मसला आप पर लागू हो सकता है।'

आप बोले—'मुझी पर क्यों लागू हो सकता है, सौ में निन्यानवे ऐसे हैं। तुम्हारे यहां के ऋषि-मुनि भी ऐसे हृदयहीन नहीं होंगे, जो इसको बेड़ी समझे थे। फिर मैं तो एक मामूली आदमी हूं, मैं तो खुश हूंगा ही। रोज मेरी तबीयत बहुत परेशान थी कि आख़िर बच्चे गाड़ी से कहां चले गये।'

चार-पांच दिन के बाद हमारे दामाद का तार आया, वह भी आ रहा था। शाम को धुन्नू से बोले—'भाई तुम जाना, सुबह जाकर अपने जीजा को लिवा लाना। मैं तो तुम लोगों को लेने गया, तुम लोग मिले ही नहीं, अब तुम्हीं जाकर उनको लिवा लाना।'

मैं बोली—'नया शहर है, कहीं यह भी न खो जाय, कहीं दो जनों को न ढूंढ़ना पड़े।'

आप बोले—'नहीं, धुन्नू इतना बेवकूफ नहीं है।

वाकई जब धुन्नू लेने गया, तब वह भी नहीं मिले। वह भी सीधे स्टूडियो गये। आपने जब धुन्नू को देखा, तो बोले—'अच्छा, तुमने भी वही किया जो मैंने किया था।' ये बातें हो ही रही थीं कि इसी बीच में आप बोले—'चलो भाई, छज्जे पर खडे हो, शायद आते होंगे तो देख तो लेंगे। ख़ैर, इत्तफाक से जिसके लिए वह लोग खड़े हुए थे, उसको देख लिया। धुन्नू को नीचे दौड़ाया और आपने ऊपर से आवाज दी—'आओ ! यही मकान है।' जब ऊपर वह भी आ गये, तब बोले—'न मालूम तुम लोग कैसे आते हो, उस दिन धुन्नू-बन्नू को लेने मैं गया, तब वह लोग नहीं मिले। आज वह लोग तुमको लेने गये, तुम नहीं मिले।

'मैं तो गाडी से उतरने के बाद स्टेशन के बाहर कुछ देर तक खड़ा था, उसके बाद मैं स्टूडियो चला गया। स्टूडियो के आदमी, मुहल्ला तो जानते थे, मगर मकान उनको भी नहीं मालूम था। एक दफे मैं इसी दरवाजे पर से निकल गया हूं, दुबारा फिर लौटा हूं। यह तो इत्तफाक से आपने देख लिया।'

आप बोले—'राम ! राम !! व्यर्थ की परेशानी तुम लोगों को हुई।'

मैं बोली—'इन लोगों को परेशानी थी तो आप कौन नहीं परेशान हुए। यह तो दादर का स्टेशन भी लखनऊ की भूल-भूलैयां हो गया, कि जो ही आता है, उसमें भूल जाता है।'

तीन रोज़ तक बच्चों के साथ रहे, उसके बाद दोनों बच्चे इलाहाबाद चले आये।

कांग्रेस होने वाली थी। पहले दिन हम लोग चारों आदमी देखने गये। आपके पास टिकट पहले ही ख़रीदा हुआ था। हम लोगों के लिए टिकट लाने थे। मुझसे बोले—'मुझे रुपये दो तो मैं तीनों आदमियों के लिए तीन टिकट और ले लूं।'

मैंने उनको रुपये दिये। वासुदेवप्रसाद उनके हाथ से रुपये लेकर खुद टिकट लाया। पहले दिन तो हम लोग जनाने में गई, और उसी के पास ही आपकी भी जगह थी। वासुदेवप्रसाद बाहर की तरफ थे। ख़ैर, उस दिन से हम साथ-साथ रात के बारह बजे लौटे। चारों आदमी रात को घर आये। दूसरे दिन मैं, बेटी, वासुदेवप्रसाद एक जगह बैठे, आप अन्दर थे। उस दिन जब महात्माजी का भाषण पढ़ा जा रहा था, कुछ लाउडस्पीकर में खराबी हो गई थी। उसी समय भगदड़ मची, आदमी कूद-कूदकर आगे बढ़ने लगे। उस समय मैं, और बेटी बीच में बैठी थीं, साथ में ज्ञानू भी था। जब भगदड़ मची तब मैं उठकर

खड़ी हुई। दो आदमी अधेड़ उम्र के मुझसे बोले—माताजी ! आप बैठ जाइये। वह दोनों आदमी मेरी और बेटी की तरफ झुक गये। मेरे ख़याल में सैकड़ों जूते उन शरीफों की पीठ पर पड़े होंगे। मैं उनको धन्यवाद भी न दे सकी और जैसे ही भीड़ रुकी वैसे ही वह भी गायब हो गये। उसी समय मैं-बेटी घर पर चली आई। आप जब करीब बारह बजे लौटे तो वह बोले—'अच्छा ! तुम पहले ही कैसे चली आई ?'

मैंने उनको सब किस्सा बतलाया और बोली—'आज ख़ैरियत हुई कि हम लोग घर चले आये। नहीं आज बुरी तरह हम लोग जख्मी हो गई होतीं, या तो इसमें एक-आध मर ही गया होता।'

तब आप बोले—'यहां के लोग ऐसे जाहिल हैं कि जब तक कि धक्कम-मुक्कम न करे, तब तक उनको तसकीन ही नहीं होती। ज़रा भी ख़याल नहीं, इससे क्या फायदा और नुकसान होगा। इसका जरा भी खयाल नहीं करते हैं। मैं तो सुनता हूं कि अन्य मुल्कों में टिकट घर में एक-एक आदमी नम्बरवार लेने जाता है। अगर वहा पर लोग इस तरह की बेहूदगी करें, तो शायद वह जेलों की हवा खायें। मगर यहां इनसे पूछने वाला भी कोई नहीं है।'

में बोली—'मुझे ऐसा मालूम होता था कि कालेज के लौंडे थे।'

आप बोले—'हां, हां, यहा का पढ़ा-लिखा आदमी भी उसी तरह गंवारपन कर बैठता है, और गैरजिम्मेदार हो जाता है, जैसे कि कोई एक जाहिल और गवार।' मे बोली—'तो आख़िर यह ऊंची-ऊची डिगरिया लेकर होता क्या है ?'

आप बोले—'वह ऊची डिगरियां थोडे ही होती है, वह तो गुलामी का एक तरह का ताक है। उन्हीं दिनो हमारे घर में एक नौकर था, जो मेरे जाने के पहले ही से रखा हुआ था। वह सब काम के लिए रखा गया था। वह अक्सर रोटी बनाने के समय गायब हो जाता था, दो-तीन रोज बराबर पहले वह गायब हो चुका था, आप नहाकर जब आते, तो रोटियां मै सेककर खिलाती। एक रोज़ मै बोली—'न जाने यह नौकर कहां चला जाता है, कि पता ही नहीं लगता।'

आप बोले—'कहीं चला गया होगा।'

में बोली—'आज ही क्यो ? आप तीन रोज़ से देख रहे हैं, और इसके पहले भी यह ऐसी हरकत कर चुका है। मैं आज इसको निकाल दूगी।'

आप मेरे क्रोध को शान्त करते हुए बोले—'अच्छा अब के जाने दो, मैं उसको समझा दूंगा।'

में बोली—'अगर समझाना था, तो कई बार तो कह चुके, इससे लाभ क्या हुआ ?'

तो फिर आप बोले—'अच्छा अबकी बार रहने दो, अगर फिर कभी यह ऐसा करेगा, तो निकाल देना।'

खैर, उस दफे मैंने उससे कुछ नहीं कहा, और आपने उसको समझाया। पन्द्रह-बीस दिन वह ठीक से रहा, फिर वही हरकत। उस दफे मैंने दुबारा उसको जवाब दे दिया। वह दो-तीन दिन हमारे मकान ही के नीचे रहता रहा। वह बोले—'वह अभी कहीं गया थोड़े ही

मैं बोली—'तो आखिर आप मुझसे चाहते क्या हैं ?

आप बोले—कुछ नहीं, ग़रीब आदमी है, भूखों मरता होगा।'

मैं बोली—'अगर बड़ी दया करनी है तो आप उसे कुछ दे सकते हैं, मगर मैं उसको नौकर नहीं रखूंगी।'

आप बोले—'हां ! तुमने तो मुझसे पहले ही वायदा करा लिया था।'

'बस मैं बार-बार कुछ नहीं कहना चाहती, पड़ा रहने दो।'

जो दूसरा नौकर रखा तो उससे मैं खाना नहीं पकवाती थी। मैं खुद ही खाना पकाती। पन्द्रह-बीस दिन बाद खाना खाने के समय बोले—'ख़ैर, जब से नौकर गया, तब से साहब बनने से तो गला छूटा। अपना दो आदमी रहते हैं, अपना खाना पकाया, खाया गपशप भी हुई। नहीं साहब बनते-बनते मेरा नाको दम आ गया था।'

मैं बोली—'निकालते समय तो आप ही चिल्ला रहे थे, और अब कहते हैं कि साहब बनते-बनते नाक में दम आ गया था।'

आप बोले—'जिन लोगों के बीच में रहना होता है, उन्हीं की तरह खुद भी तो बनना पड़ता है, चाहे हम बनना चाहें या नहीं मगर बनना ज़रूरी हो जाता है। फिर यह ख़याल भी था कि यह बेचारा जायगा कहां ? आखिर कई दिन से वह तुम्हारे ही दरवाज़े पर तो पड़ा था।'

मैं बोली—'तो उसके पीछे मैं क्या करूं ? आप किसको-किसको देखेंगे ?'

'हां, चला तो गया बेचारा।'—आप बोले।

मैंने कहा—'तो जाने दीजिए।'

आप बोले—'मुझे इस पर भी तो शरम आती है कि कोई भलेमानुस आ जाय तो अपने दिल में तो यही सोचे कि अच्छे भले आदमी हैं कि एक रसोईदार भी नहीं रखते।

हम लोग सन् '34 में बम्बई में ही थे। एक बार हम बनारस से बम्बई जा रहे थे दो दिन का सफर, बेटी शर्म के मारे उनके सामने लेटी नहीं थी। दो रात और एक दिन अपने पास बाबूजी ही बिन्नू को रखे रहे। दो-दो घण्टे पर उसे दूध पिलाते। मुझे भी न पिलाने को न कहते। जब बम्बई बेटी पहुंच गई तो वह बच्चे को ले सकी।

4 महीने के बाद वासुदेवप्रसाद आये और बेटी को लिवा ले गये। इसे पहले वे मुझसे कहते—'बिन्नू क्यों जायगा ? हम दोनों को सूना भी तो बहुत लगेगा।'

वह लड़का इतना हिल-मिल गया था कि वे जब स्टूडियो जाते और उनके वहां से आने का समय करीब होता तो जाकर कुर्सी पर बैठ जाता और 'बाबूजी' तो कह न सकता था, 'बाबूई' करके ज़ोर-जोर से पुकारता। जैसे ही वे आते वैसे ही गोद में चढ जाता। कुछ देर उसे खिलाकर कुर्सी पर बैठाते तब आप कपड़े उतारते। फिर अपने ही साथ उस को खिलाते-पिलाते। मगर यह थोड़े ही था कि वह शरारत करके बच जाय या ज़िद कर बैठे ऐसे समय तो दंड तक देते।

बेटी अपने घर से राखी भेजती, जब वह न होती, तो मेरे हाथ से उसे बंधवाते। जब वह पास में होती तो राखी एक-दो दिन पहले ही लाकर उसे दे देते। जब दो साल तक बच्चे इलाहाबाद थे तो वह बेटी से कहते तुम पार्सल बना दो, या खुद पार्सल बनाकर उनके नाम कर देते।

बेटी बम्बई थी। रक्षा-बन्धन होने के 15 दिन बाद बोले—'बताओ बेटी, तुम्हें क

चाहिए ?' बेटी बोली—'जो कुछ आप दें।' तब आप मुझसे कहते—'बेटी से कह दो, हीरा जडी हुई लौंग मांग ले।' मैं बोली—'बेटी, सुन रही है।'

बेटी—'बाबूजी तो खुद दे रहे है। मे क्या मागू ?'

उसके जाने के समय आप बोले—'में आते समय लेता आऊंगा।' जब बनारस आने लगे तो मुझे लेकर बाज़ार गये। वहां बेटी के लए 7 चुनरी, जो खास चुनरी बेटी की थी, वह 20 रुपये की थी, और दोनों बेटों के लिए 45-45 रुपये की घड़ियां लीं। बेटी के लिए 135 रुपये की लौंग खरीदी । मेरे पीछे पड़े कि तुम भी कानो के लिए फूल ले लो।

में बोली—'मुझे ज़रूरत नहीं है।'

आप बोले—'बड़ा अच्छा है, ले लो।'

में बोली—'मेरे रुपये बंक मे रहेंगे। जब पहनती नही तो क्या लू ?' किसी तरह मैंने अपना गला छुड़ाया। और जो 7 चुनरिया ली थीं। उनमे तीन भांजियों के लिए ली थीं।

में बोली—'ये क्या होगी ?'

आप बोले—'देते समय कम हो जायगी। कुमारी वगैरह जान खा जायंगी। बहुत-सी लड़कियां भी तो है।'

काम छोडने के पहले एक महाशय ने उनसे दैनिक-पत्र निकालने के लिए कहा। आप बोले—क्या बुरा ह, दैनिक-पत्र जो निकालने के लिए कह रहे ह। 700 रुपये देने को कहते ह, और 4 सहकारी सम्पादक देने को कहते ह। अगर तुम कहो तो म कर लूं। मेरी इच्छा ह। आखिर घर पर भी चल कर 'हंस' और 'जागरण' ही तो चलाना ह, और नही तो घर से रुपये भी तो लगाने पड़ेंगे और यहा पत्र का सम्पादन ही तो करना होगा। इस तरह वह भी दोनो पत्र चलते रहेंगे। और यहा मे काम भी करता रहूगा। रुपये की जो दिक्कत पत्रो के चलाने के लिए ह, वह यहा दूर हो जायगी।'

मे बोली—'मुझे यहा रहना ही नहीं है।'

आप बोले—'तो उसमे क्या ह, चलो हम दोनो आदमी यहा से चले वहा देख-भाल करके और महीने दो महीने रहकर फिर चले आयगे।'

म बोली—'मुझे यहा बिल्कुल ही नही रहना है।'

आप बोले—'तुम्हे यहा कोइ खास दिक्कत तो है नहीं।'

म बोली—'दिक्कत क्यो नही ह। तीन प्राणी तेरह चूल्हे वाला मसल है। बच्चे तो प्रयाग मे पढें, और हम दोनों यहा।'

आप बोले- 'तो घर मे जाकर कौन-सा इत्मीनान हो जायगा ? अब के साल धुन्नू को तो इलाहाबाद जाना ही होगा, और हम लोग बनारस रहेंगे, तो दो जगह तो या ही हो गये।'

मै बोली—'वहां तो अपने सभाल मे हैं, क्योंकि इलाहाबाद और बनारस मे कोई विशेष अन्तर तो है नहीं। वहां कम-से-कम यह तो है, कि कोई बीमार-आराम पड़े तो एक-दूसरे के पास पहुच तो सकते हैं, यहां तो वह भी न हीं। तीन दिन का सफर त करो, तब जाकर कहीं पहुंच पाओगे।'

आप बोले—'यह तो उसी तरह हुआ कि अपने घर में पडे रहेंगे, चाहे कुछ भी काम न हो।'

मैं खीझकर बोली—'अगर नौकरी करनी हो तो मजबूरी है। फिर जिस उद्देश्य से आप

यहां आये थे, वह तो पूरा नहीं हो रहा है, तो फिर यहां पड़ा रहना बेकार है।'

आप बोले—'अगर और कुछ न होगा तो "हंस" और "जागरण" चलेंगे ही।'

मैं बोली—'नहीं चलेंगे तो क्या उनका कोई ठेका ले लिया है, चलते हैं तो कौन अशरफी दे देते हैं। बन्द होने पर कौन भूखों मर जायंगे ?'

आप बोले—'सिद्धान्त भी कोई चीज़ होता है, और जो चीज़ आदमी अपने हाथों में बनाता है, उसमें कुछ प्रेम भी तो हो जाता है। जब तक आदमी हाथ-पैर मार सकता है, तब तक उसको खराब होते नहीं देख सकता। जैसे बच्चों का तुम सोच करती हो। लड़के-लड़कियों से क्या कोई आशा रखता है कि वह आराम ही देंगे ? मगर चूंकि बच्चे हो जाते हैं तो उनसे मुहब्बत हो ही जाती है और उन्हीं बच्चों के लिए हम लोग रात-दिन कौन-सा त्याग नहीं करते ? लोग कहते हैं कि संन्यासी त्याग कर रहे हैं, और मैं कहता हूं कि संन्यासी क्या त्याग करेगा ? अच्छे से अच्छा खाता है और बेफिक्र रहता है। न वमन की खुशी न मरने का गम। कल क्या होता है इसकी उसे फिक्र नहीं, और यहां घर-गिरस्ती वालों की क्या हालत है, उसकी सुनो। रात-दिन उन्हीं के सुखों के लिए कौन-सा ऐसा त्याग है, कौन-सी ऐसी तपस्या है, कौन-सा ऐसा बलिदान है, जिसको कि घर-गिरस्ती वाला नहीं करता ? जो घर सम्पन्न हैं, उनको छोड़ दो। शेष जो गरीब आदमी हैं अगर उनके घर में चार रोटियां है तो उनकी इच्छा यह होती है कि बच्चों को पहले भरपेट खिला दो, कोई चीज अच्छी होती है तो लोग उसे अपने मुह में नहीं डालते, बच्चे खायंगे यही सोचते हैं। अपने कपड़े तार-तार हो गये हैं, सरदी से सिकुड़ रहे हैं। पहले अगर पैसा मिलेगा तो यही ख्याल होता है, कि पहले बच्चों के लिए। मजा यह है कि इसमें तुम्हीं लोग सबसे पहले हो। पर बच्चा जब अपनी अच्छी हालत में हो जाता है तो वही ऐसे मा-बाप को कहना भी नहीं चाहता कि यह हमारे मां-बाप हैं, और उनको आराम देना तो दूर की बात हो गई है।

मैं बोली—'तो सब लड़के ऐसे थोड़े ही हैं।'

आप बोले—'सब न हों मगर दुनिया तो उधर की तरफ जा रही है।'

मैं बोली—'तो इसको आप क्यों नहीं बनाते ?'

आप बोले—'यही तो बनाने को यहां आया था, न बने तो क्या करूं ?'

बम्बई में एक रात को बुखार चढा तो दूसरे दिन भी पांच बजे तक बुखार नहीं उतरा। मैं उनके पास बैठी थी। मैंने भी रात को अकेले होने की वजह से खाना नहीं खाया था। कोई छः बजे के करीब उनका बुखार उतरा।

आप बोले—'क्या तुमने भी अभी तक खाना नहीं खाया ?'

मैं बोली—'खाना तो कल शाम से पका ही नहीं।'

आप बोले—'अच्छा मेरे लिए थोड़ा दूध गरम करो और थोड़ा हलवा बनाओ।' मैं हलवा और दूध तैयार करके लाई। दूध तो खुद पी लिया और बोले—'यह हलुआ तुम खाओ। जब हम दोनों आदमी खा चुके, मैं भी पास में बैठी।'

आप बोले—'कुछ पढ़ करके सुनाओ, वह गाने की किताब उठा लो।' मैंने गाने की किताब उठाई। उसमें लड़कियों की शादी का गाना था। मैं गाती थी, वह रोते थे। उसके बाद मैं तो देखती नहीं थी, पढने में लगी थी, आप मुझसे बोले—'बन्द कर दो, बड़ा दर्दनाक गाना है। लड़कियों का जीवन भी क्या है। कहां बेचारी पैदा हों, और कहां जायंगी, जहां

अपना कोई नहीं है। देखो, यह गाने उन औरतों ने बनाये हैं जो बिल्कुल ही पढ़ी-लिखी न थीं। आजकल कोई एक किताब लिखता है या कवि लोगों का कवि-सम्मेलन होता है, तो जैसे मालूम होता है कि ज़मीन-आसमान एक कर देना चाहते हैं। इस गाने के बनाने वालियों का नाम भी नहीं है।'

मैंने पूछा—'यह बनाने वाले थे, या बनाने वालियां थीं ?'

आप बोले—'नहीं, पुरुष इतना भावुक नहीं हो सकता कि स्त्रियों के अन्दर के दर्द को महसूस कर सके। यह तो स्त्रियों ही के बनाए हुए है। स्त्रियों का दर्द स्त्रियां ही जान सकती हैं, और उन्हीं के बनाये यह गाने हैं।'

मैं बोली—'इन गानों को पढ़ते समय में तो न रोई और आप क्यों रो पड़े ?'

आप बोले—'तुम इसको सरसरी निगाह से पढ़ ही रही हो, उसके अन्दर तक तुमने समझने की कोशिश नहीं की। मेरा खयाल है कि तुमने मेरी बीमारी की वजह से दिलेर बनने की कोशिश की है।'

मैं बोली—'कुछ नहीं, जिन स्त्रियों को आप निरीह समझते हैं, कोई उनमें निरीह नहीं है। अगर है निरीह, तो स्त्री-पुरुष दोनों ही हैं। दोनों परिस्थिति के हाथ के खिलौने हैं, जैसी परिस्थिति होती है, उसी तरह दोनों रहते हैं। पुरुषों के ही पास कौन उनके भाई-बन्द बैठे रहते हैं, संसार में आकर सब अपनी किस्मत का खेल खेला करते हैं।'

तब आप बोले—'जब तुम यह पहलू लेती हो, तो मैं यह कहता हूं, कि दोनों एक दूसरे के माफिक अपने-अपने को बनाते हैं, और उसी समय दोनों सुखी होते हैं, जब एक दूसरे के माफिक होते हैं। और उसी में सुख और आनन्द है। मगर हां, इसके खिलाफ दोनों हों, तो उसमें पुरुष की अपेक्षा स्त्री अधिक निरीह हो जाती है।'

जिस तरह अन्य जगहों में आपस मिलने वालों की कमी न थी, उसी तरह जब बम्बई गये, काफी मिलने वाले आदमी निकल आये। सुबह तो 5 बजे घूमने जाते, और उसके बाद 7 बजे नाश्ता करते, पान लेते हुए अपने कमरे में चले जाते, 'काम करूंगा।' उस समय कोई न कोई आदमी जरूर ही आ जाता, अब वह जो काम करने वाला समय था, वह ले लेता। उसके बाद खाना खाकर आप स्टूडियो जाते, यह उनके जीवन का हमेशा का क्रम था। नतीजा यह होता कि जब मैं रात को जागती, तब वह दो-ढाई बजे उठकर उसी समय साहित्य का काम करते, दो-चार दिन मैंने वहां भी देखा। मैं बोली—'आख़िर आप रात को क्यों उठकर काम करते हैं ? एक तो तबियत अच्छी नहीं रहती और दूसरे रात को उठकर काम करना, क्या आप अपने को मशीन समझते हैं ?' मैं गुस्से के साथ बोली।

आप बोले—'तुम व्यर्थ में मेरे ऊपर नाराज़ होती हो. अब बताओ दिन को भी काम न हो और रात को भी न हो, तो काम कब हो ?'

मैंने कहा—'मैं तो हमेशा से आपको इस तरह देखती चली आ रही हूं, तुम अपने को हमेशा पीसा करते हो, तबियत ख़राब हो जाती है तो परेशानी मुझे होती है।'

आप बोले—'दिन में तो मिलने वालों से छुट्टी नहीं मिलती, कोई-न-कोई हमेशा ही आ जाता है, जब मुझे मालूम हो गया कि दिन का समय तो मिलने वालों के लिए ही होता है; तब अगर रात को भी काम न करूं, तब काम कब होगा ?'

मैं बोली—'तो आप मिलने वालों के लिए कोई वक्त रख दीजिए।'

आप बोले—'तुम्हीं बताओ कैसे वक्त रखूं ?'

मैं बोली—'तख़्ती में मोटे अक्षरों में लिखकर टंगवा दीजिये कि मिलने का समय फलां है।'

आप बोले—'तो अच्छा, अब मैं भी बड़ा आदमी हो जाऊं ? तुमको ख़याल है कि नहीं, मैं जब एक मर्तबा महात्मा गांधी से प्रयाग मिलने गया और महात्माजी से न मिल सका था, उस समय मुझे कितनी झुंझलाहट हुई थी कि दो दिन का समय भी दिया, और उनसे मिल भी न सका। हालांकि महात्माजी बड़े आदमी थे, जिनके ऊपर झुंझलाहट नहीं आनी चाहिए थी, फिर भी मुझे झुंझलाहट आई, और तुमको भी। उसी तरह जब मुझसे कोई मिलने आयगा, और फिर मैं कोई बड़ा आदमी भी नहीं, तब तुम सोचो कि वह अपने दिल में क्या कहेगा ? फिर उसके साथ-साथ यह भी है, वह बेचारा कितनी दूर से कितनी इच्छाएं लेकर मुझसे मिलने आता है, वह अपने दिल मे कुछ सोचेगा ? यही न सोचेगा कि यह भी बड़े आदमी हो गये, जिस बडे आदमी के नाम से मैं खुद घबराता हूं, वह इल्जाम मेरे सर पर लगे, कितनी बुरी बात होगी। अरे भाई, हमसे तो वही लोग मिलने आते हैं, जो कि हमारी ही तरह गरीब हैं।'

मैं बोली—'गरीब है या अमीर, सवाल तो यह है कि काम कैसे हो ?'

आप बोले—'जैसे सारी जिन्दगी चलता आ रहा है, उसी तरह चलता जायगा, इसके लिए अफसोस क्या है ?'

मैं बोली—'तो आप रात को काम मत कीजिए। अब तो यहा तुमको तनखाह तो मिल ही जाती है, फिर अब काम क्यों इतना अधिक किया जाय ?'

आप बोले—'फिर मैं अब काम ही कौन अधिक करता हूं। सच कहता हूं कि स्टूडियो मे मैं दिन भर गप्पें लड़ाता रहता हूं, काम कुछ भी नहीं करता।'

मैं बोली—'तब तुमको केवल गप्पें ही लडाने बुलाया होगा, उनको इतनी बडी बम्बई में कोई गप्पें करने वाला न मिलता रहा होगा।'

आप बोले—'सच कहता हूं, कुछ भी काम नहीं रहता, तुम मानती नहीं हो।'

मैं बोली—'कुछ हो, मैं रात को काम नहीं करने दूंगी।'

आप बोले—'नहीं करने दोगी, नहीं करूंगा।'

मैं बोली—'चोरी से आप जीत जायंगे ?'

आप बोले—'क्या मुझे बावले कुत्ते ने काटा है कि जो मैं काम करता ही रहूं ? नहीं करूंगा, मुझे क्या पड़ी है।'

उसके बाद एक दिन स्टूडियो वाले उनसे बोले—'हमारे साथ आप इंग्लैण्ड चलिए, एक साल के लिए।' आप आ करके मुझसे कहने लगे—'मुझसे स्टूडियो वाले कहते हैं कि एक साल के लिए इंग्लैण्ड चलिए, वहां फिल्म तैयार करेंगे, और फिर एक साल वहां रहकर लौटने के बाद, मैं चाहे जहां काम करूं, मुझे दस हजार रुपया साल देते रहेंगे। पांच फिल्मों के लिए मुझे कहानियां तैयार करनी होंगी। एक तरह से ठेका समझ लो।'

मैं बोली—'मैं नहीं जाने देना चाहती, मैं नहीं जाने दूंगी।'

आप बोले—'तुम्हारा नुकसान ही क्या है ?'

मैं बोली—'नुकसान कुछ भी न हो मगर मैं जाने नहीं दूंगी।

आप बोले–'मैंने उनसे कहा था कि वह मुझे नहीं जाने देंगी। उसके लिए कहते थे, कि उनको भी साथ लेते चलिए, हम उनका भी खर्च देंगे।'

मैं बोली–'मैं न जाऊंगी, न जाने दूंगी।'

आप बोले–'तुम्हारा इसमें नुकसान ही क्या है, तुम्हारे बच्चे यहां पढ़ते रहेंगे।'

मैं बोली–'पढते रहेंगे, मैं सबको छोड़ करके वहा जाऊं ?'

तो आप बोले–'मुझे ही अकेला जाने दो, हमीं हो आएं। सच कहता हूं, बहुत अच्छा मौका है, हमेशा के लिए हमको छुट्टी मिल जायगी, आराम से बनारस में बैठे-बैठे काम करता रहूंगा।'

मैं बोली–'सब इसी तरह चलता रहता है।'

आप बोले–'मजदूरी करने में कुछ तो भी आराम मिलेगा, ऐसे घर बैठे-बैठे क्या मिलेगा ? उधर काम भी नहीं करने देना चाहती हो, इधर बाहर भी नहीं जाने देना चाहती हो। तो फिर बतलाओ कैसे काम होगा ?'

मैं बोली–'इसी तरह काम चलता रहेगा, न मैं आपको जाने देना चाहती हूं, न बच्चों को छोड़ना चाहती हूं।'

फिर बोले–'मजदूरी करने दो, यही सबसे आसान है।'

कोई समय यह था, कि एक साल को छोड़ना भी मुश्किल था, अब वही मैं हूं, जो कि मालूम नही कितने दिनों तक मुझे यहां अकेले रहना है। और न उन्होंने मुझसे पूछा, कि जाय या नहीं। और यह सब दो साल के अन्दर। वह महान् पुरुष मुझे छोड़कर चला गया, और मैं बैठी हाथ मलती रही। इसके पहले मुझे मालूम न था कि इतनी जल्दी मुझे इस हालत में छोड़ करके वे चले जायेंगे। इसको तो ज्यादातर वे ही महसूस करेंगे, जिन्होंने कि इस विषय में कुछ भी अनुभव किया होगा। आदमी के हाथ में कुछ है नहीं, फिर भी वह अपने को बहुत कुछ लगाता है। उसी में एक मैं भी हूं, इसीलिए वह महान् आत्मा जिसकी महानता को मैं कभी समझ न पाई, और कैसे समझती ? पहले तो यह था कि, वह महान् सबके लिए कुछ भी रहे हों, मेरे तो अपने थे, और मैं उनकी थी। हम दोनों के बीच में महानता कहा ठहर सकती है ? क्योंकि जहां घनिष्टता हो जाती है, वहां महानता नही रहती, क्योंकि अपनापा उनसे भी बड़ी चीज है, इसीलिए वह उसके बीच में रहना नहीं चाहती। शायद इसीलिए मेरे दिल में यह खयाल न आया। इसी में अन्धी होकर मैं उनके ऊपर हमेशा शासन करती और वह खुशी से मेरा शासन मानते, उसी तरह जैसे महान् पुरुष के सामने नन्हा-सा बच्चा उनकी पीठ पर मार-मारकर भाग जाता है, और वह महान् पुरुष उस पर हंस देता है। वह भी मुझे कभी-कभी पागल कह देते थे कि तुम पागल हो, मगर उस पागलपन में जो खुशी थी, वह मुझे अब जब कि मुझे कोई पागल कहने वाला नहीं....तो मैं सौ पागलों में एक पागल हो गई हूं, और सचमुच मैं पागल हूं, क्योंकि अपने पागलपन में, सब शायद भूली बैठी हूं; नहीं कोई समझदार आदमी, मेरी हालत में बैठ नहीं सकता था। इसीलिए मैं कहती हू कि मैं पागल हू, और मुझे दुनिया भी पागल समझे।

•

दिसंबर 1934 में मद्रास की तैयारी हो गई। हिन्दी प्रचार सभा ने दीक्षान्त भाषण करने के लिए आमंत्रित किया था। एक अहिन्दी प्रदेश में जाकर हिन्दी के प्रचार का सुयोग उनके मन की चीज थी। मुंशीजी ने न्योता पाकर तुरंत उसे स्वीकार किया और अपनी पत्नी, नाथूरामजी प्रेमी और बम्बई हिन्दी प्रचार सभा के शंकरनजी के साथ '27 दिसम्बर को बम्बई से चलकर 28 की शाम को मद्रास जा पहुंचे। 'मद्रास भ्रमण' संस्मरण में शिवरानी देवी ने लिखा है—

आपको मद्रास की हिन्दी-प्रचार सभा ने बुलाया था। आप आकर, मुझसे बोले—'चलो हम-तुम मद्रास घूम आयें।'

मैं बोली—'किसलिए ?'

आप बोले—'हिन्दी-प्रचार-सभा वालों ने बुलाया है।'

मैं बोली—'खर्च बहुत पड़ेगा।'

आप बोले—'देखा जायगा।' मैं चलने के लिए तैयार हो गई।

मेरी भी इच्छा मद्रास देखने की थी। दिसम्बर, 1934 का महीना था। हम लोग चार आदमी चले। हम दो थे, तीसरे नाथूराम 'प्रेमी', एक चौथे मद्रासी सज्जन।

गाड़ी पर सवार हुए। 4-6 ही स्टेशन गये होंगे कि मेरे सर में जोरों का दर्द होने लगा। गाड़ी इस बुरी तरह भरी थी, कहीं लेटने की जगह न थी। पहले मैं जब्त किये बैठी रही। मगर जब किसी तरह न रहा गया, तो मैंने आपसे कहा कि मेरे सर में बुरी तरह दर्द है। मैं बैठ नहीं सकती।

आप बोले—'मैं अभी तुम्हारे लिए इन्तजाम किये देता हूं।'

मैं बोली—'मुझे जनाने डिब्बे में बिठा दीजिए।'

आप बोले—'नहीं, रात का समय है। फिर वहां कोई देख-भाल करने वाला भी नहीं है। और फिर अकेले में बैठने नहीं दूंगा। मान लो कि तुम्हारी तबियत ज्यादा खराब हो, तो वहां कौन है ?' 'प्रेमी' जी से बोले—'आप मेरा और अपना बिस्तर ऊपर कर दीजिए।' इनके सर में बहुत दर्द हो रहा है। फिर अपने हाथ से होल्डाल खोलकर मेरे लिए बिस्तर तैयार कर दिया।

मुझसे बोले—'तुम्हारे पास तेल भी था, तेल ले आई हो अपने साथ ?'

मैं बोली—'तेल क्या कीजिएगा ?'

बोले—'सर में मालिश करूंगा।'

मैं बोली—'नहीं, यह तो बहुत भद्दा मालूम होता है।' बोले—'कुछ भद्दा नहीं है, तबियत खराब हो तो क्या किसी की दवा न हो ? कुछ नहीं, तुम्हें धूप लग गई है। देखो, मैं अभी मालिश किये देता हूं, तुम्हें नींद आने पर आराम मिल जायगा।' मेरे बहुत रोकने पर भी वह नहीं रुके और तेल निकालकर मेरे सर में मालिश करने लगे। वाकई मुझे आराम मिला और मैं सो गई।

'प्रेमी' जी और आप तथा मद्रासी सज्जन दस बजे के करीब जब खाना खाने लगे, तो 'प्रेमी' जी ने बहुत चाहा कि मुझको जगाकर खाना खिला दिया जाय।

आप बोले—'नहीं, जिसको तकलीफ हो और नींद लग जाय तो उसको कभी नहीं जगाना चाहिए। वास्तव में उनको बहुत अधिक तकलीफ रही है। मामूली दर्द में कहने वाली

जीव बे नहीं, इनको सो जाने दीजिए।' मे सोती रही। सारी रात गाड़ी चलती रही, मुझे ख़बर नहीं।

जब सुबह छः बजे गाडी मद्रास पहुंची, तब मुझे आपने जगाया। मैं सुबह उठी तो मेरी तबियत ताज़ा थी। स्टेशन के प्लेटफार्म पर कोई 300 के करीब स्त्री-पुरुष पहले ही से मौजूद थे। सबों के हाथ मे हार थे। किसी के हाथ मे गुलाब का हार, किसी के हाथ में, कपूर का जो ख़ासकर मद्रास ही में बनते हैं। हम तीनों आदमियो को उन्होंने हारों से लाद दिया। ऐसा स्वागत मैंने उसके पहले नहीं देखा था। फिर हम तीनों आदमियों को ले जाकर एक मारवाड़ी सज्जन ने अपने यहां ठहराया।

जब हम लोगो ने ग्यारह बजे रात को फ़ुर्सत पायी, तब आप मुझसे बोले—'देखो, इन प्रान्तों में हिन्दी-प्रचार कितने ज़ोरो पर हुआ है। यह सब महात्मा गांधी के कामों का फल है। जो भी काम वह अपने हाथों मे लेते है, वही सफल हो जाता है। सबसे ज्यादा अंग्रेजी पहले यहीं सीखी गई। हमारे प्रान्तों मे अच्छे-अच्छे ओहदो पर मद्रासी है। आज वही हिन्दी के पीछे दीवाने हो रहे है। मेरे खयाल मे स्वागत करने के लिए कम-से-कम 300 से ऊपर रहे होंगे। इसके माने यह है कि हिन्दी का भविष्य उज्ज्वल है। एक बार हिन्दी-प्रचार-दल हमारे प्रान्तों में गया था। यहा जितनी स्त्रियों को हमने देखा, हमारे प्रान्तो में शायद ही कोई एक-दो स्त्री इन लोगों का स्वागत करने आई हो। यहां हमने देखा, जैसे मालूम होता था कि कब की पुरानी मित्रता है, और न जाने कबकी परिचित हैं।'

मैं बोली—'मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि जितनी शराफत और जितना अपनापन इन लोगो में है, उतना क्या, उसका एक हिस्सा भी हममें नहीं है। जिस समय बनारस में प्रचार-दल गया था, उस समय तक मेरी पाच-छः कहानिया तमिल और तेलुगू मे अनूदित हो चुकी थीं। फिर भी मैं बनारस मे रहते हुए भी इनका स्वागत करने के लिए स्टेशन न गई थी, तो फिर औरो के लिए क्या कहूं।'

आप बोले—'नहीं, हमारा प्रान्त ही ऐसा है।'

मे बोली—'सब कोई करे, मगर जिस काम को हम बुरा समझते हैं, बुरा समझते हुए भी हम करे, तो इसके मानी है कि हम सबसे ज्यादा गुनहगार हैं। बम्बई से चलते समय मैंने सोचा था कि किसी अजनबी जगह जा रही हूं, जहा अपना कोई न होगा। मगर यहां आने पर, और इन बहनों की शराफत देखकर, अब ऐसा मालूम होता है, जैसे मैं अपनी ही बहनो के बीच में आ गई हूं।'

आप बोले—'भाई, यही तो इन लोगों मे खास बात है।'

मै बोली—'नहीं, यह मुझसे कही ऊंची है।'

दूसरे दिन मीटिंग थी, जिसमे शामिल होने हम लोग गये थे। पहले तो मिटिंग हुई। उसक बाद, अन्य प्रान्तों के लोग, जो वहां आबाद हुए हैं; या जो वहां काम करते है, उन्होंने वहां के लोगों की शिकायत करना शुरू किया कि स. ब हमारी तो यहा कोइ पाजीशन नहीं है।

आप सबों को जवाब देते हुए बोले—'भाई ! पोज़ीशन तो उस हालत में होती है जब बहुत संख्या में पढ़े-लिखे आदमी एक जगह रहते हैं, तब अपनी पोजीशन बनाते हैं, और तभी पोज़ीशन बनती भी है। हमारे प्रान्तों के पढे-लिखे आदमी तो यहां नहीं के बराबर हैं,

इसी वजह से यहां अभी पोज़ीशन नहीं बन पाई। हमारे प्रान्तों में पढ़े-लिखे आदमी तो घर-घुस्तू होते हैं। अब रहे मज़दूर और रोज़गारपेशा। इनको अपने रुपये कमाने की फिक्र होती है, इनको पोज़ीशन बनने न बनने की कोई चिन्ता ही नहीं होती। पोज़ीशन तो बनाने की चीज़ होती है। और जब वह बनती है तो कुछ न कुछ करना ही पड़ता है। इन प्रान्त के जो सज्जन अन्य प्रान्तों में जाते हैं, तो आप अपनी पोज़ीशन वहा बनाते हैं। हमारे प्रान्तों में अंग्रेज़ी अख़बारो के एडीटर कोई-न-कोई मद्रासी सज्जन ही रहते हैं। कुछ स्कूलों के प्रिन्सिपल भी हैं। डॉक्टरी में भी ज़्यादा तादाद में मद्रासी सज्जन ही हैं। इसका प्रधान कारण वहां सबसे पहले अंग्रेजी भाषा का प्रचार होना है। जैसे मद्रासी सज्जनों ने पहले अंग्रेज़ी सीखने में परिश्रम किया, उसी तरह हिन्दी में भी बाजी ले जायगे।'

दूसरे दिन हम एक बहुत ऊंची कमान को देखने गये। यह बहुत पुरानी कमान है। आपने लोगों से पूछा कि आख़िर इसका इतिहास क्या है ? लोगों ने बताया—साहब इसका पता नहीं कि यह कब और क्यो बनी, कई दफे इसको तोड़ने की कोशिश की गई कि आखिर यह नीचे कहां तक है, मगर इसका कुछ पता नहीं लगा। इसके ऊपर हम कोई पन्द्रह-सोलह आदमी चढ़े। जब उस पर खड़े हो गये तो पैर से दबाने पर कमान दबती थी, लचकती थी। आप कुछ ही दूर गए और सर थामकर बैठ गये। मैं आगे निकल गई थी। आप दोनों हाथों में सर थामकर बैठ गये। बोले—'मेरा सर चक्कर खा रहा है।' मैं उनको बैठे देख आगे से लौट पड़ी और पास बैठकर बोली—'कैसी तबियत है ?'

जब मैं उनके पास बैठ गई, तो मुझे घबराई देख वे बोले—'कोई घबराने की बात नहीं है। यह कमान जो लचती है, इसी वजह से शायद मेरे सर में चक्कर आने लगा है, ठीक हो जायगा, मैं नीचे उतर जाऊगा।'

मैंने चाहा कि उनको नीचे उतार आऊ, क्योंकि मुझे डर लग रहा था कि कहीं वह गिर न पड़ें।

आप बोले—'कोई घबराने की बात नहीं है।'

तब तक दो मद्रासी सज्जनों ने आपका हाथ पकड़कर नीचे उतारा।

खैर, उसको देखने के बाद हम दोनों चामण्डी का पहाड़ देखने गये। वह भी बहुत ऊंचा था मगर वहां तक मोटर चक्कर काटती हुई जाती है। मैं वहां भी डर रही थी कि कहीं यहां भी आपके सर में चक्कर न आये।

मैंने कहा—'तो आप ऊपर न जाइए।'

आप बोले—'इसकी कोई बात नहीं है, कमान जो वहां लचती थी, इसी वजह से सर चक्कर आया था। यहां कोई डरने की बात नहीं है।'

इसी तरह छः दिन मद्रास में जाते हुए मालूम भी न हुए। उस समय मुझे कितना गर्व था और कितनी खुशी थी। लोग उनको अपनाते थे, मुझे खुशी इस बात में होती थी कि यह मेरे हैं। मद्रास ही में मैसूर में एक सज्जन आये और मैसूर चलने के लिए न्योता दिया।

छः दिन रहने के बाद जब मैसूर गई, तो वहां भी इसी तरह का स्वागत और इसी तरह का उत्साह। वहां पर मैसूर रियासत के मन्त्री खास उत्साही आदमी मिले। वहां पर अलीगढ़ के एक सज्जन थे, उन्होंने बहुत आग्रह करके अपने यहां ठहराया। मैसूर वास्तव में बहुत ही सुन्दर, रमणीक जगह है। हम लोग रात को साथ बैठे।

आप बोले—'जितना सुन्दर मैसूर है उतना सुन्दर शायद ही कोई शहर हो। मैंने तो इतना सुन्दर शहर नहीं देखा।'

मैं बोली—'मेरी इच्छा होती है कि हम लोग यहीं रुक जायं।'

वहां भी सभाएं हुई, मुझसे लोगों ने कहा कि आप भी कुछ बोलिये। उनकी सभ्यता और अपनापा देखकर मुझे खुद मालूम होता था कि मैं कितनी ओछी हूं और जो बहनें हमारे प्रान्त में गई हमने उनका स्वागत तक न किया। उन्हीं बहनों के बीच में ऐसा मालूम होता था कि हमारा उनका बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। मुझे कहना पड़ा कि बहनो ! मैं तो यहा दूसरों को जानकर आई मगर आप लोगों के बीच में और आप लोगों की सज्जनता देखकर ऐसा मालूम होता है कि अपने ही परिवार में हूं।'

उनमें एक बूढ़ी औरत थीं; उनकी उम्र कोई 60 की थी। मैंने कहा कि मेरी तो इच्छा यह होती है कि लक्ष्मी अम्मा के पास बैठकर बहुत अच्छी-अच्छी ज्ञान की बातें उनसे सुनूं और जो मैं बनारस में उनका स्वागत करने नहीं गई थी, उसके लिए उनसे क्षमा मांगूं।

उसी जगह वह बैठी हुई थी। उन्होंने पीठ पर हाथ रखा और बोली—'आप ऐसा क्यों कहती है ?' मैंने उनसे कहा कि आप मुझे आप न कहें, मुझे तो आप तुम, कहे बल्कि आप मुझे अपनी लड़की बना लें तो ज्यादा अच्छा।'

आप उसी जगह बैठे हुए थे। बोले—'यही तो सबसे बेहतर होगा।'

वाकई मेरी आखों में आंसू आ गये थे। उन लोगों का ऐसा स्नेह था कि वह आज भी मेरे दिल में ताजा है। इसी तरह पाच दिन हमें बीत गये। कई जगह दावतें खाईं और कई जगह जलपान किया। जितना ही वह लोग हमारे साथ-साथ सज्जनता करते थे, उतना ही हम लोग उनके स्नेह व आदर के बोझ से दबे-से जाते थे।

वहा से फिर बगलोर जाने के लिए निमन्त्रण मिला। बगलौर में इन प्रान्तों का कोई न था, इसलिए हम लोग मद्रासी सज्जन के यहा ठहरे। उनके यहा की स्त्रियां तब तक हिन्दी नहीं पढ़ी हुई थीं। न उनको हिन्दी आती थी, न मुझको अंग्रेजी। उस वक्त मुझे कुछ दिक्कत मालूम होती थी। मगर पुरुषों में यह बात न थी. पुरुष काफी हिन्दी समझते थे, उनमें काफी हिन्दी का प्रचार हो गया था।

आप मुझसे बोले—'तुम्हें तो यहां बड़ी परेशानी हो रही है।'

मैं बोली—'कोई परेशानी तो नहीं है।'

आप बोले—'क्यों नहीं, स्त्रियों की जरूरत स्त्रियों में ही पूरी होती है।'

बगलोर के बाद रामेश्वरम् के लोग भी बुलाने को आये। वे मुझसे बोले—'चलो अब रामेश्वरम् चलें।'

मैं बोली—'रामेश्वरम् जाने की मेरी तबियत नहीं है।' कहने लगे—'उसमें क्या है, घूम आओ।' मैं बोली—'नहीं, मेरी तबियत अब सीधे बम्बई जाने की है।' आप बोले—'फिर मौका मिले या नहीं, करीब आ गये है, चलना चाहिए।' मैं बोली—'नहीं, मेरी तबियत नहीं है।'

आप बोले—'आख़िर बम्बई मे तुम्हारा कौन बैठा है, हम दोनों तो थे ही, सो दोनों साथ हैं।' मैं बोली—'वहां लोगों की चिट्ठी-पत्री तो मिलेगी। बेटी का न मालूम क्या हाल है, उसको बच्चा होने को था।' आप बोले—'तो अच्छा, नहीं चलने का विचार है ?' मै बोली—'नहीं।'

हम इन तीनों जगहों गये और तीनों जगहों में हर जगह 5-6 दिन तक रहना हुआ, इस पर भी उन लोगों की तबियत नहीं भरी। सब लोगों ने यही कहा कि साहब, और दिन ठहरते तो अच्छा मालूम होता। यह थोड़े से दिन हम लोगों के सामने से निकल गये। हमारी इच्छा नहीं होती कि आपको जाने दें। सब लोगों से यही वादा किया कि हम लोग गर्मी मे आयंगे, जब मेरे बच्चों की छुट्टियां हो जायंगी। तब अगली बार हम पूरे परिवार के साथ आयंगे। और तब कम-से-कम एक जगह 15 दिन तक ठहरेंगे।

जब हम दोनों आदमी रात को इकट्ठा हुए, तो आप मुझसे बोले–'देखो, यह कितना सुन्दर प्रान्त है, यहां के आदमी कितने सभ्य और कितने सज्जन हैं। हम लोगों को ऐसा मालूम होता है, जैसे हमेशा के मिले-जुले आदमी हों। अबकी बार जब हम आयंगे तो बेटी और बच्चों का ज़रूर ले आयेंगे। उन विचारों को भी दिखा देंगे, तब यहां का आना बहुत अच्छा लगेगा। यहां रहने में बहुत आनन्द आयेगा।'

मै बोली–'अच्छा यों भी मुझे लगता है।'

आप बोले–'नहीं, यह स्वाभाविक बात है, जब बच्चे अपने घर से दूर रहते हैं, तब कुछ अपने में कमी आ जाती है। और चिन्ता भी बनी रहती है, अब इसीलिए तो तुम्हारी आगे जाने की इच्छा नहीं हो रही है। बेटी को बच्चा होने वाला था। न मालूम उसकी क्या हालत है।'

जब हम वहां से चले, सब लोग स्टेशन पर पहुचाने आये। और पूना से एक महाशय का पत्र आया कि आप मेरे यहां लौटती बार अवश्य आयें।

आप मुझसे बोले–'चलो, पूना भी चलो।'

मैंने कहा–'मेरी तबियत नहीं लग रही है, सीधे बम्बई चलो।'

आप बोले–'वह चालाक आदमी है। वह तुम्हारे मकान की चाभी भी लेता आया है और लिख भी दिया है कि चाभी इसीलिए ले आया हूं जिससे आप इधर अवश्य आयें। जस 25 दिन बाहर बिताये, उसी तरह दो दिन तो जरूर उनके मेहमान बनेंगे।'

मै बोली–'जब ऐसा है तो चलना ही है। मगर यह होता है कि जितनी ही जगह जाओ, उतने ही अपने होते जाते है। उतनी ही सबकी मुहब्बत होती जाती है, उतनों ही के साथ अपना अपनापा होता जाता है। उतने ही ज्यादा बधन हमारे बधते जाते है।'

आप बोले–'इसमें तुम्हारी हानि ही क्या है? थोड़े दायरे मे न रह कर अगर विशाल दायरे में चला जाय, तो मेरे खयाल में तो कोई नुकसान नहीं, फायदा ही है।'

मैं बोली–'पुरुषों को ऐसा नहीं होता। आपका पत्र-व्यवहार सबसे होता रहेगा। कभी आप इधर चल आयंगे, कभी वे लोग बनारस आयंगे तो मिल लेंगे। मगर मेरे मिलने के लिए कौन दौडा जायगा और मुझे कहां-कहां आना होगा।'

आप बोले–'जब मैं आऊंगा तो तुम मेरे साथ अवश्य आना। और जब ये लोग उधर जायंगे, तब तुम तो मिलोगी ही।'

वहां से चलकर हम पूना आये। मगर उन लोगों की भी खातिर देखकर बडी तबियत खुश हुई, क्योंकि वह भी स्त्री-पुरुष दोनों मेरे बहू और बेटे बन गये। और जब वहां से चली तो मुझे वही तकलीफ। यहां तक कि उस बेचारी ने हम लोगों के लिए खाना भी रख दिया था। वादा करवाया कि हम किसी छुट्टी में फिर पूना आयें। फिर पूना जाने का मौका न

मिला, और पूना तो क्या, कहीं भी जाने का मौका न मिला। हां, वह लोग जो कहते थे कि सपने में 5 दिन बीत गये, उनको सपने के वह दिन याद हैं या नहीं, मालूम नहीं। हां, मेरे लिए तो शायद, जब तक जिन्दा रहूंगी तब तक वह मनोहर सपना याद रहेगा, और जब-जब याद पड़ेगा, तब-तब घंटे-दो-घंटे के लिए सब का वह स्नेह मुझे बेचैन कर देगा। और शायद वह सपना, इस जीवन में फिर देखने को न मिलेगा, और कैसे मिले जब मैं वह चीज़ ही न रह गई तो वह सपना कैसा। और जब उस सपने की मेरी ख़्वाहिश हो तो वह शायद मेरा पागलपन होगा। फिर भी मैं कहती हूं, मुझे जो सपना देखने को मिल गया उसके लिए भी ईश्वर को धन्यवाद है। नहीं, मैं ऐसी भाग्यशालिनी न थी।

मुझे घर पर पहुंचाकर आप बोले—'अच्छा, अब मैं स्टूडियो जाता हूं।' मैं बोली—'नहा तो लीजिए।' आप बोले—'नहाने लगूंगा तो देर होगी।' मैंने कहा—'देर होगी तो क्या होगा?' आप बोले—'नहीं, जिसके लिए तुम घबराई हुई आई हो, वहां जाकर देखूं, लोगों के पत्र आये होंगे। बेटी का भी हाल मालूम होगा। अभी मैं लौटा आता हूं। सिर्फ चिट्ठी ही लेने तो जा रहा हूं।'

थोड़ी देर बाद, एक घंटे में वह आ गये। मुझसे बोले—'बेटी के यहां से तार आ गया है। तार में लिखा है बेटी और बच्चा खैरियत से है। बच्चों का भी ख़त आया है, सब खैरियत से हैं। बेटी के बच्चा आठ ही तारीख को हो गया है। तभी तुम्हारी तबियत वहां नहीं लग रही थी। बेटी की तबियत खराब रही होगी, बार-बार तुम्हारी याद करती होगी। तभी तुम भी वहां परेशान थीं।'

उसके बाद हम लोगों ने अप्रेल के महीने में बम्बई से प्रयाण किया। यह सन 35 की बात है।

सुबह के समय हमारे घर का सब सामान मालगाड़ी से भेजने के लिए पैक हो रहा था। आपके कई मित्र आये थे, जो यू. पी. के थे, वह सब सामान मालगाड़ी से भेजने के लिए तैयार कर रहे थे। आपको एकाएक याद आई कि ज्ञानू की गाड़ी रह गई।

मुझसे बोले—'अच्छा, ज्ञानू की गाड़ी तो बाकी रह गई।'

मैं बोली—'जाने भी दीजिये। इलाहाबाद में ले ली जायगी।'

आप बोले—'यहां गाड़ी मिलती है, उसमें हर्ज ही क्या है? मुझे रुपया दो, सब सामान तो जा ही रहा है, उसके साथ वह भी चली जायगी।'

मैं बोली—'किराया देने से फायदा?'

आप बोले—'कैसे कहती हो, वहां चीज़ भी अच्छी नहीं मिलेगी, और रुपया भी ज्यादा लगेगा।'

मुझसे रुपये लिये। और जाकर अपने हाथ से गाड़ी ले आए। गाड़ी लेकर जब घर आए तो बोले—'देखो, यह 40 रुपये की गाड़ी वहां 60 रुपये के नीचे न मिलेगी किराया बहुत लगेगा तो 4-5 रुपये लगेगा।'

मैं बोली—'ठीक है।'

आप बोले—'अब सबके लिए सब ठीक सामान आ गया।'

मैं बोली—'आपके लिए तो कुछ आया ही नहीं।' हंसकर बोले—'अच्छा हुआ, हम दोनों बट्टे खाते गये। न तुमने कछ लिया, न हमने कुछ लिया।'

जब हम लोग बम्बई से चलने वाले थे, माखनलाल चतुर्वेदी का खंडवा से पत्र आया। उन्होंने लिखा था कि आप खंडवा आइये। आप मुझसे बोले—'चलो खंडवा चलें।' जब हम लोग खंडवा पहुंचे, पंडितजी कई आदमियों के साथ पहले से स्टेशन पर मौजूद थे। जब उनके मकान पर हम लोग पहुंचे, पंडितजी ने हम लोगों के लिए एक कमरा पहले ही से तैयार कर रखा था।

पंडितजी किसी प्रकार काम से बाहर चले गये। हम ही दो आदमी रहे। मैं उनसे बोली—'क्या, पंडितजी के घर कोई स्त्रियां नहीं हैं ?' आप बोले—'मालूम तो यही होता है।'

थोड़ी देर बाद पंडितजी आये। मैं बोली—'क्या साहब आपके घर मे स्त्रियां नहीं हैं ?'

पंडितजी बोले—'हमारी माताजी और हमारे भाइयों की स्त्रियां हैं।'

आप हंसकर बोले—'सबसे पहले इनको अन्दर लिवा ले जाइये।'

पंडितजी मुझे लेकर अन्दर गये और सबसे जाकर परिचय कराया। देर तक बातें करती रहीं। फिर मुझे अन्दर नहाने के लिए लिवा ले गई। आप लोगों ने तो खाना बाहर ही खाया, और स्त्रियों ने मुझे खाना अपने साथ खिलाया। उसके बाद पंडितजी हम लोगों को घुमाने के लिए ले गये।

दूसरे दिन सुबह पंडितजी हम लोगों को जंगल में लिवा ले गये, नदी का किनारा था जो खंडवा से 15-20 मील की दूरी पर था। वहां पंडितजी ने हम दोनों आदमियों को डाल पर बिठाला और खुद भी बैठ गये। हम दोनों के हाथ में एक-एक सन्तरा रखते हुए बोले—'अच्छा आप लोग इस को छीलकर खाइये। हम इसी तरह से फोटो लेना चाहते हैं।'

मैं बोली—'मैं सन्तरा न लूंगी, न खाऊंगी।'

आप हंसकर बोले—'सारे सन्तरे, टोकरी की टोकरी, इनके सामने रख दीजिये। तब ऐसा मालूम होगा कि यह बेच रही है और हम लोग खरीदकर खा रहे हैं।'

मैं झेंपती हुई बोली—'अगर आप ऐसा करेंगे तो मैं डाल से उतर जाऊंगी। मुझे इस तरह अच्छा नहीं मालूम होता।'

यह दोनों आदमी हंस रहे थे और मुझे झेंप मालूम हो रही थी। खैर, सन्तरे हटा दिये गये, और मैंने हाथ में एक सन्तरा ले लिया। इसी तरह फोटो ले लिया गया। फोटो लेने के बाद हम लोगों ने सन्तरे जमीन पर बैठकर खाये। वह भी बहुत सुन्दर जगह थी। घना जंगल, नदी का किनारा। अप्रैल का महीना था, मगर धूप बहुत तेज थी।

सन्तरे खाकर आपने उसी जगह पड़ी हुई एक लकड़ी में से एक लकड़ी तोड़कर एक गुल्ली बना ली, एक डंडा। और गुल्ली-डंडा खेलने लगे।

पंडितजी बोले—'कहो तो एक फोटो इस तरह का भी लें।'

आप बोले—'नहीं साहब, आप ऐसा फोटो लीजियेगा भी नहीं। नहीं लोग मेरी हंसी उड़ायेंगे कि बुढ़ौती में इनको गुल्ली-डंडा खेलने की धुन कैसे सवार हुई।'

मैं बोली—'क्यों अपनी दफे क्यों बुरा लगने लगा, अभी तो आप मुझे सन्तरा बेचने वाली बनाते थे ? आप गुल्ली-डंडा खेलना क्यों बुरा समझते हैं ? आपका गुल्ली-डंडा अब भी गांव में मशहूर है। सब ही तो गांव में कहते हैं कि गुल्ली-डंडा बहुत अच्छा खेलते थे।'

हम दोनों आदमी मोटर पर बैठे, आप गुल्ली-डंडे पर पंडितजी से बातें करने लगे—'साहब, हम लोगों का जीवन अब दिन-पर-दिन बहुत महंगा होता जा रहा है। बच्चों

का खेल ही एक ले लीजिये, स्कूल और कालेज में जो खेल आजकल बच्चे खेलते हैं, वह बहुत महंगा होता है। पहले गुल्ली-डंडा, गोली और इसी तरह के बहुत से खेल थे, जो कि पहले के लिए तो सबसे अच्छे थे और आजकल के खेलों को देखते हुए भी कम अच्छे न थे। उन खेलों में एक पैसा भी किसी का खर्च नहीं होता था। और इन खेलों में काफी रुपये लग जाते हैं। मगर कसरत के लिहाज से देखें तो दोनों बराबर हैं।'

इसी तरह की समालोचना करते-करते घर पहुंचे। पांच दिन हम लोग खंडवा में रहे। आप दो-तीन स्कूलों में गये। दो दिन साहित्यिकों की मीटिंगें आपके सभापतित्व में हुई। मैं तो फिर उसके बाद बाहर घूमने नहीं गई, क्योंकि जो आनन्द मुझे माताजी के पास मिलता वह मुझे बाहर नहीं मिलता था।

आप बोले—'चलती क्यों नहीं हो ?'

मैं बोली—'मुझे तो घर में ही अधिक अच्छा लगता है।'

हंसकर बोले—'अब तुम्हें कोई वहां सन्तरे बेचने वाली नहीं बनाएगा।'

मैं बोली—'इस डर से थोड़े ही नहीं जाती हूं, मुझे यहां अच्छा ही लगता है, यहां माता जी है।'

खंडवा से जिस रोज हम चले, उस रोज आप बोले—'चलो सागर होते चलें। बेटी को भी देख लें।'

मैं बोली—'आपने चिट्ठी भेज दी होती तो अच्छा होता।'

आप बोले—'तार दे दूंगा। उसे भी लेते चलेंगे। अगर नहीं बिदा करेंगे तो उन लोगों से मिल लेंगे।'

मैंने कहा—'यह ठीक होगा।'

हम लोग सागर पहुंचे। वहां पांच रोज तक रहे भी। आपके स्वागत में जगह-जगह मीटिंगें होती रहीं। गल्प-सम्मेलन भी हुए।

एक दिन गल्प-सम्मेलन में आप जा रहे थे तो बोले—'तुम भी चलो और बेटी को भी लेती चलो।'

मैं बेटी से बोली—'चलो न तुम भी।'

बेटी बोली—-अम्मां, यहां पर्दे की प्रथा है। ठीक न होगा।'

मैंने कहा—'बेटी न जा सकेगी। और मेरी भी इच्छा नहीं है।'

आप बोले—'चलो बैठो, क्या हर्ज है !'

मैंने कहा—'यहां लोग पर्दा करते हैं।'

आप बोले—'पर्दा कैसा ! चलो।'

मैं बोली—'पर्दा अभी हटा कहां है ?'

'मेरे घर में तो पर्दा नहीं है।'

'समय के मुताबिक सब कुछ करना पड़ता है। मैं बूढ़ी ठहरी।'

'ख़ैर, तुम चलो।'

'नहीं, मैं भी नहीं जाऊंगी।'

जब मैं नहीं गई तो वे वासुदेव के साथ गोदी में बेटी के बच्चे को लेकर गये।

पांचवें रोज़ जब हम वहां से चलने लगे तो बड़ी करुणा उमड़ आई। बेटी रोने लगी।

उसके बच्चे हम लोगों के साथ आने के लिए रोने लगे।

आप बोले—'इस बच्चे को लेती चलो न। तुम्हारी भी तो वहां अकेले तबियत नहीं लगेगी।'

मैं बोली—'बेटी और घबरायेगी।'

तब आप बेटी से बोले—'रोती क्यों हो ? इसी छुट्टी के बाद धुन्नू को भेजूंगा। मैं तो इसी ख़याल से आया था कि तुमको लेता चलूं। मगर अभी शायद उनकी बहन आने वाली हैं। वह बेचारी उतनी दूर से आयेगी और तुम्हें देख भी नहीं पायेगी। धुन्नू को बीस-पचीस रोज़ ही में मैं भेजूंगा।'

वहां से हम लोग इलाहाबाद आये। स्टेशन पर रिश्तेदार कार लिये खड़े मिले। आपने हंसते हुए पूछा—'धुन्नू वगैरह कहां रह गये ? और तुम्हें कैसे ख़बर मिली ?'

वे बोले—'उन्हीं लोगों से तो। शायद उन लोगों को गाड़ी का टाइम न मिल सका हो।'

'तो चलो, बोर्डिंग-हाउस से उन लोगों को भी ले लें।'

यह कहते समय उनके चेहरे पर ऐसे भाव उभर आये थे कि जैसे अब ये बिना बच्चों को देखे नहीं रह सकते। मानो कैदी जेल से छूटकर घर के आदमियों को देखने को उत्सुक हो। सीधे कार से बोर्डिंग-हाउस पहुंचे और दरवाज़े पर आवाज़ लगाई। दोनों बच्चे स्टेशन आने को तैयार हो रहे थे। लड़के आये। वहां से चलकर दो दिन लूकरगंज में ठहरे।

मैं बोली—'आप लूकरगंज ही ठहरेंगे ?'

आपने हंसते हुए जवाब दिया—'तो कैसे कहूं कि नहीं चलूंगा।'

दूसरे रोज़ आप मेरे भाई के यहां गये। पांच दिन तक हम लोग वहां रहे। पांचवें दिन मुझसे बोले—'चलो, सोरांव तुम्हारी बहन से मिल आयें।'

मैं बोली—'ज़रूर चलिए।'

हम दोनों वहां भी साथ-साथ गये। वहां भी पांच दिन रहने के बाद हम लोग चलने को हुए तो बहन बोली—'अभी न जाने दूंगी। बाबूजी, इन्हें छोड़ते जाइए।'

आप बोले—'यह तो मेरे साथ आपका अन्याय है। और कौन घर है ? यह तो वही बात हुई कि जैसे पिंजड़े में दो पंछी हों और उनमें से एक निकाल दिया जाय।'

बहन बोली—'मेरी इच्छा तो नहीं होती कि इन्हें जाने दूं। मैं दस-पांच दिनों में ही किसी के साथ भिजवा देती। आपको तकलीफ न होती।'

मैं उस समय बोली—'आप मुझे रहने न दीजिए ?'

आपने मुझसे कहा—'तुम रहना चाहो, रहो। तब मैं कानपुर हो आऊं।'

मैं बोली—'बनारस ही न चले जाइए।'

आप बोले—'अकेले उस घर में मुझसे रहा न जायगा।'

मैं बोली—'आप तो प्रेस में रहेंगे।'

आप बोले—'आख़िर रात तो घर पर ही बिताऊंगा। जिस घर में तुम नहीं रहोगी, वहां मैं कैसे रह सकूंगा।'

मैं बोली—'अगर यह बात है तो चलो मैं चल रही हूं।' बहन से मैंने प्रार्थना की कि छुट्टी दो।

हम दोनों गांव आये। दिन भर वे घर रहते। प्रेस तो कभी शायद गये हों। मुझे घर पर अकेली छोड़ना वे बर्दाश्त नहीं कर पाते थे।

एक रोज़ शहर आ रहे थे। मुझसे बोले—'तुम क्यों नहीं चल रही हो ? तुम भी चलो।'

मैं बोली—'नहीं, आप ही जाइए।'

बोले—'मैं ही क्यों जाऊं ? काम होता रहेगा। कभी फिर चले जायंगे। मुझे जो खुशी यहां मिलेगी, सो वहां कहां नसीब होगी। जैसे ग्यारह महीने से काम हो रहा है, वैसे ही होता रहेगा। मारो गोली।'

उसके पांचवें दिन इलाहाबाद से ख़त आया कि धुन्नू को चेचक निकल आई है। शाम के सात बजे के लगभग आपको पत्र मिला। दिन को उस दिन हम एक कमरे में आराम कर रहे थे। मैं सो रही थी। दो बजे उनकी नींद खुली धीरे से वे अपने कमरे में चले गये। दरवाजा धीरे से बन्द करते गये। उसी समय मैंने एक बड़ा डरावना सपना देखा। मुझे ख़्वाब में उनके बगल ही में सोने का ध्यान था। स्वप्न में मैं उनके पैर को अपने पैर से खोदना चाहती थी, जिससे वे मुझे जगा दें। एकाएक दरवाजा खोलकर मैं उनके कमरे में गई। वे उस समय कुछ लिख रहे थे। मुझे घबराई हुई देखकर बोले—'क्या है ?'

'आप जगाकर आते। आज के सपने से तो मैं बिल्कुल घबरा उठी हूं।'

आप बोले—'मुझे क्या मालूम कि तुम्हारी यह हालत होगी। इसी से मैं कहीं बाहर नहीं जाता।'

शाम को जब धुन्नू की बीमारी का खत मिला तो बोले—'कल सुबह जाना होगा।'

मैंने कहा—'मुझे भी लेते चलिए।'

आप बोले—'नहीं, उन्होंने लिखा है कि कोई घबराने की बात नहीं है।' यहां कोई इक्का-तांगा तो मिल न सकेगा। तुम कैसे पैदल चलोगी ?'

मैंने कहा—'नहीं, मेरी तबियत नहीं लगेगी।' आपने आग्रह करते हुए कहा—'मत जाओ। बड़ी तकलीफ पाओगी।' मैंने कहा—'मेरी तबियत घबड़ाती रहेगा।

आप बोले—'पिछले ख़त में उसे मैंने डांटा भी था। बीमारी में उसे और दुख उससे हुआ होगा।'

'क्यों डांटा था ?'

'वह फिजूल खर्चा करता है।'

'रुपये के लिए न डांटा कीजिये।'

'आदत बिगड़ जायगी। उन्हीं लोगों को तो दुख उठाना पड़ेगा। मुझ से कुछ कहा नहीं जा रहा है, न जाने कैसे होगा ?'

हम दोनों सुबह पांच बजे पैदल चले। कुछ दूर जाने पर इक्का मिला। गाड़ी छूट गई। तब हम लोग लारी से चले। 4 बजे शाम को हम लोग प्रयाग पहुंचे। देखा कि धुन्नू अच्छा हो रहा है। शाम को 7 बजे तक उसी के पास हम लोग रहे। उस दिन हमने कुछ नहीं खाया।

धुन्नू जब अच्छा हो गया तो उसी वक्त चौदह-पंद्रह दिन की छुट्टी बोर्डिंग हाउस में हुई। बोर्डिंग हाउस के नौकरों को उन्होंने दो-दो रुपये इनाम दिये। हम लोग बच्चों को लेकर

बनारस आये। बनारस स्टेशन पर एक तांगे को धुन्नू ने इसलिए वापस कर दिया कि वह ज्यादा पैसे मांग रहा था। वह दूसरा तांगा बुलाने गया। दूसरे तांगे को पटाकर लाने में उसे देर हुई। आप मुझसे बोले—'देखती हो लौंडों को! अगर वह गरीब चार पैसे ज्यादा ही ले लेता तो क्या हो जाता ? खुद कंजूसी नहीं करते। यह बड़ी गन्दी आदत है। संसार विचित्र है।'

इतने में धुन्नू तांगा लेकर पहुंचा। फिर भी उससे और तांगे वाले से खिचखिच हो रही थी।

आप बोले—'क्या बकबक करते हो जी ! तांगा इधर लाओ। कुलियों ने सामान रखा। रास्ते भर वे तांगे वाले से दुख-सुख की कहानी पूछते रहे।'

●

साहित्य-परिषद् की मीटिंग अप्रैल '36 मे वर्धा में थी।

आप मुझसे बोले—'वहां से लौटने पर मैं बेटी को लेता आऊं वहां लिख दो।'

मैं बोली—'मैं पहले ही लिख चुकी हूं।' चलने लगे तो मैं बोली—'देर न लगाइयेगा।'

आप कहने लगे—'मुमकिन है एकाध दिन की देर हो जाय। कई जगह जाना है। मुझ खुद जल्दी रहती है। हां, सागर शायद देर लग जाय। जिस दिन लौटे, मैंने देखा बेटी साथ में नहीं। मैं दरवाज़ा खोलने गई। मेरे पूछने पर, बिना जवाब दिये ही ऊपर चले आये। मैं ऊपर आई तो बोली—'बेटी क्या हुई ?'

आप आंखों में आंसू भरकर बोले—'बीमार है।' मैं बोली—'क्या हुआ है ?' बोले—'गर्भ था, गिर गया है, मुझे तो पहुंचते ही डाक्टर ने बताया।'

मैं बोली—'आप मिले कि नहीं ?'

'मिला क्यों नहीं। दो दिन तक रहा भी। अगर उसकी यही हालत रही तो वह बे-मौत ही मर जायगी। न मालूम इन गधों को कब समझ आयेगी। इस बीसवीं शताब्दी में भी ये गधे हैं।'

मैं बोली—'कोई खुद बीमारी कर लेता है ?'

आपका यह कहते-कहते गला भर आया कि सब हमारे कर्म का फल है।

उसी रात को मेरे यहां चोरी हुई। चोरी में 1000 रुपये नकद 1500 रुपये के जेवर गये। चोर का कहीं भी पता न लगा। चोरी एक खाना पकाने वाले महाराज ने की थी। जब कुछ भी पता न लगा तो बोले—'तुम जेवरों का शोक तो करो न। वे तो तुम्हारे बक्स में रखे ही रहते थे उससे बेचारे की बीवी पहनकर खुश होगी। हां, तुम्हें रुपयों का अफसोस होगा। क्योंकि प्रेस के मज़दूरों का वेतन देना था। मगर वह भी कहीं-न-कहीं से वेतन दे ही दिया जायगा।'

मैं बोली—'मेरे ढाई हजार निकल गये। आपको मज़ाक सूझी है।

तब अपनी हंसी हंसते हुए बोले—'तुम ढाई हज़ार की चिन्ता कर रही हो। आदमी का जीवन एक दिन चला जायगा। यों ही मज़ाक में जाता है, हम कुछ कर नहीं पाते। तुमको तो यही सोचकर खुशी होनी चाहिए कि बेटी मरने से बची। वह अच्छी हो जाय, यही क्या कम है। समझ लूंगा, तीन महीने मैंने मजूरी नहीं की।' मैं चुपचाप अपने कमरे में

आकर बेटी को ख़त लिखने बैठी। आप भी वहां मेरे कमरे मे आ गए बोले—'क्या लिख रही हो?'

मैं बोली—'बेटी को ख़त लिख रही हू।'

आप बोले—'मैं ख़त लिख दूंगा।'

मैं बोली—'क्यों ?'

आप बोले—'तुम्हारे दिमाग में वही चोरी की बात घुसी है, उसे भी लिख दोगी। बीमार लड़की सुनकर अफसोस करेगी।'

मैं बोली—'आप ही लिख दीजिए।'

आपने खुद पत्र लिखा। जून का महीना था। धुन्नू और बन्नू को उसे लाने भेज रहे थे। धुन्नू से बोले—'जाकर बगीचे से एक सेकडा आम लिवा लाओ।'

धुन्नू बोला—'बोझा हो जाता है। अब तो बहन यहीं आयेगी।'

आप बोले—'बोझा क्या हो जायगा ? तुम अपने सिर पर ले जाओगे ?' बेटी आयेगी, पर वासुदेव तो नहीं आयेगा। उसे नही खाना चाहिए ?'

उसे तो कहा ही था, सुबह जब आप घूमने गये तो 6 रुपये का आम खरीदकर लाये। जब आदमी को लिवा लाये तो मुझसे बोले—'इसे तुम ठीक-ठीक बन्द कर देना।'

मैं बोली—ये पक्के आम क्या होंगे ?'

आप बोले—'इन्हे बच्चो को दे देना। नही तो ये उसी मे से निकाल-निकालकर खाना शुरू कर देंगे।'

मै बोली—'ईश्वर को धन्यवाद।'

उसके यहा जाने की तयारी हो रही थी कि द्विवेदीजी का स्वागत करने के लिए निमन्त्रण मिला। उसी दिन तार आया कि बेटी सख्त बीमार है, चले आइए। प्रेस में यह सूचना मिली। वहा से आप घर आये। ऊपर गाना-बजाना हो रहा था। आपने नीचे से आवाज दी—'इसे बन्द करो और यहा आओ।' जब मैं नीचे गई तो बोले—'इत्मीनान से बैठ जाओ।'

मै बोली—'कहिए, क्या है ?'

आप बोले—'बेटी सख्त बीमार है। सागर के अस्पताल में लाई गई है। अब इस समय कौन-सी गाडी जाती है ? हमे चलना चाहिए। या इलाहाबाद तक लारी से चलें? वहां से कोई-न-कोई गाड़ी मिल ही जायगी।' टाइम-टेबुल देखने लगे। मालूम हुआ कि इस समय कोई भी गाड़ी इलाहाबाद नहीं जायगी।'

मैं बोली—'सुबह चलेंगे।'

उस दिन न उन्होंने खाना खाया, न पानी पिया। सुबह के समय हम दोनों चलें। वहां इलाहाबाद जाकर नौ बजे उतरे। फिर सागर के लिए कोई ट्रेन न मिली। इलाहाबाद के वेटिंग-रूम में हम गये। मुझसे बार-बार पूछते—'बताओ बेटी की हालत क्या होगी ?'

मैं बोली—'मैं जानती हूं ? ईश्वर जानें। वहां कुछ देर रहने के बाद बोले—'चलो, लूकरगंज से ख़बर लायें।' वहां से लूकरगंज पहुंचे। जब वह पहुंचे तो पता चला कि यहां कोई खबर नहीं।'

आप बोले—'न जाने उसकी क्या हालत है ! अब भगवान् ही का सहारा है। किसी

तरह दिन भर गये रहे। रात के नौ बजे की ट्रेन से सागर को चले। ट्रेन में बार-बार उसकी हालत मुझसे पूछते। मैंने उनकी अधीरता को देखकर अपने को पत्थर का बना लिया।

सुबह जब कटनी से ट्रेन की बदली हुई तो मैं बोली—'आप हाथ-मुंह धो डालिए। बेटी अच्छी है।' यह सुनकर वे खिल पड़े। बोले—'सच ?'

मैंने कहा—'हां, इन लोगों ने घबराहट में तार दे दिया। आप हाथ मुंह धोकर कुछ नाश्ता कर लें।'

फिर हम एक बजे के लगभग सागर पहुंचे। प्लेटफार्म पर वासुदेव अपने छोटे भाई के साथ खड़ा था। वासुदेव के भाई के पास फौरन पहुंचकर बोले—'बेटी कैसी है ?'

'अच्छी है।'

उसके हाथ में दो रुपये देते हुए बोले—'मिठाई तो ले लो।' जब हम लोग अस्पताल में पहुचे तो लक्ष्मण से बोले—'पहले मुझे बेटी के पास ले चलो।' बेटी को खाट पर पड़ी देखा। बुख़ार चढ़ा था। बच्चा दूसरे पालने पर अलग पड़ा था। बीमार बेटी हमें देखकर रो पड़ी। बेटी का रोना सुनकर बोले—'घबराओ मत। अच्छी हो जाओगी।' बच्चे को देखकर बोले—'इस गुलाब के फूल पर, ईश्वर, दया करे।' उसके बाद आठ दिन तक आप रहे। आठ दिन के बाद ऐसा मालूम हुआ कि बेटी का बुख़ार उतर गया है। बेटी से बोले—'अब हम लोग चलें न ? तुम जैसे ही अच्छी होगी धुन्नू ले जायगा।

सन् '35 की बात है, स्थान काशी। रात भर आपको बुख़ार चढा हुआ था। यहां तक कि दूध भी नहीं ले सके। सुबह को 4 बजे बुख़ार उतरा। सुबह के समय रोजाना की तरह हाथ-मुंह धोकर नाश्ता भी नहीं किया था कि 'हंस' के लिए सम्पादकीय लिखने बैठ गये। दूध जब गरम हो गया, तो मैंने जाकर देखा कि आप कमरे में बैठे लिख रहे है।

मैं बोली—'यह आप क्या कर रहे है ?'

'क्या कर रहा हूं, 'हंस' के लिए सम्पादकीय लिख रहा हूं, कल ही लिखना चाहिए था।'

मैं बोली—'आप भी खूब हैं, कल दिन भर और रात भर पडे रहे और सुबह हुई कि लिखने बैठ गये। मैं इन्तज़ारी कर रही थी कि शायद आप दरवाजे से ही नहीं आये। और अधिक काम से ही आप बीमार भी पड गये थे। आज दूसरा दिन है, खाने की कौन कहे दूध तक आपने नहीं लिया।'

आप बोले—'पांच मिनट का समय और दो, कम्पोजिंग करने वाले आ गये है।'

मैं बोली—'अब एक सैकेण्ड का समय भी मैं आपको नहीं दूंगी,' और हाथ से कलम छीनकर बोली—'अब उठिए चुपके से।'

आप बोले—'अरे भाई, मेरी समझ में नहीं आता कि फिर वह क्या कम्पोज़ करेंगे ?'

मैं बोली—'मैं कम्पोज़ वगैरह का ठेका नहीं लिये हूं।'

'अरे भाई, तुम ठेका नहीं लिये हो, पर मैं तो ठेका लिये हुए हूं। फिर "हंस" कैसे छपेगा ? समय पर अगर "हंस" नहीं छपेगा तो ग्राहक यह थोड़े ही समझेगा कि मैं बीमार हो गया था, वह तो समय पर "हंस" चाहता है। उसने रुपये दिये हैं।'

मैं बोली—'यह बकवाद पीछे कीजिये, अगर आप लिखेंगे तो मैं फाड़ दूंगी, चलिए उठिए।'

इस धमकी पर उठकर आये और नाश्ता किया। वह नाश्ता कर ही रहे थे, जब नीचे से आदमी आया और बोला—'हंस' के लिए मैटर दीजिए।

मैं बोली—'चलो एक घण्टे में देते हैं मैटर।'

आदमी तो चला गया, बोले—'तुमने मुझे लिखने नहीं दिया, आदमी व्यर्थ बैठे हैं।'

मैं बोली—'तो कौन "हंस" मोती उगल रहा है।'

आप हंसकर बोले—'साहब, "हंस" मोती उगलता नहीं चुनता है।'

मैं बोली—'हां, खाता है। जब देखो एक-न-एक बला अपनी जान को पाले रहते हैं। आपको आराम से रहना ही नहीं आता। सूखकर हड्डी रह गये हैं। वही मसला है—"दाना न घास खरहरा दिन रात"। परसों रात भर बुख़ार चढ़ा रहा, कल दिन-रात पड़े रहे, आज जब बुखार उतरा, तब बस सवेरे से "हंस" का चरखा लेकर बैठ गये। और काम ऐसा कि जिसका "कन छूटे और न भूसी"। अभी इसी महीने में मालूम हुआ कि अभी 8 साल के अन्दर कोई 20 हजार की किताबें बिकीं, और "हंस" और "जागरण" और तुम्हारा प्रेम खा गया। अगर इन किताबों की रायल्टी ही मिली होती, तो कोई 12000 हजार रुपये बिना किसी मेहनत के घर आ गये होते। नहीं, कोई तीन हज़ार रुपये कागज वालों को घर देने ही पड़े, जिसके लिए आप बम्बई गये हुए थे।'

आप बोले 'तुम व्यर्थ ही क्रोध करती हो।'

मैंने उसी दिन आपसे कह दिया—'ऐसे काम से बाज आये, इसको छोड़ो। मगर आप तो उसके पीछे हाथ धोकर पड़े हे। फिर मै कहती हूं, ऐसे कामों से क्या फायदा जिनके पीछे तन, मन की आहुति चढ़ानी पड़े।

तब आप मेरे क्रोध को शान्त करते हुए बोले—'रानी ! तुम भूलती हो, इसमें कोई त्याग नहीं कर रहा हूं, न कोई तपस्या। जब कोई त्याग-तपस्या न करता हो, और शौक से करता हो तो आहुति चढ़ाना न कहना चाहिए। जैसे जुआरी को जुआ, शराबी को शराब, अफीमची को अफीम में मजा मिलता है, और अगर उसको यह चीज़ें न मिलें तो वह परेशान होता है—इसमें उसका कोई त्याग थोड़े ही है ? उसी तरह यदि मैं इस तरह के काम न करने पाऊं तो मुझे सुख-शान्ति नहीं मिलती।'

मैं बोली—'तब कहिए आपको भी नशा है।'

आप बोले—'हां नशा है, किन्तु अच्छा नशा है, शायद मेरे इस नशे से किसी मनुष्य को लाभ हो जाय।'

मैं बोली—'पहले आप अपना लाभ तो कर लीजिए, फिर दूसरों को क्या होगा, इसको तो ईश्वर जाने। खुद तो सूखकर कांटा हो गये हैं, और दूसरों की फ़िक्र में दीवाने हैं।'

तब आप बोले—'दीया होता है, उसका काम है रोशनी करना, सो वह करता है। उससे किसी का लाभ होता है या हानि, इससे उसको कोई बहस नहीं। उसमें जब तक तेल और बत्ती रहेगी, तब तक वह अपना काम करता रहेगा। जब तेल खत्म हो जायगा, तब ठंडा हो जायगा। तब उस ठंडे चिराग से न तो तुम कभी पूछती हो कि कहां गया, न वही तुमको ढूंढ़ने आता है।'

मैं क्रोध और रंज के साथ बोली—'सब चिराग पंयाचती होते होंगे, मगर आप तो एक आदमी की चीज़ हैं, पंचायती नहीं हैं। पंचायती चीज़ को कोई पूछने वाला नहीं होता, मगर

आपको तो ऐसा नहीं है। आपके साथ तो मैं ब्याही गई हूं, और आप मेरे हैं, इसलिए मुझे हक है कि आपकी हिफाजत रखूं, और आप बहुत दिनों तक मेरे रहें।'

आप बोले—'यह तुम गलती करती हो, लेखक का जीवन ही ऐसा होता है। वह मजबूत होता है। इसमें तुम और मैं क्या करूं, इसमें दोनों मजबूर हैं।'

मैं बोली—'मैं तो आपसे मजबूर हूं, जो कहना नहीं मानते।'

आप बोले—'रानी, तुम खुद ही मजबूर हो, मैं देखता हूं और डरता हूं कि जो रोग मुझे लगा है, वह कहीं तुमको न लग जाय। मैं इसीलिए बार-बार मना करता हूं। इस बला में न पड़ो। मगर तुम मानती नहीं, आराम से तो रहती थीं, मगर नहीं तुम भी एक बला पाल रही हो।'

मैं बोली—'मैं आराम से हूं, मैं इस तरह की बला नहीं पालती हूं, जिससे कि अपना खून जले।'

तब आप बोले—'तभी तो आप इतनी तगड़ी हैं।'

जिन चीज़ों पर मैं पहले आलोचना करती थी, आज उन्हीं को हृदय से चाहती हूं और सबसे ज़्यादा उसी 'हंस' को, जिसको नादिरशाही हुक्म दिया था कि अगर यह नुकसान देगा, तो इसको बन्द कर दूंगी। उन्हीं दिनों 'हंस' को 'हिन्दी-परिषद्' को दे दिया था, कि इसका नुकसान कहां तक बर्दाश्त किया जाय। महात्मा गांधी के हाथों कोई दस महीने तक रहा, उसके बाद जुलाई के महीने में 'हंस' से ज़मानत मांगी गई, और 'हिन्दी-परिषद्' ने इसको बन्द कर दिया। आप बीमार पड़े हुए थे।

आप मुझसे बोले—'रानी, एक हजार रुपया बैंक से निकालकर जमा करा दो, और "हंस" को फिर से जारी करा दो।'

मैं बोली—'पहले आप अच्छे तो हो जाइये, अभी आप खुद तो बीमार पड़े हुए हैं और "हंस" की फिक्र पड़ी हुई है।'

आप बोले—'मेरी बीमारी से और "हंस" के निकलने से क्या बहस ?'

मैं बोली—'काम कौन करेगा ?'

आप बोले—'मैं आदमी ठीक किये देता हूं।' मैंने कहा—'आखिर कौन निकालेगा, किस आदमी को ठीक किये दे रहे हैं ?'

'जैनेन्द्र इसके लिए तैयार है।'

'दूसरा समय होता तो शायद मैं बोलती भी !'

एक हज़ार मैंने बैंक से निकलवाकर जमा करा दिया।

जब वह नहीं आ रहे, कई मित्रों ने सलाह दी, इसको बन्द कर दो। अब भला मैं इसको कैसे बन्द करती ? मैंने लोगों को जवाब दिया—'भाई, मैं इसको छोड़ नहीं सकती। सब लोगों ने कहा कि अभी तक तो यह चलता था, अब कैसे इसको चलाइएगा ? मैंने एक ही जवाब उनको दिया, कि जब मेरे पति, पिता होकर हंस को न छोड़ सके, तो मैं तो मां हूं। और मां शायद बेकार और निकम्मे बेटे को, फिर ऐसी हालत में जब उसका पिता न हो सबसे ज़्यादा प्यार करती है। क्योंकि वह समझती है कि आखिर लायक को तो सभी पूछते हैं, अपनाने की भी कोशिश करते हैं। मगर बेकमाऊ और निकम्मे को कौन पूछे ? फिर मां डरती है कि कहीं भाग जाय, जहर खाकर मर जाय, मां को छोड़कर उसको कौन

पूछने वाला बैठा है ? यहां तक होता है कि ईश्वर भी अच्छे ही को चुन-चुनकर लेता है, फिर दूसरों का कहना ही क्या है। माता ही ऐसी है जो अच्छे-बुरे सभी को छाती से लगाये रहती है। यही हालत मेरी और मेरे 'हंस' की है।

●

यह सब तो चल ही रहा था कि इन्हीं दिनों मुंशीजी को एक अच्छे दोस्त के उठ जाने का सदमा पहुंचा, एक ऐसा दोस्त जो खास उनके अपने रंग का आदमी था, उतना ही जिन्दा दिल, उतना ही हंसोड़, उतना ही खुशमजाक—पं. बदरीनाथ भट्ट। अभी पिछले साल पं. पद्मसिंह शर्मा नहीं रहे, और अब जैनेन्द्र की मां नहीं रहीं। कई दिनों तक उदास रहे। अपने ही में जैसे खोये रहते। हमेशा जब कभी घर में कोई बात चलती तो उन्हीं की चर्चा रहती। शायद उन्होंने अपने दिल के अन्दर जैनेन्द्र के दुख की तस्वीर बैठा ली थी। जैनेन्द्र के बराबर ही दुख उनको भी हुआ था। तभी एक दिन बोले—'मुझे दिल्ली जाना है !

मैंने कहा—'क्या कोई काम है ?'

आप बोले—'हां, मुझे रेडियो वालों ने रेडियो पर कहानी कहने के लिए बुलाया है।'

मैं बोली—'अभी इसी में तो होली भी होगी।'

आप बोले—'हां, तुम भी चलो।'

मैं बोली—'मेरी क्या जरूरत है ?'

'जरूरत की बात थोड़े ही है। होली में तुम यहां अकेली रहकर करोगी क्या ?'

मैं बोली—'केवल चलने की बात थोड़े ही है। खर्च भी तो करना पड़ेगा।'

आप हंसते हुए बोले—'तुमको सबसे अधिक खर्च की ही फिक्र रहती है।'

मैं बोली—'फिक्र न हो ? मुफ्त में पैसे आते हैं ?'

आप बोले—'चलो भाई, वहां तुम्हें रुपये मिल जायंगे, घर से रुपया नहीं खर्च करना पड़ेगा।'

मैं बोली—'अगर घर से खर्च न करने पड़ेंगे तो क्या आकाश से टपक पड़ेंगे ?'

आप बोले—'समझ लो आकाश से ही टपक पड़ेंगे। रेडियो वालों ने मुझे 100 रुपये देने को कहा है। उसी में शायद 10-5 रुपये बचा भी लोगी।'

मैं बोली—'अगर मैं नहीं जाऊंगी तब तो और भी अधिक बच रहेंगे।'

आप बोले—'तुम तो इस तरह कहती हो जैसे एक देहाती कहावत है कि मरे नहीं तो घर-घर हो।'

मैं बोली—'यह तो उसी तरह हुआ, अल्ला मियां बड़े सयाने, पहले काट लिये दो आने। मिलेंगे तो पीछे खर्च आपने पहले ही तैयार कर लिया है।'

आप थोड़ी देर कुछ चुप रहे। फिर बोले—'हां, मुझे याद आया तुम्हारी भाभी ने तुमको बुलाया था और मैं वादा कर आया था कि होली में मैं उनको लेकर आऊंगा।'

मैं बोली—'तब क्या आप दिल्ली जा रहे हैं या इलाहाबाद ?'

तब आप बोले—'लौटती बार इलाहाबाद आयेंगे। अभी तो सीधे दिल्ली जाना है।'

मैंने कहा—'त्यौहार को अपने ही घर रहना ठीक होगा।'

आप बोले—'घर पर भी तो सूना-सूना रहेगा। बल्कि वहां जैनेन्द्र के रहने से अच्छा

रहेगा। उसकी बहू वगैरह रहेंगी। इस साल उसकी मां भी नहीं है। उस लोगों का भी जी बहल जायगा।'

मैं चलने के लिए राजी हो गई। बोली—'रुपये भी काफी लगेंगे।'

आप बोले—'वहां मुझे 100 रुपये एक कहानी पर मिलेंगे, वह ख़र्च होगा।

मैं बोली—'अगर मैं न जाऊं तो वे रुपये बच जायेंगे।'

वे बोले—'तुम भी खूब हो। ख़र्च से भी बचा जायगा ?'

हम दोनों सीधे दिल्ली गये। दिल्ली पहुंचने के तीसरे दिन होली हुई। जैनेन्द्र के यहां हम लोग ठहरे। नाश्ता करके मैं, महात्मा भगवानदीन, आप और जैनेन्द्र बैठे थे। बीस-पच्चीस आदमियों ने एक साथ आकर इन लोगों को नहलाना शुरू किया। ये तीनों रंग में बुरी तरह डूब गये। मैं अलग खड़ी यह तमाशा देख रही थी। एक महाशय मेरी ओर बढ़े तो दूसरे सज्जन ने कहा—'नहीं, नहीं' आपके ऊपर मत डालो। सब लोग एक साथ उन्हें नहला रहे थे और आप चुपचाप बैठे थे। उनका इस तरह का भाव देखकर मुझे हंसी आ गई। जब ये लोग चले गये तो मैंने देखा उनके सारे कपड़े तर हो गये। सारे बदन में रंग और गुलाल भर गया था।

मैं बोली—'आप तो जैसे रंग डलवाने के लिए बिल्कुल तैयार बैठे थे।

आपने हंसकर जवाब दिया—'होली के दिन सभी तैयार रहते हैं।

मैं बोली—'तब तो ठीक है।'

मैंने उनसे कहा कि आप कपडे उतार डालिये, नहीं तो जुकाम हो जायगा।

उन्हें उस समय थोडी-थोडी खांसी आ रही थी। ये दूसरे कपडे बदल कर बैठे ही थे कि एक दूसरा गोल आ गया। जो हालत पहले हुई थी। वही फिर हो गई। मैं साफ कपड़े पहने आराम से बैठी थी और इन लोगों की हालत पर मुझे हंसी आ रही थी।

आपने हंसते हुए कहा—'तुम्हें हंसी सूझी है। हम लोग तो परेशान हो रहे हैं। वाह !' हम दोनों में बातें हो रही थीं। कि जैनेन्द्र की बीवी आकर बोलीं—'अम्मां, हट जाओ। स्त्रियों की टोली आ रही है।'

आप बोले—'अब हटेंगी क्यों ?'

मैं बोली—'तो मेरी भी आपकी ही-सी गति हो जायगी !'

आप बोले—'होली तो हुई है। सिवाय इसके और क्या होता है ?'

मैं बोली—'नहीं साहब, क्षमा कीजिए।'

हम दोनों में बातें हो ही रही थीं कि महात्माजी बोले—'आप मेरे कमरे में चले जाइए। नहीं तो वाकई वे लोग नहीं छोड़ेंगे।'

मैं चुपके से दरवाज़े बन्द कर अन्दर हो रही। जब स्त्रियां होली खेलकर चली गई तो आप बोले—'तुम भी अजीब आदमी हो। इस तरह कहीं कोई आदमी घबराता है ?'

मैं बोली—'मुझे भूत बनना अच्छा नहीं लगता।' दिन भर में उन्होंने दो-तीन कुरते बदले; पर सबके सब रंग गये। शाम को मैं बोली—'अब तो साफ कपड़े बदल डालो। खांसी बढ़ गई तो मज़ा आ जायगा।'

आपने हंसकर कहा—'मैं फूल का बना हुआ नहीं हूं। जरा-जरा-सी बात पर कहीं बीमारी हो जाती है ?'

शाम तक हम लोग इसी तरह बैठे रहे।

शाम को जब रेडियो पर अपनी कहानी सुनाने जाने लगे तो मुझसे बोले–'तुम भी चलो।'

आपने हंसकर कहा–'मैं भला वहा क्या करूंगी ?'

आप बोले–'आई हो घूमने कि घर में बैठने। चलो देख आओ, रेडियो पर लोग कैसे बोलते हैं ?'

मैं बोली–'मैं तबियत नहीं कर रही है।'

उस दिन मैं बड़ी मुश्किल से गई।

दूसरे दिन उर्दू और हिन्दी के लेखकों की मीटिंग हो रही थी। शायद आपके ही सम्मान में हो रही थी। आप फिर मुझसे चलने का आग्रह करने लगे। जब मैं चलने पर राज़ी न हुई, तब आप बोले–'तुम घर में बैठने को इस तरह आई हो कि बाहर जाने के नाम से घबड़ाती हो।'

मैं बोली–'वहां कोई नई चीज़ तो मिलेगी नहीं। उसमें लेखक और सम्पादक होंगे। आपस में तू-तू, मैं-मैं करेंगे। इन लोगों के बीच जाना मुझे सचमुच रुचता नहीं, इन लोगों से खुदा बचाये : ये दोनों आफत के घर हैं।'

तब आपने हंसकर कहा–'उसी आफत की एक शाखा तुम भी तो बन रही हो।'

मैं बोली–'मैं अपने को इन लोगों से दूर रखना चाहती हूं। काम तो कुछ होता नहीं, केवल आपस में तू-तू मैं-मैं करते हैं।'

आप बोले–'कैसे अपने को अलग रखती हो ? अभी जनवरी के प्रयाग-महिला-सम्मेलन में तो तुम सभानेत्री बनी हुई थीं। जब जानती हो कि तुमको इसी तरह करना है, तब उससे घबड़ाने का क्या काम ?'

मैं बोली–'तबियत नहीं कहती तो कैसे जाऊ ?'

उस दिन वे चले गये। उसकी सुबह हम लोग पुरानी दिल्ली देखने गये। पहले हम लोग कुतुबमीनार देखने गये।

आप नीचे खड़े बड़े गौर से हर एक चीज को परखते हुए देख रहे थे।

महात्माजी बोले–'ऊपर चलिएगा ?'

आप बोले–'तो ऊपर नहीं जाऊंगा।'

मैं बोली–'मैं तो जाऊगी।'

मैं बोली–'मीनार के ऊपर चढ़कर उसे नष्ट करोगी ?'

मैं बोली–'यह कैसा ? मैं देखने जा रही हूं न कि नष्ट करने।'

आपने कहा–'देखो न, तुम नीचे हो तो वह कितनी ऊपर है। जब तुम उसके ऊपर पहुंच जाओगी तो उसका भी बडप्पन नष्ट हो जाएगा।'

मैं बोली–'तो क्या फिर दर्शन न करूं ?'

आप बोले–'हां, दर्शन ऐसे ही होता है।'

मैं उनकी इन बातों पर गहराई से सोचने लगी। मैं उसे देखती जाती थी और आंखों से आंसू गिरते जाते थे। उसके इतिहास के अध्ययन से मेरा मन कमज़ोर हो रहा था। इस मीनार को देखती हुई मैं सोचती–जाने कितनी स्मृतियां खो गई। इसे बनाने वालों को ढूंढ़ने

की कोशिश कोई करे तो बेकार होगा। मनुष्य स्थायी नहीं है। जब ईश्वर की बनाई चीज स्थायी नहीं है तो मनुष्य की कैसे होगी। यह एक तमाशा है, मनुष्य कोई चीज़ नहीं होता। बार-बार मेरे अन्दर यही सवाल नाच रहा था।

उस दिन हम लोगों ने वहां सारा दिन बिताया। एक-एक चीज को हम लोगों को बारीकी से समझाते हुए घर लाये।

दिल्ली में हम आठ रोज रहे। उसके बाद हम लोग प्रयाग चले गये।

इलाहाबाद में उतरने पर दुबारा ट्रेन पकड़ने के पहले तीन घंटे का समय था। आप स्टेशन ही पर बोले—'तुम्हारे लिए महज़ तीन घण्टा टाइम है।'

मैं जब भाई के घर पहुंची तो आप मेरी भाभी से बोले—'मैंने अपना वादा पूरा किया।'

यही आपकी आख़िरी होली थी। मेरी भावजों ने उनसे होली खेली। हालांकि मैंने मना कर दिया था, तब भी आप पर खूब अबीर पोती गई। आप ख़ामोश बैठे थे। वे लोग रंग लगा रही थीं, जब वे रंग लगा चुकीं तो मैं बोली—'आप भी उन लोगों को रंग लगाइए। आपने ठहाका मारकर हंसते हुए कहा—'इस लम्बे घूंघट में मुंह मिलना भी तो मुश्किल है। इससे यही अच्छा है कि चुपचाप बैठा रहूं।'

उसके बाद भावज ने बहुतेरा रोकने की कोशिश की, पर आप बोले—'मकान पर कोई नहीं है। फिर जल्दी आऊंगा।'

घर पहुंची तो देखा, घर सूना। साथ में भाभी ने बनाकर खाना रख दिया था। हम दोनों ने खाना खाया। सुबह के वक्त विश्वविद्यालय से बहुत आदमी होली मिलने आये। मेरी भाभी ने होली खेलने के लिए एक रंगीन साड़ी दी थी। मैंने उसे घर पर पहना। जब आदमी मिलकर चले गये तो मुझसे बोले—'यह साड़ी तुम्हें अच्छी नहीं लगती मैंने पूछा—'क्यों ?' बोले—'यों ही। जाओ, इसको बदल दो।'

मैं जाकर साड़ी उतारकर आई ही थी कि मास्टर लोग आ गये।

उन लोगों से वही आखिरी मिलन था। क्या वे बीते हुए दिन फिर देखने को नहीं मिलेंगे? दिन वही रहते हैं और रातें वही रहती हैं, फिर सामान वही रहते हैं। हां, वह आदमी नहीं रह जाते। तब फिर कैसे कहा जाए कि वे ही दिन हैं। दुनिया का कार-बार ज्यों-का-त्यों चलता रहता है। जिनके अच्छे दिन बीत जाते हैं, वह हाथ मलते रहते हैं। हां स्थायी तस्वीर हृदय के अन्दर एक कसक पैदा करती रहती है। सच कहा जाय तो स्थायी वही चीज है जो दिल के अन्दर दर्द पैदा करती रहे। जो मिलने वाली चीज़ है वह अपनी नहीं है। आज है, कल नहीं। हां, अपना दर्द ही मरते दम तक साथ देता है।

•

'गोदान' छप चुका था। 'मंगलसूत्र' का प्लाट सोच रहे थे। छपकर गोदान मेरे पास पढ़ने को आया। मैं उसे पढ़ रही थी। आप अपने कमरे में अकेले थे, मैं भी अपने कमरे में थी। मैं होरी की मृत्यु की बात पढ़ रही थी। होरी की मौत पर मुझे रुलाई आ गई। रोते-रोते मेरी हिचकियां बंध गई। आप अपने कमरे से पान खाने के बहाने मेरे कमरे में आये। अपने कमरे में अकेले रहते तो किसी-न-किसी बहाने से ज़रूर आते। मैं अपने रोने में इस तरह

सुस्त पड़ गई थी कि उनका आना मुझे न मालूम हुआ। जब वे मेरे पास बैठ गये तब बोले—'बतलाओ रोती क्यों हो ?'

मैं क्या जवाब देती, क्योंकि मैं बोल तक न पा रही थी। मगर उन्हें मेरे रोने का कारण मालूम हो गया। गोदान की खुली प्रति मेरे सीने पर पड़ी थी। उसे उठाकर अलग रखते हुए बोले—'तुम बड़ी पागल हो। कल्पित बातों पर रोने बैठती हो। उस पर आपको नाज है कि स्त्रियों को रोने का मर्ज़ नहीं है। अब खुद ऐसा कर रही हो ? यह जानते हुए भी कि ये बातें कल्पित हैं। भला किसी दूसरे का लिखा हुआ होता, तो वह भी बात थी।'

मैं उस झेंप को मिटाती हुई बोली—'आपने उस बेचारे को मारा क्यों ? उस बेचारी को विधवा बना दिया।' तब आप हंसकर बोले—'चलो, तुम हार गई।' इसका तुम्हें जुर्माना देना पड़ेगा। चलकर मेरे कमरे में बैठो और मेरा हाथ पकड़कर मुझे अपने कमरे में ले गये। वहां पंखा लगा हुआ था। उसे खोलकर बोले—'अब मुझे पान तो खिलाओ। और हंस दो तो तुम्हें अपने नये उपन्यास का प्लाट सुनाऊं।' मेरे साथ ही मेरा पान का डब्बा भी वे लाये थे। मैंने उनके मुंह में दो बीड़े पान दिये और बोली—'अभी नहीं सुनूंगी।'

आप बोले—'नहीं सुनो।'

मैं बोली—'मेरी तबियत नहीं करती।'

फिर बोले—'न मालूम तुम कब से रोती होगी। अच्छा तुम सो जाओ। कहो तो मैं तुम्हारा सिर दबा दूं।'

मैं बोली—'नहीं, मेरे सिर में दर्द नहीं हो रहा है।'

मेरे मना करने पर भी उन्होंने मेरा सिर दबाना शुरू किया। मुझे नींद भी आ गई। वे कब तक मेरा सिर दबाते रहे इसका मुझे ज़रा भी स्मरण नहीं। जब मैं सोकर जगी तो उनकी इस हरकत पर मुझे बड़ी शरम मालूम हुई। क्या इन सब बातों को सोचकर मैं सुखी रह सकती हूं ?

•

आप किसी काम से शहर गये हुए थे। पांच-छः बजे के लगभग शाम के समय जब आप आये तो मैं कमरे में लेटी थी, क्योंकि घर में और कोई न था। दोनों लड़के लड़की को बुलाने गये थे। आप आते ही सीधे मेरे पास गये। बोले—'कुछ पानी पीने को ला दो। प्यास बड़ी तेज लगी है।'

मैंने अन्दर जाकर थोड़ी-सी मिठाई लाकर रख दी।

उसको खाने के बाद बोले—'थोड़ा गुड़ दो और थोड़ा पानी।'

मैं बोली—'आप गये कहां थे ? इस कदर कैसे प्यास लगी ?'

आप बोले—'शहर चला गया था। कल छपने के लिए कागज़ नहीं था।'

मैं बोली—'मुझ से तो कह जाते भले आदमी ! इसी लू और धूप में बिना कहे चल दिये।'

'मैं आया था, तुम सो रही थी, जगाना उचित न समझा। सोचा कि तुम्हारे सोते तक मैं काम करके चला आऊंगा। मगर ऐसा उलझा कि तीन बजे का गया छः बजे लौटा।'

मैं बोली—'इस वक्त जाते।'

आप बोले—'शाम को कैसे जाता ? रात को लौटता तो और देर हो जाती। तुम रात को अकेली रहतीं। कई दिनों से जाने की सोच रहा था। पर समय नहीं मिलता था। सुबह घूमने जाता हूं, फिर काम का समय आ जाता है। शाम को तुम अकेली पड़ जाओ अगर चला जाऊं। अकेली घबड़ातीं न तुम ?'

मैं बोली—'घाम और लू की अपेक्षा शाम ही अच्छी थी।'

तब आप बोले—'यह सब अमीरो के नखरे है। क्या कोई काम बन्द रहता है ? आख़िर वे भी तो आदमी ही हैं ?'

मैं बोली—'आप कैसी बाते करने लगते है ? जैसे दुनिया भर के ठेकेदार आप ही हो।'

कुछ देर तक उसी तरह बाते होती रही। इसके बाद उन्हीं के गाव से एक नाइन आ गई। उससे वह गांव का हाल-चाल पूछने लगे। चिराग जलने का समय हो गया था। मेरे डिब्बे से पान निकालकर खाते हुए वे अपनी बैठक में चले गये। नौ बजे रात तक काम करते रहे।

मैंने जाकर कहा—'चलकर खाना तो खा लीजिए। काफी देर हो रही है।'

आप घड़ी की ओर इशारा करते हुए बोले—'अभी नौ ही तो बजा है।'

मैंने घड़ी की ओर देखकर कहा—'आपके यहा नौ से ज्यादा बजता ही नही।'

आप बोले—'घड़ी को मैं घूस थोड़े ही देता हू। घड़ी तो तुम्हारे सामने रखी है, क्या नही देख लेती ?'

खाना खाने बैठे तो एक रोटी मुश्किल से खाई होगी। बोले—'मुझे बिल्कुल भूख नही है।'

मैं बोली—'आम का पना है उसे खा लीजिए।'

तब बोले—'नही जी, अब कुछ खाने की तबियत नही होती।'

मै बोली—'गरमी बहुत पड रही है, फायदा करता। ख़ैर, मत खाइए।'

उस नाइन को जाकर मैंने खिलाया। जब मै खाना खा चुकी तो उन्हे पानी देने गई। यह सोचा कि पानी देकर आऊंगी तो नाइन से पांव दबवाऊगी। मेरी तबियत कुछ भारी थी। जब उनके कमरे में गई तो मसनद के सहारे डेस्क पर बैठे कुछ लिख रहे थे।

मुझे देखकर बोले—'न मालूम क्यो पेट मे दर्द हो रहा है।'

मैं बोली—'कब से ?' आप बोले—'जब मे खाना खाकर आया हू, तभी से।'

मैं बोली—'क्या बात है ? आपने आज कुछ खाना भी नही खाया। फिर भी क्यो दर्द होने लगा ?'

मैं उसी जगह खड़ी थी कि आपको कै आने लगी। मै दौडी। उनकी पीठ और गर्दन पर हाथ फेरने लगी। उसके बाद उन्हें उल्टी करवाई। फिर उनको पान और इलायची दी। पान मुंह में डालने ही को थे कि फिर उन्हें कै आ गई। फिर एक और कै हुई। तिबारा जब कै होने लगी तो मैं घबरा गई। मैं भी पाखाने गई। तब तक आप कुल्ला करके बैठे थे।

मैं बोली—'कैसी तबियत है ?'

आप बोले—'पेट में दर्द है। हां, कै अब नहीं मालूम होती।'

उन्होंने अपना पेट मुझे दिखाया। पेट की नस मोटी पड़ गई थीं। पेट की फूली नस

और दर्द देखकर मैं घबड़ा गई।

मैं बोली—'मैं किसी डाक्टर को बुला आती हूं।'

आप बोले—'घबड़ाओ नहीं'—और यह कहते हुए मेरा हाथ पकड़कर मुझे उन्होंने कुर्सी पर बैठाया। उनके पास बैठने मेरा विचार हुआ था कि इन्हें पुदीना वगैरह पीसकर क्यों न दिया जाय। मैं दवा कूटने-पीसने लगी। नाइन से पानी गरम करने को कहा। दवा लाकर उन्हें पिलायी। बोतल में गरम पानी भरकर उनके पेट पर सेंक करने लगी। जब उनके पेट का दर्द शान्त हुआ तो उन्हें कुछ नींद आ गई। मैं भी अपनी चारपाई पर सो रही।

उसी दिन उन्हें खून के दस्त आने लगे। उस दिन से न उन्होंने भरपेट खाना खाया, न नींद भर सोये। तीन-चार रोज़ तक होमियोपैथी दवा खाते रहे। 22 तारीख को एलोपैथ डॉक्टर के पास गये। उसी दिन रात को बच्चे आये। रात को मैंने खाने के लिए कहा तो आप बोले—'मेरी खाने की इच्छा बिल्कुल नही है।'

मैं बोली—'थोड़ा दूध ही लीजिए।'

आप बोले—'भाई इच्छा नहीं है तो कसे खाऊं ?'

बच्चों ने कहा—'हम लोग मुगलसराय में खा चुके हैं। दोनों बच्चे बेटी के साथ बैठकर बड़ी देर तक बातें करते रहे।'

•

गोर्की की मौत ने उन्हें कहीं गहरे तक झकझोर दिया था। अपनी बीमारी की बात भूलकर बार-बार गोर्की के मरने की बात करते। जब भी गोर्की की मौत की चर्चा करने लगते जैसे उनका हृदय असीम दर्द से छटपटा उठा है। इसी छटपटाहट में 'हंस' और प्रेस, बच्चे का भविष्य मानो मूर्त हो उठता और वे बीमारी में भी चिन्तित हो उठते। शिवरानी देवी ने लिखा है—

अगस्त महीने की 25वीं तारीख को रात 2 बजे मैं जाग रही थी : उस दिन सुबह ही से चिंतित थी। रात को आप सोये हुए थे। मैं ख़ामोश पड़ी सिर दाब रही थी। सामने घड़ी थी। बार-बार उसी पर निगाह जाती। बार-बार ईश्वर से प्रार्थना करती कि ईश्वर दया कर।

दो या सवा दो का समय था। मुझसे बोले—'रानी, मुझे गर्मी हो रही है। शायद मुझे फिर खून की कै होगी। आज 25वीं तारीख़ है न ?'

मैंने कहा—'नही तो। आज 24 है।'

आप बोले—'मुझे बड़ी गर्मी लगी है। देखो घड़ी में ढाई बजे तो नहीं बजा है।'

मैं बोली—'आपको व्यर्थ की शंका हो रही है।'

मेरे ज़ोर देने पर उन्होंने मान लिया। घड़ी भी मैंने आध घंटा लेट कर दी। बोली—'अभी तो दो बजे हैं। फिर इन बातों को सोचिए मत। सोचने से और चिन्ता बढ़ जायगी।'

आप बोले—'मैं इन बातों को सोचने थोड़े जाता हूं। इन बातों के सोचने में मुझे आराम भी नहीं मिलता। मुझे इस कै में बेहद तकलीफ होती है। इतनी तकलीफ होती है कि जान भर नहीं निकलती और सब कुछ भुगत लेता हूं। मैं करूं क्या, मुझे खुद ही परेशानी हो रही है।'

मैं बोली—'आप चिन्ता छोड़ दें। कुछ न होगा। सो जाइए।'

पहले जिस मकान में रहती थी, नीचे उसी में प्रेस भी था। जब वहां से हटे तो साथ ही प्रेस भी आया। जिस हिस्से में प्रेस है, वह उस समय बन रहा था। दिन भर उधर ही आपकी आंख रहती। राजों की कारीगरी देखते थे या प्रकृति का खेल, नहीं मालूम ! देखने उसी की तरह रहते थे।

पहले हम लोग आये। बाद में दस-पन्द्रह दिनों पर प्रेस आया। जब दूसरे नये मकान में आये तो दो दिन तक शाम को वे लॉन में टहलते कहते—इसमें मेरी तबियत अच्छी हो जायगी। मैंने भी समझा कि शायद इसमें अब अच्छे हो जायं।

सच है धरती सभी को खा जाती है, पर धरती को कोई नहीं खा पाता। किस्मत अपनी खराब होती है, जगह वगैरह तो बहाना होता है। उस मकान में किताबों का स्टॉक लद रहा था। दिन में अक्सर मुझसे कहते—देखो, ठीक-ठीक रखा जा रहा है कि नहीं। नया बना हुआ मकान है। दीमक ज़्यादा लगेंगे।

नहीं मालूम होता कि क्या मेरा देखना वे अपना देखना समझते थे। जब कई बार मुझसे कहा, देख आओ, तो मैं बोली—'भाई रखते-रखाते होंगे, मैं क्या देख आऊं।'

आप बोले—'इसकी चिन्ता करने की जरूरत तो तुम्हें है। जितनी फिक्र मुझे और तुम्हें है, उससे अधिक होगी उन्हें ? दीमक लग जाने से नुकसान हो जाएगा।'

मैं बोली—'देखती तो हूं सब हालत।'

जाकर देखा तो दीवाल से सटाकर किताबें रख रहे थे। आदमियों से मैं बोली—'दीवाल से सटाकर क्यों किताबें लगाते हो ?'

आपने सुन लिया था। बोले—'मेरा कहना सुन लिया न ? बेफिक्र होकर कभी आदमी न बैठे। अपने काम में अपना सिर लगा देना चाहिए।'

मैं बोली—'रख देंगे।' आपने कहा—'यही दुनिया का तरीका है। एक तो नुकसान का नुकसान हो, दूसरे दुनिया बेवकूफ बनाये।'

सामान पुराने मकान से आ रहा था। कुछ सामान आ गया था। कुछ बाकी था। मकान-मालिक और धुन्नू में झगडा हो गया था। मकान-मालिक सामान निकालने ही नहीं देता था, उसमें ताला डाल दिया था, कर्मचारियों को लेकर धुन्नू वहां पहुंचा। ताला अपने आदमी तोडने लगे तो मारपीट होने लगी। आपको पता चला कि धुन्नू और मकान-मालिक में झगड़ा हो रहा है। दामाद यहीं थे। उनसे कहा—'बेटा, जाकर सामान उठवा लाओ।'

जब उधर वह लड़का चला गया तो मुझसे बोले—'मैं तो इधर बीमार पड़ा हूं और यह फौजदारी करने पर तुला है।'

मैंने कहा—'गलती तो उन्हीं की है। क्योंकि सामान नहीं देता, ताले लगा दिये हैं। फिर वह भी तो लौंडा ही है। आपको नहीं मालूम जब हम लोग वहां रह रहे थे तो दूसरों की तरह आपसे भी झगड़ता था। हम लोग लड़का समझकर बोलते न थे। आख़िर दोनों लौंडे ठहरे।'

आप बोले—'यह समय शान्ति से काम चलाने के लिए है। आखिर झगड़ा बढ़ा क्यों?

मैं बोली—'झगड़ा इस बात पर बढ़ा कि वह पानी का पैसा मांग रहा है। वह कहता है मकान का पानी तुम्हीं ने खर्च किया है, टैक्स और कौन देगा ? धुन्नू का कहना है कि नये मकान में तुम पानी ले जाते थे, इसलिए ज़्यादा पानी लगा।'

आप बोले—'तुम्हीं दे दोगी तो क्या हो जायगा। गुण्डों के साथ गुण्डापन करने से काम नहीं चलता। बुलाकर रुपये दे दो।' आपने मकान-मालिक को बुलवाया। जब वह आया तो उससे पूछने लगे—'कल क्यों झगड़ा कर बैठे ?'

वह बोला—'श्रीपत ने झगड़ा किया। पानी का टैक्स आपको देना चाहिए था।'

मैं सुनकर बोली—'तुम चारों धुन्नू से बड़े होकर भी कितना झगड़ा हमसे करते थे। मकान जब किराये पर दे दिया गया तो पानी लेने के मुस्तहक तुम नहीं रहे।'

लड़का बोला—'आपके दामाद न गये होते तो वे जाने क्या करते ? वे बड़े शरीफ हैं।'

मैं बोली—'झगड़ा तुम्हारी ओर ही से शुरू हुआ। तुम अपनी पूरी ताकत से वहां थे, धुन्नू भी पूरी ताकत से गया था।'

आप बोले—'अब तुम झगड़ा करोगी क्या ? बोलो जी, कितने रुपये हुए ?' उसने कहा—'अठारह रुपये।'

मुझसे बोले—'दे दो जी। लो, अपने रुपये ले जाओ। सीधे मेरे पा: चले आये होते। रुपये मिल जाते। झगड़ा भी न होता। अभी लड़के हो, जरा संभलकर चला करो। और तो नहीं कुछ बकाया है ? किराया तो नहीं बाकी है ?'

उन लोगों ने कहा—'नहीं, किराया पूरा मिल गया।'

बीमारी के दिनों में उन्होंने मुझसे एक घटना बताई। एक दिन उन्हें रात को नींद नहीं आ रही थी। मैं उनके सोने के लिए कोशिश कर रही थी। रात का एक बजने का समय था। आप बोले—'मैं बीमार क्या पड़ा, तुम्हारे लिए खाना-पीना सब हराम हो गया।'

अपने सिर से हाथ खींचते हुए बोले—'इधर आओ। जब नींद नहीं आती तो कुछ बात ही करें।'

मैं बोली—'नहीं, आप सो जाइए। रात ज्यादा चली गई है।'

तब आप बोले—'मैं घंटों से सोने और तुम्हें सुलाने की कोशिश में हूं, पर नींद आये तब न ! देखो तुमसे अपनी एक चोरी का हाल बताऊं। मुंह के बाहर निकालते झिझक होती है।'

मैंने अपनी पहली स्त्री के यौवन-काल में ही एक और स्त्री रख छोड़ी थी। तुम्हारे आने पर भी उससे मेरा सम्बन्ध था।'

मैं बोली—'मुझे मालूम है।'

यह सुनकर वे मेरी ओर देखने लगे। उस देखने के भाव से ऐसा मालूम होता था जैसे वे मेरे मुंह को पढ़ लेना चाहते हों। मैंने उनको अपनी तरफ देखते देखकर निगाह नीची कर ली। बड़ी देर तक वे गम्भीर होकर मेरे चेहरे की ओर देखते रहे। मैं शर्म से सिर झुकाये थी। बार-बार मेरे दिल के अन्दर ख़याल हो रहा था कि इन बीती बातों के कहने का रहस्य क्या है ?

कुछ देर बाद बोले—'तुम मुझसे बड़ी हो।'

उनके इस कथन का रहस्य मेरी समझ में बिल्कुल नहीं आया।

मैं बोली—'आप आपको हो क्या गया है ? मैं बड़ी हो सकती हूं ?'

तब आप हंसते हुए बोले—'तुम हृदय से सचमुच मुझसे बड़ी हो। इतने दिन मेरे साथ रहते हुए भी तुमने भूलकर भी जिक्र नहीं किया।'

यह सुनकर मैंने उनका मुंह बन्द कर कहा—'मैं इसे नहीं सुनना चाहती।'

उस वक्त मेरे दिल में यही ख़याल आया कि बात क्या है ? आज इस बीती बात को इस तरह करने का रहस्य क्या है ? इन सब बातों को सोचकर मैं शिथिल पड़ गई।

आप अपने आप बकने लगे—'हे भगवान्, मैं आज तुमसे प्रार्थना करता हूं कि मुझे कुछ दिन के लिए अच्छा कर दो।' वे इस तरह की प्रार्थना कर रहे थे। और मैं चारपाई पर पड़ी-पड़ी रो रही थी।

फिर अपने आप वे बोले—'तुम सुनते नहीं हो भगवान् ? अगर हो तो तुम्हें सुनना चाहिए। मैं और कुछ नहीं चाहता। इस बार अच्छा होना चाहता हूं। जो यह निष्कपट मेरी सेवा कर रही हैं महज़ इसके लिए मुझे तू एक बार ज़िन्दा कर। शायद वे रो भी रहे थे। अगर भगवान्, तू मेरी इस प्रार्थना पर कान नहीं देता तो अगले जन्म में फिर इन्हें तू मुझसे मिला दे। अगर नहीं मिलाया तो मैं यही समझूंगा कि मेरा जन्म व्यर्थ ही गया।'

मुझ में उस समय जड़ता आ गई थी। मेरा गला भर आया था। आखों में आंसू भरे हुए थे। आंसू रोकने की बहुतेरी कोशिश की पर सब बेकार। जितनी ही कोशिश मैं रोकने की करती, आंसू और निकलते आ रहे थे। उसके साथ ही यह डर था कि कहीं इन्हें मालूम न हो जाय कि मैं रो रही हूं। आखिर मैं करती क्या ? मैं तो एक निर्बल नारी हूं। अपने को कहां तक वश में कर पाती। जिसका ऐसा स्नेही अलग हो रहा हो, उसे कैसे चैन मिले। थोड़ी देर के बाद वे उठकर पाख़ाने चले गये। पाख़ाने से लौटकर दूसरी छत पर टहल रहे थे। मैंने चुपके से उठकर मुंह धोया। गला साफ किया। जैसे मेरा गला साफ हुआ, वे भी आकर चारपाई पर लेट रहे। मुझे जागती समझकर बोले—'मैं तुमसे कई दिनों से अपनी बातें बता देने का इच्छुक था।'

मैं बोली—'मुझे इन बातों के सुनने की इच्छा नहीं है।'

आप बोले—'कोई दूसरा समय होता तो शायद मैं भी न कहता। मगर इस समय मैं बिना इन बातों के कहे तुमसे रह भी नहीं सकता था। मैं जितना ही तुम्हारे विषय में सोचता हूं, उतना ही मुझे क्लेश होता है। मैं चाहता हूं तुम मेरे पास से एक सेकिण्ड के लिए भी न हटो। न जाने मुझे इधर कई सालों से क्या हो गया है। तुम कहीं चली जाती हो तो मुझे कुछ भी नहीं अच्छा लगता।'

मैं बोली—'तो मैं जाती ही कहां हूं !'

'फिर आख़िर मैं ऐसा क्यों होता जा रहा हूं !'

मैं बोली—'घर में दो आदमी ठहरे। उसमें अगर एक चला जायगा तो जरूर सूना लगेगा।'

आप बोले—'नहीं जी, कुछ भी समझ में नहीं आता। क्या जाने सभी की हालत ऐसी हो जाती है या हमारी ही ?'

मैं उस महान् आदमी को ज़रा भी न पहचान सकी। महान् आत्माओं को पहचानने के लिए अपने में ज़ोर चाहिए, ताकत चाहिए। फिर मैं समझती हूं, वह शक्ति आ ही कैसे सकती थी। मैं पहचानती ही कैसे ? मैं तो अपने पागलपन में मस्त थी। मैं तो उन्हें अपनी चीज समझती थी। वे अगर अपने नहीं थे तो डरते क्यों थे ? मुझसे छिपाकर कोई काम वे न करते। मैं उनके सामने थी ही क्या ? उनके समान भला मैं हो सकती थी ! मगर नहीं,

मेरी आंखों को धोखा था। आंख खुली भी तो उस समय जब कोई लाभ नहीं, वे अपने हृदय की सारी बातें एक-एक करके कह गये। मैं उस समय भी उन्हें न पहचान पाई। अब बाकी क्या रहा ? अंधियारी रात और उसी रात में भटकना। और अपने भाग्य को कोसना। होकर यही मुंह से निकल जाता है कि मैं उस देवता को पहचान न सकी।

•

इस घर में आने पर आपके पेट में दर्द होने लगा।

मैं बोली—'गरम पानी करके सेंक दूं ?'

आप बोले—'सेंक दो, शायद कुछ आराम ही मिल जाय।' मैंने पानी गरम करके मंगवाया। चारपाई पर बैठकर उनके पेट को सेंक रही थी। मेरी जिठानी बैठी हुई मेरी मदद कर रही थीं। उनको देख बोले—'तुम्हीं सेंको जी।'

मैं बोली—'और कौन है ? मैं ही सेंक रही हू।

आप बोले—'भौजी को क्या तकलीफ दे रही हो ?'

मैंने उनके क्रोध से बचने के लिए, उन्हें इशारे से हटा दिया। जब चली गई तो कहा—'दरवाजा बन्द कर दो। तब मैंने दरवाजा बद कर दिया।'

मुझसे बाले—'मेरा काम तुम खुद किया करो।'

मैंने कहा—'मैं ही करती हू।'

आप बोले—'हां, मैं किसी का ऋणी नहीं होना चाहता। किसी का अगर होना चाहता हू तो तुम्हारा ही।'

मैं बोली—'इसमें ऋण की क्या बात है ?'

आप बोले—जो सेवा करेगा वह मेवा लेगा नही ?

मैंने कहा—'अपने घर में कोई किसी का ऋणी नहीं होता।'

यह सुनते ही उनकी आंखों मे आंसू आ गये।

मैं बोली—'आप यह क्या कर रहे हैं ?'

बोले—'कुछ नहीं जी। मै खाली तुम्हारा ही ऋणी होना चाहता हूं दूसरो का नहीं। तुम जितनी भी सेवा करोगी, मुझे खुशी ही होगी क्योंकि इस जन्म में आराम मिलेगा उस जन्म मे भी।'

•

रात को फिर पेट में दर्द उठा। फिर वही बेचैनी। चारपाई पर सेंकने से आराम नहीं पहुंच रहा था। उठने की शक्ति नहीं, फिर भी उठकर बैठ गये। मैं करती क्या ? यह सब बातें मेरी आखों के सामने ही हो रही थीं। मैं उन तकलीफों से उन्हें बचा न पाती। घर भर सो रहा था। मैं अकेली रात को बैठी कभी पेट सहलाती, क भी पंखा करती। जब पेट का दर्द कुछ कम हुआ तो बोले—'रानी, मैं अब नहीं बचूंगा।'

मैं बोली—'क्या बात है ?'

बोले—'मेरी हालत देख रही हो, तुम तब भी यही कहती हो।'

मैं बोली—'डॉक्टर भी तो यही कहता है। घबराइए नहीं।'

बोले—'घबरा न जाऊं तो करूं क्या ?'

मैं बोली—'घबराने से कहीं काम चलता है ?'

फिर बोले—'रात-दिन तुम भी तो मेरे साथ पिस रही हो। मैं तुम्हारी सेवा देखकर चकित रह जाता हूं।'

मैं बोली—'आपको अच्छा होना है।'

आप बोले—'न अच्छा होऊं तब ?'

मैं बोली—'मैं यह नहीं सुनना चाहती।'

बोले—'आख़िर....'

मैंने कहा—'इसके पहले मैं अपनी मौत चाहती हूं।'

बोले—'सुनो। अगर तुम पहले चली जाओ तो मुझे दुख होगा बिल्कुल तुम्हारी तरह। मगर सोचो तुम्हारे कर्तव्य तब मैं और ज़्यादा ज़िम्मेदारी से निबाहता न ! वैसे ही तुम्हें भी चाहिए कि तुम अपने कर्तव्य निभाओ। अगर मैं न रहूं तो तुम्हारा कर्तव्य हो जाता है। बच्चों को आराम से रखना, ईमानदार और नेक बनाना। तुम अभी तो अपने लिए नहीं जी रही हो। बाद को भी न जिओगी। कौन तुम्हीं अमर होकर आई हो। एक दिन सबको मरना है।

मुझमें उस समय बोलने की ताकत बिल्कुल नहीं थी। मैं पड़ी थी। वे अपने आप बक रहे थे। वे कहते सब कुछ थे; मगर मेरी आशा वैसे ही बंधी हुई थी। उन्हीं आशाओं को लेकर मैं जी रही थी। उन्होंने समझा मैं सो गई हूं। उस वक्त एक मिसरा खुद पढ रहे थे —खुश रहो अहले वतन हम तो सफर करते हैं।

दुनिया की दुआ कर रहे थे, और अपने जाने की तैयारी। फिर खुद कहने लगे - 'दुनिया की सब न्यामतें रहेंगी पर हम नहीं रहेंगे।'

इन सबों को सुनकर मेरा हृदय फटा जा रहा था। सबके बाद मैंने पीछे का दरवाजा खोला। अंधेरी रात में बाहर खड़ी-खड़ी रोती रही। रोने के बाद मेरी यह भावना हुई कि मैं आख़िर जिन्दा क्यों हूं ? भीतर से मेरी आत्मा पुकार-पुकारकर कह रही थी कि देखो, तुझे कितना दुख सहना पड़ेगा। मैं उसी अंधेरी रात में कुएं की तरफ चली। जब कुएं की जगत पर पहुंची तो ध्यान आया तुम डूबने तो जा रही हो, इनकी सेवा कौन करेगा ? यह प्रेम नहीं है। प्रेम तो इसी में है कि घुट-घुटकर मरो। अगर अच्छे रहे तो सुख से रहना। पैर में जैसे बेड़ी पड़ गई। वह महज एक आशा थी।

तब तक आप जाग रहे थे। बोले—'आओ चारपाई पर बैठकर पंखा खींचो।'

मैं पंखा झलने लगी। शायद उन्होंने रोना तो नहीं देखा था, पर अन्दाज़ से जान लिया कि मैं रो रही थी। मेरा बायां हाथ अपने हाथ में लेकर बोले—'तुमको सुस्त देखता हू तो घबरा जाता हूं। कहीं तुम बीमार पड़ गई तो मैं मर जाऊंगा। अच्छा भी होने वाला होऊंगा तो तुम्हारे बीमार पड़ने पर बचने का नहीं।'

मैं बोली—'मैं बीमार कहां पड़ी जाती हूं। बीमारी तो उन्हें ही आती है जो सबको सुखी करते हैं। मुझे ऐसों को बीमारी नहीं आ सकती !'

मेरे गाल पर धीरे से एक चपत लगाते हुए बोले—'अगर तुम बीमार पड़ जाओ तो मैं कहीं का न होऊं। औरों को चाहे तुम्हारी ज़रूरत न हो, पर मुझे तो तुम्हीं सबसे ज़्यादा ज़रूरी हो ?'

इन शब्दों में कितना प्यार और अपनापा हे। चाहे इंसान और कुछ न चाहे पर प्यार तो चाहता ही है। इन दोनों के पीछे आदमी जो भी लुटा दे थोड़ा है।

आज यही मेरी ज़िम्मेदारी है। यही बार-बार आता है कि ईश्वर, तुमने इनको उतना विवश कर दिया था। पहले किसी भी काम को नहीं करने देते थे। आज मेरी ड्यूटी बताते हैं।

दांतों के बीच ज़बान की तरह म अपने बोझे से दबी थी। क्योंकि सांस लेने की मुझे बिल्कुल गुंजाइश न थी। सब कुछ सहने के लिए मै भी तैयार थी। मगर यह देखने के लिए नहीं तैयार थी कि वे दुखी हो जाय। मुझे विश्वास था कि वे अच्छे हो जायंगे।

मेरी आशा की रस्सी टूट चुकी है। उनको तो खो ही चुकी, उनकी आशा और विश्वास भी खो बैठी और उसके बिना जीवन मेरे लिए अमावस्या की रात की तरह है। इसके आगे और क्या कहू।

•

मोत की धीमी-धीमी पदचाप अब स्पष्ट हो चली थी पर प्रेमचद अब भी उससे हार मानने को तैयार नहीं थे। महाप्राण निराला का मार्मिक सस्मरण—

हिन्दी के युगान्तर-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ रत्न अन्तर्प्रान्तीय ख़्याति के हिन्दी के प्रथम साहित्यिक, प्रतिकूल परिस्थितियो स निर्भीक वीर की तरह लडने वाले, उपन्यास-संसार के एकछत्र-सम्राट रचना-प्रतियोगिता मे विश्व के अधिक-से-अधिक लिखने वाले मनीषियों के समकक्ष आदरणीय श्रीमान प्रमचदजी आज महाव्याधि से ग्रस्त होकर शय्याशायी हो रहे हैं। कितने दुख की बात हे हिन्दी के जिन पत्रो मे हम राजनीतिक नेताओ के मामूली बुख़ार का तापमान प्रतिदिन पढते रहते हे, उनमे श्री प्रेमचदजी की—हिन्दी का महान् उपकार करने वाले प्रेमचदजी की अवस्था की साप्ताहिक ख़बर भी हमे पढने को नहीं मिलती। दुख नहीं, यह लज्जा की बात ह, हिन्दीभाषियो के लिए मर जाने की बात है। उन्होने अपने साहित्यिको की ऐसी दशा नही होने दी कि वे हसते हुए जीते और आशीर्वाद देते हुए मरते। इसी अभिशाप के कारण हिन्दी महारानी होकर अपनी प्रान्तीय सखियों की भी दासी है। हिन्दी तभी महारानी है जब साहित्यिक के हृदय-आसन पर पूजी जाती है, पर ऐसा नही होता। उसके सेवक, वे प्रतिभाशाली युवक, प्रौढ और वृद्ध ठोकरें खाते हुए बढ़ते और पश्चात्ताप करते हुए मरते हे। क्या लिखू लज्जा की बात स्पष्ट न करना ही अच्छा है।

मैं जब राजेन्द्रप्रसाद और पंडित जवाहरलाल नेहरू—जैसे राष्ट्र के समादृत नेताओं को देखता हूं और साथ-साथ मुझे श्री प्रेमचदजी की याद आती है, तब मेरा हृदय आनन्द और भक्ति से पूर्ण हो जाता है। मैं देखता हूं, राजनीति के सामने साहित्य का सिर नहीं झुका, बल्कि और ऊंचा है, केवल देखने वाले नहीं हैं। हिन्दीभाषी मुझे अच्छी तरह जानते हैं। वे यह भी जानते होंगे, मेरे कानों में डंके की आवाज कम जाती है। जिस साधना से आदमी आदमी है, जिसके कारण नेता सम्मान पाते हैं, मैं उसी की जांच करता हूं। वहां प्रेमचंदजी, दरिद्र प्रेमचंदजी, अपने अध्यवसाय से शिक्षा प्राप्त करने वाले प्रेमचंदजी, साहित्य की

साधना में यहां-वहां भटकते फिरने वाले प्रेमचंदजी, फिर भी एकनिष्ठ होकर दिन-पर-दिन, महीने-पर-महीने, वर्ष-पर-वर्ष साधना करते रहने वाले प्रेमचंदजी, बड़े, बड़े, बहुत बड़े हैं। इतना बड़ा कोई नेता भी इस तरह संकट में पड़ा, जिसके नाबालिग बच्चे उड़ी निगाह से पिता के पास बैठे हुए शून्य में सोचते रहें और महाव्याधि में भी पिता को विश्राम न मिला—उनके अन्न की चिन्ता रही ? इतने बड़े पिता को अन्न की चिन्ता—धन्य रे देश !

इस बार प्रायः साढ़े तीन महीने मैं बनारस रहा। प्रेमचंदजी के सरस्वती प्रेस में मेरी 'गीतिका' छप रही थी। प्रकाशक था भारती भंडार। एक दिन पंडित वाचस्पति पाठक, जिनका मैं अतिथि था, बोले, 'प्रेमचंदजी से मिल लीजिए।'

उस समय प्रायः आधा जून, दोपहर की लू चलती थी। प्रेमचंदजी के नाम से मैंने चलना स्वीकार कर लिया। प्रेस पहुंचकर दो मंजिल पर चलकर देखा, प्रेमचंदजी बैठे हैं। मैं उनके परिवार-भर से परिचित था। श्रीमती शिवरानी भी आयीं। मैंने प्रणाम किया। फिर एक गिलास पानी मांगा। बहुत दिनों बाद प्रेमचदजी को देखा था। मालूम होता था, वह और दुबले हो गये हैं। उनसे कहा, उन्होंने कहा जैसा कहा करते हैं—'नहीं, यह तो मेरी काठी है।' कुछ देर तक साहित्यिक बातचीत हुई, फिर मैं विदा हुआ। उस दुर्बल देह में शक्ति और ओजपूर्ण मात्रा में थे।

कुछ दिन बीत गये। प्रेमचंदजी के 'गोदान' की काफी चर्चा हो रही थी। एक दिन सुना, प्रसादजी प्रेमचंदजी से मिलने गये थे, वह सख़्त बीमार हैं। फिर सुना, प्रेमचदजी एक्स-रे कराने के लिए लखनऊ गये हैं। फिर मालूम हुआ, वह लखनऊ से वापस आ गये हैं। एक दिन पंडित नन्ददुलारे वाजपेयी के साथ उन्हें देखने गया। वह उसी कमरे में बैठे हुए थे, पर इस बार फर्श पर न थे, बिछे पलंग पर बैठे हुए थे। श्रीमती शिवरानी उनके लिए दवा तैयार कर रही थीं। उनकी लड़की अपने लड़को को लेकर आ गयी थी, एक ओर खड़ी थी। मुझे देखकर नमस्ते की। मैं प्रेमचंदजी की बीमारी की चिन्ता में था, कुछ कहा नहीं, सिर्फ हाथ उठाकर नमस्कार किया। वह हंस रही थी। मेरी दृष्टि की सियाही उसके मुंह पर पड़ी—उसके मुख पर मुझे झाई-सी दीखी। अगर नीचे उसके अत्यन्त सुन्दर बड़े लड़के को खेलते हुए मैंने न देखा होता, उसका परिचय मालूम कर उसे डरवा न चुका होता, तो पहचान न पाता कि यह लड़की है। फिर भी मैंने प्रेमचंदजी से पूछा। लड़की ने लड़की की खुली आवाज़ में कहा, 'क्या आपने मुझे पहचाना नहीं ? मैंने तो आपको पहचान लिया।'

मैंने कहा—'मुझमें तो कोई परिवर्तन हुआ नहीं, पर तुम पहले लड़की थीं, अब मा हो गई हो।'

लड़की झेंप गयी। प्रेमचंदजी खुलकर हंसे। देवी शिवरानी दवा तैयार करती हुई मुस्करायीं। 'हंस' निकल चुका था। उससे जमानत तलब की जा चुकी थी। जमानत देकर पत्र निकालना असम्भव है, विशेषतः साहित्य के लिए, फिर भारतीय साहित्य परिषद् 'हंस' को लेने की बातचीत कर रहा है। प्रेमचंदजी कहते रहे, ऐसी हालत में हमारे लिए नया पत्र निकालना ठीक होगा। प्रेमचंदजी दुर्बल थे, जलोदर का पूरा प्रकोप था, फिर भी एक वीर की तरह बैठे हुए वार्त्तालाप करते रहे। बड़ी जिन्दादिली, सुनने वालों पर उसका असर पड़ा

हुआ, जैसे सुनने वालों को ही वह स्वास्थ्य पहुंचा रहे हों। मैं उस विजयिनी ध्वनि को सुन रहा था, जिसका सिर नीचा नहीं हुआ, जो हिन्दी की महाशक्ति है, और रह-रहकर दुर्बल अस्थिशेष प्रेमचंदजी को देख रहा था। दूसरे प्रसंग पर पूछा, 'आप लखनऊ गये थे, वहां क्या कहा डॉक्टरों ने ?'

'कुछ नहीं, सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिला। कहा कुछ नहीं है, ठहरने के लिए कहा, पर कुछ डिसेन्ट्री की शिकायत मालूम दी, परदेश, देखभाल वाला कोई नहीं, लड़के को ले गया था। कौन तीमारदारी करे, लौट आया।'

वाजपेयीजी से लेख आदि के लिए प्रेमचंदजी ने कहा। कुछ देर बातचीत करके फिर हम लोगों ने उनसे विदा ली।

कुछ दिन और बीते। 'गीतिका' छप चुकी थी। अन्तिम दो-एक फार्म थे। मैं प्रेस गया हुआ था। प्रेमचंदजी के बड़े लड़के मिले। प्रेस की आवश्यक बातें कहकर मैंने उनसे प्रेमचंदजी से मिलने की इच्छा प्रकट की। उन्होंने कहा, 'अब तो वे यहां नहीं रहते।' मुझे उनका मुकाम बतलाया। मेरे रास्ते में ही मकान पड़ता था। मैं चला। बादल घिरे थे। चलते-चलते पानी गिरने लगा। छाता नहीं था। भीगते हुए आनन्द आने लगा। मकान के पास आकर असमंजस में पड़ गया कि कौन-सा मकान होगा। फाटक बतलाया था, यहां फाटक न दीखा, एक दरवाजा सिर्फ देख पड़ा। डरते हुए खोला, भीतर लम्बा मैदान देखा। किनारे से रास्ता गया था। मैदान के उस तरफ मकान था। कोई था नहीं, जिससे पूछता। हिम्मत बांधकर बढ़ा। किनारे चमेली के झाड़, कहीं-कहीं अपराजिता लिपटी हुई। दोनों खिले। चमेली के रात के खिले कोमल फूल बूंदों के थपेड़ों से व्याकुल थे। देखता हुआ एक फूल छुआ। फूल वृक्ष पर रखे-से थे। उठा लिया। लिये हुए उनकी दशा पर विचार करता हुआ मकान के सामने आया। दूर से दो-एक परिचित देवियां दीख पड़ीं। एक जोड़ी छोटे जूते पड़े थे। सोचा, ये उसी लड़की के लड़के के जूते होंगे। एक बगल चिक पड़ी हुई दीख पड़ी। उधर चला, तब तक शिवरानीजी दीख पड़ीं। उनसे पूछा। क्षीण स्वर से उन्होंने कहा, 'सोये हैं, जाइए।'

मैं गया। देखा, प्रेमचंदजी अत्यन्त दुर्बल हो गये हैं। पेट फूला हुआ है। प्रेमचंदजी ने आंखें खोलीं, मुझे देखा बड़ी करुण दृष्टि से। मैंने प्रणाम किया। पूछा, 'आप कैसे हैं ?'

दोनों बांहों की ओर दृष्टि फेरकर उन्होंने, 'देखिए।' करुण स्वर। अत्यन्त दुर्बल बाहें। मुझे शंका हो चली। सिंह को गोली भरपूर लग गयी है। अब वह आवाज नहीं रही। मैं चुपचाप कुर्सी पर बैठ गया। 'कैसे संभलेगा ?' प्रेमचंदजी बोले। 'उन्हें अपने बच्चों की चिन्ता हो रही थी। मैं भरसक अपने को संभाल रहा था। मेरे हाथ का फूल वहीं छूटकर गिर गया। प्रेमचंदजी अत्यन्त मन्द स्वर से बोले, "हंस" को फिर से निकालने का विचार है, नहीं तो कैसे चलेगा ?'

मेरी आंखें छलछला आयीं। संभलकर कहा, 'आप चिन्ता न कीजिए। आपकी किताबें हैं और ईश्वर।'

प्रेमचंदजी ने 'हंस' के लिए लेख, कविता इत्यादि देने के लिए कहा। कुछ देर तक

उन्हें प्रबोध देता हुआ, उनके आराम का समय जानकर मैं विदा हुआ। प्रेमचंदजी के बड़े लड़के की अभी पढ़ाई पूर्ण नहीं हुई। अभी दो-तीन साल एम. ए. करने में लगेंगे। शायद बी. ए. फाइनल है। उसकी दृष्टि में अभी संसार काव्य है, जहां जीविका का प्रश्न नहीं। बिल्कुल नया जीवन, जब तरुण सदा धोखा खाता है, छला जाता है। छोटा लड़का तो निरा बच्चा है। मैंने सोचा अगर जैनेन्द्रजी आ जायंगे तो अच्छा होगा, 'हंस' को सहायता देंगे। मन-ही-मन शिवरानीजी की सेवा याद करता हुआ 'प्रसादजी' के यहां आया। मैं प्रेमचंदजी को देखने जब-जब गया, शिवरानीजी को उनके लिए कुछ-न-कुछ करते देखा, सदा सयत, सदा दत्तचित्त।

डॉक्टर मुखर्जी काशी के प्रसिद्ध होमियोपैथ प्रेमचंदजी के चिकित्सक हैं। रोग जलोदर है। पानी की जगह दूध दिया जाता है। डॉक्टर को अभी उनके अच्छा हो जाने का विश्वास है। केवल बढ़ती हुई कमजोरी से घबराते हैं। कुछ भय उम्र से भी है। प्रेमचंदजी 60 के होंगे। दुर्बल पहले से थे। इतनी उम्र में प्राकृतिक शक्ति के घट जाने के कारण, दुस्साध्य रोगों के लिए चिन्ता वाली बात रहती है। मरीज अपनी ही प्रकृति से जल्द अच्छा नहीं हो पाता।

कुछ दिन और बीते। नन्ददुलारे वाजपेयीजी के हाथ एक गीत मैंने 'हंस' कार्यालय भेज दिया। बड़ी कविता लिख रहा था, वह तैयार न हुई थी, फिर भेजने के लिए कहला भेजा। नन्ददुलारेजी अपना लेख लेकर जाने वाले थे, प्रेमचंदजी को देखने के उद्देश्य से। इसके कुछ दिन बाद वाचस्पतिजी पाठक और पद्मनारायण आचार्य के साथ, काशी छोड़ने के पहले प्रेमचंदजी के दर्शनों के लिए चला। पद्मनारायणजी 'गीता धर्म' के सम्पादक हैं अभी तक प्रेमचंदजी से व्यक्तिगत रूप से परिचित नहीं हो सके। 'मैथिलीमान' के लिए उनकी कुछ आज्ञा है। हम लोग इक्के से चले। रास्ते-भर गुप्त जी के अभिनन्दन की बात होती रही। मुझे बार-बार प्रेमचंदजी की याद आती रही। गुप्त जी को आदर की दृष्टि से देखता हूं, इसके अनेक प्रमाण दे चुका हूं। सोच रहा था, प्रेमचंदजी को न तो मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला न कोई अभिनन्दन। वह हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के सभापति भी नहीं चुने गये। मन ने कहा—'तुम्हारे लिए भी यही फैसला है, जिसने जैसा दिया वैसा पाया।' मैंने कहा—'मैं इसी तरह गुजारूंगा। अगर कुछ काम कर सका तो नाम-यश मुझे नहीं चाहिए।'

अब तक प्रेमचंदजी का मकान आ गया। हम लोग इक्के से उतरकर भीतर चले। मकान के सामने जब पहुंचे तब दो नवागन्तुक बैठे हुए दीख पड़े। पर ऐसे बैठे थे, जैसे घर के आदमी हों। मैंने सोचा, ये भय्या चार होंगे या रिश्तेदार। साथियों के साथ भीतर गया। सन्नाटा था। बड़ी धीमी आवाज में एक आगन्तुक ने कहा, 'बैठिए।' मैं चप्पल उतारकर चारपाई पर बैठ गया। इधर-उधर देखा, पहचान का कोई न दीख पड़ा। तब उन्हीं महाशय से कहा, 'हम लोग प्रेमचंदजी को देखने के लिए आये हैं।'

नवागन्तुक ने मेरा नाम पूछा—'मैंने अपना नाम बतलाया। इस समय देवी शिवरानीजी बाहर आयीं। प्रेमचंदजी वहीं चारपाई पर थे। रस्सी बांधकर पर्दा कर रखा था। पर्दा हटाने

लगीं। मैं जब प्रेमचंदजी के सामने वाली चारपाई की ओर बढ़ा, तब आगन्तुक महोदय ने कहा, 'ज़्यादा बातचीत मना है।'

मैं अपने लक्ष्य पर चलकर बैठ गया। देखते ही मेरे होश उड़ गये। प्रेमचंदजी ने हाथ जोड़कर कहा, 'अब तो अन्तिम विदा है।'

परन्तु दस दिन की कौन कहे, दस दिन की भी मंजूरी वहां से नहीं मिली। मौत से पहली रात की बात जैनेन्द्र की जुबानी–

"मैं उनकी खटिया के बराबर बैठा था। सबेरे के सात बजे उन्हें इस दुनिया पर आंख मींच लेनी थी। उसी सबेरे तीन बजे मुझसे बातें होती थीं। चारों ओर सन्नाटा था। कमरा छोटा और अंधेरा था। सब सोये पड़े थे। शब्द उनके मुंह से फुसफुसाहट में निकलकर खो जाते थे। उन्हें कान से अधिक मन से सुनना पड़ता था।

तभी उन्होंने अपना दाहिना हाथ मेरे सामने कर दिया। बोले–'दाब दो।'

हाथ पीला क्या, सफेद था, और फूला हुआ था। मैं दबाने लगा....इतने में प्रेमचंदजी बोले–'जैनेन्द्र ! बोलकर चुप मुझे देखते रहे। मैंने उनके हाथ को अपने दोनों हाथों में दबाया। उनको देखते हुए कहा–आप कुछ फिक्र न कीजिए बाबूजी। आप अब अच्छे हुए। और काम के लिए हम सब लोग हैं ही।

वह मुझे देखते रहे, देखते रहे। फिर बोले–'आदर्श से काम नहीं चलेगा।....मैंने कहना चाहा–आदर्श....

बोले–बहस न करो....कहकर करवट लेकर आंखें मींच लीं।....

थोड़ी देर में बोले–गर्मी बहुत है, पखा करो।

मैं पंखा करने लगा। उन्हें नींद न आती थी, तकलीफ बेहद थी। पर कराहते न थे, चुपचाप आंखें खोलकर पड़े थे। दस-पंद्रह मिनट बाद बोले–जाओ, सोओ।....

पत्नी को बुलाया। कहा–रानी, तुम मेरे पास से कहीं मत जाया करो। तुम पास बैठी रहती हो तो मुझे ढाढस रहता है....

●

आठ अक्तूबर। सुबह हुई। सात-साढ़े सात बजे थे फिर भी धुंधल का छाया था। मानो मौत का साया पसरा हो।

शिवरानी देवी मुंह धुलाने के लिए गरम पानी लाई। मुंशीजी को कुल्ला करने को इशारा किया पर मुंह नहीं खुल सका। कुछ कहना चाह रहे थे परन्तु....

जैनेन्द्र डॉक्टर लेने दौड़े। तभी बहुत जोर का पाखाना हुआ। शिवरानी देवी साफ करने को बढ़ीं। मुंशीजी ने बेबस आंखों से पत्नी को देखा और गहरे पानी में डूबते आदमी की तरह पुकारा–रानी....।

रानी लपकीं परन्तु रामकिशोर (शिवरानी देवी के भाई) ने बीच में ही पकड़ लिया–बहन, वे अब नहीं रहे ! कहां जाती हो।

●

लमही खबर पहुंची। आस-पड़ोस दूर-दराज से नाते-रिश्तेवाले, बिरादरी वाले जुटने लगे। ग्यारह बजते-बजते तीस-पैंतीस लोग जुट गए थे। अर्थी बनी। किसी अनाम आदमी की तरह मणिकर्णिका की ओर शव-यात्रा शुरू हुई।

किसी ने राज चलते दूसरे से पूछा—कौन था ?

दूसरे ने जवाब दिया—बताते हैं कोई मास्टर था !

मणिकर्णिका पर अग्नि ज्वालाएं प्रचण्ड होकर असीम में समाहित हो रही थीं मानो साहित्याकाश को आलोकित करने के लिए प्रकाश पुंज सौंप रहे हों।

●●●

प्रेमचंद : संक्षिप्त जीवन-क्रम

1. वाराणसी से 5 मील दूर लमही गांव के कच्चे पुश्तैनी मकान मे सावन वदी 10, शनिवार, सम्वत 1937 अर्थात् 31 जुलाई, 1880 को प्रेमचद का जन्म हुआ। पिता मुंशी अजायबलाल श्रीवास्तव ने पुत्र का नाम रखा धनपतराय और ताऊ ने रखा नवाबराय।
2. सन् 1888 मे लालपुर गाव के एक मौलवी साहब के यहा उनकी उर्दू-फारसी शिक्षा आरम्भ हुई। इसी वर्ष उनकी माता का देहान्त हो गया।
3. पिता अजायबलाल ने सन् 1890 में दूसरा विवाह किया।
4. तेरह वर्ष की अवस्था मे नाते के एक मामू जान और चमारिन से उनके प्रेम-प्रसंग पर एक प्रहसन की रचना की।
5. सन् 1895 में गोरखपुर के मिशन स्कूल से आठवी कक्षा उत्तीर्ण की।
6. सन् 1896 मे काशी के क्वीन्स कालिज म नवीं कक्षा मे दाखिला लिया।
7. जनवरी, 1899 में एन्ट्रेस की परीक्षा दी और द्वितीय श्रेणी मे उत्तीर्ण हुए।
8. 2 जुलाई, 1900 को डिस्ट्रिक्ट स्कूल, बहराइच मे पांचवे मास्टर के पद पर नियुक्त हुए। वेतन था 20 रुपये मासिक।
9. पहला उर्दू उपन्यास 'असरारे मआबिद' 8 अक्टूबर, 1905 से धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुआ।
10. सन् 1905 में उन्होंने दूसरा विवाह करने का फैसला कर लिया। मुंशी देवीप्रसाद की बाल विधवा शिवरानी देवी से उन्होने माच (फाल्गुन), 1906 को शिव रात्रि के दिन विवाह किया।
11. पहला हिन्दी उपन्यास 'प्रेमा' सन् 1907 में इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ।
12. पहली उर्दू कहानी '31 के दुनिया ओर हुब्बेवतन उर्दू मासिक पत्रिका 'ज़माना' के अप्रैल, 1908 के अंक मे प्रकाशित हुइ।
13. पहला उर्दू कहानी सग्रह 'सोज़ेवतन' कानपुर के जमाना प्रेस से जुलाई, 1908 में प्रकाशित हुआ।
14. पहली हिन्दी कहानी 'सौत' हिन्दी की प्रसिद्ध पत्रिका 'सरस्वती' के दिसम्बर, 1915 के अंक में प्रकाशित हुई।
15. सन् 1916 में इन्टरमीडिएट परीक्षा उत्तीर्ण की और अप्रैल, 1919 में बी॰ ए॰ की परीक्षा द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण की।

16. बस्ती से गोरखपुर तबादला होने का हुक्म मिला। 18 अगस्त, 1916 की सन्ध्या 5 बजे गोरखपुर पहुंचे और उसी दिन रात्रि को श्रीपतराय का जन्म हुआ। इसी महीने में कभी युवा उर्दू शायद फिराक गोरखपुरी से परिचय हुआ।
17. प्रेमचंद का प्रथम हिन्दी कहानी-संग्रह 'सप्त-सरोज' जून, 1917 में प्रकाशित हुआ।
18. सन् 1917 में ही 'सेवासदन' (उर्दू नाम 'बाजारे हुस्न') का उर्दू में लिखना आरम्भ हुआ। सन् 1918 में प्रकाशित होकर हिन्दीकरण शुरू हुआ और दिसम्बर, 1918 में प्रकाशित होकर पाठको तक पहुंचा।
19. महात्मा गांधी ने असहयोग आन्दोलन आरम्भ कर दिया था। वे 8 फरवरी, 1921 को गोरखपुर पहुंचे और गाजी मियां के मैदान में भाषण दिया। 16 फरवरी, 1921 को 21 वर्ष पुरानी सरकारी नौकरी से इस्तीफा दे दिया।
20. उन्होंने 23 जून, 1921 को हैडमास्टर का पद ग्रहण किया। 22 फरवरी, 1922 को त्याग-पत्र दे दिया।
21. मारवाडी स्कूल से इस्तीफा देकर बनारस लौटे। विश्वप्रसाद गुप्त के सद्प्रयासो से उन्हें काशी विद्यापीठ में हैडमास्टर का पद मिल गया और जुलाई, 1922 को कार्य आरम्भ कर दिया। इस बार वेतन था—125 रुपये मासिक।
22 जनवरी, 1923 में पहला हिन्दी नाटक 'संग्राम' प्रकाशित हुआ।
23. मुंशी दयानारायण निगम के सुझाव पर 'सरस्वती प्रेस' नाम रखा और जुलाई, 1923 में प्रेस का कार्य आरम्भ हुआ।
24. लखनऊ की प्रसिद्ध प्रकाशन संस्था नवल किशोर प्रेस के सचालक मुंशी विष्णु नारायण भार्गव ने 'माधुरी' मासिक पत्रिका का सपादन करने के लिए प्रेमचद को आमन्त्रित किया। प्रेमचंद ने 15 फरवरी, 1927 को 'माधुरी' के सह सपादक का कार्य भार ग्रहण किया। वेतन—200 रुपये मासिक।
25 'माधुरी' के जनवरी, 1928 के अंक में प्रेमचंद की कहानी 'मोटेराम जी शास्त्री' छपी।
26. दिसम्बर, 1929 मे उन्होंने पत्रिका निकालने का फैसला किया। जयशंकर प्रसाद के सुझाव पर पत्रिका का नाम, 'हस' रखा। 10 मार्च, 1930 को पहला अक प्रकाशित हुआ।
27. महात्मा गांधी के नेतृत्व मे स्वाधीनता सग्राम चल रहा था। इस बार प्रेमचद की पत्नी शिवरानी देवी इस स्वराज्य आन्दोलन में कूद पड़ीं और लखनऊ मे पिकेटिंग करती हुई 9 नवम्बर, 1930 को गिरफ्तार हुई। उन पर मुकदमा चला और दो महीने की सज़ा हुई।
28. फरवरी, 1931 तक 'गबन' उपन्यास छपकर तैयार हो गया। 15 मार्च, 1931 के लगभग जैनेन्द्र कुमार को 'गबन' की प्रति भेजी और समीक्षा करने का आग्रह किया।
29. मुंशी विष्णु नारायण भार्गव के अचानक देहान्त मे प्रेमचंद का नौकरी से हटना निश्चित हो गया और वे 9 अक्टूबर, 1931 को नौकरी से हटा दिये गये।

30. जैनेन्द्र कुमार के आग्रह पर दिल्ली की हिन्दी प्रचारिणी सभा के समारोह में भाग लेने के लिए 30-31 अक्टूबर, 1931 को दिल्ली पहुंचे।
31. लखनऊ की नौकरी छूटने के बाद वे कुछ महीनों तक और लखनऊ में रहे। 13 मई, 1932 को लखनऊ से विदा हुए और 14 मई को लमही गांव पहुंचे।
32. 'जागरण' के 26 अक्टूबर, 1932 के अंकों में 'उसका अंत' कहानी प्रकाशित हुई। 1 दिसम्बर, 1932 को सरस्वती प्रेस और 'जागरण' से एक-एक हजार की जमानत मांगी।
33. 'जागरण' के प्रकाशन से निरन्तर आर्थिक हानि हो रही थी। दिसम्बर, 1932 तक यह घाटा 400 रुपये मासिक हो गया।
34. 'सेवासदन' उपन्यास पर 'बाज़ारे हुस्न' नाम से फिल्म बनना तय हो गया। फिल्म के मुहूर्त के दिन 5 फरवरी, 1934 को प्रेमचंद बम्बई पहुंचे और सभी औपचारिक कार्यक्रमों में भाग लिया।
35. निरन्तर आर्थिक हानि के कारण प्रेमचद ने 'जागरण' साप्ताहिक, पत्र बन्द कर दिया। उसका 21 मई, 1934 को अन्तिम अंक निकला और प्रेमचंद ने 'जागरण की समाप्ति' शीर्षक से सम्पादकीय लिखा।
36. सरस्वती प्रेम के कर्मचारियो ने तीन महीने का वेतन न मिलने के कारण 3-4 सितम्बर, 1934 को प्रेस में हडताल कर दी। हडताल 13 दिन तक चली और 16 सितम्बर, 1934 को संघ के अध्यक्ष श्री नारायण ओर प्रेस के मैनेजर प्रवासी लाल वर्मा के बीच समझोता हो गया।
37. अजन्ता सिनेटोन ने आर्थिक हानि के कारण व्यापार बन्द कर दिया। प्रेमचद को कन्ट्रेक्ट पूरा होने से तीन महीने पूर्व ही नौकरी से हटाना पडा। उन्होंने 4 अप्रैल, 1934 को बम्बई से विदा ली।
38. 1 जुलाई, 1935 को पुनः बम्बई गये। भारतीय साहित्य परिषद् के मुख पत्र के रूप में 'हंस' का पहला अंक अक्टूबर, 1935 को प्रकाशित हुआ।
39. प्रसिद्ध कहानी 'कफन' उर्दू मे लिखी गयी और उर्दू मासिक पत्रिका 'जामिया' के दिसम्बर, 1935 के अंक में प्रकाशित हुई। हिन्दी में यह कहानी 'चांद' के अप्रैल, 1936 के अंक में छपी।
40. सपत्नीक 1 फरवरी, 1936 को आगरा पहुंचे और डॉ. हरिहरनाथ टण्डन के यहा ठहरे। पत्नी के साथ लालकिला और ताजमहल देखा ओर कार्यक्रमों की अध्यक्षता की।
41. जैनेन्द्र कुमार तथा दिल्ली रेडियो स्टेशन के बार-बार आग्रह पर सपत्नीक 5 मार्च, 1936 को दिल्ली पहुंचे। 8 मार्च को जैनेन्द्र के यहां खूब होली खेली। 9 मार्च को दिल्ली के हिन्दू कालिज के छात्रों के सम्मुख भाषण दिया।
42. प्रसिद्ध उपन्यास 'गो-दान' का 11 मार्च, 1936 से प्रेस में मुद्रण आरंभ हुआ।
43. 'प्रगतिशील लेखक संघ' के प्रथम अधिवेशन का उद्घाटन करने के लिए लखनऊ पहुंचे। 10 अप्रैल, 1936 को अधिवेशन की अध्यक्षता करते हुए अपना लिखित उर्दू भाषण पढ़ा।

44. 11 अप्रैल, 1936 को लाहौर आर्य समाज के आर्य-भाषा सम्मेलन का उद्घाटन कराने के लिए पहुंचे।
45. 'भारतीय साहित्य परिषद्' का पहला अधिवेशन 24-25 अप्रैल को इन्दौर में हुआ। महात्मा गांधी, पं. जवाहरलाल नेहरू, राज गोपालाचार्य, पुरुषोत्तमदास टण्डन, डॉ. राजेन्द्रप्रसाद, नवीन आदि नेता भी उपस्थित थे। प्रेमचंद ने इस अधिवेशन में भाग लिया और खुले अधिवेशन में 'हिन्दुस्तानी' भाषा का समर्थन किया।
46. प्रसिद्ध उपन्यास 'गोदान' 10 जून, 1936 को प्रकाशित हुआ।
47. 16 जून, 1936 को लमही गांव लौटने पर रात को पहली उल्टी हुई।
48. रूस के प्रसिद्ध लेखक मैक्सिम गोर्की के देहान्त का समाचार 18 जून, 1936 को भारत के अखबारों में प्रकाशित हुआ। प्रेमचंद इस समाचार से बहुत दुःखी हुए और दो-तीन दिन बाद 'आज' कार्यालय में आयोजित शोक-सभा में भाग लिया। शारीरिक दुर्बलता के कारण वे अपना लिखित भाषण भी न पढ़ सके। दूसरे व्यक्ति ने उनका भाषण पढ़ा।
49. 25 जून, 1936 को खून की पहली उल्टी हुई।
50. 8 जुलाई, 1936 को उपेन्द्रनाथ अश्क को पत्र में अपनी महत्वाकांक्षाओं के सम्बन्ध में लिखा 'मैं देहात में बसकर दो-चार जानवर पालना और देहातियों की सेवा करना चाहता हूं।'
51. 25 जुलाई, 1936 को खून की दूसरी उल्टी हुई। इसी हालात में 'मंगलसूत्र' उपन्यास के पृष्ठ लिखते रहे।
52. मित्रों की सलाह पर इलाज कराने के लिए 2 अगस्त, 1936 को लखनऊ पहुंचे। 11 अगस्त को वे बनारस लौट आये।
53. 'हंस' के जुलाई, 1936 के अंक में सेठ गोविन्ददास का नाटक 'विचार स्वातन्त्र्य' प्रकाशित हुआ तो सरकार ने 'हंस' से एक हजार रुपये की जमानत मांग ली।
54. 17 अगस्त, 1936 को बनारस के रामकटोरा नाम स्थित भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के हवादार मकान में रहने चले गये।
55. प्रेमचंद अब जान चुके थे कि बचना कठिन है। उन्होंने अपने अभिन्न मित्र मुंशी दयानारायण निगम को तार देकर बुलाया। निगम 24-25 सितम्बर, 1936 को बनारस पहुंचे तो प्रेमचंद उनके गले लगकर रो पड़े। इसी महीने में जयशंकर प्रसाद, रामकृष्णदास, नन्ददुलारे वाजपेयी, निराला, वाचस्पति पाठक आदि अनेक साहित्यकार उन्हें देखने आये।
56. 8 अक्टूबर, 1936 को प्रातः 10.15 बजे प्रेमचंद का देहावसान हुआ।

●●●

परिशिष्ट-1

अकारादि क्रम में उपन्यासों का काल-निर्देश

क्रम	उपन्यास	कहां प्रकाशित	कब प्रकाशित	खण्ड	पृष्ठ
1	असरारे मआविद उर्फ देवस्थान रहस्य	'आवाज-ए-ख़ल्क' उर्दू साप्ताहिक पत्र, बनारस	8 अक्टूबर, 1903 से 1 फरवरी, 1905	1	81
2	कर्मभूमि	प्रथम सस्करण सरस्वती प्रेस, बनारस	1932	5	233
3	कायाकल्प	प्रथम सस्करण भार्गव पुस्तकालय, बनारस	1926	4	129
4	गबन	प्रथम सस्करण सरस्वती प्रेस, बनारस	1931	5	9
5	गोदान	प्रथम सस्करण सरस्वती प्रेस, बनारस एवं हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर, बंबई	1936	6	9
6	निर्मला	'चांद' प्रथम संस्करण चांद कार्यालय, इलाहाबाद	नव., 25 नव. -6 1927	4	9
7	प्रतिज्ञा	'चांद' प्रथम संस्करण सरस्वती प्रेस, बनारस	जन.-नव., 1927 1929	4	441
8	प्रेमा	प्रथम संस्करण इंडियन-प्रेस, इलाहाबाद	1907	1	297
9	प्रेमाश्रम	प्रथम संस्करण हिन्दी पुस्तक एजेंसी, कलकत्ता	1922	2	225
10	मंगलसूत्र	'हंस'	फरवरी, 1948	6	229

क्रम	उपन्यास	कहां प्रकाशित	कब प्रकाशित	खण्ड	पृष्ठ
11	रंगभूमि	प्रथम संस्करण गंगा पुस्तक माला, लखनऊ	1925	3	9
12	रूठी रांनी	ज़माना, उर्दू मासिक, कानपुर	अप्रैल-अगस्त, 1907	1	49
13	वरदान	प्रथम संस्करण ग्रंथ भंडार, बम्बई	1921	1	393
14	सेवासदन	प्रथम संस्करण हिन्दी पुस्तक एजेंसी, कलकत्ता	1918	2	9
15	हमखुर्मा व हमसवाब	प्रथम संस्करण नवल किशोर प्रेस, लखनऊ	1906	1	161

परिशिष्ट-2

प्रेमचंद की सम्पूर्ण कहानियां

अकारादि क्रम में कहानियों का काल-निर्देश

सकेत : हि क. सं. : हिन्दी कहानी संग्रह
उ. क. सं. : उर्दू कहानी संग्रह

क्रम	कहानी का शीर्षक	कहां प्रकाशित	कब प्रकाशित	खण्ड	पृष्ठ
1	अधेर	जमाना	जुलाई, 1913	11	278
2	अग्नि ममाधि	विशाल भारत	जनवरी, 1928	14	11
3	अधिकार चिना	माधुरी	अगम्त, 1922	12	345
4	अनाथ लडकी	जमाना	जून, 1914	11	304
5	अनिष्ट शका	कहकशा	अगस्त, 1919	12	151
6	अनुभव	समरयात्रा तथा अन्य कहानिया (हि.क.स.)	1932	15	101
7	अपनी करनी	जमाना	सितम्बर-अक्टूबर, 1914	11	324
8	अपने फन का उस्ताद	जमाना	सितम्बर, 1916	11	423
9	अभिलाषा	माधुरी	अक्टूबर, 1928	14	125
10	अमावस्या की रात्रि	जमाना	अप्रैल, 1913	11	252
11	अमृत	जमाना	मार्च, 1913	11	246
12	अलग्योझा	माधुरी	अक्टूबर, 1929	14	265
13	आंसुओं की होली	मतवाला	6 मई, 1928	14	82
14	आखिरी तोहफा	चन्दन	अगस्त, 1931	11	501
15	आखिरी मंजिल	जमाना	अगस्त-सितंबर, 1911	11	162
16	आखिरी हीला	चंदन	फरवरी, 1931	14	439
17	आगा-पीछा	माधुरी	दिसम्बर, 1928	14	153

क्रम	कहानी का शीर्षक	कहां प्रकाशित	कब प्रकाशित	खण्ड
18	आत्म-संगीत	माधुरी	अगस्त, 1927	13
19	आत्माराम	जमाना	जनवरी, 1920	12
20	आदर्श विरोध	श्री शारदा	6 जुलाई, 1921	12
21	आधार	प्रेम प्रमोद (हि.क.सं.)	1926	13
22	आपबीती	माधुरी	जुलाई, 1923	12
23	आबे-हयात	सुबहे-उम्मीद	मार्च, 1920	12
24	आभूषण	माधुरी	अगस्त, 1923	12
25	आल्हा	जमाना	जनवरी, 1912	11
26	आहुति	हंस	नवम्बर, 1930	14
27	इज्जत का खून	सुबहे-उम्मीद	सितम्बर, 1919	12
28	इस्तीफा	भारतेन्दु	दिसम्बर, 1928	14
29	ईदगाह	इस्मत	1933	15
30	ईश्वरीय न्याय	सरस्वती	जुलाई, 1916	11
31	उद्धार	चांद	सितम्बर, 1924	13
32	उन्माद	माधुरी	जनवरी, 1931	14
33	उपदेश	जमाना	मई, 1917	12
34	एक अपूर्ण कहानी	प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य-1		15
35	एक आंच की कसर	चांद	अगस्त, 1924	13
36	ऐक्ट्रेस	माधुरी	अक्टूबर, 1927	13
37	कजाकी	माधुरी	अप्रैल, 1926	13
38	कप्तान साहब	जमाना	दिसम्बर, 1917	12
39	कफ़न	जामिया	दिसम्बर, 1935	15
40	करिश्मा-ए-इन्तिकाम	जमाना	फरवरी, 1911	11
41	कर्मो का फल	प्रेम-पचीसी (उ.क.सं.)	मार्च, 1918	12
42	कवच	विशाल भारत	दिसम्बर, 1929	14
43	कश्मीरी सेब	हंस	अक्टूबर, 1936	15
44	कातिल	आखिरी तोहफा (उ.क.सं.)	मार्च, 1934	15
45	कातिल की मां	वारदात (उ.क.सं.)	मार्च, 1935	15
46	कानूनी कुमार	माधुरी	अगस्त, 1929	14
47	कामना तरू	माधुरी	अप्रैल, 1927	13

क्रम	कहानी का शीर्षक	कहां प्रकाशित	कब प्रकाशित	खण्ड	पृष्ठ
48	कायर	विशाल भारत	जनवरी, 1933	15	135
49	कुत्ता	जागरण	जुलाई, 1932	15	46
50	कुसुम	इस्मत	1932	15	57
51	कैदी	हंस	जुलाई, 1933	15	195
52	कैफरे-कर्दार	अदीब	जुलाई, 1912	11	209
53	कोई दुख न हो तो बकरी खरीद लो	वारदात (उ.क.स.)	मार्च, 1935	15	342
54	कौशल	चांद	अगस्त, 1923	12	443
55	क्रिकेट मैच	जमाना	जुलाई, 1937	15	452
56	क्षमा	माधुरी	जून, 1924	13	48
57	खुचड़	माधुरी	फरवरी, 1929	14	199
58	खुदाई फौजदार	चांद	नवम्बर, 1934	15	314
59	खुदी	ख़्वाबो ख़याल (उ.क.स.)	1928	14	176
60	खून सफेद	जमाना	जुलाई, 1914	11	311
61	खूनी	भारत	25 नवम्बर, 1928	14	138
62	खेल	चन्दन	'प्रैल, 1931	14	470
63	खौफे-रुसवाई	अदीब	अगस्त-सितंबर, 1911	11	166
64	गमी	मतवाला	31 अगस्त, 1929	14	263
65	गरीब की हाय	जमाना	अक्टूबर, 1911	11	174
66	गिला	हंस	अप्रैल, 1932	15	21
67	गुप्तधन	श्री शारदा	अगस्त, 1922	12	348
68	गुरुमंत्र	प्रेम प्रतिमा (हि.क.स.)	1926	13	346
69	गुल्ली डंडा	हस	फरवरी, 1933	15	155
70	गृह-दाह	श्री शारदा	जून, 1923	12	409
71	गृहनीति	चांद	अगस्त, 1935	15	377
72	गैरत की कटार	जमाना	जुलाई, 1915	11	360
73	घमण्ड का पुतला	जमाना	अगस्त, 1916	1'	417
74	घर जमाई	माधुरी	:वम्बर, 1929	14	281
75	घासवाली	माधुरी	दिसम्बर, 1929	14	304
76	चकमा	प्रभा	नवम्बर, 1922	12	366
77	चमत्कार	माधुरी	मार्च, 1932	15	11
78	चोरी	माधुरी	सितम्बर, 1925	13	211

क्रम	कहानी का शीर्षक	कहां प्रकाशित	कब प्रकाशित	खण्ड	पृष्ठ
79	जादू	हंस	अप्रैल-मई, 1934	15	267
80	जिहाद	पांच फूल (हि.क.सं.)	नवम्बर, 1929	14	289
81	जीवन का शाप	हंस	जून, 1935	15	368
82	जुगनू की चमक	जमाना	अक्टूबर, 1916	11	432
83	जुरमाना	कफ़न (हि क सं)	अज्ञात	15	464
84	जुलूस	हंस	मार्च, 1930	14	319
85	जेल	हंस	फरवरी, 1931	14	443
86	ज्योति	चांद	मई, 1933	15	187
87	ज्वालामुखी	जमाना	मार्च, 1917	12	24
88	झांकी	जागरण	अगस्त, 1932	15	50
89	ठाकुर का कुआं	जागरण	अगस्त, 1932	15	54
90	डामुल का कैदी	हंस	अक्टूबर-नवंबर, 1932	15	70
91	डिक्री के रुपये	माधुरी	जनवरी, 1925	13	125
92	डिमांस्ट्रेशन	प्रेमा	अप्रैल, 1931	14	174
93	ढपोर शंख	हंस	जनवरी, 1931	14	121
94	तगादा	प्रेरणा तथा अन्य कहानियां	1932	15	106
95	तथ्य	हंस	फरवरी, 1937	15	115
96	तांगे वाले की बड़	जमाना	सितम्बर, 1926	13	300
97	तावान	हंस	सितम्बर, 1931	14	510
98	तिरसूल	प्रेम-चालीसी (उ क स.)	1930	14	392
99	तेंतर	चांद	दिसम्बर, 1924	13	132
100	त्यागी का प्रेम	मर्यादा	नवम्बर, 1921	12	305
101	त्रिया-चरित्र	जमाना	जनवरी, 1913	11	234
102	दण्ड	चांद	अक्टूबर, 1925	13	223
103	दफ्तरी	कहकशां	अक्टूबर, 1919	12	163
104	दरवाजा	अलनाजिर	जनवरी, 1917	12	11
105	दारू-ए-तल्ख	हमदर्द	17 जुलाई, 1913	11	283
106	दारोगाजी	माधुरी	अगस्त, 1928	14	113
107	दिल की रानी	चांद	नवम्बर, 1933	15	213
108	दीक्षा	माधुरी	सितम्बर, 1924	13	94

क्रम	कहानी का शीर्षक	कहां प्रकाशित	कब प्रकाशित	खण्ड	पृष्ठ
109	दुनिया का सबसे अनमोल रतन	सोजेवतन (उ.क सं.)	जुलाई, 1908	11	18
110	दुराशा	हजार दास्तां	अक्टूबर, 1922	12	353
111	दुर्गा का मंदिर	सरस्वती	दिसम्बर, 1917	11	77
112	दुस्साहस	आज	18 जून, 1921	12	269
113	दूध का दाम	हस	जुलाई, 1934	15	283
114	दूसरी शादी	चंदन	सितम्बर, 1931	14	515
115	देवी-1	प्रेम-चालीसी (उ क.स.)	1930	14	401
116	देवी-2	चांद	अप्रेल, 1935	15	356
117	दो कब्रें	माया	जून, 1930	14	367
118	दोनों तरफ से	जमाना	मार्च, 1911	11	134
119	दो नहरें	माधुरी	अगस्त, 1936	15	407
120	दो बैलों की कथा	हंस	अक्टूबर, 1931	14	528
121	दो भाई	जमाना	जनवरी, 1916	11	379
122	दो सखिया	माधुरी	फरवरी-मई, 1928	14	23
123	धर्म संकट	जमाना	मई, 1913	11	268
124	धिक्कार-1	चाद	फरवरी, 1925	13	148
125	धिक्कार-2	माधुरी	फरवरी, 1930	14	313
126	धोखा	जमाना	नवम्बर, 1916	11	440
127	धोखे की टट्टी	अदीब	नवम्बर, 1912	11	228
128	नबी का नीति निर्वाह	सरस्वती	मार्च, 1924	13	18
129	नमक का दारोगा		10 दिसम्बर, 1913	11	298
130	नया विवाह	सरस्वती	मई, 1932	15	30
131	नरक का मार्ग	चांद	मार्च, 1925	13	160
132	नशा	चाद	फरवरी, 1934	15	232
133	नसीहतों का दफ्तर	जमाना	मई-जून, 1912	11	202
134	नागपूजा	प्रेम-पचीसी (हि.क.सं.)	दिसम्बर, 1923	12	465
135	नादान दोस्त	खाके परगना (उ.क.सं.)	1928	14	180
136	निमंत्रण	सरस्वती	नवम्बर, 1926	13	310
137	निर्वासन	चांद	जून, 1924	13	53
138	नेउर	हंस	जनवरी, 1933	15	143

क्रम	कहानी का शीर्षक	कहां प्रकाशित	कब प्रकाशित	खण्ड	पृष्ठ
139	नेकी	अदीब	सितम्बर, 1910	11	87
140	नैराश्यं	चांद	जुलाई, 1924	13	68
141	नैराश्य लीला	चांद	अप्रैल, 1923	12	389
142	न्याय	माधुरी	मार्च, 1929	14	206
143	पंच परमेश्वर	जमाना	मई-जून, 1916	11	394
144	पंडित मोटेराम की डायरी	जागरण	जुलाई, 1934	15	290
145	पछतावा	जमाना	नवम्बर, 1914	11	331
146	पत्नी से पति	माधुरी	अप्रैल, 1930	14	333
147	परीक्षा-1	अलअस्र	दिसम्बर, 1914	11	341
148	परीक्षा-2	प्रेम-प्रमोद (हि.क.सं.)	1926	13	348
149	पर्वत यात्रा	माधुरी	अप्रैल, 1929	14	232
150	पशु से मनुष्य	प्रभा	फरवरी, 1920	12	173
151	पाप का अग्निकुंड	जमाना	मार्च, 1910	11	47
152	पिसनहारी का कुआं	माधुरी	जून, 1928	14	88
153	पुत्र-प्रेम	सरस्वती	जून, 1920	12	204
154	पूर्व संस्कार	माधुरी	दिसम्बर, 1922	12	317
155	पूस की रात	माधुरी	मई, 1930	14	350
156	पैपुजी	माधुरी	अक्टूबर, 1935	15	386
157	प्रतिशोध	जमाना	अक्टूबर, 1923	12	446
158	प्रतिज्ञा	श्री शारदा	मार्च, 1920	12	189
159	प्रायश्चित	सरस्वती	जनवरी, 1929	14	189
160	प्रारब्ध	जमाना	अप्रैल, 1921	12	261
161	प्रेम का उदय	हंस	जून, 1931	14	492
162	प्रेम की होली	मतवाला	23 मार्च, 1929	14	228
163	प्रेमसूत्र	सरस्वती	अप्रैल, 1926	13	281
164	प्रेरणा	विशाल भारत	मई, 1931	14	484
165	फातिहा	विशाल भारत	मार्च, 1929	14	214
166	बंद दरवाजा	प्रेम-चालीसी (उ.क.सं.)	1930	14	402
167	बड़ी बहन	अदीब	जुलाई, 1911	11	154
168	बड़े घर की बेटी	जमाना	सितम्बर, 1910	11	106
169	बड़े बाबू	बहारिस्तान	फरवरी, 1927	13	353
170	बड़े भाई साहब	हंस	नवम्बर, 1934	15	322
171	बलिदान	सरस्वती	मई, 1918	12	92

क्रम	कहानी का शीर्षक	कहां प्रकाशित	कब प्रकाशित	खण्ड	पृष्ठ
172	बहिष्कार	चांद	दिसम्बर, 1926	13	325
173	बांका जमींदार	जमाना	अक्टूबर, 1931	11	291
174	बांसुरी	कहकशां	जनवरी, 1920	12	173
175	बाबाजी का भोग	प्रेम प्रतिमा (हि क स.)	1926	13	351
176	बागत	आखिरी तोहफा (उ.क.स.)	मार्च, 1934	15	257
177	बालक	हस	अप्रेल, 1933	15	181
178	बासी भात मे खुदा का साझा	हस	अक्टूबर, 1934	15	308
179	बीमार बहिन	कुमार	जुलाई, 19 [illegible]	15	49
180	बूढ़ी काकी	कहकशा	जुलाई, 1920	12	209
181	बेटी का धन	जमाना	नवम्बर, 1915	11	364
182	बेटों वाली विधवा	चाद	नवम्बर, 1932	15	87
183	बैक का दिवाला	कहकशा	फरवरी-मार्च, 1919	12	131
184	वेर का अन्त	सरस्वती	अप्रेल, 1923	12	398
185	वोध	प्रेम पूर्णिमा (हि क स.)	1918	12	121
186	वोहनी-1	भारत	7 अक्टूबर, 1928	14	130
187	वोहनी-2			14	134
188	बौड़म	प्रभा	अप्रैल, 1923	12	404
189	ब्रह्म का स्वाग	प्रभा	मई, 1920	12	198
190	भाड़े का टट्टू	माधुरी	जुलाई, 1925	13	195
191	भूत	माधुरी	अगस्त, 1924	13	79
192	मंत्र-1	माधुरी	फरवरी, 1926	13	261
193	मंत्र-2	जमाना	फरवरी, 1928	14	68
194	मंदिर	चांद	मई, 1927	13	379
195	मंदिर और मस्जिद	माधुरी	अप्रैल, 1925	13	171
196	मनावन	जमाना	जुलाई, 1912	11	215
197	मनुष्य का परमधर्म	स्वदेश	मार्च, 1920	12	195
198	मनोवृत्ति	हस	मार्च, 1934	15	262
199	ममता	जमाना	फरवरी, 1912	11	192
200	मर्यादा की बेटी	जमाना	जनवरी, 1917	12	12
201	महातीर्थ	जमाना	सितम्बर, 1917	12	48
202	मां	माधुरी	जुलाई, 1929	14	243

क्रम	कहानी का शीर्षक	कहां प्रकाशित	कब प्रकाशित	खण्ड	पृष्ठ
203	मांगे की घड़ी	माधुरी	जुलाई, 1927	13	393
204	माता का हृदय	चांद	जुलाई, 1925	13	205
205	मिलाप	जमाना	जून, 1913	11	274
206	मिस पद्मा	जादेराह (उ.क.सं.)	1936	15	429
207	मुक्तिधन	माधुरी	मई, 1924	13	40
208	मुक्तिमार्ग	विशाल भारत	अप्रैल, 1924	13	32
209	मुफ्त का यश	हंस	अगस्त, 1934	15	302
210	मुबारक बीमारी	प्रेम बत्तीसी (उ.क.सं.)	अगस्त, 1920	12	215
211	मूठ	जमाना	जनवरी, 1922	12	316
212	मैकू	हंस	जून, 1930	14	379
213	मोटर के छींटे	मानसरोवर-2	अज्ञात	15	467
214	मोटेरामजी शास्त्री	माधुरी	जनवरी, 1928	14	19
215	मोटेरामजी शास्त्री का नैराश्य	समालोचक	मार्च-अप्रैल, 1928	14	77
216	मृतक भोज	प्रेरणा तथा अन्य कहानिया (हि.क.सं.)	1932	15	112
217	मृत्यु के पीछे	सबहे-उम्मीद	अगस्त-सितंबर, 1920	12	222
218	यह भी नशा, वह भी नशा	कफ़न (हि.क.स.)	अज्ञात	15	470
219	यह मेरी मातृभूमि है	सोजेवतन (उ.क.स.)	जुलाई, 1908	11	25
220	रंगीले बाबू	भारत	20 जनवरी, 1933	15	150
221	रसिक सम्पादक	जागरण	मार्च, 1933	15	176
222	रहस्य	हंस	सितम्बर, 1936	15	417
223	राजहठ	जमाना	सितम्बर, 1912	11	222
224	राजा हरदौल	जमाना	अप्रैल, 1911	11	145
225	राज्यभक्त	माधुरी	फरवरी, 1923	12	376
226	रानी सारन्धा	जमाना	सितम्बर, 1910	11	94
227	रामलीला	माधुरी	अक्टूबर, 1926	13	304
228	राष्ट्र का सेवक	प्रेम-चालीसी (उ.क.सं.)	1930	14	403

क्रम	कहानी का शीर्षक	कहां प्रकाशित	कब प्रकाशित	खण्ड	पृष्ठ
229	रियासत का दीवान	हंस	अप्रैल-मई, 1934	15	270
230	रूहे-स्याह	सुबहे-उम्मीद	नवम्बर, 1920	12	241
231	रूहे-हयात	जमाना	जनवरी, 1921	12	247
232	रोशनी	वारदात (उ.क.स.)	मार्च, 1935	15	350
233	लांछन-1	माधुरी	अगस्त, 1926	13	291
234	लांछन-2	माधुरी	फरवरी, 1931	14	451
235	लाग-डाट	प्रभा	जुलाई, 1921	12	275
236	लॉटरी	हंस	अक्टूबर, 1935	15	389
237	लालफीता	जमाना	जुलाई, 1921	12	280
238	लेखक	हंस	नवम्बर, 1931	14	538
239	लेला	सरस्वती	जनवरी, 1926	13	248
240	लोकमत का सम्मान	जमाना	अक्टूबर, 1922	12	361
241	वज्रपात	माधुरी	मार्च, 1924	13	26
242	वफा का खंजर	जमाना	नवम्बर, 1918	12	112
243	वासना की कड़िया	कहकशा	सितम्बर-अक्टूबर, 1918	12	104
244	विक्रमादित्य का तेगा	जमाना	जनवरी, 1911	11	113
245	विचित्र होली	स्वदेश	मार्च, 1921	12	257
246	विजय	जमाना	अप्रैल, 1918	12	84
247	विद्रोही	माधुरी	नवम्बर, 192[illegible]	14	144
248	विध्वंस	आज	25 जुलाई, 192[illegible]	12	302
249	विनोद	माधुरी	नवम्बर, 1924	13	113
250	विमाता	कहकशा	जून, 1919	12	148
251	वियोग और मिलाप	प्रताप	सितम्बर, 1917	11	56
252	विषम समस्या	प्रभा	जनवरी, 1921	12	253
253	विश्वास	चांद	अप्रैल, 1925	13	179
254	विस्मृति	जमाना	जनवरी-फरवरी, 1915	11	343
255	वेश्या	चांद	फरवरी, 1933	15	161
256	वैराग्य	स्वाधीनता	1933	15	227
257	शंखनाद	प्रभा	फरवरी, 1916	11	384
258	शतरंज के खिलाड़ी	माधुरी	अक्टूबर, 1924	13	105
259	शराब की दूकान	हंस	मई, 1930	14	355
260	शादी की वजह	जमाना	मार्च, 1927	13	361

क्रम	कहानी का शीर्षक	कहां प्रकाशित	कब प्रकाशित	खण्ड	पृष्ठ
261	शान्ति-1	प्रेम-बत्तीसी (उ.क.सं.)	अगस्त, 1920	12	230
262	शान्ति-2	भारती	फरवरी, 1934	15	237
263	शाप	जमाना	अप्रैल-जून, 1910	11	54
264	शिकार	जमाना	जून, 1910	11	78
265	शिकारी राजकुमार	जमाना	अगस्त, 1914	11	318
266	शुद्धि	ख्वाबो ख़याल (उ.क.स.)	1928	14	184
267	शूद्रा	जमाना	दिसम्बर, 1925	13	233
268	शेख मखमूर	सोजेवतन (उ.क.स.)	जुलाई, 1908	11	29
269	शोक का पुरस्कार	सोजेवतन (उ.क.स.)	जुलाई, 1908	11	40
270	सगे-लेला	अदीब	अप्रैल, 1913	11	259
271	सचाई का उपहार	प्रेम पूर्णिमा (हि.क.स.)	1918	12	126
272	सज्जनता का दड	सरस्वती	मार्च, 1916	11	389
273	सती-1	माधुरी	मार्च, 1927	13	363
274	सती-2	चदन	मई, 1932	15	40
275	सत्याग्रह	माधुरी	दिसम्बर, 1923	12	455
276	सद्गति	प्रेमकुज (हि.क.स.)	1930	14	404
277	सभ्यता का रहस्य	माधुरी	मार्च, 1925	13	166
278	समर यात्रा	हस	अप्रेल, 1930	14	341
279	सम्पादक मोटरामजी शास्त्री	माधुरी	अगस्त-सितबर, 1928	14	119
280	सवा सर गेहू	चाद	नवम्बर, 1924	13	127
281	सासारिक प्रम और देशप्रेम	जमाना	अप्रेल, 1908	11	11
282	सिर्फ एक आवाज	जमाना	अगस्त-सितबर, 1913	11	286
283	सुजान भगत	माधुरी	मई, 1927	13	385
284	सुभागी	माधुरी	मार्च, 1930	14	326
285	सुहाग की साडी	प्रभा	जनवरी, 1922	12	327
286	सेवा मार्ग	जमाना	जून, 1918	12	98

क्रम	कहानी का शीर्षक	कहां प्रकाशित	कब प्रकाशित	खण्ड	पृष्ठ
287	सैलानी बदर	माधुरी	फरवरी, 1924	13	11
288	सोहाग का शव	माधुरी	जुलाई, 1928	14	96
289	सौत-1	सरस्वती	दिसम्बर, 1915	11	371
290	सौत-2	विशाल भारत	दिसम्बर, 1931	14	546
291	सौभाग्य के कोड़े	प्रभा	जून, 1924	13	58
292	स्त्री और पुरुष	चाद	मई-जून, 1925	13	190
293	स्मृति का पुजारी	अस्मत	1932	15	125
294	स्वत्व की रक्षा	माधुरी	जुलाई, 1922	12	341
295	स्वप्न	वीणा	जुलाई, 1930	14	382
296	स्वर्ग की देवी	चाद	सितम्बर, 1925	13	217
297	स्वाग	जामिया	जनवरी, 193	15	328
298	स्वामिनी	विशाल भारत	सितम्बर, 1931	14	517
299	हार की जीत	मर्यादा	मई, 1922	12	334
300	हिंसा परमाधर्म	माधुरी	दिसम्बर, 1926	13	335
301	होली का उपहार	माधुरी	अप्रैल, 1931	14	480
302	होली की छुट्टी	जादेगह	1936	15	434
		(उ क स)			

परिशिष्ट-3

अकारादि क्रम में लेखों का काल-निर्देश

क्रम	लेख का शीर्षक	कहां प्रकाशित	कब प्रकाशित	खण्ड	पृष्ठ
1	अकबर की शायरी पर एक नजर	ज़माना	जनवरी, 1909	7	70
2	आज़ादी की लड़ाई	हंस	अप्रैल, 1930	7	335
3	आत्मकथा क्या साहित्य का अंग नहीं है	जागरण	11 फरवरी, 1932	7	371
4	इस्लामी सभ्यता	प्रताप	दिसंबर, 1925	7	314
5	उपन्यास-1	समालोचक	जनवरी, 1925	7	291
6	उपन्यास-2	साहित्य का उद्देश्य		7	296
7	उपन्यास का विषय	हंस	मार्च, 1930	7	330
8	उपन्यास रचना	माधुरी	अक्तूबर, 1922	7	253
9	उर्दू में फिर औनियत	ज़माना	दिसंबर, 1930	7	346
10	उर्दू-साहित्य की प्रगति	प्रताप	7 अप्रैल, 1936	7	479
11	उर्दू, हिन्दी और हिन्दुस्तान	ज़माना	अप्रैल, 1935	7	447
12	ओलिवर क्रामवेल	आवाज़-ए-ख़ल्क	मई, 1903	7	11
13	कर्बला-1	माधुरी	नवंबर, 1923	7	268
14	कर्बला-2	माधुरी	जनवरी, 1925	7	304
15	कहानी-कला-3	साहित्य का उद्देश्य	जुलाई, 1954	7	517
16	काउण्ट टॉलस्टाय और फ़न-ए-लतीफ़ (सत्कला)	ज़माना	जून, 1920	7	205
17	कालिदास की कविता	ज़माना	अगस्त, 1914	7	153
18	केशव	ज़माना	जुलाई, 1917	7	182
19	कौमी इत्तिहाद (ऐक्य) क्योंकर हो सकता है	कलीम	जनवरी, 1936	7	467
20	कौमी भाषा के विषय में कुछ विचार	हंस	नवंबर, 1934	7	408

क्रम	लेख का शीर्षक	कहां प्रकाशित	कब प्रकाशित	खण्ड	पृष्ठ
21	ख़ानदाने-मुश्तरका (संयुक्त परिवार प्रणाली)	उर्दू-ए-मुअल्ला	अप्रैल, 1905	7	30
22	गालियां	ज़माना	दिसंबर, 1909	7	107
23	गुरुकुल कांगड़ी में तीन दिन	माधुरी	अप्रैल, 1928	7	321
24	चित्र कला	जमाना	मार्च, 1907	7	51
25	जीवन और साहित्य में घृणा का स्थान	हंस	दिसंबर, 1933	7	405
26	जीवन में साहित्य का स्थान	हंस	अप्रैल, 1932	7	379
27	जीवन-सार	हंस	जनवरी-फरवरी, 1932	7	362
28	जुलेखा	जमाना	अगस्त, 1909	7	90
29	टॉमस गेन्सबरो	जमाना	सितंबर, 1907	7	57
30	तुर्की में वैधानिक राज्य	जमाना	अगस्त, 1908	7	68
31	दक्षिण भारत में हमारी हिन्दी प्रचार-यात्रा	हंस	फरवरी, 1935	7	434
32	दुखी जीवन	हंस	अप्रैल, 1933	7	395
33	देश बंधु चितरजन दास	माधुरी	जुलाई, 1925	7	308
34	देशी चीज़ों का प्रचार कैसे बढ सकता है	जमाना	जून, 1905	7	36
35	नोवेल पुरस्कार-प्राप्त कर्त्ता जॉन गाल्सवर्दी	जागरण	3 अप्रैल, 1933	7	401
36	परितोष	हंस	मार्च, 1932	7	372
37	पुराना जमाना-नया जमाना	ज़माना	फरवरी, 1919	7	189
38	पैके अब्र	जमाना	अप्रैल, 1917	7	170
39	प्राचीन मिश्र जाति के धर्मतत्त्व	माधुरी	दिसंबर, 1921	7	236
40	प्रेमचंद की प्रेमलीला का उत्तर	समालोचक	नवंबर, 1926	7	319
41	फिल्म और साहित्य	हंस	जून, 1935	7	456
42	बच्चों को स्वाधीन बनाओ	हंस	अप्रैल 1930	7	342
43	बातचीत करने की कला	हंस	दिसंबर, 1934	·	418
44	बिहारी	ज़माना	अप्रैल, 1917	7	174
45	भारतीय चित्रकला	ज़माना	अक्टूबर, 1910	7	113
46	भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र	ज़माना	जनवरी, 1913	7	129
47	मजनूं	ज़माना	जनवरी, 1913	7	134

क्रम	लेख का शीर्षक	कहां प्रकाशित	कब प्रकाशित	खण्ड	पृष्ठ
48	मनुष्यता का अकाल	जमाना	फरवरी, 1924	7	280
49	मल्काना राजपूत मुसलमानो की शुद्धि	जमाना	मई, 1923	7	260
50	महाजनी सभ्यता	कलीम	अगस्त, 1936	7	511
51	मानसिक पराधीनता	हस	जनवरी, 1931	7	349
52	मुशी गोरख प्रसाद 'इबरत'	जमाना	नवबर, 1919	7	198
53	मुशी बिशुन नारायण भार्गव	जमाना	फरवरी, 1931	7	353
54	मेरी रसीली पुस्तके	हस	जून, 1933	7	402
55	युवक कोन है ?	युवक	फरवरी, 1929	7	321
56	रामायण और महाभारत	जमाना	मई-जून, 1912	7	126
57	राशिद-उल-खैरी की सामाजिक कहानिया	अस्मत	जुलाई, 1936	7	493
58	राष्ट्रभाषा हिन्दी और उसकी समस्याए	हस	जनवरी, 1935	7	423
59	वर्तमान आदोलन के रास्ते म रुकावटे	जमाना	सितबर-नवबर, 1921	7	226
60	वर्तमान यूरोपियन ड्रामा	साहित्य समालोचक	अप्रेल, 1925	7	306
61	विभाजक रेखा	मर्यादा	मई, 1922	7	249
62	शवेतार	जमाना	मार्च, 1920	7	202
63	शरर और सरशार	उदू-ए-मुअल्ला	मार्च-अप्रेल, 1906	7	41
64	शान्तिनिकेतन म	हस	जनवरी, 1933	7	387
65	शिक्षा-असहयोग	आज	14 मई, 1921	7	209
66	श्रीकृष्ण और भावी जगत्	कल्याण	अगस्त, 1931	7	359
67	सयुक्त प्रात म आरम्भिक शिक्षा	जमाना	मई-जून, 1909	7	85
68	साहित्य और मनोविज्ञान	हस	फरवरी, 1936	7	477
69	साहित्य का आधार	जागरण	12 अक्टूबर, 1932	7	384
70	साहित्य का उद्देश्य	हस	जुलाई, 1936	7	499
71	साहित्य की प्रगति	हस	मार्च, 1933	7	389
72	साहित्य मे समालोचना	हस	मई, 1931	7	357
73	स्वदेशी आदोलन	आवाज-ए-खल्क	नवबर, 1905	7	39
74	स्वराज्य की पोषक और विरोधक व्यवस्थाए	आज	13 अप्रैल, 1922	7	244

क्रम	लेख का शीर्षक	कहां प्रकाशित	कब प्रकाशित	खण्ड	पृष्ठ
75	स्वराजय के फायदे	पुस्तिका, हिन्दी पुस्तक एजेंसी, कलकत्ता	जुलाई, 1921	7	214
76	स्वर्गीय पंडित मन्नन द्विवेदी	जमाना	दिसबर, 1921	7	243
77	स्वामी श्रद्धानद और भारतीय शिक्षा-प्रणाली	शुद्धि-समाचार	जनवरी-फरवरी, 1932	7	369
78	हसी	जमाना	फरवरी, 1916	7	166
79	हल्दी की गाठवाला पसारी	भारत	11 अगस्त, 1935	7	464
80	हाथी-दात	उर्दू-ए-मुअल्ला	अक्टूबर, 1904	7	23
81	हिन्दी-उर्दू की एकता	हस	फरवरी, 19[illegible]7	7	482
82	हिन्दी रगमच	माधुरी	दिसबर, 1929	7	325
83	हिन्दी राष्ट्रभाषा होगी	धर्मवीर	13 अप्रैल, 1935	7	454
84	हिन्दुस्तानी रेलो का साठ साला तारीख	जमाना	जनवरी, 1915	7	162
85	हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न	प्रताप	सितबर, 1924	7	286
86	हिन्दू सभ्यता आर लोकहित	जमाना	मार्च, 1912	7	119

परिशिष्ट-4

सम्पादकीय टिप्पणियां

परिशिष्ट-5

भूमिकाएं

प्रेमचंद द्वारा लिखित अपनी पुस्तकों की भूमिकाएं	खण्ड	पृष्ट
अहंकार	9	435
आजाद-कथा	9	446
कर्बला	9	444
कर्मभूमि	9	453
कुत्ते की कहानी	9	468
गल्प रत्न	9	450
गल्प समुच्चय	9	162
चौगाने हस्ती (हस्ती रूप 'रंगभूमि')	9	449
प्रेमचंद की सर्वश्रेष्ठ कहानिया	9	458
प्रेम-द्वादशी	9	447
प्रेम-प्रसून	9	441
प्रेम-बत्तीसी—हिस्सा अव्वल	9	433
मानसरोवर-1	9	163
मेरे बेहतरीन अफसाने	9	153
राम-चर्चा (उर्दू में)	9	449
वरदान	9	433
संग्राम	9	434
सप्त सुमन	9	452
सुखदास	9	433
सोज़े वतन	9	432
प्रेमचंद द्वारा अन्य लेखकों की पुस्तकों में लिखित भूमिकाएं		
बहारिस्तान (उर्दू कहानी-संग्रह)	9	471
महात्मा ईसा	9	469
मानिक-मंदिर	9	474
सती सारंधा	9	470

परिशिष्ट-6

पुस्तक समीक्षाएं

शीर्षक	खण्ड	पृष्ठ
वनौषधि	9	387
विश्वभारती	9	414
शराबी	9	347
शीलमणि	9	387
शाही का दृश्य	9	334
शैतान की लकडी	9	342
शिक्षा निबधावली	9	344
शैलबाला	9	367
षड्यन्त्रकारी	9	359
सुशील कुमारी	9	315
सचिव शुद्ध बोध	9	391
सुमति	9	321
सिराजुद्दौला	9	313
सदाचार, शिष्टाचार आर स्वास्थ्य	9	430
सचार-चक्र	9	321
ससार-सकट	9	316
सपना	9	348
समाज की बान	9	422
समीक्षाए	9	289
साम्यवाद का बिगुल	9	430
साहित्य-समीक्षा	9	301
सुमति	9	308
सुघड बेटी	9	310
स्वाधीनता के पुजारी	9	306
स्त्रियो की स्थिति	9	393
सफल जीवन	9	414
सच्ची कहानिया	9	332
स्वदेशी की बलिवेदिका	9	32
सूर्योदय	9	33
स्कदगुप्त	9	337
समुद्र पर विजय	9	344
सुलभ कृषि-शास्त्र	9	371
सैनिको का स्वागत	9	393
सोहाग बिन्दी	9	423

●●●

परिशिष्ट-7

नाटकों का काल-निर्देश

क्रम	नाटक	कहां प्रकाशित	कब प्रकाशित	खण्ड	पृष्ठ
1	कर्बला	प्रथम सस्करण गगा पुस्तक माला, लखनऊ	1924	10	185
2	प्रेम की वेदी	प्रथम सस्करण सरस्वती प्रम, बनारस	1933	10	369
3	सग्राम	प्रथम सस्करण हिन्दी पुस्तक एजसी, कलकत्ता	1923	10	9

परिशिष्ट-8

प्रेमचंद द्वारा अनूदित साहित्य का काल-निर्देश

क्रम	कृति	कहां प्रकाशित	कब प्रकाशित	खण्ड	पृष्ठ
1	अहंकार	प्रथम संस्करण कलकत्ता पुस्तक भंडार, कलकत्ता	1923	16	65
2	आज़ाद कथा	प्रथम संस्करण गंगा पुस्तक माला, लखनऊ	1925	17	9
3	चांदी की डिबिया	प्रथम संस्करण हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद	1930	16	281
4	टाल्सस्टाय की कहानियां	प्रथम संस्करण हिन्दी पुस्तक एजेंसी, कलकत्ता	1923	16	185
5	न्याय	प्रथम संस्करण हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद	1930	16	345
6	पिता के पत्र पुत्री के नाम	प्रथम संस्करण इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस, इलाहाबाद	1931	18	145
7	शबेतर	'ज़माना', कानपुर प्रथम संस्करण हंस प्रकाशन, इलाहाबाद	सितंबर- अक्टूबर, 1919 1962	16	9
8	सुखदास	प्रथम संस्करण हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर, बम्बई	1920	16	33
9	सृष्टि का आरंभ	'हंस' प्रथम संस्करण	मार्च,-अप्रैल 37 1938	16	505
10	हड़ताल	प्रथम संस्करण हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद	1930	16	425

परिशिष्ट-9

जीवनियों का काल निर्देश

क्रम	जीवनी	कहां प्रकाशित	कब प्रकाशित	खण्ड	पृष्ठ
1	कलम, तलवार और त्याग (जीवनी-सग्रह)	प्रथम सस्करण सरस्वती प्रेस, बनारस	1940	18	297
2	दुर्गादास	प्रथम सस्करण सरस्वती प्रेस, बनारस	1938	18	249
3	महात्मा शेख़शादी	प्रथम सस्करण, हिन्दी पुस्तक एजेसी, कलकत्ता	1917	18	9
4	[illegible]	प्रथम सस्करण सरस्वनी प्रेस, बनारस	अज्ञात	18	57

बाल-साहित्य का काल-निर्देश

क्रम	पुस्तक	कहां प्रकाशित	कब प्रकाशित	खण्ड	पृष्ठ
1	कुत्ते की कहानी	प्रथम सस्करण सरस्वती प्रेस, बनारस	1936	18	217
2	जगल की कहानिया	प्रथम सस्करण सरस्वती प्रेस, बनारस	19[illegible]	18	193

विविध-सामग्री

क्रम	पुस्तक	कहां प्रकाशित	कब प्रकाशित	खण्ड	पृष्ठ
1	'हस' (प्रेमचद स्मृति अक)	सरस्वती प्रेस, बनारस	1937	20	9
2	कलम का मसीहा	प्रेमचद रचनावली, जनवाणी प्रकाशन प्रा. लि., दिल्ली	1996	20	201
3	प्रेमचद · सक्षिप्त-जीवनी		1996	20	373

परिशिष्ट-10

भारतीय भाषाओं में प्रेमचंद-साहित्य

असमिया

उपन्यास

1. **गोदान**—डॉ. वीरेन्द्रकुमार भट्टाचार्य के अनुसार इसका अनुवाद हो रहा है।
2. **प्रतिज्ञा**—अनुवादक—निरुपमा फूकन, डिब्रूगढ, प्राग्भारती प्रकाशन, 1962, पृष्ठ सख्या 190।
3. **सेवासदन**—अनुवादक—परेशदेव शर्मा, 'राष्ट्र-सेवक' पत्र मे धारावाहिक रूप से प्रकाशित।

कहानी

1. **शतरंज के खिलाड़ी**—अनुवादक—चित्र महन्त, प्रगति प्रकाशन द्वारा प्रकाशित सग्रह म सकलित।
2. **मन्त्र**—अनुवादक—चित्र महन्त, असम साहित्य-सभा द्वारा प्रकाशित सग्रह मे सकलित।
3. **कफन**—अनुवादक—प्रफुल्लदत्त गोस्वामी, 'भारतीय गल्प' मे सकलित।
4. **पूस की रात, नमक का दारोगा, बूढ़ी काकी, नशा**—अनुवादक -भाभा देवी, सग्रह म सकलित।

उड़िया

उपन्यास

1. **गबन**—अनुवादक—गोलोक बिहारी थल, प्रकाशक—दास ब्रदर्स, ब्रह्मपुर; 1960, पृष्ठ सख्या 682।
2. **गोदान**—अनुवादक—गोलोक बिहारी थल, प्रकाशक—दास ब्रदर्स, ब्रह्मपुर, 1957, पृष्ठ सख्या 632। डॉ. अर्जुन शतपथी के अनुसार ग्रन्थ मन्दिर, बालु बजार, कटक-2 ने भी 1965 में इस अनुवाद को प्रकाशित किया।

3. **प्रतिज्ञा**—अनुवादक—गोलोक बिहारी थल, प्रकाशक—उड़ीषा बुक स्टोर, कटक; 1963, पृष्ठ संख्या 224। डॉ. अर्जुन शतपथी के अनुसार ग्रन्थ मन्दिर, बालू बजार, कटक'-2 ने भी इस अनुवाद को 1970 में प्रकाशित किया।
4. **निर्मला**—अनुवादक—गोलोक बिहारी थल, प्रकाशक—विद्यापुरी, बालु बजार, कटक-2; 1972।
5. **कायाकल्प**—अनुवादक—गोलोक बिहारी थल, प्रकाशक—विद्यापुरी, बालु बाजार, कटक-2; 1975।

कहानी

1. **काहानी**—अनुवादक—गोपीनाथ पट्टनायक, प्रकाशक—दास ब्रदर्स, ब्रह्मपुर; 1957, पृष्ठ संख्या 682।
2. **नारी जीवनर काहानी**—(दो भाग), अनुवादक—लिंगराज मिश्र और अनुसूर्याप्रसाद पाठक, प्रकाशक—उत्कल प्रान्तीय राष्ट्र-भाषा प्रचार-सभा, कटक; 1956। इसी शीर्षक से एक अन्य सग्रह 1950 में प्रकाशित हुआ। अनुवादक थे नीहार पात्र।

कन्नड़

उपन्यास

1. **गोदान**—अनुवादक—के. रामकृष्ण उडुप, प्रकाशक—साहित्य भण्डार, डुबली, 1956, पृष्ठ सख्या 367।
2. **चन्द्रहार**—अनुवादक—के. एस. हरिदास भट्ट, प्रकाशक—प्रतिभा ग्रन्थ-माला, धारवाड़; 1958, पृष्ठ सख्या 286। यह 'ग़बन' का अनुवाद है। पहला संस्करण 'रमानाथ' नाम से प्रकाशित हुआ था।
3. **प्रतिज्ञा**—अनुवादक—रामलिगय्य, प्रकाशक—वसन्त मल्लिके, मगलौर; 194९ पृष्ठ संख्या 128।
4. **प्रेमाश्रम**—अनुवादक—मेवउण्डि मल्लारि, प्रकाशक—मिचिंन बल्लि, धारवाड़; 1954, पृष्ठ सख्या 263।
5. **सेवासदन**—अनुवादक—रामलिगय्य, प्रकाशक—साहित्य विहार, मंगलौर; 1952, पृष्ठ संख्या 171।

कहानी

1. **तूरया**—अनुवादक—गुरुनाथ जोशी, धारवाड़ समाज पुस्तकालय, 1948, पृष्ठ संख्या 30। 'फातिहा' कहानी का अनुवाद।
2. **दुर्गामन्दिर**—अनुवादक—के. रामकृष्ण उडुप, टी. वी. स्मारक ग्रन्थ माले, मैसूर में संकलित, 1956, पृष्ठ संख्या 108।
3. **मानसरोवर**—अनुवादक—मेवडंडि मल्लारि, प्रकाशक—मिचिंनवल्लि, धारवाड़, 1953, पृष्ठ संख्या 120। सात कहानियों का अनुवाद।
4. **सत्याग्रह**—अनुवादक—एच. एन. विश्वनाथ, जनता पुस्तकालय, तुम्बुर, 1963, पृष्ठ 23।
5. **तीर्पु**—'पंच परमेश्वर' कहानी का अनुवाद।

कश्मीरी

उपन्यास

1. **गोदान**—अनुवादक—सोमनाथ जुत्सी, 'गुपुरदान' शीर्षक से कश्मीर रेडियो के लिये अनुवाद; 1966।
2. **निर्मला**—अनुवादक—पुष्कर भान, कश्मीर रेडियो के लिये अनुवादक; 1960।
3. **गबन**—अनुवादक—मोहन निराश, कश्मीर रेडियो के लिये अनूदित; 1965।

कहानी

1. **कफन, बड़े घर की बेटी, मुक्ति-मार्ग**—अनुवादक—डॉ. विमला कुमारी, कश्मीर विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के लिये अनुवाद किया।

गुजराती

उपन्यास

1. **कर्मभूमि**—अनुवादक—माणेकलाल जोशी, प्रकाशक—गुर्जर ग्रन्थ-रत्न, अहमदाबाद, 1934, पृष्ठ संख्या 243।
2. **कायाकल्प**—अनुवादक—रामनारायण पाठक, प्रकाशक—शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, मोटा आंकडिया; 1946, तीन जिल्द।
3. **गबन**—अनुवादक—सोभा भाई पटेल (सक्षेप में) प्रकाशक—वोरा एण्ड कम्पनी, बम्बई, 1959, पृष्ठ संख्या 142। कुछ वर्ष पूर्व रघुवीर चौधरी का किया हुआ कथा-सार का अनुवाद 'ग्रन्थ' पत्रिका में प्रकाशित हुआ।
4. **गोदान**—अनुवादक—माणेकलाल जोशी, प्रकाशक—गुर्जर ग्रन्थ-रत्न, अहमदाबाद; 1939, 2 जिल्द। कुछ वर्ष पूर्व रघुवीर चौधरी का 'गोदान' के कथा-सार का अनुवाद 'ग्रन्थ' पत्रिका (सं.—यशवन्त दोशी) में प्रकाशित हुआ।
5. **निर्मला**—अनुवादक—माणेकलाल जोशी, प्रकाशक—नवचेतन साहित्य मन्दिर, अहमदाबाद, 1939, पृष्ठ संख्या 298।
6. **प्रेम-प्रतिज्ञा**—अनुवादक—माणेकलाल जोशी, प्रकाशक—आदर्श पुस्तक भण्डार, अहमदाबाद, 1943, पृष्ठ संख्या 220।
7. **प्रेमाश्रम**—अनुवादक—किशनसिंह चावड़ा, प्रकाशक—आर. आर. शेठ एण्ड कम्पनी, बम्बई, 1937, 2 जिल्द।
8. **सेवासदन**—अनुवादक—हाज़ी मुहम्मद अलारखिया, प्रकाशक—शिवजी देसाई एण्ड कम्पनी, बम्बई; 1927, पृष्ठ संख्या 178।
9. **सेवा अने शोषण**—अनुवादक—माणेकलाल जोशी, प्रकाशक—आर. आर. शेठ एण्ड कम्पनी, बम्बई; 1953, 4 जिल्द। 'रंगभूमि' उपन्यास का अनुवाद।

कहानी

1. **आत्माराम**—अनुवादक—माणेकलाल जोशी, प्रकाशक—गुर्जर ग्रन्थ-रत्न, अहमदाबाद; 1960, पृष्ठ संख्या 96। 5 कहानियों का अनुवाद।
2. **आहुति**—अनुवादक—मकनदास मेहता, प्रकाशक—सी. समनादास एण्ड कम्पनी, बम्बई, 1931, पृष्ठ संख्या 107।
3. **गरीबनी हाय**—अनुवादक—किशनसिह चावडा, प्रकाशक—प्रस्थान कार्यालय, अहमदाबाद; 1930, पृष्ठ सख्या 64।
4. **जीवननां दर्द**—अनुवादक—किशनसिह चावडा, प्रकाशक—प्रस्थान कार्यालय, अहमदाबाद; 1930, पृष्ठ संख्या 190।
5. **टेकने खातर**—अनुवादक—अज्ञात, प्रकाशक—प्रस्थान कार्यालय, अहमदाबाद।
6. **नवलिकाओं**—अनुवादक—केशवप्रसाद देसाई, प्रकाशक—जीवनलाल अपरशी मेहता, अहमदाबाद, वर्ष नहीं, पृष्ठ सख्या 103।
7. **पूस की रात**—अनुवादक—भोलाभाई पटेल, 'सस्कृति' मासिक .त्रिका (स.—उमाशकर जोशी) जनवरी-फरवरी, 1978 के अक मे प्रकाशित।
8. **बजरंगी**। अनुवादक—माणेकलाल जोशी, प्रकाशक, प्रकाशन-वर्ष अज्ञात।
9. **वेदियो**—अनुवादक—माणेकलाल जोशी, प्रकाशक—गुर्जर ग्रन्थ-रत्न, अहमदाबाद, 1960, पृष्ठ सख्या 88। 3 कहानियो का अनुवाद।
10. **सवा शेर घउं**—अनुवादक—माणेकलाल जोशी, प्रकाशक—गुर्जर ग्रन्थ-रत्न, अहमदाबाद, 1960, पृष्ठ सख्या 103। 5 कहानियो का अनुवाद।
11. **सुजान-भगत**—अनुवादक—माणेकलाल जोशी, प्रकाशक—गुर्जर ग्रन्थ-रत्न, अहमदाबाद, 1960, पृष्ठ सख्या 104। 4 कहानियो का अनुवाद।
12. **हीरो अने मोती**—अनुवादक—माणेकलाल जोशी—प्रकाशक—गुर्जर ग्रन्थ-रत्न, अहमदाबाद, 1960, पृष्ठ सख्या 84। 3 कहानियो का अनुवाद।

तमिल

उपन्यास

1. **ग्बन**—अनुवादक—रा. वीषिनाथन, 'कल्कि' साप्ताहिक-पत्र, 6 अप्रैल, 1947 से 4 अप्रैल, 1948 तक धारावाहिक रूप मे प्रकाशित।
2. **प्रेमाश्रम**—अनुवादक—वीषिनाथन, 'कल्कि' साप्ताहिक-पत्र मे 1948-50 के बीच मे कभी प्रकाशित हुआ।

कहानी

1. **अरक्कोट्टम**—अनुवादक—अप्पादुरै पिल्लै, प्रकाशक—पोन्नी, मद्रास; 1952, पृष्ठ संख्या 63।
2. **प्रेमचंद कदैगल**—अनुवादक—रतुलन, प्रकाशक—तमिष पुत्तकालयम्' मद्रास; 1961, पृष्ठ संख्या 167।

3. **चिरुद चिरु कदैगल**—अनुवादक—क. श्री श्रीनिवासाचार्य प्रकाशक—अलयन्स, मद्रास, 1942, पृष्ठ संख्या 162।
4. **ऊरवूलम**—अनुवादक—रा. वीषिनायन, 'कल्कि' साप्ताहिक-पत्र 29 मई, 1949 तथा 5 जून, 1949 के अंकों में प्रकाशित। 'जुलूस' कहानी का अनुवाद।
5. **मूत्तण्णा**—अनुवादक—रा. वीषिनाथन, 'कल्कि' साप्ताहिक-पत्र 12 मार्च, 1950 तथा 19 मार्च, 1950 के अकों में प्रकाशित। 'बड़े भाई साहब' कहानी का अनुवाद।
6. **हिंसा परमो धर्मः**—अनुवादक—रा. वीषिनायन, 'कल्कि' साप्ताहिक-पत्र, 1 अक्टूबर, 1972 में प्रकाशित।
7. **विक्किरमातित्तन वाल्**—अनुवादक—रा.वीषिनाथन 'कल्कि' साप्ताहिक-पत्र, 30 मई, 1971 मे प्रकाशित। 'विक्रमादित्य का तेगा' कहानी का अनुवाद।
8. ....(शीर्षक अज्ञात)—अनुवादक—र. शौरिराजन, प्रकाशक—नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, 1975। कुछ चुनी हुई कहानियो का अनुवाद।

तेलुगु

उपन्यास

1. **कर्मभूमि**—अनुवादक—पोदूरि रामचन्द्र राव, प्रकाशक—वनि ग्रन्थ मण्डली, राजमुन्द्रि, 1952-55, 2 जिल्द।
2. **गोदान**—अनुवादक—पिच्चेश्वर राव, प्रकाशक—विशालान्ध्र प्रचुरणालयमु, विजयवाडा, 1956, पृष्ठ संख्या 489।
3. **निर्मला**—अनुवादक—छायेश्वर, प्रकाशक—प्रेमचद पब्लिकेशन्स, विजयवाडा, दूसरा सस्करण 1955, पृष्ठ सख्या 356। आलूरि भुजग रावु ने भी इसका अनुवाद किया।
4. **नोरा**—अनुवादक—आलूरि भुजग रावु, प्रकाशक—स्टूडेण्ट बुक सेन्टर, विजयवाडा, 1968, पृष्ठ संख्या 632। 'कायाकल्प' का अनुवाद।
5. **प्रतिज्ञा**—अनुवादक—के. जी. आचार्य, प्रकाशक—विशालान्ध्र प्रचुरणालयमु, विजयवाडा, 1955, पृष्ठ सख्या 298।
6. **मंगलसूत्र**—अनुवादक—चावलि रामचन्द्र राव, शेष तथ्य अज्ञात।
7. **मनोरमा**—अनुवादक—श्री लल्लन, प्रकाशक—आदर्श ग्रन्थ मण्डली, विजयवाडा, 1956, पृष्ठ सख्या 324।
8. **रंगभूमि**—अनुवादक—सुकर और आलूरि कोमुदी, प्रकाशक—विशालान्ध्र प्रचुरणालयमु, विजयवाडा, 1964, पृष्ठ सख्या 840।
9. **वरदान**—अनुवादक—श्री लल्लन, प्रकाशन आदि अज्ञात।
10. **सेवा आश्रम**—अनुवादक—दामेर्ल भ्रमराम्ब एव कोण्डाविजय लक्ष्मीबाई, प्रकाशक—अहेपल्लि एण्ड कम्पनी, राजमुन्द्रि, प्रथम सस्करण 1932-33, द्वितीय सस्करण 1946-49, प्रथम भाग पृष्ठ संख्या 228, द्वितीय भाग पृष्ठ संख्या 242।
11. **सेवासदुनमु**—अनुवादक—एन. एस. वी. सोमयाजुलु, प्रकाशक—प्रेमचद पब्लिकेशन्स, विजयवाड़ा; 1955, पृष्ठ सख्या 318।

कहानी

1. **कैलास मगुइडू**—अनुवादक—चित्तू, प्रकाशक—वि. जे. प्रेस; 1956, पृष्ठ संख्या 32।
2. **जोडेट्टुलु**—अनुवादक—चावलि रामचन्द्र राव्, प्रकाशक—विशालान्ध्र प्रचुरणालयम्, विजयवाड़ा; 1963, पृष्ठ संख्या 100।
3. **नारी जीवनुमु**—अनुवादक—एस. एस. बी. सोमयाजुलु, प्रकाशक—प्रेमचंद पब्लिकेशन्स, विजयवाड़ा; 1954, 3 जिल्द। 'नारी जीवन की कहानियां' का अनुवाद।
4. **घण्डगबदुमति**—अनुवादक—रवि, प्रकाशक—उमा पब्लिशर्स, विजयवाडा; 1953, पृष्ठ संख्या 96। 6 कहानिया।
5. **प्रेमचंदु कथलु**—अनुवादक—अयचिनुल हनुमच्छास्त्री, प्रकाशक—नेशनल बुक ट्रस्ट, नयी दिल्ली, 1975। 22 कहानियो का अनुवाद।
6. **प्रेमचंद पंचविंशाति**—अनुवादक—एनमन्द्र वेंकटनरसिहम्, प्रकाशक—अनुवादक, हैदराबाद; 1971, जिल्द एक।
7. **प्रेमपीठम्**—अनुवादक—मुय्यन विश्वप्रसाद, प्रकाशक—प्रेमचद पब्लिकेशन्स, विजयवाड़ा, 1954, पृष्ठ सख्या 79।
8. **राणी सारंधा**—अनुवादक—रामचन्द्र, प्रकाशक—देशिकविता मण्डलि, विजयवाडा, 1958, पृष्ठ संख्या 80।
9. **सीत-पद्म लेखलु**—अनुवादक—ज्योइयूल सूर्यनारायण मूर्ति, प्रकाशक—मारुतिराम एण्ड कम्पनी, विजयवाडा, 1954, पृष्ठ सख्या 105। 'मानसरोवर' का अनुवाद।
10. **शतरंज के खिलाड़ी, दो बैलों की कहानी**—अनुवादक—चावलि राव चन्द्र राव, शेष तथ्य अज्ञात।

पंजाबी

उपन्यास

1. **गबन**—अनुवादक—राजिन्दरसिंह, प्रकाशक—नेशनल बुक शॉप, दिल्ली, 1967।
2. **गोदान**—अनुवादक—मोहनसिंह, प्रकाशक—नया युग प्रकाशन, जालन्धर, 1958, पृष्ठ सख्या 598।
3. **निर्मला**—अनुवादक—मोहनसिंह, प्रकाशक—नया युग प्रकाशन, जालन्धर· 1957, पृष्ठ सख्या 264।
4. **वरदान**—अनुवादक—राजिन्दरसिंह, प्रकाशक—नेशनल बुक शॉप, दिल्ली, 1967, पृष्ठ सख्या 229।
5. **सेवासदन**—अनुवादक—गुरुबख़्श, भाषा विभाग, पटियाला, प्रकाशक भी यही 1963, पृष्ठ सख्या 308।

कहानी

1. **अनोखी होली ते होर कहाणीयां**—अनुवादक—मुल्कराज ओबेराय, प्रकाशक—राम गुलाब चन्द्र एण्ड सन्स दिल्ली; 1949, पृष्ठ सख्या 230।

बंगला

उपन्यास

1. **गोदान**—अनुवादक—प्रियरंजन सेन तथा स्वर्णप्रभा सेन, प्रकाशक—सरस्वती प्रेस, बनारस; 1945, पृष्ठ संख्या 498।
2. **निर्मला**—अनुवादक—डॉ. चित्रा देव, प्रकाशक—अज्ञात; 1979।

कहानी

1. **दावा-खेलोयाड**—अनुवादक—सुविमल बसाक, 'कृत्तिवास' शारद संख्या, 1976 में प्रकाशित। 'शतरंज के खिलाड़ी' का अनुवाद।
2. **दावा-खेलोयाड**—अनुवादक—सुविमल बसाक, 'अमृत', स्वाधीनता संख्या, 1977 में प्रकाशित। 'शतरंज के खिलाड़ी' का अनुवाद।
3. **दावाड़ु**—अनुवादक—निर्मल मित्र, 'अवसर', शारद संख्या, 1977 में प्रकाशित। 'शतरंज के खिलाड़ी' का अनुवाद।
4. **पंचायत**—अनुवादक—बारिद गोस्वामी, आन्तर्जातिक छोटो गल्प, 1978।
5. **प्रेमचंदेर गल्प**—अनुवादक—पारुल घोष, प्रकाशक—मित्र-घोष प्राईवेट लिमिटेड, कलकत्ता, 1946। 10 कहानियां।
6. **प्रेमचंदेर गल्प गुच्छ**—अनुवादक—प्रसूण मित्र, प्रकाशक—नेशनल बुक ट्रस्ट, नयी दिल्ली, 1972। 22 कहानियां।
7. **बूढ़ी काकी**—अनुवादक—शशीभूषण पड़ंगी, एक पाठ्य-पुस्तक में संकलित, 1953।
8. **शतरंज के खिलाड़ी एवं अन्य गल्प**—अनुवादक—बारिद गोस्वामी, बुकलोर, 1978। 5 कहानियां।
9. **शवाच्छादन**—अनुवादक—इन्द्राणी सरकार, 'कथा भारती हिन्दी-गल्फ-गुच्छ' कहानी-संग्रह में संकलित, प्रकाशक—नेशनल बुक ट्रस्ट, नयी दिल्ली; 1971।

मराठी

उपन्यास

1. **ग़बन**—'लोक मित्र' (खानापुर), अक्टूबर-नवम्बर, 1931 में आनन्दराव जोशी का परिचयात्मक लेख 'प्रेमचंदजींची नवीन कादम्बनी-ग़बन' प्रकाशित।
2. **गोदान**—अनुवादक—अज्ञात, प्रकाशक—महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा-सभा, पुणे; 1946। 'किसान' शीर्षक से प्रकाशित।
3. **प्रेमाश्रम**—अनुवादक—प्रभाकर, प्रकाशक—भो. गु. ठहोरा, पुणे, 1924, 2 जिल्द।

कहानी

1. **कथा-मंजरी**—अनुवादक—हणमन्त बापुराव अन्ने, प्रकाशक—चित्रशाला प्रेस, पुणे; 1935,

पृष्ठ संख्या 230। 12 कहानियां।

2. **चिरजीवन**—अनुवादक—शंकर बाबाजी शास्त्री, प्रकाशक—भारत गौरव ग्रन्थ माला, मुम्बई; 1927, पृष्ठ संख्या 367।

3. **प्रेमचंदांच्या गोष्ठी**—अनुवादक—आनन्दराव जोशी, प्रकाशक—चित्रशाला प्रेस, पुणे; 1929, पृष्ठ संख्या 220। 14 कहानियां। लेखक की जीवनी भी।

4. **प्रेम-चतुर्थी**—अनुवादक—अज्ञात, प्रकाशक—साधना, 1950।

5. **प्रेरणा**—अनुवादक—हिम्मत पाटिल व सुधा देशपाण्डे, प्रकाशक—व्होरा आणि कम्पनी, बम्बई 1960, पृष्ठ संख्या 104।

6. **निबडक प्रेमचंद**—अनुवादक—अज्ञात, प्रकाशक—नेशनल बुक ट्रस्ट, 1974।

7. **वीर गाथा**—अनुवादक—श्रीकृष्ण हवालदार, प्रकाशक—व्होरा आणि कम्पनी, बम्बई; 1962, पृष्ठ संख्या 74। 4 कहानियां।

मलयाली

उपन्यास

1. **कर्मभूमि**—अनुवादक—ई. के दिवाकरन् पोट्टी, प्रकाशक—साहित्य प्रवर्तक, कोट्टायम; 1963, पृष्ठ सख्या 315।

2. **कायाकल्पम्**—अनुवादक—ई. के. दिवाकरन् पोट्टी, प्रकाशक—मंगलोदयम्, त्रिचूर; 1962, पृष्ठ संख्या 540।

3. **गोदानम्**—अनुवादक—दिवाकरन् पोट्टी, प्रकाशक—मंगलोदयम्, त्रिचूर; 1953, पृष्ठ संख्या 470। द्वितीय सस्करण 1964।

4. **निर्मला**—अनुवादक—वी. पी. जोसफ, प्रकाशक—मगलोदयम्, त्रिचूर 1952, पृष्ठ संख्या 216।

5. **प्रतिज्ञा**—अनुवादक—कृष्णदेव, प्रकाशक—मगलोदयम्, त्रिचूर; 1958, पृष्ठ संख्या 236।

6. **प्रेमाश्रमम्**—अनुवादक—दिवाकरन् पोट्टी, प्रकाशक—मंगलोदयम्, त्रिचूर, 1956।

7. **मंगलसूत्र**—अनुवादक—दिवाकरन् पोट्टी, प्रकाशक—साहित्य प्रवतक, कोट्टायम; 1976।

8. **रंगभूमि**—अनुवादक—दिवाकरन् पोट्टी, प्रकाशक—साहित्य प्रवर्तक, कोट्टायम; 1976।

9. **वंचना**—अनुवादक—दिवाकरन् पोट्टी, प्रकाशक—मंगलोदयम्, त्रिचूर, 1949, पृष्ठ संख्या 472। 'गोदान' का अनुवाद।

10. **वरदानम्**—अनुवादक- दिवाकरन् पोट्टी, प्रकाशक—एस. पी. सी. एस., कोट्टायम; 1954, पृष्ठ संख्या 206।

11. **सेवासदननम्**—अनुवादक—दिवाकरन् पोट्टी, पकाशक—एस. पी. सी. एस., कोट्टायम; 1954, पृष्ठ संख्या 206।

कहानी

1. **जयिल**—अनुवादक—चौधरी जी. एस. धारासिंह, प्रकाशक—मंगलोदयम्, त्रिचूर; 1946, पृष्ठ संख्या 72।

2. **प्रेमचंदिन्टे चेरूकथकल**—अनुवादक—रा. एच. वेंङ्किटेश्वरन्, प्रकाशक—के. आर. ब्रदर्स, कोलिक्कोट, 1956, पृष्ठ संख्या 112।
3. **प्रेमचंदिन्टे राट्टवुम् नरुल कथकल**—अनुवादक—पी. शंकर, प्रकाशक—प्रभात बुक हाउस, एर्नाकुलम्; 1957, पृष्ठ संख्या 207। 'प्रेमचंद की श्रेष्ठ कहानियां' का अनुवाद।
4. **प्रेम-पंचमी**—अनुवादक—दिवाकरन् पोट्टी, प्रकाशक—मंगलोदयम्, त्रिचूर, 1957, पृष्ठ संख्या 138।
5. **मण्णटिञ्ज मागत्यम्**—अनुवादक—दिवाकरन् पोट्टी, प्रकाशक—साहित्य प्रवर्तक, कोट्टायम; 1956।

सिन्धी

उपन्यास

1. **कर्मभूमि**—अनुवादक—मेलाराम वास्वाणी, प्रकाशक—अज्ञात, 1940।
2. **खूनी समाज**—अनुवादक—मेलाराम वास्वाणी, प्रकाशक—अज्ञात, 1934। 'सेवासदन' का अनुवाद।
3. **गोदान उर्फ दुखी होरी**—अनुवादक—दौलत टहिलरामाणी, प्रकाशक—अज्ञात, 1942।
4. **निर्मला**—अनुवादक—मेलाराम वास्वाणी, प्रकाशक—अज्ञात, 1931।
5. **प्रतिज्ञा**—अनुवादक—विशन बढेजा, 1956।
6. **मनोरमा**—अनुवादक—मेलाराम वास्वाणी, प्रकाशक—अज्ञात, 1940। 'कायाकल्प' का अनुवाद।
7. **माया जारू**—अनुवादक—मेलाराम वास्वाणी, प्रकाशक—अज्ञात, 1940। 'ग़बन' का अनुवाद।
8. **रूठल राणी**—अनुवादक—मेलाराम वास्वाणी, प्रकाशक—अज्ञात, 'रूठी रानी' का अनुवाद।
9. **सुखदा**—अनुवादक—मेलागम वास्वाणी, 1940।
10. **सुशीला**—अनुवादक—मेलाराम वास्वाणी, प्रकाशक—अज्ञात, 1937। 'वरदान' का अनुवाद।

कहानी

1. **चन्द्रपाल**—अनुवादक—मेलाराम वास्वाणी, 1945।
2. **प्रावीडेण्ट फण्ड**—अनुवादक—नारायण भारती, 1952।
3. **प्रेम-पुजारी**—अनुवादक—जेठानन्द लालवाणी, शेष सूचनाएं अज्ञात।

●●●

परिशिष्ट-11

विदेशी भाषाओं में प्रेमचंद-साहित्य

अंग्रेज़ी

उपन्यास

1. **Godan-A Novel of Peasant India** Tr By Jay Ratan and P Lal, Complete and Unabridged, Jaico Publishing House, Bombay, 1956 p 288
2. **The Gift of a Cow**–Tr By Gordon C Roadarmel, George Allen & Unwin, London 1968, p 442 (UNESCO Collection of Representative works, Indian Series)

कहानी

1. **A Handful of Wheat & Other Stories**–Tr By P C Gupta, People's Publishing House, New Delhi 1956 p 230
2. **A Prem Chand Reader** By N H Zide [& Others], Honolulu, Pub for the South Asia Language and Area Centre, University of Chicago, By East-West Center Press, 1965, p 302
3. **The Chess Players and Other Stories** Tr By Gurdial Mulik, Hind Pocket Books, Delhi, 1967, p 174
4. **The Secret of Culture and Other Stories**–Tr By Madan Gopal, Jaico Publishing House, Bombay, 1960, p 192
5. **Short Stories**–Tr By Gurdial Malik, Nalanda Publications, Bombay, 1946, p 166
6. **The Shround and 20 Other Stories**–Tr By Madan Gopal, Sagar Publications, New Delhi, 1972, p 278
7. **The World of Prem Chand**–Tr By David Rubin, George Allen & Unwin, London, 1969, p 215 (UNESCO Asian Fiction Series)

8. **आत्मकथा**—अनुवादक—मदन गोपाल, 'इलस्ट्रेटिड वीकली ऑफ इण्डिया', बम्बई के 26 मई, 1963 में प्रकाशित।
9. **कज्ज़ाकी**—अनुवादक—मदन गोपाल, 'अमृत बाज़ार पत्रिका', पूजा वार्षिकी, अक्टूबर, 1967 में प्रकाशित।
10. **कफ़न**—अनुपादक—मदन गोपाल, 'इण्डियन लिटरेचर', खण्ड 2, संख्या 21, 1962 (प्रकाशक—साहित्य अकादमी) में संकलित।
11. **दो बैल**—अनुवादक—मदन गोपाल, 'पैट्रियाट', दिल्ली में प्रकाशित।
12. **पंच-परमेश्वर**—अनुवादक—मदन गोपाल, 'इलस्ट्रेटिड वीकली ऑफ इण्डिया', बम्बई के 28 जनवरी, 1961 के अंक में प्रकाशित।
13. **पूस की रात**—अनुवादक—मदन गोपाल, 'इलस्ट्रेटिड वीकली ऑफ इण्डिया', बम्बई के 24 जनवरी, 1960 के अंक में प्रकाशित।
14. **बलिदान**—अनुवादक—मदन गोपाल, 'इलस्ट्रेटिड वीकली ऑफ इण्डिया', बम्बई के 19 मई, 1963 के अंक में प्रकाशित।
15. **मन्त्र**—अनुवादक—मदन गोपाल, 'इलस्ट्रेटिड वीकली ऑफ इण्डिया', बम्बई के 23 अक्टूबर, 1960 के अंक में प्रकाशित।
16. **मुक्ति-मार्ग**—अनुवादक—मदन गोपाल, 'होराइज़न', दिल्ली, 1944।
17. **लॉटरी**—अनुवादक—मदन गोपाल, 'इलस्ट्रेटिड वीकली ऑफ इण्डिया', बम्बई के 20 मार्च, 1960 के अंक में प्रकाशित।
18. **सुभागी**—अनुवादक—मदन गोपाल, 'इलस्ट्रेटिड वीकली ऑफ इण्डिया', बम्बई के 17 फरवरी, 1963 के अंक में प्रकाशित।

इटेलियन

कहानी

1. **LO SCRIGNO : RACCNTI DI VITA INDIANA**–Trans. & Introduced By L P Mishra, LEONARDO DA VINLI EDITRICE, BARI, 1965, p 378.

चीनी

उपन्यास

1. **कतान** (गोदान)—अनुवादक—येन षाव त्वान, प्रकाशक—रन मिन वनश्वे छूपानष (जन-साहित्य प्रकाशन-गृह), 1958, पेइचिंग, चीन।
2. **निमोला** (निर्मला)—अनुवादक—सोना, प्रकाशक—रन मिन वनश्वे छूपानप (जन-साहित्य प्रकाशन-गृह), पेइचिंग चीन।

कहानी

1. **एक मनुष्य जिसने अपना विचार बदल दिया**—पांच बाल कहानियों का अनुवाद, प्रकाशक—रन मिन वनश्वे छूपानष, पेइचिंग, चीन, दिसम्बर, 1956।
2. **फुल्येमू घाङ्त त्वान पयेन श्यावषोची** (प्रेमचंद कहानी-संग्रह)—20 कहानियों का अनुवाद, प्रकाशक—रन मिन वनश्वे छूपानष (जन-साहित्य प्रकाशन-गृह), 1957, पेइचिग, चीन।
3. **सवा सेर गेहूं**—आठ कहानियो का अनुवाद, प्रकाशक—रन मिन वनश्वे छूपानष, सितम्बर, 1958

जर्मनी

नीदरलैड के प्रो. पीटर गेईफके (Dr Peter Gaeffke) ने अपने अनुवादो की जो सूची भेजी, वह निम्नलिखित है—

1. **Godan** in Kindlers literaturlexikon, Vol III, p 1022 sq
2. **Karmabhumi**–in Kindlers Literaturlexikon, Vol IV, 1968, p 344 sq
3. **Manasarovar**–in Kindlers Literaturlexikon, Vol IV, 1968, p 2496
4. **Premsagar**–in Kindlers Literaturlexikon, Vol V, 1969, p 2496
5. **Rangabhumi**–in Kindlers Literaturlexikon Vol V, 1969, p 3032 sq
6. **Sevasadan**–in Kindlers Literaturlexikon, Vol VI, 1971, p 1231 sq
7. **Manasarovar**– in 'Der Grosse Brokhaus' (Brockhaus Encyclopeadia)
8. **Das Kind**–in 'Der Sprechende Pflug', Tubingen
9. **Holi der Liebe**–Ein Bild indischen Dorflebens Von Premchand in Indien I, 3 Oct , 1972 (Indian Embassy, Bonn), Translator–P Schreiner, PP 31-35
10. **Eine Handvoll Weizen** (A Handful of Wheat)–Translated by M Grycz–Liebgen, Berlin, 1958
11. **Indien in Erzahlungen seiner besten Autoren–Der Sprechende Pflug** (India in short stories by her best authors–The Speaking Plough)–Edited by W A Oerley, Herrenalb, 1962

जापानी

उपन्यास

1. **उशि कुयो**—अनुवादक— प्रो. क्यूया दोई, विश्व-साहित्य ग्रन्थ-माला के अन्तर्गत प्रकाशित, 'गोदान' का अनुवाद, 1959।

कहानी

1. **साइदो नो मिचि** (मृतक-भोज), **माजिनाई** (मन्त्र) **और तादाशिकि गिसेई** (बलिदान)—अनुवादक—केशोराम सब्बरवाल, 'विश्व की प्रसिद्ध कहानियां', खण्ड-6 में संकलित, प्रकाशक—कावादे पब्लिशिंग कम्पनी, जापान; 1936।
2. **डॉ. चड्ढा** (मन्त्र)—अनुवादक—योशि तोशि मिसुमि, 'न्यू एशिया', मासिक-पत्रिका, 1938 में प्रकाशित।
3. **क्यो-कातािबरा** (कफन)—अनुवादक—एइज़ो सावा, ओसाका विश्वविद्यालय ऑफ फारेन स्टडीज़ की त्रैमासिक पत्रिका, क्रमांक 28 मे प्रकाशित।
4. **गिसेइ** (बलिदान)—अनुवादक—त्सुनेओ कुरोयानागि, 'इण्डो-ईरान वार्त्ता', फरवरी, 1955 में प्रकाशित।
5. **कोदाकार नि मेगुमारेता काफु** (बेटों वाली विधवा)—अनुवादक—क्यूया दोइ, 'माडर्न-लिटरेचर', मासिक-पत्रिका, 1957।
6. **प्रेमचंद जिदेन** (जीवन सार)—अनुवादक—कात्सुरो कोगा, 'आर्य', त्रैमासिक-पत्रिका, ओसाका युनिवर्सिटी ऑफ फारेन स्टडीज़, 1960।
7. **इन्दो नो ओ. मात्सुरि**—अनुवादक—जिञ्जी कितामुरा, जापान चिल्ड्रन लिटरेचर, सितम्बर, 1960।
8. **त्सुइज़ेन कुयो** (मृतक-भोज)—अनुवादक—ताकोशि सुजुकि, 'इन्दो बुका' (भारतीय संस्कृति) मासिक-पत्रिका, मार्च, 1967 में प्रकाशित।
9. **बेक्के** (अलग्योझा)—अनुवादक—ताकोशि सुजुकि, 'इन्दो बुंका', अप्रैल, 1968, जापान इण्डिया कल्चरल सोसाइटी, तोक्यो।
10. **माइकू** (मैकू)—अनुवादक—कोकि नागा, सर्वोदय, शेष र, नाए अज्ञान।
11. **फुयु नो इचिया** (पूस की रात)—अनुवादक—साकाता कोबामाशि, 1970।
12. **रामा गोकि** (रामलीला) अनुवादक—क्यूया दोइ, 'सर्वोदय', अक—12-1, जनवरी, 1972।
13. **कामि नो दोके शिबाइ** (ब्रह्म का स्वांग)—अनुवादक—क्यूया दोइ. इण्डियन कल्चर, अप्रैल, 1972।

तोक्यो के एशियन-अफ्रिकन लेंगुएज़ स्कूल के छात्रो ने भी प्रेमचंद की कहानियों का जापानी-भाषा में अनुवाद किया तथा ये अनुवाद विद्यालय की पत्रिका के एक अंक में छपे। प्रो. क्यूया दोइ द्वारा भेजा गया विवरण इस प्रकार से है—

1. **केइमुशो**—अनुवादक—टी. वातानावे, 'जेल' का अनुवाद।
2. **शि इ**—अनुवादक—वाई. मुराकामि, 'कफन' का अनुवाद।
3. **देमो**—अनुवादक—एफ. नाकाज़ोनो, 'जुलूस' का अनुवाद।
4. **ठाकुर नो इ दो**—अनुवादक—के. इतो, 'ठाकुर का कुआ' का अनुवाद।
5. **बुन्मेइ तोवा नान्जो**—अनुवादक—वाई. मुराकामि, 'सभ्यता का रहस्य' का अनुवाद।
6. **योइ**—अनुवादक—टी. कामेदा, 'नशा' का अनुवाद।
7. **शिमाइ**—अनुवादक—4 विद्यार्थी, 'दो बहनें' का अनुवाद।
8. **सती**—अनुवादक—ए. यामा गुचि, 'सती' का अनुवाद।
9. **हितो-निगिरि नो मुगि**—अनुवादक—एफ. नाकाज़ोनो, 'सवा सेर गेहूं' का अनुवाद।

डच

1. **De Zeven Lotusbloemen** -Tr. by. J. Ph. Vogel, Leiden, 1948. 'सप्त-सरोज' का अनुवाद।
2. **Preemtsjand,** Novellen, mit her Hindie vertalled door Dr. Ludo Rocher, Antwerpen, 1958.
3. **Het Lijkkleed**–Translated by K. de Vreese, in : 'Meesters der indische ertelkunst, (Masters of the art of Indian narratives), Amsterdam, 1967.

फारसी

1. **निदा-ए ईमान**--अनुवादक–अब्दुल मुहम्मद आयती, 'माहनामा आमोज़श व परवरिश' मासिक पत्रिका, तेहरान, मेहर माह 1352, पृष्ठ 17-22 पर प्रकाशित। 'ईमान का फैसला' उर्दू कहानी का अनुवाद।

बर्मी

1. **गोदान**–अनुवादक–चन्द्र प्रकाश प्रभाकर 'मौतीरि', प्रकाशक–लोक साहित्य, 92/93 स्ट्रीट, काडोगले, रंगून, प्रथम सस्करण अक्टूबर, 1964, पृ. संख्या 838, मूल्य 6 रुपये।
2. **गबन**–अनुवादक–चन्द्र प्रकाश प्रभाकर 'मौतीरि', 'ब्रह्मभूमि' (बर्मा) पत्रिका मे धारावाहिक रूप म प्रकाशित।
3. **सेवासदन**–अनुवादक–चन्द्र प्रकाश प्रभाकर 'मौतीरि', 'ब्रह्मभूमि' (बर्मा) पत्रिका में धारावाहिक रूप में प्रकाशित।
4. **कहानियां**–अनुवादक–चन्द्र प्रकाश प्रभाकर 'मौतीरि' लगभग 40 कहानियों का अनुवाद किया और सभी 'ब्रह्मभूमि' (बर्मा) पत्रिका में प्रकाशित हुई।

सर्बो क्रोएशियन (यूगोस्लाविया)

उपन्यास

1. **MUNSHI PREMCHAND : GODAN**–Tr. from English by Zora Minderovic, Kosmos Dzepna biblioteka Orbis knj 9 Beograd 1960, p. 260.
2. **PREMCHAND : GODAN** Tr. from Hindi into Slovenian language by Branko Perko, Cankerjeva Zalozba. Ljublijana 1961, p. 368.
3. **PREMCHAND : JEDNA INDIJSKA LZUBAV** (One Indian Love)–Tr. from Russian into Serbo-croation by Vlajko Palavestra, Svjetlost. Biblioteka 'Dzepna knjiga' 256 Sarajevo 1962, p. 215. 2nd ed. Svjetlost. Biblioteka 'Dzepna Knjiga' 409. Sarajevo 1967, p. 217. 'निर्मला' का अनुवाद।

4. **POZORNICA**–Tr. from Hindi into Serbocroation by S.S. Jain, 1975. 'रंगभूमि' का अनुवाद।

5. **PREMCHAND : RAMAJANA, PO STAROZ INDISKOJ LEGENDI**–Tr. from Russian into Serbo-croation by Mira Lalic, Mlado Pokolenje. Biblioteka 100 Knjiga, Kolo II, knj. 9. Beograd 1959, p. 151.

कहानी

1. **U pancuje bog** (पंच परमेश्वर), **Decembarska noc** (पूस की रात), **Pokrov** (कफन)– Tr. from Hindi into Serbocroation by Svetozar Petrovic, and Josip Franic, collected in 'SAVREMENA INDISKA PROZA' (contemporary Indian Prose Writing), Svjetlost, Sarajevo 1957, p. 218.

सोवियत भाषाएं (रूसी)

उपन्यास

1. **कर्मभूमि**–अनुवादक–इ. राबिनोविच, प्राक्कथन–यू. नासेनको, मास्को, 'गोसलित इजदात', 1958, पृष्ठ 416।

2. **गोदान**–अनुवादक–व. क्राशेन्नीकोव तथा यू. लावरीनेनको, स.–अ. बंखुदारोव, प्राक्कथन–इ. कम्पानत्सेव, मास्को, गोसलित इजदात, 1956, पृष्ठ 535।

3. **निर्मला**–अनुवादक–व.वीखुखोलेव, इ. लिलीन, ओ. उल्सीफेरोव तथा आ. फियालकोवस्की, प्राक्कथन–व. बालिन, मास्को; विदेशी साहित्य प्रकाशन, 1956, पृष्ठ सख्या 175, 'प्रेमचंद की कहानियां–'निर्मला' मे संकलित, मास्को, 1958, पृष्ठ 388-572।

कहानी

1. **ठाकुर का कुआं**–कहानिया, प्रस्तावना–व. बेस्कावनी, स.–म. लाझेचको, संग्रहकर्ता–यू. लावरीनेनको, विदेशी साहित्य प्रकाशन, मास्को; 1955, संख्या पृष्ठ 250। सूची–सद्गति, अनुवादक–यू. लावरीनेनको; दो बैलों की कथा, अनुवादक–आन्तोनोवा; ठाकुर का कुआं, अनुवादक–म. आन्तोनोवा; मास्टरजी, अनुवादक–म. आन्तोनोवा; कवि की इज्ज़त, अनुवादक–यू. लावरीनेनको, कैद, अनुवादक–न. अनीकवि तथा यू. लावरीनेनको; मां, अनुवादक–म. आन्तोनोवा; मृतक-भोज, अनुवादक–यू. लावरीनेनको; इस्तीफा, अनुवादक–यू. लावरीनेनको; सवा सेर गेहूं, अनुवादक–म. आन्तोनोवा, दो भाई, अनुवादक–यू. लावरीनेनको; गुल्ली-डंडा, अनुवादक–म. आन्तोनोवा; कायर, अनुवादक–म. आन्तोनोवा; सौत, अनुवादक–म. आनोनोवा; बेटों वाली विधवा, अनुवादक न. अनीकीवा; कफन, अनुवादक–यू. लावरीनेनको; विध्वंस, अनुवादक–म. आन्तोनोवा; बड़े घर की बेटी, अनुवादक–म. आन्तोनोवा; सफेद खून, अनुवादक–यू. लावरीनेनको; बालक, अनुवादक–यू. लावरीनेनको; बड़ा भाई, अनुवादक–म. आन्तोनोवा।

5. **प्रेमचंद की कहानियां—निर्मला**—स.—न. व्यूकोवा तथा स. दिमशीत्स, प्राक्कथन—व. बालिन, मास्को, गासलित इजदात; 1958, पृष्ठ संख्या 574। सूची : ईद, मोटर के छींटे, एक आंच की कसर, सत्याग्रह, बाबाजी का भोग, अधिकार-चिन्ता, समर-यात्रा, सभी के अनुवादक—व. बालिन; ठाकुर का कुआं, कायर, दो बैलों की कहानी, बोध, मां, सभी के अनुवादक—म. आन्तोनोवा; विद्रोही, सवा सेर गेहूं, सभी के अनुवादक—फ. अनुफरीयेवा; बालक, मृतक-भोज, सफेद खून, इस्तीफा, सभी के अनुवादक—यू. लावरीनेनको, दीक्षा, मनुष्य का परम धर्म, निमन्त्रण, सभी के अनुवादक—स. बोलदीरेवा; गुरु-मन्त्र, मन्दिर, सभी के अनुवादक—म. कामनेवा; सभ्यता का रहस्य, अनुवादक—म. नीत्सबर्ग, रानी सारन्धा, मृत्यु के पीछे, अनुवादक—न. वीशनेवस्की; आहुति, अनुवादक—न. ताल्सताय; पत्नी से पति, अनुवादक—फ. बोग दानोव; मैकू, अनुवादक—अ. बोरोवीक तथा व. माखोतीन; पशु से मनुष्य, हार की जीत, अनुवादक—न. कोरोलेव; उपदेश, परीक्षा, अनुवादक—द. गोल्डमान; निर्मला (उपन्यास), अनुवादक—ब. वीरबुखोलेव, इ. लीलिन, ओ. उल्तसीफेरोव. ए. फीयालकोव्सकी।
6. **सभ्यता का रहस्य**—कहानियां, मास्को, प्रकाशक—प्रावदा; 1958, पृष्ठ संख्या 55। सूची—विद्रोही, अनुवादक—फ. अनुफरीयेवा, रानी सारन्धा, अनुवादक—न. वीशनेवस्की; मन्दिर, अनुवादक—इ. कामेनेवा; सभ्यता का रहस्य, अनुवादक—म. नीत्सबर्ग; एक आंच की कसर, अधिकार चिन्ता, अनुवादक—व. बालिन।
7. **सांप की मणि**—कहानियां, मास्को; 1957, पृष्ठ संख्या 125। सूची—शेर और लड़का, अनुवादक—यू पलोपनीकोवा, मगर का शिकार, अनुवादक—यू. पलोतनीकोवा; हाथी और मोती, अनुवादक—यू. पलोतनीकोवा; मिट्ठू, अनुवादक—यू. पलोतनीकोवा; सांप की मणि, अनुवादक—यू. लावरीनेनको, कुत्ते की कहानी, अनु.—यू. फ्लोतनीकोवा, दो बैलो की कहानी, अनुवादक—म. आन्तोनोवा; ईद का त्यौहार, अनुवादक—म. आन्तोनोवा तथा यू. लावरीनेनको; ठाकुर का कुआं, अनुवादक—म. आन्तोनोवा।

अलग-अलग कृतियां

8. **अदीब की इज्जत**—अनुवादक—यू. लावरीनेनको, 'प्रेमचंद—ठाकुर का कुआं' में संकलित, मास्को; 1955, पृष्ठ 38-47।
9. **अधिकार-चिन्ता**—अनुवादक—व. बालिन, 'प्रेमचंद—सभ्यता का रहस्य' में संकलित, मास्को; 1958।
10. **अधिकार-चिन्ता**—अनुवादक—व. बालिन, 'प्रेमचद की कहानियां--निर्मला' में संकलित, मास्को; 1958, पृष्ठ 249-53।
11. **आहुति**—अनुवादक—न. ताल्सताय, 'प्रेमचंद की कहानियां—निर्मला' में संकलित मास्को; 1958, पृष्ठ 254-65।
12. **इस्तीफा**—अनुवादक—अ. बोरोवार्क, 'सोवियत नारी' पत्रिका; 1951, संख्या 5, पृष्ठ 40-41।
13. **इस्तीफा**—अनुवादक—ओ. खोल्मसकी, अगनयोक (अग्नि) पत्रिका, 1948, नम्बर 22, पृष्ठ 21-23।

14. **इस्तीफा**–अनुवादक–यू. लावरीनेनको, 'प्रेमचंद–ठाकुर का कुआं', मास्को; 1955, पृष्ठ 98-108 तथा 'प्रेमचंद की कहानियां–निर्मला', मास्को; 1958, पृष्ठ 370-79 पर संकलित।

15. **ईदगाह**–अनुवादक–म. आन्तोनोवा तथा यू. लावरीनेनको, 'प्रेमचंद–सांप की मणि', मास्को; 1957, पृष्ठ 99-120।

16. **ईदगाह**–अनुवादक–व. बालिन, प्रेमचंद की कहानियां–निर्मला', मास्को; 1958, पृष्ठ 19-34; 'भारत के सपूत' क. सं. में भी संकलित, मास्को; 1959, पृष्ठ 7-22।

17. **उपदेश**–अनुवादक द. गोल्डमान, 'प्रेमचंद की कहानियां–निर्मला' में संकलित, मास्को, 1958, पृष्ठ 340-63।

18. **एक आंच की कसर**–अनुवादक–व. बालिन, 'प्रेमचंद की कहानियां–निर्मला' में संकलित, मास्को; 1958, पृष्ठ 93-99; 'प्रेमचंद–सभ्यता का रहस्य' में संकलित, मास्को; 1958, पृष्ठ 46-51।

19. **कफ़न**–अनुवादक–यू. लावरीनेनको, 'प्रेमचंद–ठाकुर का कुआं' में संकलित, मास्को 1955, पृष्ठ 173-80।

20. **कायर**–अनुवादक–म. आन्तोनोवा, 'प्रेमचंद–ठाकुर का कुआं' में सकलित, मास्का, 1955, पृ. 132-42; 'प्रेमचंद की कहानियां–निर्मला' में संकलित, मास्को; 1958, पृष्ठ 40-51।

21. **गुब्बारे पर चीता**–अनुवादक–यू. पलोतनीकोवा, 'सांप की मणि' में संकलित, मास्को, 1957, पृष्ठ 19-23।

22. **गुरु-मन्त्र**–अनुवादक–इ. कामेनेवा, 'प्रेमचंद की कहानियां–निर्मला' में संकलिन, मास्को, 1958, पृष्ठ 124-26।

23. **गुल्ली-डंडा**–अनुवादक–म. आन्तोनोवा, 'प्रेमचंद–ठाकुर का कुआं' में सकलित, मास्को; 1955, पृष्ठ 123-31। 'जल-तरु–भारतीय लेखकों की कहानियां' में भी संकलित, मास्को; 1955, पृष्ठ 14-22।

24. **जेल**–अनुवादक–न. अनीकीव तथा यू. लावरीनेनको, 'प्रेमचंद–ठाकुर का कुआं' मे संकलित मास्को; 1955, पृष्ठ 48-59।

25. **ठाकुर का कुआं**–अनुवादक–म. आन्तोनोवा, 'प्रेमचंद–ठाकुर का कुआं' मे संकलित, मास्को; 1955; 'प्रेमचंद–सांप की मणि' में संकलित, मास्को; 1957, पृष्ठ 121-26; 'प्रेमचंद की कहानियां–निर्मला' में संकलित, मास्को, 1958, पृष्ठ 35-39; 'जल-तरु–भारतीय लेखकों की कहानियां' में संकलित, मास्को, 1955, पृष्ठ 68-72।

26. **डिमॉन्स्ट्रेशन**–अनुवादक–ओ. अफानास्येव तथा स. पोताबेन्को, 'भारतीय लेखकों की कहानियां', भाग-1 में संकलित, मास्को; 1959, पृष्ठ 186-97।

27. **दीक्षा**–अनुवादक–स. बोलदीरेवा, 'प्रेमचंद की कहानियां–निर्मला', मास्को; 1958, पृष्ठ 100-117।

28. **दूध की कीमत**–अनुवादक–व. बान्निन, 'पूर्व के विद्वान्' में संकलित, मास्को; 1957, पृष्ठ 153-61।

29. **दो बैलों की कथा**—अनुवादक—म. आन्तोनोवा, 'प्रेमचंद—ठाकुर का कुआं', मास्को; 1955, पृष्ठ 13-25 'प्रेमचंद—सांप की मणि', मास्को; 1957, पृष्ठ 80-98; 'प्रेमचंद की कहानियां—निर्मला', मास्को 1958, पृष्ठ 71-83; 'जल-तरु—भारतीय लेखकों की कहानियां', मास्को; 1955, पृष्ठ 29-41।
30. **दो भाई**—अनुवादक—यू. लावरीनेनको, 'प्रेमचंद—ठाकुर का कुआं' में संकलित, मास्को; 1955, पृष्ठ 116-22।
31. **निमन्त्रण**—अनुवादक—स. बोलदीरेवा, 'प्रेमचंद की कहानियां—निर्मला', मास्को; 1958, पृष्ठ 195-216।
32. **परीक्षा**—अनुवादक—द. गोल्डमान, 'प्रेमचंद की कहानियां—निर्मला' में संकलित, मास्को; 1958, पृष्ठ 364-69।
33. **पशु से मनुष्य**—अनुवादक—न. कोरोलेव, 'प्रेमचंद की कहानियां—निर्मला' में संकलित, मास्को; 1958, पृष्ठ 310-22।
34. **पागल हाथी**—अनुवादक—यू. पलोतनीकोव, 'प्रेमचंद—सांप की मणि' में संकलित, मास्को; 1 ˜˜ पृष्ठ 11-14।
35. **बड़े घर की बेटी**—अनुवादक—म. आन्तोनोवा, 'प्रेमचंद—ठाकुर का कुआं' में संकलित, मास्को, 1955, पृष्ठ 186-94।
36. **बड़े भाई साहब**—अनुवादक—म. आन्तोनोव, 'प्रेमचंद—ठाकुर का कुआ, में संकलित, मास्को; 1955, पृष्ठ 213-22।
37. **बाबाजी का भोग**—अनुवादक—व. बालिन, 'प्रेमचंद की कहानियां—निर्मला' में संकलित, मास्को, 1958, पृष्ठ 144-46।
38. **बालक**—अनुवादक—यू. लावरीनेनको, 'प्रेमचंद—ठाकुर का कुआं' में सकलित, मास्को; 1955, पृष्ठ 205-12; 'प्रेमचंद की कहानियां—निर्मला' में संकलित, मास्को; 1958, पृष्ठ 84-92।
39. **बोध**—अनुवादक—त. रेदको, 'पूर्व का सितारा' पत्रिका, संख्या 10, 1958।
40. **बोध**—अनुवादक—म. आन्तोनोवा, 'प्रेमचंद—ठाकुर का कुआं' में संकलित, मास्को; 1955, पृष्ठ 30-37, 'प्रेमचंद की कहानिया—निर्मला' में संकलित, मास्को; 1958, पृष्ठ 380-87।
41. **मृत्यु के पीछे**—अनुवादक—न. वीशनेव्सकी, 'प्रेमचंद की कहानियां—निर्मला' में संकलित, मास्को; 1958, पृष्ठ 236-48।
42. **मृतक-भोज**—अनुवादक—यू. लावरीनेनको, 'प्रेमचंद—ठाकुर का कुआं', मास्को; 1955, पृष्ठ 77-97; 'प्रेमचंद की कहानियां—निर्मला', मास्को; 1958, पृष्ठ 147-68।
43. **मगर का शिकार**—'विश्व विहार' पत्रिका, संख्या 2, 1956, पृष्ठ 40।
44. **मगर का शिकार**—अनुवादक—यू. पलोतनीकोवा, 'प्रेमचंद—सांप की मणि', मास्को; 1957, पृष्ठ 8-10।
45. **मनुष्य का परम-धर्म**—अनुवादक—सं. बोलदीरेवा, 'प्रेमचंद की कहानियां—निर्मला', मास्को; 1958, पृष्ठ 118-23।

46. **मन्दिर**—अनुवादक—इ. कामेनेवा, 'प्रेमचंद की कहानियां—निर्मला', में संकलित, मास्को; 1958, पृष्ठ 186-94; 'प्रेमचंद—सभ्यता का रहस्य', में संकलित, मास्को, 1958, पृष्ठ 32-39।
47. **मां**—अनुवादक—म. आन्तोनोवा, 'प्रेमचंद—ठाकुर का कुआं', मास्को; 1955, पृष्ठ 60-76; 'प्रेमचंद की कहानियां—निर्मला', मास्को; 1958, पृष्ठ 388-404; :जल-तरु—भारतीय लेखकों की कहानियां', मास्को; 1955, पृष्ठ 93-110।
48. **मिट्ठू**—अनुवादक—यू. पलोतनीकोव, 'प्रेमचंद—सांप की मणि' में संकलित, मास्को; 1957, पृष्ठ 15-18।
49. **मुक्ति-मार्ग**—'स्मेना' पत्रिका, संख्या 5-6, 1946, पृष्ठ 19-20।
50. **मैकू**—अनुवादक—अ. बोरोवीक तथा व. माखोतीन, 'प्रेमचंद की कहानियां—निर्मला', मास्को; 1958, पृष्ठ 280-84।
51. **मोटर के छींटे**—अनुवादक—व. बालिन, 'प्रेमचंद की कहानियां—निर्मला' में सकलित, मास्को, पृ. 52-56 ।
52. **रानी सारन्धा**—अनुवादक न. वीशनेवस्की, 'प्रेमचंद की कहानियां—निर्मला', मास्को, 1958, पृष्ठ 217-35; 'प्रेमचंद—सभ्यता का रहस्य', मास्को; 1958, पृष्ठ 16-31।
53. **राम-चर्चा**—अनुवादक—ओ. अफानासयेव तथा स. पोतबिनको, मास्को, देतगीज; 1958, पृष्ठ संख्या 157।
54. **रियासत**—अनुवादक—फ.अनुफरीयेवा, 'भारतीय लेखकों की कहानियां', भाग-1, मास्को, 1959, पृष्ठ 208-27।
55. **रोशनी**—अनुवादक—न. अनीकवी, 'प्रेमचंद—ठाकुर का कुआं';–मास्को; 1955, पृष्ठ 223-30।
56. **विद्रोही**—अनुवादक—फं. अनुफरीयेवा, 'प्रेमचंद की कहानियां—निर्मला' में संकलित, मास्को; 1958, पृष्ठ 57-70।
57. **विद्रोही**—अनुवादक—फ. अनुफरीयेवा, 'प्रेमचंद—सभ्यता का रहस्य' में संकलित, मास्को, 1958, पृष्ठ 5-16।
58. **विध्वंस**—अनुवादक—म. आन्तोनोवा, 'प्रेमचंद—ठाकुर का कुआं', में संकलित, मास्को, 1955, पृष्ठ 181-85।
59. **शेर और लड़का**—अनुवादक—यू. पलोतनीकोव, 'प्रेमचंद—सांप का मणि' मे संकलित, मास्को; 1957, पृष्ठ 3-7।
60. **सज्जनता का दण्ड**—अनुवादक—ल. द. खान्द्रोव, स.—अ. प. बारिन्निकोव, विदेशी साहित्य बुलैटिन, 1930, संख्या 5, पृष्ठ 121-27।
61. **सती**—अनुवादक—म. आन्तोनोवा, 'प्रेमचंद—ठाकुर का कुआं' में संकलित, मास्को; 1955, पृष्ठ 143-54।
62. **सती**—अनुवादक—यू. स्मीरनोव, 'भारतीय लेखकों की कहानियां', भाग—1 में संकलित, मास्को; 1958, पृष्ठ 198-207।
63. **सत्याग्रह**—अनुवादक—व. बालिन, 'प्रेमचंद की कहानियां—निर्मला' में संकलित, मास्को; 1958, पृष्ठ 127-43।

64. **सद्गति**—अनुवादक—यू. लावरीनेनको, 'विदेशी साहित्य', संख्या 1, 1955, पृष्ठ 99-105। 'प्रेमचंद—ठाकुर का कुआं; में संकलित, मास्को; 1955, पृष्ठ 3-12।
65. **सफेद खून**—अनुवादक—यू. लावरीनेनको, मास्को; कोमसोमोल, 1955, 24, 25 अगस्त, 'ठाकुर का कुआं' में संकलित, मास्को; 1955, पृष्ठ 195-204; 'प्रेमचंद की कहानियां—निर्मला' में संकलित, मास्को; 1958, पृष्ठ 299-309।
66. **सभ्यता का रहस्य**—अनुवादक—म. नीत्लबर्ग, 'प्रेमचंद की कहानियां—निर्मला', में संकलित, मास्को; 1958, पृष्ठ 169-76; 'प्रेमचंद—सभ्यता का रहस्य' में संकलित, मास्को; 1958, पृष्ठ 39-46।
67. **समर-यात्रा**—अनुवादक—व. बालिन, 'प्रेमचंद की कहानियां—निर्मला', में संकलित, मास्को; 1958, पृष्ठ 285-98।
68. **सवा सेर गेहूं**—अनुवादक—फ अनुफरीयेवा, 'प्रेमचंद की कहानियां—निर्मला', में संकलित, मास्को; 1958, पृष्ठ 177-85।
69. **सवा सेर गेहूं**—अनुवादक—म आन्तोनोवा, 'प्रेमचंद—ठाकुर का कुआं', में संकलित, मास्को, 1955, पृष्ठ 108-15; 'भारतीय लेखकों की कहानियां', में संकलित, मास्को; 1955, पृष्ठ 51-58।
70. **सांप की मणि**—अनुवादक—यू. लावरीनेनको, 'प्रेमचंद सांप की मणि' में सकलित, मास्को; 1957, पृष्ठ 24-29।
71. **हार की जीत**—अनुवादक—न. कोरोलेव, 'प्रेमचंद की कहानियां—निर्मला' में संकलित, मास्को, 1958, पृष्ठ 323-39।

अन्य सोवियत भाषाएं

अज़रबाई ज़ानी

72. **ठाकुर का कुआं**—अनुवादक—म. शामीलोव, बाकू, देत्यून इज़दान, 1956, पृष्ठ संख्या 92। कहानी-संग्रह।

आरमीनी

73. **सांप की मणि**—अनुवादक—क मिरखोवोयान, इरेवान, आइपेट्राट, 1959, पृष्ठ संख्या 125। कहानी-संग्रह।

कज़्ज़ाख

74. **सांप की मणि**—अनुवादक—त. आलशेरोव, अलमाआटा, काज़गोसलित इज़दात, 1960, पृष्ठ संख्या 107। कहानी-संग्रह।
75. **ठाकुर का कुआं**—अनुवादक—म. जंगालीक, अलमाआटा, काज़गोसलित इज़दात, 1958, पृष्ठ 260। कहानी-संग्रह।

तातार

76. **सांप की मणि**—अनुवादक--अ. कासीमोव, कजान, तातकनीगो इजदात, 1958, पृष्ठ संख्या-129। कहानी-संग्रह।

तुर्कमेनी

77. **सांप की मणि**—अनुवादक—ग. अमादोव तथा ब. आक मेमेदोव अशख़ाबाद, तुर्कमेन गोस इज़दात, 1959, पृष्ठ संख्या 132। कहानी-संग्रह।

78. **निर्मला**—अनुवादक—आ. कुर्बानोव, अशख़ाबाद, तुर्कमेन गोस इजदात, 1959, पृष्ठ सख्या 204।

यूक्रेनी

79. **सांप की मणि**—अनुवादक—इ. द्रोबयाज्को, कीव, यूक्रेनी गोसलित इजदात, 1960, पृष्ठ संख्या 99।

80. **निर्मला**—अनुवादक—इ. स्तातीवकी, कीव, यूक्रेनी गोसलित इजदात, 1958, पृष्ठ सख्या 166।

एस्तोनी

81. **हार की जीत**—अनुवादक—ह. ऊमद, तालिन, गाज, झर-इजद, 1960, पृष्ठ सख्या 59। कहानी-संग्रह।

●●●

परिशिष्ट-12

आलोचनात्मक एवं अन्य पुस्तकें

जीवनी

1. **कलम का सिपाही**—अमृतराय—1962, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद
2. **कलम का मजदूर**—मदनगोपाल- 1965, राजकमल प्रकाशन
3. **प्रेमचंद घर में**—शिवरानी देवी—1956, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली
4. **प्रेमचंद : एक चित्रात्मक जीवनी**—डॉ॰ कमलकिशोर गोयनका, पीताम्बर बुक डिपो, दिल्ली
5. **प्रेमचंद**--साहित्य अकादमी, नई दिल्ली
6. **प्रेमचंद ने कहा था**—प्रकाशन विभाग (भारत सरकार, नई दिल्ली)
7. **प्रेमचंद : व्यक्ति एवं साहित्यकार**—मन्मथनाथ गुप्त—सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद
8. **प्रेमचंद के उपन्यासों का शिल्प विधान**—डॉ॰ कमलकिशोर गोयनका
9. **प्रेमचंद विश्वकोश 1, 2**—सं॰ डॉ॰ कमलकिशोर गोयनका—सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद
10. **प्रेमचंद**--डॉ॰ त्रिलोकी नारायण दीक्षित—1952, साहित्य निकेतन, कानपुर
11. **प्रेमचंद के जीवन-दर्शन के विधायक तत्त्व**—डॉ॰ कृष्णचन्द्र पाण्डेय—1970, रचना प्रकाशन, इलाहाबाद
12. **प्रेमचंद और उनकी साहित्य साधना**—डॉ॰ पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'—अतर चन्द कपूर एण्ड संस, दिल्ली
13. **प्रेमचंद और उनका युग**—डॉ शर्मा—1967, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली
14. **प्रेमचंद-साहित्य में व्यक्ति और समाज**—डॉ॰ रक्षापुरी—1970, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली
15. **प्रेमचंद : व्यक्तित्व और कृतित्व**—हंसराज रहबर—1962, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली
16. **प्रेमचंद : एक विवेचन**—डॉ॰ इन्द्रनाथ मदान—1964, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली

17. **प्रेमचंद के उपन्यासों में समसामयिक परिस्थितियों का प्रतिफलन**—डॉ. सरोज प्रसाद—1972, रचना प्रकाशन, इलाहाबाद
18. **प्रेमचंद :-साहित्यिक विवेचन**—नन्द दुलारे वाजपेयी—1956, हिन्दी भवन, इलाहाबाद
19. **समस्यामूलक उपन्यासकार प्रेमचंद**—महेन्द्र भटनागर—1957, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी
20. **प्रेमचंद के निबन्ध साहित्य में सामाजिक चेतना**—अर्चना जैन—1984, इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली
21. **प्रेमचंद स्मृति-धरोहर**—सं. शंकर दयाल सिंह—1980, मुक्त कंठ प्रकाशन, (पारिजात प्रकाशन) पटना
22. **प्रेमचंद के नारी-पात्र**—ओम अवस्थी
23. **प्रेमचंद के पात्र**—कमल कोठारी, विजय दान देथा
24. **प्रेमचंद : अध्ययन की नयी दिशाएं**—डॉ. कमल किशोर गोयनका, 1981, साहित्य निधि, दिल्ली
25. **प्रेमचंद की उपन्यास कला**—जनार्दन प्रसाद झा द्विज
26. **प्रेमचंद : जीवन, कला और कृतित्व**—हंसराज रहबर
27. **प्रेमचंद : एक अध्ययन**—डॉ. राजेश्वर गुरु
28. **'हंस' (प्रेमचंद स्मृति अंक)**—मई, 1937, सरस्वती प्रेस, बनारस कैंट
29. **प्रेमचंद : एक कृती व्यक्तित्व**—जैनेन्द्रकुमार
30. **प्रेमचंद**—डॉ. गंगाप्रसाद विमल
31. **प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों की शिल्प-विधि**—डॉ. सत्यपाल चुग
32. **प्रेमचंद-चिन्तन और कला**—सं. डॉ. इन्द्रनाथ मदान
33. **प्रेमचंद : एक परिचर्चा**—सं. डॉ. कल्याणमल लोढ़ा
34. **प्रेमचंद : एक विवेचन**—डॉ. सुरेश सिन्हा
35. **प्रेमचंद और शरतचन्द्र के उपन्यास : मनुष्य का बिम्ब**—डॉ. सुरेन्द्रनाथ तिवारी
36. **प्रेमचंद**—नरेन्द्र कोहली
37. **प्रेमचंद एवं तेलुगु के युगीन प्रतिनिधि उपन्यासकार**—डॉ. बेलुगलेटि श्री निवासाचार्य
38. **प्रेमचंद और हरिनारायण आप्टे के उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन**—डॉ. कुमारी प्रमिला गुप्ता
39. **प्रेमचंद का नारी चित्रण**—डॉ. गीतालाल
40. **प्रेमचंद के नारी-पात्र**—डॉ. भरतसिंह
41. **प्रेमचंद की उपन्यास कला का उत्कर्ष**—डॉ. कृष्णदेव झारी
42. **उपन्यासकार प्रेमचंद एवं उनका गोदान : एक नया मूल्यांकन**—डॉ. कृष्णदेव झारी
43. **प्रेमचंद युगीन समाज**—डॉ. इन्द्रमोहन
44. **उपन्यासकार प्रेमचंद**—सुरेशचन्द्र गुप्त एवं रमेशचन्द्र गुप्त

45. **प्रेमचंद प्रतिभा**–डॉ॰ इन्द्रनाथ मदान
46. **प्रेमचंद और गांधीवाद**–रामदीन गुप्त
47. **प्रेमचंद और गोर्की**–सं॰ शचीरानी-गुर्टू
48. **प्रेमचंद उपन्यास और शिल्प**--हरस्वरूप माथुर
49. **प्रेमचंद उनकी कहानी कला**–डॉ॰ सत्येन्द्र
50. **प्रेमचंद कृतियां और कला**–स॰ प्रेमनारायण टण्डन
51. **कथाकार प्रेमचंद**–मन्मथनाथ गुप्त
52. **प्रेमचंद : आलोचनात्मक परिचय**–डॉ॰ रामविलास शर्मा
53. **प्रेमचंद : एक अध्ययन**–डॉ॰ रामरतन भटनागर
54. **कलाकार प्रेमचंद**–डॉ॰ रामरतन भटनागर

●●●

परिशिष्ट-13

प्रेमचंद का उर्दू साहित्य

असरारे मआबिद—उपन्यास, 1903-05
हमखुर्मा व हमसवाब—उपन्यास, 1906
किशना—उपन्यास, दिसम्बर, 1906
रूठी रानी—उपन्यास, 1907
सोजेवतन—कहानी-संग्रह, जुलाई, 1908
जलवए ईसार—उपन्यास, मई, 1912
प्रेम-पचीसी-1—कहानी-संग्रह, अक्टूबर, 1914
सैरे दरवेश—कहानी-संग्रह, नवम्बर, 1914
प्रेम-पचीसी-2—कहानी-संग्रह, मार्च, 1918
शबेतार—अनुवाद, 1919
प्रेम बत्तीसी-1 कहानी-संग्रह, अगस्त, 1920
प्रेम बत्तीसी-2—कहानी-संग्रह, अगस्त, 1920
बाज़ारे हुस्न—उपन्यास, अगस्त 1920
कर्बला—नाटक, 1928
ख़्वाबोख्याल—कहानी-संग्रह, मई, 1928
चौगाने हस्ती—उपन्यास, अक्टूबर, 1928
गोशाए आफियत—उपन्यास, 1928
रामचर्चा—जीवनी, 1928
फिरदौसे ख़्याल—कहानी-संग्रह, जुलाई, 1929
बाकमालों के दर्शन—जीवनी-संग्रह, अगस्त, 1929
खाके परवाना—कहानी-संग्रह, नवम्बर, 1929
निर्मला—उपन्यास, 1929
सोज़ेवतन व सैरे दरवेश—कहानी-संग्रह, 1929
प्रेम चालीसी-1—कहानी-संग्रह, मार्च, 1930
प्रेम चालीसी-2—कहानी-संग्रह, 1930

पर्दए मिजाज—उपन्यास, 1931
कुरुनेवस्ता में हिन्दुस्तानी तहज़ीब—अनुवाद, 1931
बेवा—उपन्यास, मई 1932
नजात—कहानी-संग्रह, 1933
मेरे बेहतरीन अफसाने—कहानी-सग्रह, 1933
आखिरी तोहफा—कहानी-संग्रह, मार्च, 1934
मैदाने अमल—उपन्यास, मई, 1934
जादे राह—कहानी-सग्रह, जून, 1936
रुहानी शादी—नाटक, 1936
दूध की कीमत—कहानी-सग्रह, जून, 1937
वारदात—कहानी-संग्रह, फरवरी, 1938
गऊदान—उपन्यास, 1939
देहात के अफसाने—कहानी-सग्रह, 1939
मज़ामीन-ए-प्रेमचद—लेख-सग्रह, 1960
प्रेमचंद के ख़ुतूत—पत्र-सग्रह, 1968
कातिल—कहानी-सग्रह, प्रकाशन-तिथि अज्ञात
जेल—कहानी-सग्रह, प्रकाशन-तिथि अज्ञात
वफा की देवी—कहानी-संग्रह, प्रकाशन-तिथि अज्ञात
इन्साफ—अनुवाद, प्रकाशन-तिथि अज्ञात

परिशिष्ट-14

प्रेमचंद साहित्य के विविध संकलन

उपन्यास

मंगलाचरण—हंस प्रकाशन, इलाहाबाद
चार लघु उपन्यास—सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद
मनोरमा (कायाकल्प का संक्षिप्त)
गोदान संक्षिप्त
गबन संक्षिप्त
कर्मभूमि संक्षिप्त
प्रेमाश्रम संक्षिप्त
रंगभूमि संक्षिप्त
सेवासदन संक्षिप्त

कहानी संग्रह

सप्त-सरोज—जून, 1917
नव-निधि—दिसम्बर, 1917
प्रेम-पूर्णिमा—1918
प्रेम-पचीसी—जून, 1924
प्रेम-प्रसून—जून, 1924
प्रेम-द्वादशी—दिसम्बर, 1926
प्रेम-प्रतिमा—1926
प्रेम-तीर्थ—1928
गल्प-समुच्चय—1928
प्रेम-तीर्थ—1929
अग्नि समाधि तथा अन्य कहानियां—अगस्त, 1929
पांच फूल—नवम्बर, 1929
प्रेम-प्रतिज्ञा—1930
प्रेम-कुंज—1930

सप्त-सुमन—1930
समर-यात्रा—1930
प्रेम-प्रतिमा—1931
मृतक भोज—1932
विद्रोही तथा अन्य कहानियां—जनवरी, 1932
सोहाग का शव तथा अन्य कहानियां—अक्टूबर, 1932
प्रेरणा तथा अन्य कहानियां—अक्टूबर, 1932
समर-यात्रा तथा अन्य कहानियां—अक्टूबर, 1932
प्रेमचंद की सर्वश्रेष्ठ कहानियां—सितम्बर, 1934
पंच-प्रसून—1934
नवजीवन—1935
प्रेम-पीयूष—1935
मानसरोवर-1—1936
मानसरोवर-2—1936
मानसरोवर-3—अप्रैल, 1937
मानसरोवर-4—1939
मानसरोवर-5—1946
मानसरोवर-6—1946
मानसरोवर-7—1946
मानसरोवर-8 - 1950
प्रेमचंद का हास्य—1936
कफन और अन्य कहानियां—मार्च, 1937
नारी जीवन की कहानियां—1938
ग्राम्य जीवन की कहानिया—1938
अलग्योआ और अन्य कहानियां—1945
लैला और दूसरी कहानियां—1945
सोजेवतन—अप्रैल, 1961
गुप्तधन-1—जुलाई, 1962
गुप्तधन-2—जुलाई, 1962
पचास कहानियां—1963
सोलह अप्राप्य कहानियां—1990
सम्पूर्ण कहानियां-1
सम्पूर्ण कहानियां-2
सम्पूर्ण कहानियां-3
सम्पूर्ण कहानियां-4
सम्पूर्ण कहानियां-5
सम्पूर्ण कहानियां-6
सम्पूर्ण कहानियां-7

सम्पूर्ण कहानियां-8
सम्पूर्ण कहानियां-9
सम्पूर्ण कहानियां-10
प्रेमचंद की हिन्दी उर्दू कहानियां—1990

नाट्य-रूपान्तर

होरी—गोदान का नाट्य रूपांतर
चन्द्रहार--गबन का नाट्य रूपांतर

अनूदित साहित्य

टॉलस्टॉय की कहानियां
गाल्सवार्दी के तीन नाटक

बाल-साहित्य

जंगल की कहानियां

जीवनी

कलम, तलवार और त्याग

विविध

प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य-1
प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य-2
प्रेमोपहार, विविध संग्रह, 1963
चिट्ठी-पत्री (तीन भाग)

लेख संकलन

साहित्य का उद्देश्य
कुछ विचार
विविध प्रसंग-1
विविध प्रसंग-2
विविध प्रसंग-3
प्रेमचंद के विचार-1
प्रेमचंद के विचार-2
प्रेमचंद के विचार-3

●●●

प्रेमचंद : बकलम खुद

"तारीख पैदाइश विक्रमी संवत् 1937। बाप का नाम मुं
अजायबलाल। सुकूनत मौज़ा मढ़वां, लमही, मुत्तसिल पांडेपु
बनारस। इब्तदाअन् आठ साल तक फारसी पढ़ी, फिर अंग्रे
शुरू की। बनारस के कालेजिएठ स्कूल से एंट्रेंस पास किय
वालिद का इंतकाल पन्द्रह साल की उम्र में हो गया, वालि
सातवें साल गुजर चुकी थीं। फिर तालीम के सीगे में मुलाजिम
की। सन् 1901 में लिटररी जिन्दगी शुरू की..."

"मेरा जीवन सपाट, समतल मैदान है, जिसमें कहीं-कहीं
तो हैं, पर टीले, पर्वतों, घने जंगलों, गहरी घाटियों और
खंडहरों का स्थान नहीं है। जो सज्जन पहाड़ों की सैर के
शौकीन हैं उन्हें तो यहां निराशा ही होगी।"

संक्षिप्त जीवन-वृत्त

जन्म बनारस के पास लमही में सन् 1880 ई. में। असली
नाम धनपतराय। पिता का नाम मुंशी अजायबलाल। चाचा
द्वारा प्रदत्त नाम नवाबराय। सात वर्ष की आयु में माता औ
पन्द्रह वर्ष की आयु में पिता का निधन हो गया। अपने
बल-बूते पर पढ़े-लिखे। बी. ए. किया। 1901 में उपन्यास
लिखना शुरू किया। 1906 को शिवरात्रि के दिन बाल-विधवा
शिवरानी जी से शादी की। कहानी-संग्रह सोजे वतन 190
में जब्त हुआ, उसके बाद प्रेमचंद के नाम से लिखने लगे
15 फरवरी, 1921 को सत्याग्रह से प्रभावित होकर नौक
छोड़ दी। स्वतंत्र रूप से लेखन करने लगे। माधुरी
संपादक रहे। 1923 में सरस्वती प्रेस और 1930 में हंस क
स्थापना की। साप्ताहिक जागरण का भी संपादन किय
8 अक्तूबर, 1936 को स्वर्गवास।